हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

त्रयोदश भाग

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०२२ वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, नागरीमुद्रण, वाराणसी।

संस्करण : प्रथम, २६०० प्रतियाँ, संवत् २०२२ वि०

मूल्य : [illegible] = २०)

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

त्रयोदश भाग

समालोचना, निबंध और पत्रकारिता

[सं० १९७५-९५ वि०]

(सन् १९२०-४० ई०)

प्रधान संपादक

डॉ० संपूर्णानंद

संपादक

डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' एम० ए०, डी० लिट्०

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०२२ वि०

त्रयोदश भाग के लेखक

प्रथम खंड : डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, एम० ए०, डी०-लिट्०

द्वितीय खंड : श्री हंसकुमार तिवारी

तृतीय खंड : डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश', एम० ए०, पी-एच० डी०

चतुर्थ खंड : डॉ० शंभुनाथ सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०

पंचम खंड : डॉ० रामदरस मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०

—o—

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुचिंतित योजना बनाई है। यह इतिहास १६ खंडो में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने मे सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठो का है, छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढने से ही पता लग जाता है। निश्चय ही इस इतिहास मे व्यापक और सर्वागीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियो, आंदोलनो तथा प्रमुख कवियो और लेखको का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियो से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की साहित्यिक भाषा है। गत एक हजार वर्ष से इस भूभाग की अनेक बोलियो में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जनजीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियो के सारगर्भित उपदेशो से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसके अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसलिये इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशो में बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशो मे अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखो के रूप मे देश के कोने कोने मे बिखरी पड़ी है। नागरीप्रचारिणी सभा ने पिछले ५० वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखो की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालयो के शोधप्रेमी अध्येताओ ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाय और प्राप्त सामग्री के आधार पर उसका निर्माण किया जाय।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास मे लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओ में अनेक गीतो, वीरगाथाओ, प्रेमगाथाओ तथा लोकोक्तियो आदि की भी भरमार है। विद्वानो का ध्यान इस

ओर भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अधिकतर अप्रकाशित ही है। लोककथा और लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक और दृष्टि से भी आवश्यक तथा वाञ्छनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इंडोआर्यन वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी रूप में और किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेकों पारिवारिक संबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो। साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेलजोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सद्भावना तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभकामना प्रगट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ।

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली
३ दिसंबर, १९५७

———

प्रधान संपादक का वक्तव्य

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने संवत् २०१० में अपनी हीरक जयंती के अवसर पर यह संकल्प किया था कि १६ भागों में हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रकाशित किया जाय। इस कार्य की आवश्यकता और उपादेयता को देखते हुए सभा ने योजनानुसार इस कार्य को अग्रसर किया। साहित्य लौकिक वा सामाजिक विषय है। राजन्य वर्ग मे ईश्वरांश की मान्यता स्वीकार करने पर भी, व्यवस्थित राजनीतिक इतिहास तक जब यहाँ कम ही लिखे गए, तब कवियो और लेखको के इतिवृत्त भला कैसे लिखे जाते? यही कारण है कि एक सहस्र वर्षों की अविच्छिन्न परंपरा होने पर भी हिंदी साहित्य के व्यवस्थित इतिहासलेखन का कार्य अत्यंत दुस्तर रहा है। परंतु रचनाकारो के इतिवृत्त के प्रति यह उपेक्षाभाव होने पर भी उनके द्वारा रचित ग्रंथो को यहाँ देवविग्रहवत् पूज्य माना जाता रहा जिसके कारण अनेकानेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ आज भी सुरक्षित हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का सर्वप्रथम प्रयत्न संवत् १९३४ वि० में शिवसिंह सेंगर ने किया था, जिसमे लगभग एक सहस्र कवियों का उल्लेख है। इसके बहुत पूर्व, संवत् १८९६ में उर्दू फारसी के फ्रांसीसी विद्वान् गार्सा द तासी ने 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित कराया था। परंतु यह इतिहास मुख्यतः उर्दू कवियो का था और हिंदी के कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियो का ही उल्लेख इसमे था। 'शिवसिंह सरोज' के बाद से लेकर अब तक समय समय पर कवियो और लेखको की रचनाओं के सग्रह और उनका परिचय निकलते रहे हैं। सरोज के अनंतर डा० सर ज्यार्ज ग्रियर्सन ने सवत् १९४६ (सन् १८८९) में अपना 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव नार्दर्न हिंदुस्तान' कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित कराया जिसमें हिंदी साहित्य का सर्वप्रथम विषयविभाजन और कालविभाजन करने की चेष्टा की गई। सन् १९२० ई० अर्थात् संवत् १९७७ वि० मे अंग्रेजी मे एक अन्य इतिहास 'ए हिस्ट्री आव हिंदी लिटरेचर' जबलपुर मिशनरी सोसायटी के श्री एफ० ई० की ने 'हेरिटेज आव इंडिया सीरीज' में निकाला। विषय और कालविभाजन आदि के संबंध मे स्वतंत्र चिंतन का इसमे अभाव है और मुख्यतः ग्रियर्सन का ही अनुगमन किया गया है। इस प्रकार के जितने भी प्रयत्न हुए उनमे सर्वाधिक सामग्री का उपयोग मिश्रबंधु विनोद मे किया गया जो तीन भागो मे निकाला गया और जिसमे आरंभ से लेकर समसामयिक लेखको और कवियो तक का समावेश था।

संवत् १६८४ मे जब इस सभा ने अपना हिंदी शब्दसागर निकालना पूरा किया, तब यह भी स्थिर किया गया कि इसके साथ हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास भी दे दिया जाय। भाषा विषयक अंश स्व० डा० श्यामसुंदरदास जी ने और साहित्य विषयक अंश स्व० पं० रामचंद्र जी शुक्ल ने प्रस्तुत किया। शीघ्र ही दोनो महानुभावो के निबंध सामान्य संशोधन परिवर्तन के पश्चात् पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो गए।

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उपर्युक्त समस्त इतिहासग्रंथो मे से केवल स्व० शुक्ल जी का इतिहास हिंदी साहित्य का वास्तविक इतिहास कहलाने का अधिकारी है। इसके बाद तो साहित्य के इतिहासो का तॉंता सा लग गया और इस क्रम में अभी तक विराम नही आया है, यद्यपि इन समस्त इतिहासो का ढॉंचा स्व० आचार्य शुक्ल से ही लिया गया है। लगभग ४० वर्षों तक इतिहासक्षेत्र में मार्गदर्शन करने के पश्चात् स्व० शुक्ल जी का ग्रंथ आज भी अपने शीर्षस्थान पर बना हुआ है।

इस बीच हिंदी के प्राचीन साहित्य की खोज निरंतर होती रही है और अनेकानेक महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश मे आई है। अनेक अज्ञात कवियो और उनकी रचनाओ का तथा ज्ञात कवियो और लेखको की अज्ञात रचनाओ का पता लगा है, जिससे साहित्य की ज्ञात धाराओ के संबंध में हमारे पूर्वसंचित ज्ञान में वृद्धि होने के अतिरिक्त कतिपय नवीन धाराओ का भी पता चला है। विभिन्न विश्वविद्यालयो में होनेवाली शोधो द्वारा भी हमारे ज्ञान की परिधि मे विस्तार हुआ है। प्रस्तुत इतिहासमाला में इन समस्त नवसंचित ज्ञानराशि का समुचित उपयोग हो रहा है। विभिन्न खंडो का संकलन संपादन तत् विषयो के विशेषज्ञ विद्वानो को सौंपा गया है, जिन्होने अपने अपने खंडो के विभिन्न प्रकरणो और अध्यायो की रचना में ऐसे लेखको का सहयोग लिया है जिन्होने इस क्षेत्र में विशेष अध्ययन मनन किया है। अबतक इस इतिहास के तीन भाग (भाग १, ६ और १६) प्रकाशित हो चुके हैं। चौथा भाग (भाग १३) आपके संमुख है और एकाध महीने में एक और भाग (भाग २) प्रकाशित होजायगा। अन्य भागो के भी शीघ्र ही प्रकाशित होने की आशा है यदि संबद्ध विद्वान् संपादको एवं लेखको ने अपने आश्वासन यथासमय पूरा कर देने की कृपा की। हमें विश्वास है, प्रस्तुत इतिहासमाला अपने उद्देश्यो मे सफल होगी और सभा के ऐसे अन्यान्य ग्रंथो की भॉंति सुदूर अनागत काल तक साहित्य के विद्यार्थियो और जिज्ञासुओ का मार्गदर्शन करती रहेगी।

राजभवन,
जयपुर

संपूर्णानंद
प्रधान संपादक,
हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास का त्रयोदश भाग (समालोचना, निबंध और पत्रकारिता) सुधी पाठकों के निकट प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

प्रस्तुत इतिहास का लेखनकार्य योजनानुसार सहकारिता के आधार पर किया गया है। प्रारंभ में इसके लेखकों में जिन विद्वानों को रखना निश्चित किया गया था, उनमें से अनेक ने अपने अंश का लेखनकार्य समय पर पूरा नहीं किया, अतः विवश होकर मुझे अन्य विद्वानों का सहयोग लेना पड़ा। स्व० नलिनविलोचन शर्मा के असामयिक देहावसान से उनके स्थान पर दूसरे विद्वान् की नियुक्ति में भी समय लग गया। इन्हीं सब कारणों से इस भाग के लेखन तथा संपादनकार्य में आशातीत विलंब हो गया, जिसके लिये मुझे खेद है।

बृहत् इतिहास के प्रस्तुत भाग में कुल पाँच लेखकों के सहयोग हैं। सभी लेखकों को अपने मत का आग्रह होना स्वाभाविक है। अतः इसी कारण पारस्परिक एकरूपता और सामंजस्य का ध्यान रखने पर भी कहीं कहीं पुनरावृत्ति हो गई है और कहीं सामंजस्य रखने में भी कुछ कसर रह गई है। इस भाग में अनेक जीवित साहित्यकारों का विवेचन किया गया है। जीवित लेखकों का साहित्येतिहासिक विवेचन जीवित विवाद का विषय हो सकता है। अतः उनके संबंध में मैंने यथासाध्य मर्यादा बनाए रखने का प्रयत्न किया है, किंतु लेखक के मत को उन्हीं के दायित्व पर छोड़ देने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय सुलभ नहीं था। मैं किसी लेखक पर अपना मत आरोपित करना उचित नहीं समझता, क्योंकि इससे इतिहासलेखन का मूल सिद्धांत ही खंडित हो जाता है।

बृहत् इतिहास के इस भाग की कालसीमा विक्रमी संवत् १९७५ से ९५ तक है। यह अवधि लगभग प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ तक है। इन बीस वर्षों की अवधि में हिंदी समालोचना, निबंध और पत्रकारिता का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत करना ही इस भाग का उद्देश्य है। इतिहास की वैज्ञानिक पद्धति से हुए विवेचन में कुछ कमी तो अवश्य है, किंतु उस कमी को पूरा कर पाना सरल भी नहीं था और इसी कारण उस दोष से ऊपर उठकर पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से इस काल के हिंदी साहित्य का मूल्यांकन कर पाना शायद आज संभव नहीं है। फिर भी प्रस्तुत भाग में जो कुछ तथ्य और सत्य सँजोया हुआ है, उससे भविष्य के इतिहासकार का मार्ग सुगम और प्रशस्त होगा, इसमें मुझे संदेह नहीं है।

यहाँ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित बृहत् इतिहास के मूल आयोजक डा० राजबली पांडेय को धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनकी सूझ-बूझ से हिंदी जगत् में ऐसी अभिनव योजना का आरंभ हुआ। यह योजना हिंदी जगत् में एक प्रयोग है। यह प्रयोग चाहे पूर्णरूप से सफल न भी हो, पर इससे इतिहास की बहुत कुछ सारसामग्री एकत्र अवश्य हो जायगी। बृहत् इतिहास के वर्तमान संयोजक श्री सुधाकर पांडेय के प्रयत्न और परिश्रम से ही यह त्रयोदश भाग मुद्रित होकर प्रकाशित हो रहा है, इसलिये उनको भी धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

२, किंग जार्ज ऐवेन्यू,
पटना.
१६ जुलाई, १९६५

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

———

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना

नागरीप्रचारिणी सभा के संक्षिप्त खोज विवरणों के प्रकाशन के साथ ही सं० १६०१ वि० से हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध होनी आरंभ हुई और उसका विस्तार होता गया। धीरे धीरे अतुल संपत्ति का भंडार उपस्थित हो गया। इन उपलब्ध सामग्रियो का उपयोग और प्रयोग समय समय पर विद्वानो ने किया और सभा के भूतपूर्व खोज निरीक्षक स्व० मिश्रबंधुओ ने मिश्रबंधु विनोद में संवत्''तक उपलब्ध इस सामग्री का व्यापक रूप से उपयोग भी किया। यद्यपि उनके पूर्व भी गार्सा द तसी (संवत् १८६६ वि०), शिवसिंह सेंगर (सं० १६३४), डा० सर जार्ज ग्रियर्सन (संवत् १६४६), एफ० ई० की ने स० १६'७ में क्रमशः हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास शिवसिंह सरोज, माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान, ए हिस्ट्री आफ हिंदी लिटरेचर प्रकाशित हो चुके थे, तो भी ये ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास नही माने जा सकते क्योकि इनकी सीमा इतिवृत्तसंग्रह की परिधि के बाहर की नहीं। निश्चय ही ग्रियर्सन का मान अधिक वैज्ञानिक कालविभाजन के कारण और मिश्रबंधु विनोद की गरिमा उसके कालविभाजन तथा तथ्यसंग्रह की दृष्टि से है।

सभा ने हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का गंभीर आयोजन हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा कराया था, जिसका परिवर्धित संशोधित रूप हिंदी साहित्य के इतिहास के रूप में सभा से सं० १६८६ में प्रकाशित हुआ। यह इतिहास अपने गुण धर्म के कारण अनुपम मान का अधिकारी है। यद्यपि अब तक हिंदी साहित्य के प्रकाशित इतिहासो की संख्या शताधिक तक पहुँच चुकी है तो भी शुक्ल जी का इतिहास सर्वाधिक मान्य एवं प्रामाणिक है। अपने प्रकाशनकाल से लेकर आज तक उसकी स्थिति ज्यो की त्यो बनी हुई है। शुक्ल जी ने अपने इतिहासलेखन में सं० १६६६ तक खोज में उपलब्ध प्रायः सारी सामग्री का उपयोग किया था। तब से इधर उपलब्ध होनेवाली सामग्री का बराबर विस्तार होता गया। हिंदी का भी विस्तार दिन पर दिन व्यापक होता गया और स्वतंत्रता-प्राप्ति तथा हिंदी के राष्ट्रभाषा होने पर उसकी परिधि का और भी विस्तार हुआ।

संवत् २०१० मे अपनी हीरक जयंती के अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी शब्दसागर, और हिंदी विश्वकोश के साथ ही हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास की योजना बनाई। सभा के तत्कालीन सभापति स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा की

प्रेरणा से इस योजना ने मूर्तरूप ग्रहण किया। हिंदी साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन अद्यतन उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत करने के लिये इस योजना का संगठन किया गया। मूलतः यह योजना ५ लाख ५६ हजार ८ सौ ५४ रुपए २४ पैसे की बनाई गई। भूतपूर्व राष्ट्रपति देशरत्न स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद जी ने इसमे विशेष रुचि ली और प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया। इस मूल योजना मे समय समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन, परिवर्धन भी होता रहा है। प्रत्येक विभाग के विलग विलग मान्य विद्वान् इसके संपादक एवं लेखक नियुक्त किए गए जिनके सहयोग से बृहत् इतिहास का पहला खंड संवत् २०१४ में, खंड ६, २०१५ मे एवं खंड १६ संवत २०१७ में प्रकाशित हुआ। इन तीनो खंडो के प्रकाशन संपादन आदि योजना पर अब तक १६१८६६.७४ रुपए व्यय हुए। इस योजना को सफल बनाने के लिये मध्यप्रदेश, राजस्थान, अजमेर, बिहार, उत्तरप्रदेश और केंद्रीय सरकारो ने अब तक १ लाख ५२ हजार रुपए के अनुदान दिए हैं। देश के व्यस्त मान्य विद्वानो तथा निष्णात लेखको को यह कार्य सौंपा गया था। इस योजना की गरिमा तथा विद्वानो की अतिव्यस्तता के कारण इसमें विलंब हुआ। एक दशक बीत जाने पर भी कुछ संपादको एवं लेखको ने रंचमात्र कार्य नही किया। किंतु अब ऐसी व्यवस्था कर ली गई है कि इसमे अब और अधिक विलंब न हो। संवत् २०१७ तक इसके संयोजक डा० राजबली पाडेय थे। और उसके पश्चात् संवत् २०२० तक डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा रहे।

इस योजना को गति देने तथा आर्थिक बचत को ध्यान मे रखकर इस योजना को फिर से सँवारा गया है। महामहिम डा० संपूर्णानंद जी ने इसका प्रधान संपादक होना स्वीकार कर लिया है। इसके संपादको आदि का अद्यतन प्रारूप निम्नांकित रूप मे स्थिर किया गया है :

प्रधान संपादक : महामहिम डा० संपूर्णानंद जी
प्रस्तावना : भूतपूर्व देशरत्न स्व० राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी

विषय और काल	भाग	संपादक
हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका	प्रथम भाग (प्रकाशित)	डा० राजबली पाडेय
हिंदी भाषा का विकास	द्वितीय भाग (शीघ्र ही प्रकाश्य)	डा० धीरेंद्र वर्मा
हिंदी साहित्य का उदय और विकास १४०० विक्रमी तक	तृतीय भाग	पं० करुणापति त्रिपाठी सह० संपादक डा० शिवप्रसाद सिंह

भक्तिकाल (निर्गुणभक्ति) १४००-१७०० वि०	चतुर्थ भाग	पं० परशुराम चतुर्वेदी
भक्तिकाल (सगुणभक्ति) १४००-१७०० वि०	पंचम भाग	डा० दीनदयालु गुप्त
शृंगारकाल (रीतिबद्ध) १७००-१९०० वि०	षष्ठ भाग (प्रकाशित)	डा० नगेंद्र
शृंगारकाल (रीतिमुक्त) १७००-१९००० वि०	सप्तम भाग	डा० भगीरथ मिश्र
हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदुकाल) १९००-५० वि०	अष्टम भाग	श्री विनयमोहन शर्मा
हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदीकाल) १९५०-७५ वि०	नवम भाग	पं० कमलापतित्रिपाठी श्री सुधाकर पांडे
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (काव्य) १९७५-९५ वि०	दशम भाग	श्री रामेश्वरशुक्ल'अंचल' पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (नाटक) १९७५-९५ वि०	एकादश भाग	श्री जगदीशचंद्र माथुर सह० संपादक डा० दशरथ ओझा
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) १९७५-९५ वि०	द्वादश भाग	श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ डा० भोलाशंकर व्यास डा० त्रिभुवनसिंह
हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (समालोचना निबंध) १९७५-९५ वि०	त्रयोदश भाग (प्रकाशित)	डा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
हिंदी साहित्य का अद्यतनकाल १९९५-२०१० वि०	चतुर्दश भाग	डा० हरवंशलालशर्मा
हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान	पंचदश भाग	डा० विश्वनाथप्रसाद
हिंदी का लोकसाहित्य	षोडश भाग (प्रकाशित)	महापंडित राहुल सांकृत्यायन

इतिहासलेखन के लिये जो सामान्य सिद्धांत स्थिर किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं :

(१) हिंदी साहित्य के विभिन्न कालो का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियो के आधार पर किया जायगा ।

(२) व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियो, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियो और लेखको का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की नई दृष्टियो से उनपर यथोचित विचार किया जायगा ।

(३) साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात्

तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संपर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, अंतर्भाव, तिरोभाव आदि प्रक्रियाओ पर पूरा ध्यान दिया जायगा ।

(४) संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षो का समुचित विचार हो सके । ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन । साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगो का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य जिस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ, उसे स्पष्ट किया जायगा । उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए होगे ।

(५) हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्य-शास्त्रीय होगा : इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियो की समीक्षा और समन्वय किया जायगा । विभिन्न साहित्यिक दृष्टियो में निम्नलिखित की मुख्यता होगी :

क—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि : अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, व्यंजना आदि ।

ख—दार्शनिक ।

ग—सांस्कृतिक ।

घ—समाजशास्त्रीय ।

ङ—मानवीय, आदि ।

च—विभिन्न राजनीतिक मतवादो और प्रचारात्मक प्रभावो से बचना होगा । जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक होगा ।

छ—साहित्य के विभिन्न कालो में उसके विविध रूपो में परिवर्तन और विकास के आधारभूत तत्वो का संकलन और समीक्षण किया जायगा ।

ज—विभिन्न मतो की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणो पर सम्यक् विचार किया जायगा । सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यो और सिद्धांतो का निरूपण संभव होगा ।

झ—उपर्युक्त सामान्य सिद्धातो को दृष्टि में रखते हुए, प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेगे । उपसमिति इतिहास की व्यापक एकरूपता और आतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करना होगा ।

साथ ही जो पद्धति इतिहास लेखन मे व्यवहृत करने का निश्चय किया गया वह इस प्रकार है—

(६) प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उनके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और

निर्धारण होगा तथा उनकी जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निदर्शन किया जायगा।

(७) तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संभावनाओं पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी।

(८) प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे।

(९) लेखन मे वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा—संकलन, वर्गीकरण, समीकरण (संतुलन), आगमन आदि।

(१०) भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

सभा का आरंभ से ही यह विचार रहा है कि उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, बल्कि हिंदी की ही एक शैली है, अतः इस शैली के साहित्य की यथोचित चर्चा भी ब्रज, अवधी, डिंगल की भाँति, इतिहास में अवश्य होनी चाहिए। इसलिये आगे के खंडों में इसका भी आयोजन किया जा रहा है।

यह तेरहवाँ भाग आपके संमुख और दूसरा भाग भी लगभग इसके साथ ही प्रकाशित किया जाएगा। शेष भाग के संपादन तथा लेखन कार्य मे विद्वान् मनोयोगपूर्वक लगे हुए हैं और यदि उन्होंने आश्वासन का पालन किया तो निश्चयही अतिशीघ्र इतिहास के सभी खंड प्रकाशित हो जायेंगे।

यह योजना अत्यंत विशाल है तथा अतिव्यस्त बहुसंख्यक निष्णात विद्वानों के सहयोग पर आधारित है। यह प्रसन्नता का विषय है कि इन विद्वानों का योग सभा को प्राप्त तो है ही, अन्यान्य विद्वान् भी अपने अनुभव का लाभ हमें उठाने दे रहे हैं। हम अपने भूतपूर्व संयोजकों—डा० पांडेय और डा० शर्मा—के भी अत्यंत आभारी हैं जिन्होने इस योजना को गति प्रदान की। हम भारत सरकार तथा अन्यान्य सरकारों के भी कृतज्ञ हैं जिन्होने वित्त से हमारी सहायता की।

इस योजना के साथ ही सभा के संरक्षक स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद और उसके भूतपूर्व सभापति स्व० डा० अमरनाथ झा तथा स्व० पंडित गोविंद वल्लभ पंत की स्मृति जाग उठती है। जीवन में काल जिस भाँति इस योजना को उन्होने चेतना और गति दी और आज उनकी स्मृति प्रेरणा दे रही है जिससे विश्वास है कि यह योजना शीघ्र ही पूरी हो सकेगी।

अब तक प्रकाशित इतिहास के खंडों को त्रुटियों के बावजूद भी हिंदी जगत् का आदर मिला है। मुझे विश्वास है कि आगे के खंडों में और भी परिष्कार और सुधार होगा तथा अपनी उपयोगिता एवं विशेष गुणधर्म के कारण वे समादृत होंगे।

इस खंड के संपादक डा० सुधांशु का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ क्योंकि अतिव्यस्त होते हुए भी हिंदी के हित में इस कार्य को उन्होंने जो प्राथमिकता दी वह सराहनीय है।

इसके प्रधान संपादक तथा सभा के संरक्षक महामहिम डा० संपूर्णानंद जी के प्रति किसी भी प्रकार की कृतज्ञता व्यक्त करना सहज सौजन्य की मर्यादा का उल्लंघन है क्योंकि आज सभा में जो भी सत्कार्य हो रहे हैं उनपर उनकी छत्रच्छाया है। अंत में इस योजना में योगदान करनेवाले ज्ञात और अज्ञात सभी मित्रों के प्रति अनुगृहीत हूँ और विश्वास करता हूँ, उन सबका सहयोग इसी प्रकार सभा को निरंतर प्राप्त होता रहेगा।

सुधाकर पांडेय
संयोजक,
बृहत् इतिहास उपसमिति,
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

दीपावली–सं० २०२२ वि०

—०—

विषयसूची

पृ० सं०

प्रथम खंड

परिस्थितियाँ

ले० डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

पृ० सं०

द्वितीय खंड

निबंध का उदय

ले० पं० हंसकुमार तिवारी

तृतीय खंड

पत्र पत्रिकाओं का विकास : आलोचना का उदय

ले० डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश' एम० ए० पी० एच० डी० (लंदन)

चतुर्थ खंड

समालोचना साहित्य का विकास

ले० डॉ० शंभुनाथ सिंह

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

पंचम खंड

सैद्धांतिक आलोचना

ले० डॉ० रामदरस मिश्र

———

प्रथम खंड

परिस्थितियाँ

लेखक

डा० लक्ष्मीनारायण सुधांशु

परिस्थितियाँ

सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग

उन्नीसवीं सदी वास्तव मे प्राचीन गौरव और संस्कृति के पुनरुद्धार का युग था। अन्वेषण और अनुसंधान की विभिन्न प्रचेष्टाओं से विगत विस्मृत इतिहास की एक रूपरेखा खड़ी की गई। विभिन्न देशो जावा, सुमात्रा, बाली, लंका, चीन, तिब्बत, बर्मा, श्याम में भारतीय संस्कृति की जो निधियाँ बिखरी पड़ी थीं, उनके अवशेषो का उद्धार किया गया। पुराने राजवंशो की कीर्तिगाथाएँ खोज खोजकर संकलित की गईं। प्राचीन मुद्राओ और शिलालेखों के पाठोद्धार से न केवल ऐतिहासिक परंपरा को आलोक और सूत्र मिला, बल्कि ब्राह्मी, खरोष्ठी जैसी लिपियों का भी जीर्णोद्धार हुआ। प्राचीन ग्रंथो का शोध, संस्कार और संकलन हुआ। सभी दिशाओ और सभी दृष्टियो से इतिहास के बीते वैभव को सामने लाकर उसे जीवन की प्रेरणा का आधार बनाया गया। आहत आत्म-गौरव को नए सिरे से सिर उठाने का बहुत बड़ा अवसर मिला। दासत्व के अभिशाप से निष्पेषित निष्क्रिय जाति को क्रियाशीलता और प्रगति की उद्बोधक शक्ति मिली। निरुपाय निश्चेष्ट प्राणो को जागरण की किरणों का जीवंत स्पर्श मिला। इसका प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रो पर पड़ा। साहित्य पर तो इसका बड़ा गहरा और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। बीसवीं सदी के पहले दो दशाब्द में साहित्य के बहुमुखी विकास के जो लक्षण स्पष्ट हुए, वे इसी सांस्कृतिक पुनरुद्धार की देन हैं। रचनात्मक और उपयोगी साहित्य के सर्वतोमुखी विकास का द्वार उन्मुक्त हो गया। इसमें संदेह नही कि साहित्य में इस विकास का सूत्रपात भारतेंदु युग में ही हो चुका था, लेकिन उसके पूर्ण विकास के लक्षण बीसवीं सदी में प्रकट हुए। प्रारंभिक वर्षों में ही साहित्य में इस गौरवबोध के चित्र चरित्र उभरने लगे।

उन्नीसवी सदी की सतत साधना का जो सौध बना, बीसवीं सदी के आरंभ के दशाब्दो में उसमें जिस चेतना की प्राणप्रतिष्ठा हुई, वह चेतना है पुनरुत्थानवादी। पिछली चेतना से इस चेतना में एक स्पष्ट अंतर है। वह अंतर

है दृष्टिकोण का। इस नवीन चेतना में स्पष्टतया एक वैज्ञानिक अथवा बुद्धिवादी सप्राणता की अँगड़ाई है। इस नवीन जागरुकता का प्रधान लक्षण है अपनी पिछली विरासत को नवोद्भूत परिस्थिति के अनुरूप गढने की चेष्टा। प्राचीन संस्कृति के समुद्रमंथन से प्राप्त तत्वामृतों की नई दृष्टि से निरख परख तथा नई आवश्यकताओ के अनुकूल उनकी व्याख्या करने की प्रवृत्ति। अपने पुराने तत्वो को अविकल रूप में ग्रहण न करके संस्कार के साथ उन्हे अपनाने के इस आग्रह के दो कारण हैं, पहला पुराने में नवीन जीवन की प्राणवत्ता हो और दूसरा नवीनीकरण की प्रक्रिया हमें पश्चिम के प्रभाव से सर्वथा अभिभूत न कर दे। समन्वय की इस दृष्टि की दो प्रमुख दिशाएँ हुई—मर्यादावाद और आदर्शवाद। राष्ट्रीय गौरव की भावना तथा पश्चिमी तत्वो का प्रभाव—इन दो भावो के संमेलन से ही इस दृष्टि का जन्म हुआ। राष्ट्रीय विशिष्टता की इस भावना ने पश्चिम के अजेय प्रभाव से हमारी निजता को बचाया। पश्चिमी प्रभाव ऊपर से प्रबल जितना ही क्यो न दिखाई देता हो, भीतर से हमारी इस आकाक्षा की सजगता रही कि हमारी निजस्वता सुरक्षित रहे। मर्यादावाद का यह निश्चित परिणाम और आगे चलकर प्रत्यक्ष हुआ कि रचनात्मक प्रवृत्ति पर ऐसे प्रभाव की छाप आरंभ में जो भी चाहे रही हो, किंतु धीरे-धीरे देश के स्वतंत्र साहित्यिक व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हुई। विदेशी साहित्य के प्रभाव से विषय और उपादान का क्षेत्र बहुत बढ़ गया—उन्हें रूप देने के लिए व्यंजनाशैली भी बदली और वह शैली कल्पनाप्रधान तथा आदर्शवादी होने के साथ साथ बुद्धिमूलक हुई।

पाश्चात्य शिक्षा से हित हुआ ही नहीं, यह कहना असत्य होगा। किंतु अहित भी कम नही हुआ। एक बहुत बड़ा शिक्षित समुदाय अँगरेजी के कुप्रभाव से अपने आचारविचार, भाषा, साहित्य, रहन सहन से विरूप, विमुख हो उठा। इस अरुचि और उदासीनता पर राष्ट्रीय जागरण काल से ही देश के हितैषी सजग हो गए थे और सामाजिक जीवन में वैसे पश्चिमी प्रभाव के विरोध के लक्षण साहित्य में प्रकट होने लगे थे। भारतीय संस्कृति के प्रति उदासीन भाव और पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण पर व्यंग्य किया जाने लगा था। जैसे बालमुकुंद गुप्त की ये पंक्तियाँ—

> जो प्यारे छुट्टी नहीं पाओ,
> तो यह सब चीजें भिजवाओ।
> चमचम पौडर, सुंदर सारी,
> लाल दुपट्टा जर्द किनारी।
> हिंदू बिस्कुट साबुन पोमेटम,
> तेल सफाचट औ अरबीगम।

अथवा नाथूराम शंकर शर्मा की पंक्तियाँ—

> ईश गिरिजा को छोड़, योशु गिरजा में जाय
> शंकर सलोने मैन निस्तर कहावेंगे,
> बूट पतलून कोट कामफट टोपि डटी,
> जाकट की पाकट में वाच लटकावेंगे।
> घूमेंगे घमंडी बन रंडी का पकड़ हाथ,
> पिएंगे बरंडी मीट होटल में खावेंगे।
> फारसी की छार सी उड़ाय अँगरेजी पढ़ि,
> मानो देवनागरी का नाम ही मिटावेंगे।

बुद्धिवादी दृष्टिकोण

हम यह समझने लगे कि बाहरी आचारविचार की यह अंधाधुंध नकल हमारे लिये हानिकारक है। साथ ही हमने यह अनुभव किया कि हमारी आडंबर-प्रियता ने सत्य की प्रतीति के बदले हमारे सिर को बाह्य आचरणों के चरणों पर झुका दिया है। हमने इस प्रवृत्ति से भी विमुख होने का संकल्प किया। नवीन-प्राचीन के इस संधिकाल मे ग्रहण और वर्जन की सतर्कता हमें वैज्ञानिक दृष्टि ने ही दी। यह सतर्कता सामाजिक आचरणों तक ही सीमित नहीं रही, वरन् इसने हमारी सर्जनात्मक प्रेरणाओं का भी नियंत्रण किया। सामाजिक रूढियों के सामानातर साहित्य की रूढि और परंपरा का भी परिष्करण प्रारंभ हो गया। बुद्धिवादी दृष्टिकोण की यही विशेषता है। तत्कालीन साहित्य की गतिविधि में उसकी सक्रियता के दो रूप हमे मिलते हैं। एक तो यह कि उसने रूढ़िगत साहित्य परंपरा के अंधानुकरण की प्रवृत्ति को दूर किया और दूसरा यह कि प्रयोग के सहारे नए सिद्धातो का रूप स्थिर किया। पुराने नियम और विधान तोडे जाने लगे, नए नियमो और सिद्धातो की प्रतिष्ठा होने लगी। इस नए दृष्टिकोण से जीवन के सभी क्षेत्रों मे अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। इतना अवश्य है कि हमारी ये मान्यताएँ जिस तीव्रता से बढ़ीं, आधुनिकता की उस समग्रता को अंगीकार करने की पूरी समर्थता न तो भारतेंदु काल में आ सकी न द्विवेदी युग में, क्योंकि जिस अनुपात में उपादान और रूप का क्षेत्र विस्तृत हुआ, भाषा की प्राण शक्ति उस हद तक प्रौढ़ नहीं थी। भाषा की न तो ठोस परंपरा थी; न कोई निश्चित आदर्श। साहित्य के क्षेत्र में आनेवालों को स्वयं ही इसका मार्ग प्रशस्त करना पडा। फिर भी बीसवीं सदी के आरंभ के बीस वर्षों की साहित्यसाधना में आधुनिकता की कुछ विशेष पुष्ट रेखाएँ उभर कर आई हैं। संस्कार, प्रयोग और विकास की यथेष्ट प्रचेष्टाएँ हुईं। साहित्य के रूपों और भाषा की समृद्धि की दृष्टि

से पर्याप्त काम हुआ। सन् १६०० से १६२० ई० की अवधि में हिंदी साहित्य में दो प्रमुख विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं—साहित्य का रूपवैचित्र्य और प्रवृत्ति की विविधता। विकास और परिवर्तन की यह गति इतनी आश्चर्यमयी है कि इसे हम साहित्य का क्रांतिकाल कहें तो अत्युक्ति न होगी। साहित्य के इतिहास मे बहुमुखी विकास का ऐसा कोई युग ही नहीं आया। पिछले संचय की निधि न तो पर्याप्त थी, न ऐश्वर्यमयी। साहित्य में विरासत रूप में जो शब्दभंडार हमें मिला, जो साहित्य परंपरा मिली, वह शिल्प और भाव संपद् की बढ़ती हुई आवश्यकता को अभिव्यक्ति देने की दृष्टि से क्षीण हीन थी, किंतु मात्र बीस पच्चीस साल की अवधि में ही क्रातिकारी परिवर्तन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे। काव्य के विभिन्न रूप—महाकाव्य, खंडकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, प्रबंध काव्य, गीत—सामने आने लगे, सब प्रकार के—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान, भावप्रधान, घटनाप्रधान उपन्यास लिखे जाने लगे, समालोचना का रूप निखरने लगा, निबंधो की रचनाएँ होने लगी।

पाश्चात्य काव्य, साहित्य और दर्शन के पठन पाठन से भावो का नया आकाश बढ़ा, विषयों के नए क्षेत्र बढ़े। अपने साहित्य में नए नए प्रयोग का उत्साह उमड़ा। प्रयोग की इस प्रवृत्ति ने नए साहित्यिक रूपो का आविष्कार किया और साहित्य के सर्वतोमुखी विकास की राह बना दी। काव्य, उपन्यास के विविध प्रकार के रूपो की हमने ऊपर चर्चा की है। ध्यान देने की बात यह है कि गद्य के श्रृंगार में लय की स्थापना का जोर बढ़ा, उसमे काव्यगत गुण और तत्वो की प्रतिष्ठा की चेष्टा बढ़ी। उदाहरण के लिये उपन्यास के रूपो को सामने रखे, जैसे, भावप्रधान, चरित्रप्रधान या घटनाप्रधान उपन्यास। इनमें काव्य के विभिन्न तत्वो का समावेश है। भावप्रधान गीतितत्व, चरित्रप्रधान नाटकीय तत्व और घटनाप्रधान उपन्यास महाकाव्य तत्व के संमिश्रण से लिखे गए।

भाषा साहित्य की इस श्रीसमृद्धि के प्रबल उत्साह में हमारी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना ने बड़ा योग दिया। उसके भ्रामक विकास में हिंदी और हिंदुस्तानी की प्रेमभावना बढ़ती गई। उन्नीसवीं सदी के नवें दशक में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। किंतु देश के पुनरुज्जीवन—आदोलन संबंधी उसके सारे कार्य प्रारभ मे अँगरेजी माध्यम से हुआ करते थे।

स्वदेशी आंदोलन और स्वदेशी भावना

आदोलन की इस आँधी की अंतरात्मा धीरे धीरे बदली। अँगरेजी भाषा उस समय इस प्रकार से पढ़े लिखे लोगो की जबान पर चढ गई थी कि अपनी भाषा में भी उसके दो चार शब्द मिलाए बिना बोलना अपनी शान के खिलाफ

समझा जाने लगा। होते होते ज्ञान की यह आन विवशता बन गई। अंगरेजी के दामन से शिक्षित लोग इस बुरी तरह लिपटे कि अपनी भाषा में अपने विचार की अभिव्यक्ति कठिन हो गई, जबतक बीच में अँगरेजी का सहारा न ले। किंतु बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब के जननेता श्री विपिनचंद्र पाल, बालगंगाधर तिलक और लाला लाजपत राय के संमिलित उद्योग से स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात १६०५ ई० में हुआ। इसकी प्रेरणा से यह भावना हिंदीभाषियों में ही नहीं, देश के दूसरे भाषाभाषियों में भी फैली। अखंड और अविभाज्य भारत के आदर्श ने देश की अन्य भाषाओं के जननायकों में हिंदी प्रेम का बीजारोपण किया। बंग-विभाजन से जिस सशक्त स्वदेशी आंदोलन की उत्तेजना फैली, भारत की एकता के लिये एक भाषा के आधार को उसने बलवान बनाया। देश के दूरदर्शी नेता भारतीय भाषाओं के एकीकरण की प्रयोजनीयता समझने समझाने लगे।

स्वदेशी आंदोलन का आरंभ होते ही उपेक्षित मातृभाषा का प्रश्न चर्चित होने लगा, विशेषतः बंगाल में, जहाँ कि भाषा विभक्त बंगदेश के ऐक्य की अमर प्रतीक थी। परंतु अब भी हिंदुस्तानी को उसका उपयुक्त स्थान नहीं मिल सका था। परंतु बंगाल के राजनीतिक नेताओं में से एक पत्रकार स्वर्गीय कालीप्रसन्न काव्यविशारद ने हिंदुस्तानी के महत्व का सबसे पहले उस समय भी अनुभव किया।

अपनी भाषा और अपनी संस्कृति

सन् १६०० ई० में हिंदी को कचहरियों में स्थान मिल गया। इस सफलता के पीछे बहुत दिनों का प्रयत्न था। हिंदी को उसका प्राप्य और उचित स्थान दिलानेवालों के लिये यह एक विजय थी। विजय की इस उमंग में हिंदी प्रचारकों का उत्साह और भी बढ़ गया। सन् १६०५ ई० में बंगविच्छेद के विरोध में स्वदेशी आंदोलन छिड़ गया। यह आंदोलन धीरे धीरे बड़ा शक्तिशाली होता गया और उसने अखिल भारतीय रूप ले लिया। इस आंदोलन से राष्ट्रीय भावना बहुत व्यापक और सुदृढ़ बन गई। इसने अनोखी जनजागृति फैलाई। शिक्षित समुदाय की जागृति जन साधारण में फैलने लगी। स्वदेशी आंदोलन के फलस्वरूप उन शिक्षित तथा सहकारी पदाधिकारियों का ध्यान भी हिंदी की ओर आने लगा, जो अपनी भाषा को तुच्छ और उपेक्षा की वस्तु समझते थे। एक और भी बड़ी देन इस आंदोलन की है। साहित्य और भाषा के साथ साथ अपनी संस्कृति, अपना शिल्प, अपनी संगीतकला के पुनरुज्जीवन की भावना भी प्रबल हुई। लोग मूर्तिकला, चित्रकला, भवननिर्माण कला, संगीत कला के पुनरुत्थान की चेष्टा में दत्तचित्त हुए।

विभिन्न भाषाओं का प्रभाव

इस काल के कुछ पूर्व डा० श्यामसुंदर दास के प्रयत्न से काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हो चुकी थी। आगे चलकर काशी में ही सन् १९१० ई० में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन की स्थापना हुई। हिंदी के भावी विकास में इस संस्था का सबसे बड़ा हाथ है। इस प्रकार चारो ओर से हिंदी के लिये बड़ा व्यापक वातावरण बनता चला गया। इसका परिणाम अच्छा ही हुआ, इसमें संदेह नहीं, लेकिन कुछ बुरा भी हुआ। विभिन्न क्षेत्र, विभिन्न भाषा तथा विभिन्न रुचि के लोगो ने हिंदी को अपनाया। अपनाने के अधिकार के साथ कुछ कर्तव्य भी था, जिसकी ओर लोगों का समुचित रूप से ध्यान नहीं गया या ध्यान देने की आवश्यकता नही समझी गई। साहित्यसाधना के लिये जो शिक्षा और संस्कार अपेक्षित था, उसकी उपेक्षा हुई। फल यह हुआ कि भाषासंबंधी अराजकता सी फैल गई। जिसने भी चाहा, हिंदी में अपने ढंग से बोलना और लिखना आरंभ कर दिया। अपनी अपनी शिक्षा दीक्षा के अनुसार कोई संस्कृत, कोई फारसी, कोई अँगरेजी शब्दो का धड़ल्ले से व्यवहार करने लगे। शब्दो की मनमानी के साथ वाक्यरचना तथा शैलियाँ भी भिन्न भिन्न प्रयुक्त होने लगीं। भाषा में अव्यवस्था आ गई। कहीं संस्कृतनिष्ठ अलंकृत शैली, कहीं उर्दूमिश्रित सीधी सादी वाक्यरचना, कहीं बँगला, मराठी, पंजाबी का प्रभाव तो कहीं अँगरेजी की व्यंजना शैली का अनुकरण। इस विविधता में भाषा की आतरिक शक्ति भी होती, तो कोई क्षति न थी। लेकिन वैचित्र्य का वह ऐश्वर्य नही था। इसलिये साहित्य रूपो के जन्मकाल में, जब नए विषयो के आकलन और प्रकाशन की व्यग्रता थी, भाषा के इस अस्थिर तथा अव्यवस्थित रूप से बाधा पड़ी। जिसने जैसा चाहा, भाषा का वैसा ही भावविधान प्रस्तुत किया। इस मनमानी से ऐसी विशृंखलता आई कि तत्काल सुगठित परंपरा और मर्यादित आदर्श की प्रतिष्ठा की संभावना नहीं रह गई। इतना अवश्य है कि मातृभाषा के लिये अनुराग और उसकी सेवा के कर्तव्य का बोध जागा। सेवा के उस आग्रह और अधिकार के नाते हिंदी साहित्य के क्षेत्र में ऐसे अनेक सेवको का प्रवेश हुआ जिनपर दूसरी भाषाओ का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव था। इसलिये उनकी रचनाओं के द्वारा हिंदी पर उन उन भाव भाषाओ का प्रभाव पड़ने लगा। यह स्वाभाविक ही था। लेकिन इस अव्यवस्था और अराजकता से तात्कालिक जो भी क्षति हुई हो, शैली, शक्तिमत्ता और शब्दसंपद् की दृष्टि से आगे चलकर हिंदी का इससे उपकार ही हुआ। अँगरेजी की सरल व्यंजनामयी गद्यशैली, संस्कृत पदावलीबहुल बंगला की भावप्रधान शैली आदि विविधता आने लगी। नए भावविचारो को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करने के लिये उपयुक्त शब्दो का विशद

भंडार, जो अपेक्षित था, वह हिंदी में पर्याप्त नहीं था। तत्सम, तद्भव, देशज तथा फारसी अरबी के प्रचलित शब्दो की ही पूँजी थी। नए भाव विचारो का क्षितिज जितना बढ़ा उसे देखते हुए, शब्दभंडार बहुत दुर्बल था। विभिन्न भारतीय एवं अँगरेजी भाषा के प्रभाव से आवश्यकताओ के अनुकूल शब्दसंपद् की अभिवृद्धि होती गई।

उर्दू और हिंदी के आँकड़े

जिन भारतीय भाषाओ से हिंदी प्रभावित हुई, बंगला उनमे से अन्यतम है। अँगरेजी के अतिरिक्त भाव और शब्दसंपद् की दृष्टि से हिंदी पर इतना अधिक ऋण और किसी भी भाषा का नही है। उर्दू की बात कुछ और है। देखने में लिपि, आत्मा, वाक्यरचना, ध्वनि प्रणाली, स्वरो की लय आदि मे उर्दू हिंदी से बिलकुल अलग लगती है, लेकिन वास्तव में वह हिंदी की ही एक शैली है। अंतर है तो यह कि उर्दू शब्दो के मामले में फारसी अरबी की मुखापेक्षी है और हिंदी संस्कृत की। दोनो के क्रियारूप एक हैं, व्याकरण एक है। दोनो का जन्म एक ही बोली से हुआ। विकास काल तक दोनो भाषाएँ एक साथ चलती रही। सैकड़ो वर्षों तक दोनो की गति समानातर ही रही। विकास क्रम में एक ऐसा समय आया जब धार्मिक पुनरुत्थान के तीखे आदोलन ने दोनो को स्वीयता की सावधानता दी। जातीय और सास्कृतिक कट्टरता उभरी, जिसने दोनो के बीच भावना की एक विभाजक रेखा खींच दी। आर्यसमाज के आदोलन से आत्मरक्षा की सशक्तता पैदा हो गई। पंजाब पहले उर्दू का गढ़ था। सयुक्त प्रात के पश्चिमी इलाको मे उर्दू की पढ़ाई होती थी। हिंदू भी प्रायः मदरसे मे अरबी फारसी पढ़ते थे। और तो और, हिंदू धर्म ग्रंथ भी वे उर्दू मे पढते थे। हिंदुओ के नाम तक उर्दू ढंग के होते थे। हिंदू धर्म और हिंदी भाषा के बढ़ते हुए आदोलनो के कारण उर्दू को धक्का लग रहा था। उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक उर्दू में हिंदी से कही ज्यादा पुस्तके निकलती थी। बीसवी सदी के आरंभ में ठीक उलटा होने लगा। उर्दू से हिंदी की पुस्तके ज्यादा निकलने लगी। हिंदीपत्रो के ग्राहक बढ़ने लगे, स्कूल कालेजो में हिंदी पढ़नेवाले छात्रो की संख्या बढ़ने लगी; 'हिंदी बनाम उर्दू' नाम की पुस्तक में श्री वेंकटेशनारायण तिवारी ने इसका एक आँकड़ा दिया है। सन् १८६१ ई० में हिंदी पत्रो की कुल ग्राहकसंख्या ८००० थी, उर्दू पत्रो की १६२५६। सन् १६३६ ई० में हिंदी पत्रो की ग्राहकसंख्या ३२४८८० हो गई, जब कि उर्दू पत्रो की २८२४८५ ही रही। सन् १८६१ ई० में यह आँकडा, हिंदी का ३१'६१ प्रतिशत और उर्दू का ६८'१ प्रतिशत था। सन् १६३६ ई० मे वह बिलकुल पलट गया। हिन्दी का ६४ प्रतिशत और उर्दू का ३६ प्रतिशत हो गया। सन् १८६० ई० में वर्नाक्यूलर

फाइनल परीक्षा में हिंदी के सिर्फ २२'४ प्रतिशत छात्र बैठे थे, उर्दू के ७०'६ प्रतिशत। सन् १९३८ ई० में यही संख्या हिंदी की ५६'८ प्रतिशत और उर्दू की ४३'२ प्रतिशत हो गई। इसी प्रकार प्रकाशित पुस्तकों की संख्या सन् १८८९–९० ई० में उर्दू ५९१, हिंदी ३६१ थी। सन् १९३५-३६ ई० में उर्दू की कुल २५२ और हिंदी की २१३३ पुस्तकें निकलीं। मुसलमानों को अस्तित्व की आशंका होने लगी और धर्म की दुहाई देकर भाषा को उन्होंने जातीय भावना, आदर्श और संस्कृति का प्रतीक बना दिया। हिंदी का वे खुल्लमखुल्ला विरोध करने लगे। कई ने तो यहाँ तक कहा कि हिंदी नाम की कोई भाषा ही नहीं है। असल में उर्दू की बढ़ती देखकर लोगों ने संस्कृत की ठूँसठास से एक नई भाषा गढ़ ली है। मौलवी असगर अली ने कहा है, इसी कट्टर भावना ने हिंदी उर्दू झगड़े को जन्म दिया और दोनों के बीच दूरी की दीवार खड़ी कर दी, नहीं तो इन दोनों भाषाओं को लोग बहनें मानते रहे हैं। दोनों का पारस्परिक आदान प्रदान चलता रहा। दो जातियों के प्रेम और विवाद के बीच भी दोनों भाषाएँ निर्विकार भाव से दोनों के द्वारा सींची जाती रहीं। इसीलिये प्रभाव की दृष्टि से अँगरेजी के बाद बँगला का ही स्थान आता है।

बँगला का प्रभाव

इसका कारण भी है। भारत में विदेशी सत्ता की प्रभुता सबसे पहले बंगाल में स्थापित हुई। विदेशियों के संपर्क में आने से पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार प्रसार वहाँ पहले हुआ। इस कारण बँगला साहित्य हमसे बहुत पहले उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। फलस्वरूप उस साहित्य से प्रेरणा और सामग्री ली जा सकती थी। लेने की स्वाभाविक सुविधा भी रही। बँगला हिंदी प्रदेशों का पड़ोसी प्रांत है। वहां का प्रमुख नगर कलकत्ता व्यापार का सर्वाधिक उन्नत केंद्र रहा, जहां रोजी रोटी की चिंता में हिंदीभाषी प्रांतों के बहुसंख्यक लोग जा बसे, जिन पर बँगला भाषा और साहित्य का प्रभाव पड़ता रहा। आर्थिक समृद्धि और बहुसंख्यक हिंदीभाषियों की आबादी के कारण वह हिंदी का एक बहुत बड़ा केंद्र भी रहा। आरंभ से वहाँ हिंदी की बहुत सी पत्र पत्रिकाएँ निकलती रहीं। प्रकाशन की दिशा में भी बंगाल हिंदी पुस्तकों के लिये सबसे आगे रहा। सन् १९०२-३ ई० में बंगाल में हिंदी की १३६ पुस्तकें प्रकाशित हुई, जब कि पंजाब में ६७, बंबई में ४० और मध्यप्रांत में २१ हिंदी पुस्तकें निकलीं। सन् १९०३-४ ई० में भी उपर्युक्त तीनों प्रांतों – बंबई, पंजाब, मध्यप्रांत – में कुल १६२ पुस्तकें निकलीं, जब कि केवल बंगाल से प्रकाशित हिंदी पुस्तकों की संख्या १७५ रही। पूर्णतया हिंदी का प्रांत बिहार बंगाल का निकटतम पड़ोसी है। यही नहीं सन् १९१२ ई० तक बिहार बंगाल प्रांत के ही अंतर्गत था। वहीं के उच्च न्यायालय और विश्व-

विद्यालय की शरण बिहारवालो को लेनी पड़ती थी। हिंदी के कुछ समर्थ साहित्यकार बँगला के अच्छे ज्ञाता रहे। अँगरेजी की अनेक विशिष्ट साहित्यिक भावधाराएँ बँगला के माध्यम से ही हिंदी मे आई। बंकिम, शरत, रवींद्र की साहित्यिक प्रतिभा हिंदी के लिये बड़ी प्रेरक रही। आरंभ मे हिंदी के भंडार में मौलिक रचनाओ की सख्या नगण्य थी। विभिन्न भाषाओ के ग्रंथो के अनुवाद से इस अभाव की पूर्ति की जाती रही। अनुवाद में भी अँगरेजी की तरह बँगला की ही अधिक से अधिक पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद हुआ। इन बातो से हिंदी भाषा पर उसका प्रभाव पडना अवश्यंभावी था। बँगला मे संस्कृत शब्दो की ही प्रधानता होती है। हिंदी में उसके रूपातर में बहुत अधिक कठिनाई भी न थी। कलकत्ते में कुछ दिनो तक रहकर जिन्हें थोड़ी बहुत भी जानकारी बँगला की हो गई और थोडी बहुत हिंदी जिन्हें आती थी, उन्होंने रुपांतर का काम सहज ही करना आरंभ कर दिया। क्रियापद भर बदलकर सारी की सारी पदावली नागरी लिपि में ज्यो की त्यो उतार कर रख दी।

बँगला वाक्यांश

साधारणतया प्रारंभ के जो भी बँगला के अनुवाद मिलते हैं, सबकी एक जैसी स्थिति है। दो एक शब्दो के हेर फेर के साथ पूरा का पूरा वाक्य वही रख दिया गया है। सुंदर, क्षुद्र, वीचिकामाला, कूल परिप्लाविनी, प्रसन्न सलिला, विपुल-जल-कल्लोलिनी, स्रोतस्विनी, आदि वाक्याशो की भरमार मिलेगी। केवल अनुवाद में ही क्यो, बँगला प्रभावित कुछ लेखको की मौलिक रचनाओ में भी यह प्रभाव स्पष्ट है। संस्कृत की तो बात ही क्या, वह तो हिंदी की प्रेरणा और पूँजी ही है।

पंजाबी और मराठी की भी देन है। पंजाब में पहले उर्दू का बोलबाला था। हिंदी की रुझान तो आर्यसमाज के आंदोलन से हुई। इसके पहले तो वहाँ की हिंदू संतान भी तेगबहादुर, खुरशेदबहादुर और इकबाल सिंह हुआ करते थे। पंजाब में हिंदी प्रचार से वहाँ के जो लोग हिंदी में लिखने लगे, उनकी भाषा में स्वभावतया उर्दू यानी अरबी फारसी के प्रचलित शब्द आने लगे। उर्दू की शैली यो हिंदी का एक रूप ही थी। इस प्रकार उर्दू, मराठी, बँगला, संस्कृत, अंगरेजी के शब्द ज्यो के त्यो या बन बनाकर हिंदी में आते रहे जिससे हिंदी का शब्दभंडार बढ़ता गया। वाक्यरचना की शैली में उर्दू, मराठी, बँगला और अँगरेजी की छाप से विविधता आई। अंगरेजी की स्पष्ट भावाभिव्यक्ति, बँगला का सुललित शब्दसौष्ठव और उर्दू का प्रवाह, इन विशेषताओ को अपनाकर हिंदी गद्य ने अपनी विशिष्टता स्थिर की। शैली की चर्चा आगे की जायगी, पहले हम शब्द-संपद् का संक्षेप में विचार कर ले।

जीवंत भाषा के लक्षण

जीवित भाषा का सबसे बड़ा लक्षण है उसकी ग्राहिका शक्ति। आवश्यकतानुसार जो भाषा औरों से अपनी जातीय विशेषता के अनुरूप जितना अधिक ग्रहण कर सकती है, उसका प्रवाह उतना ही दूरगामी और प्राजल होता है। जीवंत भाषा का यह लक्षण हिंदी में शुरू से रहा है। जब जैसी जरूरत पड़ी, अपनी शक्ति और समृद्धि बढाने मे उसने ग्रहण की दिशा में उदासीनता नहीं दिखाई। इसी का परिणाम है कि अपनी इस लंबी यात्रा में स्वल्प पाथेय लेकर ही वह चली, लेकिन आज उसके सामने शक्ति की वैसी दीनता और हीनता नही है जो पहले थी। विभिन्न भाषाओ से शब्द और शैली अपनाकर अभिव्यंजना की प्रत्येक दृष्टि से हिंदी ने अपने को समर्थ बनाया। ज्ञान विज्ञान का क्षेत्र ज्यो ज्यो विस्तृत होता गया, लोगो का मानसिक और बौद्धिक स्तर भी ऊँचा उठता गया। इससे अभिव्यक्ति की नित्य नई समस्या सामने आने लगी, क्योंकि पहले न तो वैसे भाव विचार थे, न चिंतन मनन का वह ढंग ही था। बढ़ती हुई आवश्यकताओ के लिये हिंदी की शक्ति पर्याप्त नहीं थी। अतः वह संपन्नता इस ग्रहणशीलता से ही आई। ग्रीक, लैटिन, अंगरेजी, मराठी, अरबी, फारसी, संस्कृत अनेक भाषाओ से शब्द अपनाए गए और आज स्थिति यह है कि कई भाषाओ के बहुत से शब्द तो हिंदी के ऐसे अपने हो गए कि यह भी समझना मुश्किल है कि ये हिंदी के नही हैं। जैसे अँगरेजी के वोट, सर्कस, रेडियो, प्रेस, सिनेमा, टिकट, फैशन, पालिसी, होटल, लेट, सम्मन, काग्रेस, नोटिस; मराठी के बाजू, चालू, लागू, घटाटोप, प्रगति। अरबी फारसी के मैदान, कागज, मिरजई, मौसम, पंजा। इसी तरह ग्रीक लैटिन आदि अन्य अनेक भाषाओ के शब्द हिंदी के नितांत निजी हो गए हैं।

संस्कृत का ऋण

संस्कृत का तो हिंदी पर अपार ऋण है। हिंदी साहित्य का जो भी कुछ है, उसका अधिकांश संस्कृत का ही दान है, शब्द, शैली, पदरचना, व्याकरण, अलंकार आदि। गोष्ठी साहित्य की संकुचित सीमा से निकलकर साहित्य जब जनता के विशाल क्षेत्र में आया, तब भाषा की सहजता का प्रश्न प्रस्तुत हुआ और लोगो ने संस्कृत के तत्सम शब्दो का कम से कम व्यवहार करने का संकल्प किया, जिसमें सर्वसाधारण के लिये वक्तव्य सुगम हो। किंतु न चाहते हुए भी संस्कृत का सहारा लिए बिना काम नहीं चल सकता। आज जो सबसे बड़ी समस्या सामने है, वह है पारिभाषिक शब्दावली की। शासन और शिक्षा का हिंदीकरण हो रहा है। ज्ञान विज्ञान की दौड़ में संसार के समकक्ष होने के लिये

विषयों के विस्तार के अनुकूल शब्दभंडार की अनिवार्यता है और तब अपना अभाव बुरी तरह खटकता है। पदार्थविज्ञान, रसायन, चिकित्साशास्त्र, गणित, भूगोल, मनोविज्ञान, दर्शन, शासन, अर्थशास्त्र, साहित्य शास्त्र सबकी पारिभाषिक शब्दावली चाहिए और वैसी शब्दावली के निर्माण की समर्थता और संपन्नता संस्कृत में ही है। या तो वैसे शब्द संस्कृत से ही लिए जा सकते हैं या संस्कृत शब्दों के आधार पर ही सुगमता से बनाए जा सकते हैं। चेष्टा और उपाय दूसरे प्रकार से भी किए गए हैं, लेकिन सफलता नहीं मिल सकी। मिलने की संभावना भी नहीं। वह संपन्नता और शक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत से ही यह काम सुगमता तथा सुंदरता से हो सकता है। जैसे समालोचना के क्षेत्र में प्रयुक्त होनेवाले शब्द–आर्ट=कला; आर्ट फौर आर्ट्‌स सेक=कला कला के लिये; पोएटिक जस्टिस=काव्यन्याय, स्टाइल=शैली; रियलिज्म=यथार्थवाद; आइडियलिज्म=आदर्शवाद, एक्सप्रेशनिज्म=अभिव्यक्तिवाद। विज्ञान में—थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी=सापेक्षवाद, सेंटर ऑफ ग्रैविटी=केंद्राकर्षण शक्ति; फिजियोलाजी=शरीरविज्ञान; स्पैक्ट्रम एनेलिसिस=किरणविकरण। इसी प्रकार विविध विषयों के लेवर=श्रम, इनसाइक्लोपेडिया=विश्वकोश, सोशलिज्म=समाजवाद; लोकलसेल्फ गवर्नमेंट=स्वायत्त शासन, कामन सेंस=सहज बुद्धि, कंटेंपोरेरी=समसामयिक।

संस्कृत का अक्षय भंडार

शब्दनिर्माण की जो शक्ति संस्कृत में है, वह दूसरी भाषा में नहीं। इसमें धातुओं के आधार पर उपसर्ग, प्रत्यय के योग से बड़ी सुगमता से नए शब्द गढ़ लिए जा सकते हैं। इस पद्धति का प्रयोग बँगला में सफलतापूर्वक पहले ही किया जा चुका था। हिंदी का शब्दभंडार बढाने की जब आवश्यकता पड़ी तब वही प्रणाली अपनाई गई। ध्यान से देखा जाय तो आज हिंदी के जो भी नए शब्द बने हैं, उनमें से अस्सी नब्बे प्रतिशत शब्द इसी पद्धति से बनाए गए हैं। यह योग्यता एकमात्र संस्कृत में ही है। परंतु भाषा पर संस्कृत के प्रभाव का मात्र यही कारण नहीं है। राष्ट्रीयता के उन्मेष ने प्राचीन गौरव के पुनरुत्थान की जो जागृति उत्पन्न की, उससे अपनी प्राचीन संस्कृति, प्राचीन साहित्य, प्राचीन शिल्प की ओर ध्यान जाना आवश्यक था। गौरव की ये सारी निधियाँ संस्कृत के अक्षय-भंडार में ही सुरक्षित थीं, जिसका अध्ययन मनन स्वभावतया बढ गया। अँगरेजी भाषा के प्रभाव से अपनी भाषा, अपनी संस्कृति के प्रति जो एक उदासीनता सी फैल रही थी, उसकी ओर से लोग खिंचे। भरसक ऐसे प्रयत्न होने लगे कि अँगरेजी शब्दों के प्रयोग से मुक्ति मिले। उर्दू से भी चिढ़ हो चली थी। इन दो भाषाओं के प्रश्न का रूप साप्रदायिक हो चला था। एक मुसलमानों की भाषा

हो गई, दूसरी हिंदुओं की। सांप्रदायिकता का रंग चढ़ाकर भाषाप्रेम को कट्टर बना दिया गया। उर्दूवालों के हिंदीविरोध ने हिंदीवालों में उर्दूविरोध का भाव सुदृढ़ किया। हिंदीविरोधियों ने यहाँ तक कहा था कि संयुक्त प्रांत में हिंदी नाम की न कोई भाषा पहले थी, न अब है। इसका मुँहतोड़ उत्तर दिया गया और, लोगों को यह कहकर उर्दू की तरफ से विमुख करने की चेष्टा की गई कि वह उन लोगों की भाषा है, जिन्होंने हम पर बड़े बड़े अत्याचार किए हैं। अपने विश्वकोश की भूमिका में मथुराप्रसाद मिश्र ने स्पष्ट लिखा—जनता के चरित्र को ऊँचा उठाना चाहिए। उन्हें लिखना पढ़ना सिखाना चाहिए, लेकिन उनकी भाषा में नहीं, जिन्होंने उनके साथ बुरा वर्ताव किया है, गालियाँ सुनाईं और अत्याचार किया, बल्कि अपने पूर्वजों की उस भाषा में शिक्षा देनी चाहिए, जो उनकी मूल्यवान विरासत है[1]। इस तरह के वातावरण से स्वभावतया संस्कृत के भंडार की ओर लोग झुके जो उनकी पैत्रिक संपत्ति थी और जिसमें अक्षय धन था। हिंदी शब्दभंडार में संस्कृत के शब्दों की बहुलता का यह भी एक कारण है।

उर्दू के शब्द

गंभीर ग्रंथरचना में तो यह निभ गया, लेकिन व्यावहारिक भाषा और ललित साहित्य की भाषा में उर्दू से परहेज संभव नहीं हो सका, बल्कि जहाँ लोग जिद पर अड़े रहे वहाँ समर्थता की दृष्टि से क्षति भी हुई। उर्दू की जो सादगी, शक्ति और लोच है, उससे वंचित रहना पड़ा। इसीलिये प्रयोग की दृष्टि से भाषा के रूप पर कई मत हो गए और व्यवहार मे किसी न किसी रूप में वह चलती रही। अरबी फारसी के जो शब्द जनता की जबान पर चढ़ गए थे, वे भाषा में घुल मिल गए। वे चलते रहे क्योंकि सदियों तक हिंदू मुसलमान साथ साथ रहे। कई सौ वर्षों तक भावों का आदान प्रदान चलता रहा। इसीलिये मानना होगा कि दोनों का संबंध ऐतिहासिक और सांस्कृतिक होने से अविच्छिन्न है। हिंदी पर इसीलिये उसका प्रभाव अमिट रहा। उर्दू के कुछ श्रेष्ठ लेखकों—प्रेमचंद, सुदर्शन आदि के हिंदी लेखन से भी हिंदी पर उर्दू की छाप पड़ी। एक नई शैली ही बन गई। भाषा निखरी, उसमें प्रवाह आया। उर्दू शैली की अपनी एक खास सजीवता है।

[1] दी कैरेक्टर ऑफ दी मास ऑफ दी पीपुल इज़ टु बी रेज्ड। दे मस्ट बी टौट टु रीड ऐंड राइट—नोट इन दी लैंग्वेज ऑफ दोज़ बाइ हूम दे वेयर इलट्रीटेड, एब्युज्ड ऐंड ओप्रेस्ड, बट इन दी जीनियल स्पीच ऑफ दीयर एन्सेस्टर्स, हिच इज दीयर वेल्युबुल इनहैरिटेंस।

बोलियों से शब्दों का ऋण

हिंदी का शब्दभंडार समृद्ध करने में बोलियो से भी काफी सहायता पहुँची। प्रारंभिक स्थिति मे नए शब्दो की आवश्यकता की पूर्ति बोलियो के सहारे ही की जाती रही, क्योकि बोलियो से शब्द ग्रहण किए बिना सभी भावो को ठीक ठीक व्यक्त करना संभव नहीं था। इस प्रकार तत्कालीन साहित्य मे ऐसे शब्दो की भरमार मिलती है। यद्यपि सभी प्रदेशो के सब लोगो के लिये उनका समझना दुष्कर था। आज उनमें से बहुत से शब्द अच्छे अर्थबोधक और उपयुक्त प्रतीत होने लगे हैं। जैसे झमेला, चोचला, टंटा बखेडा, ठसाठस, धकियाना। शब्दो के अभाव में अच्छे से अच्छे लेखको ने भी बोलचाल के शब्दो की शरण ली। 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' मे अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अवध और बनारस के गँवही शब्दो के प्रयोग किए हैं। हरिऔध जी ने 'हिंदी भाषा का इतिहास' में उल्लेख किया है कि बिहार के बाबू रामदीन सिंह ने उनसे आग्रह किया था कि ग्रियर्सन साहब की इच्छा है कि कोई ऐसी किताब लिखी जाय, जिसमें न तो सस्कृत के शब्द हो न किसी दूसरी भाषा के। 'ठेठ हिंदी का ठाठ' में हरिऔध जी ने यही कोशिश की।

'सूरज वैसा ही चमकता है, बयार वैसी ही चलती है। धूप वैसी ही उजली है, रूख वैसे ही ठोरो खड़े हैं, उनकी हरियाली भी वैसी ही है बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे धीरे डोलते हैं, चिडियॉ वैसी ही बोल रही हैं। रात में चॉद वैसे ही निकला, धरती पर चॉदनी वैसी ही छिटकी, तारे वैसे ही निकले। सब कुछ वैसा ही है। जान पडता है, देवबाला मरी नहीं है।'

ग्रियर्सन साहब ने रामदीन सिंह को इस पुस्तक के लिये बधाई का पत्र भी भेजा था[1]। इन दोनो प्रयोगों में हरिऔध जी ने बरखा, ऊमस, अमरित जैसे बोलचाल के शब्दो का अधिकता से प्रयोग किया है। इस प्रकार विभिन्न बोलियो के अनेकानेक शब्द—चिरैारी, अगोरना, अंडस, डोकरा, हुमचना, भभरना, सोह-राना, कबाहत—साहित्य मे आ गए। उस समय, जब शब्दो का अभाव खटकता था, इसके अतिरिक्त उपाय भी क्या था।

[1] 'ठेठ हिंदी का ठाट' के सफलता और उत्तमता से प्रकाश होने के लिये मै आपको बधाई देता हूँ। यह एक प्रशंसनीय पुस्तक है। "मुझे आशा है कि इसकी बिक्री बहुत होगी जिसके कि यह योग्य है। आप कृपा करके पं० अयोध्यासिंह से कहिए कि मुझे इस बात का हर्ष है कि उन्होंने सफलता के साथ यह सिद्ध कर दिया कि बिना अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग किए ललित और ओजस्विनी हिंदी लिखना सुगम है।

शब्दसंपद् में अँगरेजी का योग

अँगरेजी शब्दो के व्यवहार मे बहुत हद तक विवशता रही। आधुनिकता के आगमन के साथ साथ ज्ञान विज्ञान की जितनी शाखाएँ प्रशाखाएँ बढ़ीं, वे सर्वथा नई थी। उनको ठीक ठीक कह सके, बता सके, समझा सके, इसके लिये हमारे पास उपयुक्त शब्द नही थे। तत्काल ही सबके प्रतिशब्द गढ़े नहीं जा सकते थे। वक्तव्य विषय को प्रकट करने मे पद पद पर लोगो को बाधा होती थी। या तो ज्यो का त्यो अँगरेजी शब्दो को उठाकर रख दे या नए शब्द बनाएँ तो अप्रच-लित होने के कारण मूल शब्द को कोष्ठक मे दे दे। बहुत से ऐसे अँगरेजी शब्दो के हिंदी रूप बन गए है, लेकिन वे मूल रूप मे भी चल रहे हैं। यथा एक्जिबिशन, पब्लिक, सर्विस, लेट, फीस, टाइपराइटर, कोलोनी, युनिवर्सिटी आदि।

वाक्यांश और मुहावरा

अँगरेजी का हिंदी पर बहुत अधिक प्रभाव पडा है। मूलरूप में जो शब्द आए, उनकी तो बात ही अलग है, अँगरेजी के आधार पर बहुत से शब्द, वाक्यांश तक हिंदी में बन गए। साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद, नौकरशाही, गणतंत्र, जनतंत्र, प्रजातंत्र जैसे अनेक शब्दो का निर्माण अँगरेजी से हुआ है। वाक्यांशो में—विहंगम दृष्टि (ए बर्ड्स आइ व्यु), स्वर्णिम भविष्य (गोल्डेन फ्युचर), रँगे हाथो पकड़ना (टु कैच रेड हैंडेड), दृष्टिकोण (एंगिल ऑफ विजन), स्वर्णयुग (गोल्डेन एज), हवाई किला (कैस्ले इन द एयर), विचारबिंदु (पाइंट ऑफ व्यु) आदि। कविता में भी अँगरेजी का यह व्यापक प्रभाव पड़ा है—स्वप्निल मुस्कान, स्वर्गीय प्रकाश, रेखांकित, स्वर्णिमस्पर्श, भग्नहृदय अजान जैसे शब्द क्रम से ड्रीमी स्माइल, हेवन्ली लाइट, अंडर लाइन्ड, गोल्डेन टच, ब्रोकेन हर्ट, इनोसेंट का ही रूपातर है। बहुत बार कहावत और मुहावरे तक अँगरेजी से रूपातरित हुए हैं—पैर के नीचे घास उगने देना (टु लेट ग्रास ग्रो अंडर दी फीट), इतिहास का नया पन्ना पलटना (टु टर्न ए न्यू लीफ इन हिस्ट्री) आदि।

नामधातु

भाव विपय की विविधता को उपयुक्त अभिव्यक्ति देने की सुविधा के लिये शब्दवैभव बढाने की दृष्टि से हिंदी ने कुछ दूसरी भाषाओ के शब्दो को अपनाया अवश्य है, किंतु इसका यह अभिप्राय नही कि उसमे शब्दनिर्माण की निजी शक्ति या विशेषता रही ही नहीं है। उसने अपने ढंग से शब्द गढे भी हैं और वे शब्द न केवल व्यंजक शक्ति के लिये उपयुक्त सिद्ध हुए, सहज और सुंदर भी हैं। उदाहरण के लिए नामधातु को लें। नामधातुएँ आर्यभाषाओ में बहुत पहले

से पाई जाती है। इसके अनुसार संज्ञा या विशेषण में क्रिया के प्रत्यय जोड देने मात्र से नामधातु बनते हैं। जैसे, बात-बतियाना, दुख-दुखाना; हाथ-हथियाना, पानी-पनियाना आदि। दूसरी भाषाओ के भी बहुत से शब्दो को इसी पद्धति से सर्वथा हिंदी का बना लिया गया है। जैसे, अरबी फारसी के शब्दो को—खर्च-खर्चना या खरचना, दाग-दागना, गुज़र-गुजरना आदि। संस्कृत के शब्दों मे प्रत्यय लगाकर—जैसे, स्वीकार-स्वीकारना; धिक्कार-धिक्कारना आदि। यहाँ तक कि बहुत बार अँगरेजी आदि के शब्दो को भी इस ढंग से निजी बना लिया गया है। जैसे, फिल्म-फिल्माना।

हिंदी नामधातु के बीच आनेवाले इस 'आ' का संबंध संस्कृत के नाम धातुचिह्न 'आय्' से जोड़ा जाता है। यह भी कहा जाता है कि इसपर प्रेरणार्थक 'आपय्' का भी प्रभाव है। किंतु हिंदी में प्रेरणार्थक 'आ' और नामधातु के 'आ' के रूप में विशेष कोई अंतर नही है। नामधातु के बारे में श्री किशोरीदास वाजपेयी का कहना है—'स्वर्ण, पीतल आदि धातुओ से विविध आभूषण तथा पात्र आदि बनते हैं, और वे सब फिर धातुरूप में आ जाते हैं। इसी तरह भाषा में धातुओ से विविध आख्यात तथा (कृदंत) संज्ञा विशेषण आदि बनते हैं।'

सज्ञा और विशेषण के ही समान अनुकरणमूलक शब्दो में भी 'आ' प्रत्यय लगाने से नामधातु बनते हैं। जैसे, मनमन-मनमनाना; खटखट—खटखटाना, में में—मिमियाना; हुनहुन—हुनहुनाना; थरथर—थरथराना, सनसन—सनसनाना आदि।

संज्ञा में क्रिया का योग

इनके अतिरिक्त भी हिंदी में एक विशेषता और है। वह है, किसी भी संज्ञा शब्द के साथ ऐसी क्रिया का प्रयोग जो करना या बनाना का अर्थ देती हो। उदाहरण के लिये—विचार, विचार करना, विश्वास, विश्वास करना। यह रीति जितनी सहज है, उतनी ही उपयुक्त भी है। इससे दो लाभ तो प्रत्यक्ष होते हैं। एक यह कि क्रियारूप बनाने में प्रत्यय का सहारा नहीं लेना पड़ता। दूसरा यह कि वह दुरुहता दूर हो जाती है जो कि संज्ञा को ही क्रिया के रूप में व्यवहृत करने से आ जाती है। ऐसे व्यवहार में कुछ विस्तार तो आता है परन्तु वह अर्थ बहुत स्पष्ट हो जाता है, जिससे शब्द के विभिन्न प्रयोग और उन्हें याद रखने मे सुविधा होती है। जैसे, प्रत्यय का सहारा न लेने की सुविधा—अंग्रेजी में होता है फूल—बीफूल (Fool-befool), स्टेबुल—स्टेबिलाइज (Stable-stabilise) और हिंदी में बना लिया मूर्ख या बेवकूफ बनाना, पक्का या मजबूत करना। और, संज्ञा को ही क्रिया न बनाना—जैसे, अंग्रेजी में फाइट—टुफाइट (Fight-

to fight), सर्च—टुसर्च (Search-to search) । हिंदी में बन गया लड़ाई करना और खोज करना। हिंदी की इस रीति का सहजता के लिये अंग्रेजी में भी अपनाने की चेष्टा चली है। 'वेसिक इंगलिश' का नया प्रयास यही है, ताकि वह सबके लिये सहज बोध्य हो।

विजातीय शब्दग्रहण में निजता

विजातीय शब्दो को अपने ढंग से अपना बना लेने की विशेषता का भी विशेष परिचय हिंदी ने दिया है। शब्दो को कुछ इस रूप मे बनाया गया है कि वह सर्वथा अपने से हो गए हैं। बने अवश्य दूसरी भाषा के शब्द से किंतु उनमें मूल की छूत का जरा भी आभास नहीं, हिंदी की निजता ही उसमें झलकती है। उदाहरण स्वरूप—आपरेशन का चीरफाड़; स्काउट का बालचर, पैट्रियट का देशसेवक, वायरलेस का बेतार, पोजिटिव एंड नेगेटिव वायर्स का ठंढा तार–गरम तार, बैंड ऑफ हेल्प का सेवादल आदि।

अनुवादात्मक समास

अनुवादात्मक समस्त पद या समास प्रायः सभी भाषाओं में पाए जाते हैं। पारस्परिक आदान-प्रदान के लिये इसकी अनिवार्यता भी है। किसी भी भाषा में किसी विदेशी शब्द के प्रयोग में यह आवश्यक हो जाता है कि उसे उसी अर्थ-बोधक स्वदेशी शब्द द्वारा सर्वजनबोध्य कर दिया जाय। लगभग प्रत्येक जीवित भाषा ने ऐसा किया है। किंतु हिंदी में कुछ ऐसे अनुवादात्मक समास प्रचलित हैं, जिनमें विदेशी शब्दो की स्वदेशी शब्दो से व्याख्या की प्रणाली सर्वथा भिन्न है; और ऐसे शब्द हिंदी में बहुत से हैं—जैसे, सील मुहर। सील अंग्रेजी का शब्द है, अर्थ है नामांकित मुद्रा और इसी अर्थ का फारसी शब्द है मुहर। दोनों एक ही अर्थ देनेवाले शब्द हैं और जुड़कर व्यवहृत होते हैं। इस प्रकार एक कोई विदेशी शब्द और एक या तो अपने या अन्य भाषा के अपनाए शब्द के समस्त पद हिंदी में अनेक मिलते हैं। जैसे, राजा बादशाह (राजा स्वदेशी और बादशाह फारसी), धन दौलत (धन देशी और दौलत फारसी), शाकसब्जी (शाक संस्कृत और सब्जी फारसी), खेल तमाशा (खेल स्वदेशी और तमाशा फारसी), हाटबाजार (हाट भारतीय और बाजार फारसी), कागज पत्र (कागज फारसी और पत्र संस्कृत) आदि।

प्रभाव का माध्यम बँगला

हिंदी का शब्दसंपद् बढ़ाने में अँगरेजी के बाद बँगला का ही स्थान है। बँगला से आई हुई शब्दावली अधिकाश में मूलतः संस्कृत ही है, किंतु वह बँगला के माध्यम से ही आई। हिंदी ने उन्हें वास्तव में बँगला से अपनाया। जैसे—अप्रतिहत, अवसन्न, आप्लुत, संभ्रव, स्मश्रु, प्रकोष्ठ, दोर्दंड, उत्ताल, विचक्षण,

निष्पत्ति, उच्छ्वसित, प्रसाधन, आशैशव, निसिक्त आदि। कविता में ध्वनिव्यंजक सुमधुर शब्दो में से अनेक, जैसे —कलकल, छलछल, कलरव, कोलाहल, निर्झर, झरझर, हरहर, मर्मर, गुनगुन।[1] ये शब्द बँगला के ही नही हैं, किंतु हिंदी में इनके प्रयोग की तत्परता बँगला के ही संस्पर्श से आई। कोई सदेह नही कि बँगला का हिंदी पर बहुत बड़ा ऋण है, किंतु उस ऋण का स्वरूप दूसरा है। मूलतया वह ऋण वास्तव में संस्कृत या अँगरेजी का है, केवल विनिमय की मध्यस्थता बँगला की रही है। बँगला बीच में सुविधा के सेतु का काम करती रही। संस्कृत और अंगरेजी के भाव प्रभाव से बँगला पहले से ही उद्बुद्ध हो रही थी। उसके द्वारा उन नवीनताओं के ग्रहण मे हिंदी को सुगमता हुई। बँगला से अनुवाद करके हिंदी को अपना क्षीण भंडार पुष्ट करने का सुयोग और सुविधा दूसरी भाषाओं की अपेक्षा ज्यादा थी। द्विजेंद्रलाल के नाटक, बंकिमचंद्र के उपन्यास और रवींद्रनाथ की कविताओं से हिंदी को पाश्चात्य नाट्यकला, औपन्यासिक विधान और काव्यतत्व का अनुकरण करने मे आसानी हुई। द्विजेंद्रलाल की नाट्यकृतियों मे पश्चिमी नाटकीय विधानों का अच्छा परिपाक हुआ है और वह परिपाक भारतीय वातावरण के अनुसार हुआ है। स्काट की उपन्यास शैली के आधार पर बंकिमचंद्र ने अनेक मौलिक उपन्यास लिखे, जिनसे हिंदी उपन्यासकला प्रभावित हुई। नोबुल पुरस्कार पाने के बाद रवींद्रनाथ की खूब ख्याति हुई। उनकी कविता की ओर आकृष्ट होकर हिंदी नए भावों और काव्य के नवीन रूपविधानों से अनुप्राणित हुई। शेक्सपियर के नाटक, स्काट के उपन्यास, शेली, कीट्स आदि की कविताओं के भाव प्रभाव का मार्ग इस प्रकार हिंदी के लिये सुगम और प्रशस्त हुआ।

बहुमुखी परिवर्तन

आधुनिक हिंदी पर यह गहरा प्रभाव प्रत्यक्ष है। साहित्य की सामग्री, शैली सिद्धांत सब कुछ इससे प्रेरित और प्रभावित हुआ। इस प्रभाव के परिणामस्वरूप साहित्य के रूपविधान की नई दृष्टि आई जिससे कलात्मकता का उदय हुआ। पुराने रूपविन्यास, उपकरण और रचनापरंपरा के बदले प्रत्येक दिशा में नवीनता

[1] चातक की आकुल पी पी गुनगुन कलरव भ्रमरों का।
पत्रों की मधुर मर्मरध्वनि कोलाहल गगनचरों का।
निर्झर का झरझर विराव कलकल आराव सरित का।
सागर का वह लहर नाद स्वर हहर हहर मारुत का।

के दर्शन मिलने लगे। प्रकृति और मानव जीवन के व्यापक क्षेत्र से साहित्य की विषयवस्तु का संबंध जुड़ गया। अनेक साहित्यिक रूपो के प्रयोग होने लगे। यह बहुमुखी परिवर्तन अचानक ही हुआ। इससे भाषा में एक अव्यवस्था फैली, पर रूपविधान मे बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तको के वनखंड के स्थान पर महाकाव्य, खंडकाव्य, आख्यानक काव्य (बैलेड्स), प्रेमाख्यानक काव्य (मेट्रिकल रोमांसेज), प्रबंधकाव्य और गीतो से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य मे घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान, भावप्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियो की रचनाएँ हुईं; समालोचना और निबंध की अपूर्व उन्नति हुई। नाटको की भी संतोषजनक उन्नति हुई, यद्यपि इनके विकास के लिये यह आधुनिक काल—साहित्यिक नियमो और विधानों का विरोधी काल, अत्यंत अनुपयुक्त था, क्योकि नाटको की स्थिरता और प्रभाव इन्हीं विधानो पर निर्भर है। केवल पच्चीस वर्षों मे ही भाषा इतनी समृद्ध और शक्तिशालिनी हो गई कि उसमें उत्कृष्ट श्रेणी के गद्य और पद्य सरलतापूर्वक ढाले जाने लगे।[1]

द्विवेदी जी की देन

इस युग के प्रवर्तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। उन्होने साहित्य की बहुमुखी सेवा की। उनका सबसे बड़ा कृतित्व यह है कि उन्होने भाषासंबंधी एक नया प्रतिमान ही प्रस्तुत किया। भाव और भाषा, विषयवस्तु और उपादान, छंद और रूप, गति और परंपरा की दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र मे अनेकमुखिता के कारण जो अव्यवस्था और अस्थिरता आई, उनके समग्र जीवन की तपस्या उसी को व्यवस्थित और सुचारु रूप देने में समर्पित हुई। इसलिये भावविचार और भाषा शैली दोनो में द्विवेदी जी की देन है। बीसवीं सदी के पहले दो दशाब्दो की अवधि में साहित्य संबंधी जो भी आंदोलन हुए, सबपर द्विवेदी जी की सजग साधना की छाप है। मौलिक रचना की दृष्टि से उनकी सेवा साधना का महत्व उतना नहीं है जितना साहित्य की अनेकमुखी सामग्री एकत्र करने तथा बहुतो को साहित्यसेवा के लिये अनुप्रेरित करने में। हिंदी गद्य को उन्होने व्याकरणसंमत शुद्ध रूप दिया। अँग्रेजी के आदर्श पर गद्य के विकास की व्यवस्था की, विभक्ति, विरामचिह्न और पैरेग्राफ की परिपाटी का श्रेय उन्ही को है। किंतु इसका यह मतलब नहीं कि वे एकमात्र अंग्रेजी आदर्श के ही पृष्ठपोषक थे। गति और प्रांजलता के लिये, शब्दसमृद्धि और शुद्धि के लिये, अभिव्यंजना की शक्ति

[1] आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास।

और सादगी के लिये उन्होने अंग्रेजी गद्य का अनुकरण किया-बेकन और मिल की रचनाओ का अनुवाद करके गद्य के आदर्श निदर्शन प्रस्तुत किए—परतु जहाँ तक कविता का प्रश्न है, उन्होने भारतीय आदर्श को ही अपनाया। कुमारसंभव और किरातार्जुनीयम् के सरल पद्यानुवाद से उन्होने काव्यभाषा का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया। अपनी कविताओ में उन्होने शब्द, छंद और विधान में संस्कृत की ही परपरा रखी। नई नई प्रतिभाओ को प्रेरित करके न केवल रचना के लिये उन्मुख किया, वरन् उन्हे नई दृष्टि दी, नया रास्ता दिया और उन्हें समर्थ बनाया। उस युग में ज्ञानविज्ञान की जिन नई दिशाओ का द्वार उद्‌घाटित हुआ, सबके आहरण और प्रचारप्रसार के एकमात्र सफल माध्यम द्विवेदी जी बने। उस काल की 'सरस्वती' के अंको को उलटकर देखने से इस सत्य की सहज ही प्रतीति हो सकती है। प्राचीन भारतीय संस्कृति, साहित्य, इतिहास, देशप्रेम, आर्थिक और राजनीतिक समस्या, देशी विदेशी नवीन विचारधारा; नए चित्र, नई रचनाएँ; यात्रावर्णन, कवि या साहित्यिक का विवरण, पुस्तक परिचय; नए वैज्ञानिक अनुसंधान, दार्शनिक और साहित्यिक मतवाद, हिंदी और सामयिक समस्या, आदि विषयो पर रचनाएँ और टिप्पणियाँ रहती थी, जिनसे हिंदी के व्यापक भावी विकास को दिशा और गति मिली। सन् १९०० ई० से १९२० ई० तक का हिंदी साहित्य सभी दिशाओ में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से द्विवेदी जी की प्रतिभा का ऋणी है। नए युग की अवतारणा के नायक, बहुमुखी विकास के मंत्रदाता और हिंदी की निश्चित प्रगति के पुरोहित वही थे। हिंदी का बहुविध साजसज्जा से सुसज्जित जो मनोरम महल आज खड़ा है, इसकी दृढ भित्ति उन्ही की देन है। साहित्य के उस युग को इसी लिये द्विवेदी युग कहते हैं।

डा० श्री कृष्णलाल ने अपने 'आधुनिक साहित्य का विकास' में बीसवी सदी के प्रथम चतुर्थांश को आठ आठ वर्षो की अवधि के तीन भागो मे विभक्त किया है—अराजकता काल (१९००-१९०८), साहित्यिक व्यवस्था का काल (१९०८-१६) और निश्चित विकासोन्मुख (१९१६-२५)। गति की विशिष्टता के समझने समझाने के लिये ऐसा कालविभाजन सुविधाजनक भले ही हो, किंतु साहित्य के अंत:स्रोत की सही पहचान इससे संभव नही, क्योकि उसकी अंतरात्मा को समय की ऐसी लक्ष्मण रेखा खींचकर नहीं देखा जा सकता—उसके निर्माण और विस्तार का एक लंबा क्रम होता है।

इस अवधि में साहित्य में हमें कुछ नवीन और निश्चित स्वर मिलता है जिसे हम उस युग की विशेषता कहेंगे। संभव है, निर्माणक्रम में उन विशेषताओं की पहले से भी स्थिति रही हो, किंतु वे स्पष्ट इसी अवधि में हुई। उन विशेषताओ में सबसे प्रमुख दो हैं—साहित्य में गीतितत्व

की प्रधानता और कला का उन्मेष। इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों ही लक्षण पाश्चात्य प्रभाव और अनुकरण से ही परिपुष्ट हुए। पश्चिमी साहित्य ने कला और गीतितत्व की प्रेरणा जुगाई और पश्चिम के औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव ने देश में उसके अनुकूल परिवेश प्रस्तुत किया। नाटकों में छंदो की जगह गीत का समावेश हुआ। गद्य में गद्यगीत का एक नया प्रकार ही प्रकट हो गया। उपन्यासो मे इस गीतितत्व के प्रभाव से भावप्रधान उपन्यासो की रचना होने लगी। कविता में गीतरचना तो स्वाभाविक ही थी—गद्य में लयात्मकता लाने का प्रयत्न होने लगा।

व्यक्तिवादी भावना का उन्मेष

विचारको के निष्कर्ष के अनुसार व्यक्तिवादी भावना गीतितत्व की उत्स-भूमि है। पश्चिमी सभ्यता और विज्ञान के प्रचार प्रसार से उस भावना के अनुकूल वातावरण, परिस्थिति और भावभूमि तैयार हो चली थी। कल कारखानो की स्थापना तथा उद्योग धंधो के विस्तार से औद्योगिक नगरो और वर्गों का उदय हुआ। अंग्रेजी शिक्षा से उद्‌बुद्ध मध्यवर्ग को उन्नति से शहरी सभ्यता धीरे धीरे स्थिरता पाने लगी और जीवन की दिनानुदिन बढ़ती हुई व्यस्तता से अन्यों की चिंता का अवकाश हरण कर लोगो को अपनी ही चिंता तक सीमित और स्वमुखी बनाना शुरू किया। भारत की सामंती समाज व्यवस्था टूटने लगी, पूँजीवादी व्यवस्था रूप लेने लगी। व्यक्तिवादी भावना पूंजीवादी समाज व्यवस्था की उपज है।

व्यक्तिभावना और पूँजीवाद

तत्कालीन गीतितत्व के उन्मेष मे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के आभास को मात्र पूंजीवादी व्यवस्था की देन कहना युक्तियुक्त नहीं। उसपर भारत की अपनी दार्शनिक विशेषता और विशेषकर गाधीवाद की छाप है। गांधीवाद के अनुसार व्यक्ति समाज की एक अनिवार्य इकाई है। सैद्धातिक विचार से व्यक्तिनिष्ठ जीवन-दृष्टि को हम पूँजीवाद की उपज भले ही कह लें, किंतु जिस भावभूमि पर साहित्य में यहाँ व्यक्तिमानव की प्रतिष्ठा हुई, वह इससे कुछ पृथक् है। उसमें पूंजीवाद का भी हाथ हो सकता है, किंतु उसकी एकमात्र प्रेरणा वही नहीं है। वैसा होता तो तत्कालीन काव्य अहम् की कुंठा का ही प्रतिरूप होता। काडवेल ने व्यावसायिक क्राति के बाद की स्थिति पर अँग्रेजी रोमाटिक काव्य की निरख परख की है। उसके अनुसार 'व्यावसायिक क्राति किसी हद तक पूंजीवाद के विस्फोट की अवस्था है। इस काल का कवि अपने को समाज से बिल्कुल अलग एक जीव मान लेता है। वह ऐसा व्यक्तिवादी होता है, जो मात्र अपने ही अंतस्तल की प्रेरणाओ की शरण लेता है और समाज के प्रति अपने को जिम्मेदार नहीं मानता।' किंतु

हिंदी काव्य में जिस छायावाद का प्रादुर्भाव हुआ, वह अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य की भाँति नहीं है। कुछ प्रवृत्ति और तत्व की समानता के कारण—जैसे, सौंदर्य और कल्पनावादी दृष्टि, व्यक्तिवादी भावना, स्वच्छंदता की प्रवृत्ति—कुछ लोग दोनो को एक कहते हैं। किंतु गहराई से देखने पर साफ दिखाई देगा कि दोनो की भावभूमियाँ सर्वथा अलग हैं। छायावाद की भित्ति सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और मानवीयता की प्रवृत्तियों पर है। इसी लिये इसमें नैतिकता, संयम और अनुशासन है, जो अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य में नहीं है। आगे चलकर यह व्यक्तिवादिता अहम् अवश्य बन गई। इस युग के बाद के जो उत्तराधिकारी कवि आए, उनमें इसकी पूर्ण परिणति दिखाई देती है।

प्रगीत

हरबर्ट रीड ने एक बहुत सही बात बताई है कि कोई भी विज्ञान हो उसमें जो नई संवेदनाएँ होती हैं वे रूपकों के रूप में तैयार होती हैं। विज्ञान के प्रारंभिक चरण काव्यात्मक होते हैं।[1] उस युग के गीतितत्व की प्रधानता के पीछे मुख्यतया यही सत्य है और इस सत्य का उस युग को एक बहुत बड़ा दान मिला प्रगीत। अपने साहित्य शास्त्र में ऐसे भाव गीतों से प्रबंध काव्य को कहीं श्रेष्ठ कहा गया है। किंतु प्रबंधकाव्य की अपेक्षा नितांत छोटा क्षेत्र होते हुए भी भावना की जैसी मार्मिक अभिव्यक्ति इसमें संभव है, आख्यानक काव्य में वैसी नहीं है। कवि का व्यक्तित्व संपूर्णतया प्रगीतों में ही प्रस्फुटित हो सकता है। कवि की आत्मा का सौरभ, उसके मर्म के प्रकाश का साधन प्रगीत है। नंददुलारे वाजपेयी ने प्रगीत की इस विशेषता पर तुलनात्मक ढंग से बहुत सुंदर विचार व्यक्त किए हैं। प्रगीत काव्य में कवि की भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है उसमें किसी प्रकार के विजातीय द्रव्य के लिये स्थान नहीं रहता। प्रगीतों में ही कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिबिंबित होता है। वह कवि की सच्ची आत्माभिव्यंजना होती है। कथानक काव्यों में जीवन के भावात्मक संघर्ष और चरित्रों की रूपरेखा रहा करती है, पर कवि के अंतस्तल का उद्घाटन प्रगीत में ही संभव है। प्रबंधकाव्य में दृश्यचित्रण के साथ इतिवृत्त भी लगा रहता है, परंतु प्रगीतरचना में कविता इन समस्त उपचारों से विरत होकर केवल कविता या भावप्रतिमा बन कर आती है। संगीत के स्वरों की भाँति प्रतीति के शब्द ही अपनी भावना इकाइयों से कविता का निर्माण करते हैं, उनमें शब्द और अर्थ, लय और छंद

1. कला और मानव का विकास।

अथवा रूप और निरूप्य की अभिन्नता हो जाती है। प्रबंधकाव्य कविता का आवृत और आच्छादित रूप है। प्रगीतकाव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है। प्रबंधकाव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बीज आदि के निकालने पर ही किया जा सकता है तो प्रगीतरचना उसी फल का द्रव रस है, जिसे हम तत्काल पी सकते है।

कलात्मकता और वैयक्तिक स्वतंत्रता

कला की महत्ता बढने के कारण भी लगभग वे ही थे जो गीतितत्व की प्रधानता के जनक हुए। उन कारणो में प्रमुख कारण हुआ व्यक्तिवाद का विकास। युग की सबसे महत्व की एवं अभूतपूर्व घटना हुई सार्वजनिक समानाधिकार की भावना का प्रसार। जहाँ वर्णव्यवस्था पर समाज का ढाँचा खड़ा था, ऊँच नीच के अनुसार सामाजिक अधिकार का बँटवारा था, वहाँ सर्वसाधारण में सम भाव का प्रादुर्भाव हुआ। शिक्षण संस्थाओं तथा अदालतो के द्वारा बौद्धिक और वैधानिक समानता की सुविधा प्राप्त हो गई। व्यक्तिभावना को इससे बल मिला और साहित्य मे अंतर्भावना की स्वीकृति पर मुहर लगती गई। व्यक्तिवाद की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भावना के साथ कला की परंपरागत परिपाटियाँ और मान्यताएँ टूटने लगीं, उसका नया महल वास्तविकता की नई नीव पर खड़ा होने लगा। राजनीतिक स्वतंत्रता के बढ़ने हुए संघर्ष में कलात्मक और वैयक्तिक स्वतंत्रता की भी जड़ मजबूत होती गई। नई आस्था की उद्‌भावना प्रबलतर जरूर हुई, किंतु पुरानी व्यवस्था को पूर्णतया उखाड़ फेंकना सहज संभव न था। फलस्वरूप पुरानी रूढ़ियाँ टूटकर बिखर नहीं गई, उनपर नई दृष्टि ने नया रंग चढ़ाया। काव्यगत पात्रो का देवत्व और अवतारत्व अलौकिकता के कल्पना स्वर्ग से उतरकर उन्नत मानवता की वेदी पर प्रतिष्ठित हुआ। तत्कालीन रचनात्मक साहित्य में इस नई दृष्टि की एक विशेष देन हम यह देखते हैं कि काव्यकृतियाँ नायक के बदले नायिकाप्रधान होने लगीं। हरिऔध जी का 'प्रियप्रवास' और मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' इसके उदाहरण हैं। एक में राधा और दूसरे में उर्मिला का चरित्र प्रधान है। इतना ही नहीं, प्राचीन परिपाटी में नायक मे सर्वमान्य गुण की अनिवार्यता जो एक आवश्यक शर्त थी, वह भी टूट गई। जो राधा सूर में लौकिक प्रेम की पराकाष्ठा में आध्यात्मिकता की पावन प्रतीक थी, हरिऔध के 'प्रियप्रवास' में वह एक समाजसेविका के रूप में सामने आई।

कला की नई दृष्टि

कला की इस दृष्टि में हमें पूर्वगत परंपरा से कहीं अधिक कल्पनाप्रवणता, संवेदनशीलता और मानवीयता के दर्शन होते हैं। यह इस बात का परिचायक

है कि इस युग की नवोदित चेतना मुख्यतया संस्कार की थी। सुधार की आकांक्षा आदर्शवादी होती है। इसी लिये व्यक्तिवादी चेतना सामाजिक प्रयोजन की ही अंगी हो गई, व्यक्तित्व की विशिष्टता बन गई सामाजिक उपादेयता की प्रेरणा। इसी लिये तत्कालीन साहित्यिक कृतियों मे आदर्श चरित्रों की अवतारणा द्वारा लोकमंगल की भावना को प्रोत्साहन दिया गया है, आदर्शवाद के प्रति अपने आप ही आस्था प्रकट हुई है। कला की दृष्टि से इस युग को जो भी स्थान मिले, युगचेतना को पूर्णतया प्रतिबिंबित करने में उनकी विश्वस्त तत्परता से इनकार नहीं किया जा सकता। युग की विषम जटिलताएँ आदर्शवादी प्रवृत्ति के कारण स्पष्ट रूप नहीं पा सकीं, किंतु राष्ट्रीयता, मानवीयता, तथा अन्य कुछ बौद्धिक व्याख्याओं के कारण पिछले काव्य की अपेक्षा हम इसे अधिक आधुनिक कहेंगे। नए शिल्पमाध्यम से पुरानी विषयवस्तु की अभिव्यक्ति निजत्व का विरोधी भी नहीं है। रूप, लय, बिंबपरिवर्तन किसी भी रूप में आ सकता है।

नए शिल्पमाध्यम का प्रयोग

प्रयोग, शब्दो को ऐसे कवियों की कृतियों के लिये संमानपूर्वक किया जाता है, जो प्रौढता में परिणत होकर विकास प्राप्त करते हैं। प्रौढता के साथ साथ मनुष्य नई विषयवस्तु की ओर मुड़ता है या वह पुरानी विषयवस्तु को ही नए शिल्पमाध्यम से प्रस्तुत करता है—क्योंकि हमारा आदिम स्व और वर्तमान स्व—दोनो, दो दुनिया मे रहने लगते हैं या उसी दुनियाँ में भिन्न व्यक्ति हो जाते हैं। ये परिवर्तन लयात्मक, बिंबगत अथवा रूपगत, किसी भी प्रकार के परिवर्तन पथ से आ सकते हैं, सच्चा प्रयोक्ता अस्थिर कौतूहल या नई स्थापना की इच्छा या चमत्कृत करने की प्रवृत्ति से ही परिचालित नहीं होता, वह एक कवि के रूप में प्रत्येक नई कविता मे, अपनी पिछली कविताओं के समान, नई संवेदनाओं के लिये, जिसके विकास पर उसका कोई वश नहीं, उचित माध्यम खोजने की अनिवार्यता से विवश होता है।[1]

[1] दी वर्ड एक्सपेरिमेंटेशन मे बी एप्लाइड ऐंड औनरेबली एप्लाइड, टु द वर्क ऑफ मैनी पोएट्स टू डेवलेप ऐंड चेंज इमैच्युरिटी ऐज ए मैन ग्रोज ओल्डर, ही मे टर्न टु न्यू सब्जेक्ट मैटर, आर ही मे ट्रीट दि सेम मीटिरियल इन ए डिफरेंट वे, ऐज वी बोथ लीव इन ए डिफरेंट वर्ल्ड ऐंड बिकम डिफरेंट मेन इन द सेम वर्ल्ड। दी चेंजेज मे बी एक्सप्रेस्ड बाइ ए चेंज ऑफ रिद्म, ऑफ इमेजरी ऑफ फौर्मः दो ट्रू एक्सपेरिमेंटर इज नाट इम्पेल्ड बाइ रेस्टलेस क्युरिऔसिटी, आर बाइ डिजायर फौर नो-वेल्टी, और द विश टु सरप्राइज ऐंड ऐस्टोनिश बट बाइ दी कंपल्सन टु फाइंड, इन एवरी न्यू पोएम ऐज इन हिज अरलिएस्ट दी राइट फौर्म फॉर फिलिंग्स ओवर दी डेवलेपमेंट ऑफ ह्विच ही हैज ए पोएट, नो कंट्रोल। टी० सी० इलियट—सेलेक्टेड प्रोज।

समन्वयवादी दृष्टिकोण

यह युग साहित्य का संक्रांति काल था। नवीनता का प्रभाव बढ़ रहा था और धर्मभावना का रूढ़िगत प्रभाव पूर्णतया छूट नही पा रहा था। पुराने आख्यान और चरित्रो की अलौकिकता का मज्जागत मोह अब भी शेष था। इसलिये आदर्श और मर्यादा का समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रकट हुआ। समन्वय की यह चेतना दोनो दिशाओ में दिखाई दी—प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य। साहित्यिक व्यवस्था के लिये आदर्श के चुनाव की समस्या थी कि कौन सा आदर्श ग्रहण किया जाय? और इसमे दोनो मतो के पोषक, दोनो आदर्शों के अनुयायी आगे आए। एक वे जो परंपरागत प्राचीन आदर्शों के प्रति पश्चिमी भौतिकवाद की प्रतिक्रिया से और अधिक आकृष्ट हुए और दूसरे वे जो पश्चिम से आई हुई नई सभ्यता और आदर्शों के अनुयायी थे। उस युग की क्रियाशीलता में दोनो आदर्शों के अनुकरण के पर्याप्त निदर्शन हैं। द्विवेदी जी का उल्लेख हम कर आए हैं। जहाँ तक गद्य का प्रश्न था, वे अँगरेजी आदर्श के पृष्ठपोषक थे, किंतु काव्य के मामले मे अपनी परंपरा के अनुयायी रहे। एक ओर उन्होने बेकन और मिल की रचनाओ का अनुवाद किया, दूसरी ओर संस्कृत के 'कुमारसंभव' और 'किरातार्जुनीयम्' का। यही नही, उन्होने काव्य के लिये अपनी शास्त्रीय रीति का अनुमोदन भी किया। ठीक इसी प्रकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल पश्चिमी यथार्थवाद के पोषक रहे, किंतु कविता के क्षेत्र मे भारतीय काव्यपरंपरा को ही अपनाया। श्रीधर पाठक ने अँगरेजी से 'डेजर्टेड विलेज', 'ट्रैवलर' और 'हरमिट' का तथा संस्कृत से 'ऋतुसंहार' का पद्यानुवाद किया। लेकिन व्यापकता के क्षेत्र में विचार करने पर यह सत्य स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम की स्वीकृति औपचारिक ही थी। पश्चिमी प्रभाव आतरिकता की सतह पर आसन नही जमा पाया था। साहित्य में भाव, भाषा, रूपविधान मे पुरानी विशेषताएँ ही अधिक थीं। पात्रो की भावना और व्यक्तित्व की प्रधानता होते हुए भी अभिव्यक्ति मे भावनात्मक प्रबलता रही। थोड़े मे, साहित्य की यह स्थिति प्रयोगात्मक थी, पुरानी परंपरा का प्रभाव शेष था और कला अपनी प्रारंभिक दशा में प्रवेश भर कर पाई।

साहित्य के उन्नत भविष्य की भूमिका

फिर भी साहित्य के इतिहास मे इस युग का अपना महत्व है। इन्हीं दो दशाब्दो में कुछ ऐसी प्रतिभाएँ साहित्य क्षेत्र में प्रकट होती हैं, जिनके कृतित्व से आगे चलकर साहित्य का आकाश समुज्ज्वल होता है। उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, समालोचना साहित्य के सभी अंगो की स्वस्थ भूमिका प्रस्तुत होती

है। प्रेमचंद की 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम', प्रसाद, सुदर्शन, कौशिक की कहानियाँ; पंत, निराला, प्रसाद के सुंदरतम गीत; मैथिलीशरण की पंचवटी और शक्ति, माखनलाल चतुर्वेदी की वीर रस की कविताएँ तथा प्रसाद के 'अजातशत्रु' और 'कामना' नाटक इसी युग की देन हैं। समालोचना साहित्य के सभी अंगो की नींव इसी समय पड़ी। सुविधा के लिये समालोचना साहित्य को चार श्रेणियो में बाँटा जा सकता है—समीक्षा, अनुसंधान और अध्ययन, समालोचना सिद्धांत और तुलनात्मक समालोचना। साहित्य के इस गंभीर अंग का पुष्टिसाधन तो इन आरंभिक बीस वर्षों के बाद हुआ, परंतु सभी दिशाओ में कार्य इसी युग में आरंभ हो गए। समीक्षाप्रणाली लेखक और पाठक के बीच संबंध सेतु सी है। रचना के गुणदोष, विषयविशेषता का दर्पण हाथ लग जाने से रुचि के विषयो के चुनाव और संग्रह में आसानी हो जाती है। मुद्रणकला के विकास की गति से पुस्तकों का प्रकाशन बढ़ने लगा। अपनी रुचि के अनुसार पुस्तक निर्वाचन का सबको अवकाश भी कहाँ। पाठक, लेखक के ग्रहण प्रचार की प्रवृत्ति के लिये समीक्षा पद्धति प्रकट हुई। इस प्रणाली का प्रारंभ सबसे पहले जयपुर से निकलने वाले 'समालोचक' में (१९०२) और 'सरस्वती' में (१९०४) से हुआ। दोनो में नई पुस्तकों की आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं।

अनुसंधान और अध्ययन

अनुसंधान और अध्ययन की शाखा उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में ही शुरू हो गई थी। लोग नए विषयो की खोज तथा अध्ययन के महत्वपूर्ण कार्य में बड़ी लगन से लग गए थे। एडविन ग्रिव्स रचित 'गोसाँई तुलसीदास का चरित्र' (१८९९), श्यामसुंदरदास विरचित 'बीसलदेव रासो' और राधाकृष्णदास कृत 'सूरदास का जीवन' (१९००), किशोरीलाल गोस्वामी का 'अभिज्ञान शाकुंतल' और 'पद्मपुराण' (१९००) आदि खोज संबंधी लेख इस दिशा की प्रारंभिक चेष्टाएँ हैं। सन् १९०० ई० में नागरीप्रचारिणी सभा ने पहले से होते आए खोज कार्य को स्वयं लेकर उत्तर प्रदेश सरकार के संरक्षण में कार्य करना आरंभ किया और तबसे सभा तत्परता से इस कार्य में जुटी हुई है। इन्हीं खोजो से हिंदी साहित्य के इतिहास का अध्ययन सुगम हुआ। सन् १९१३ ई० में तीन भागो में प्रकाशित 'मिश्रबंधु विनोद' इसी साधना का सुफल है, जिसमें १६०० पृष्ठो में ३७५७ कवि एवं लेखको का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

सैद्धांतिक समालोचना

समालोचना सिद्धांत के क्षेत्र में भी इन बीस वर्षों में कम काम नहीं हुआ सैद्धांतिक समालोचना की तीन प्रमुख शाखाएँ हैं—संस्कृत समालोचना सिद्धांत, पाश्चात्य समालोचना सिद्धांत और समन्वयवादी समालोचना सिद्धांत, जिनमें

संस्कृत तथा पश्चिमी समालोचना पद्धति का सामंजस्य है। संस्कृत का समालोचना सिद्धात वृहद् और ऐश्वर्यशाली है। प्राचीन आचार्यों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार और वैज्ञानिक विश्लेषण में अपूर्व पाडित्य का प्रदर्शन किया है। अत्याधुनिक दृष्टि की खरी कसौटी में भी ये उद्भावनाएँ और मान्यताएँ टिकी रहीं। रस, ध्वनि, अलंकार संबंधी सिद्धांतो में अधिकाश किसी-न-किसी रूप में मान्य रहे। संस्कृत समालोचना सिद्धात की मुख्यतः पाँच शाखाएँ हैं—रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति जिनके प्रतिष्ठाता क्रम से भरत और विश्वनाथ. आनंदवर्धन और मम्मट, दंडी, भामह तथा कुंतुक हैं। हिंदी में सिद्धातसंबंधी इन सभी शाखाओ पर ग्रंथ या लेख इस काल में लिखे गए। कन्हैयालाल पोद्दार का 'अलंकार प्रकाश' और 'काव्य कल्पद्रुम', भगवानदीन का 'अलंकार मंजूषा' और अर्जुनदास केडिया का 'भारतीभूषण' प्रमुख हैं।

पाश्चात्य और समन्वयवादी समालोचना की दिशा में बहुत अधिक काम नहीं हो सका, पर उसका आरंभ हो गया। यो तो 'समालोचनादर्श' के नाम से जगन्नाथदास रत्नाकर ने पोप के 'एसेज ऑन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद १८९७ ई० में ही कर दिया था, पर बीसवीं सदी के इन वर्षों में सामयिक पत्रो में लेखादि के सिवा यह कार्य ठोस रूप मे प्रगति नहीं कर सका। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदरदास और रामचंद्र शुक्ल ने महत्व के कुछ लेख अवश्य लिखे। श्यामसुंदरदास की बहुत ही लोकप्रिय पुस्तक 'साहित्यालोचन' जिसमें पूर्व और पश्चिम के सिद्धातो का सामंजस्य पहली बार बड़े सुंदर ढंग से मिलता है, प्रकाशित तो १९२२ ई० में हुई, परंतु उसका बहुत सा काम इसी अवधि में किया गया था। सबसे बडी बात यह हुई कि रामचंद्र शुक्ल की परिपक्व वैज्ञानिक पद्धति का जिसका विकास बाद के वर्षों में हुआ, सूत्रपात साहित्य क्षेत्र में उनके लेखो से हुआ।

उपर्युक्त दो शाखाओ से कहीं अधिक और ठोस काम तुलनात्मक समालोचना के क्षेत्र में हुआ। हिंदी के इस क्षेत्र के अग्रणी हुए पद्मसिंह शर्मा। उनके चार पाँच लेख बहुत ही उल्लेखनीय हुए। पहला लेख बिहारी और फारसी कवि सादी की तुलनात्मक आलोचना पर था। यह १९०७ ई० मे 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। दूसरा १९०९ ई० में भिन्नभाषाओं की कविता का बिंब-प्रतिबिंब-भाव, तीसरा १९११ ई० मे भिन्न भाषाओ के समानार्थ 'पद्य' तथा चौथा संस्कृत और हिंदी कविता का का बिंब-प्रतिबिंब भाव। तुलनात्मक समालोचना की पहली श्रेष्ठ पुस्तक मिश्रबंधुओ का 'नवरत्न' है। यहीं से बिहारी की श्रेष्ठता के लिये एक विवाद सा उठ खड़ा हुआ। उस विवाद से और चाहे जो भी अच्छा बुरा परिणाम हुआ हो, तुलनात्मक समालोचना को गति मिली। पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी

सतसई', कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी', लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' से यह धारा आगे बढ़ती रही।

वैज्ञानिक कोश

निबंधो के क्षेत्र में भी प्रयोगात्मक रचनाएँ देखने को मिलीं। इन सबका एक बहुत बड़ा लाभ हुआ कि गद्य उत्तरोत्तर प्रौढता की ओर बढ़ता गया। उपयोगी साहित्य की रचना पारिभाषिक शब्दावली के अभाव में बहुत कम हो सकी; जो थोड़ी बहुत हो सकी, वह नागरीप्रचारिणी सभा के उद्योग से। सभा ने वर्षों के परिश्रम से १६०८ ई० में एक 'वैज्ञानिक कोश' प्रकाशित किया जिसमे ज्योतिष, गणित, रसायन, पदार्थ विज्ञान, भूगोल और दर्शन के हिंदी शब्द प्रस्तुत किए गए। इससे उपयोगी साहित्यरचना का काम आगे बढ़ा। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं से साहित्य और भाषा के विकास में पर्याप्त सहायता मिली, विशेषकर नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती' से। यों मासिक पत्रो में इंदु, प्रभा, मर्यादा, माधुरी, साप्ताहिक में प्रताप तथा दैनिक में आज की सेवाएँ स्तुत्य रहीं।

अपेक्षित उन्नति के अवरोध

बीसवीं सदी के आरंभिक बीस वर्षों में भाषा साहित्य की जितनी उन्नति की अपेक्षा की जा सकती थी, अनुकूल परिस्थिति न होने के कारण उतनी उन्नति नहीं हुई। इसका कारण वे अवरोधक शक्तियाँ हैं, जो उस समय काम कर रही थीं। हिंदी का संरक्षण पहले जिन राज्यो और दरबारो में होता था, वे टूट गए। व्यापारिक सभ्यता के प्रसार से रोटी रोजी की चिंता और कर्मव्यस्तता से वह अवकाश और शांति नहीं रह गई थी, जो साहित्य शिल्प के विकास के लिये आवश्यक है। उर्दू का अड़ंगा था ही, अँगरेजी का उलटा प्रभाव अलग पड़ा। पश्चिम से जो एक प्रभाव का झोंका आया, उससे नव शिक्षितो के दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। स्कूल कालेज के युवको में एक मानसिक अराजकता फैल गई। अँगरेजी उनपर ऐसी हावी हो गई कि अपनी भाषा और अपने साहित्य के लिये स्नेह और सहानुभूति तो दूर रही, उसकी उपेक्षा होने लगी। अपने गर्व गौरव की पहचान भी अँगरेजी के माध्यम के बिना संभव नहीं रही।

आरंभिक बीस वर्षों का विकास

ऐसे विरोध विग्रह के समय भी हिंदी मे बहुमुखी विकास का सूत्रपात हुआ। डा० श्री कृष्णलाल के शब्दो में "...बीसवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिंदी साहित्य का विकास प्रयोग (एक्सपेरिमेंट) से प्रारंभ होकर निश्चित सिद्धांतो की

ओर; प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रतिवर्तन (रिवाइवल) से पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण और रूपांतर की ओर; मुक्तक और प्रबंध काव्यो से गीति काव्यो की ओर; इतिवृत्तात्मक और असमर्थ कविता से प्रभावशाली और भावपूर्ण कविता की ओर; वीर और प्रकृतिवर्णन के सहजोद्रेक भावो से प्रारंभ होकर चित्रभाषा शैली मे कलापूर्ण रचनाओ की ओर; अलंकार, गुण और रस से ध्वनि और व्यंजना की ओर और साधारण प्रेम, वीरता और त्याग की भावना से मानव जीवन की उच्च वृत्तियो और भावनाओ की व्यंजना की ओर हुआ।

सहायक घटनाएँ : मानवीयता की भावना का प्रादुर्भाव

इस विकास को गति और शक्ति प्रदान करनेवाली कुछ घटनाएँ भी थी जो उस काल में घटित हुईं। उनमें प्रमुख हैं—रूस जापान युद्ध (१९०४), वंग-विच्छेद से पैदा होनेवाला स्वदेशी आंदोलन (१९०५) और प्रथम विश्व महायुद्ध (१९१४–१८)। रूस जापान युद्ध में जापान की विजय होने से भारतीयो के मन में भी एक उमंग हुई। यह उमंग इसलिये स्वाभाविक थी कि एक पश्चिमी शक्ति पर एक पूर्वी राष्ट्र की विजय थी। फिर संसार की उन्नति की प्रतियोगिता में जापान की उन्नति और आश्चर्यजनक थी। इसका एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक असर हुआ। जापान की देशभक्ति, जापान की वीरता, जापान का औद्योगिक जीवन सबका परोक्ष रूप में हिंदी पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। प्रथम विश्व युद्ध की महान् विभीषिका से भारत का प्रत्यक्ष संबंध न था, क्योकि यूरोप के अन्य देशो की तरह उसमें भारत को सक्रिय भाग नही लेना पड़ा। लेकिन उससे विनाश की जो दानवी लीला अनुष्ठित हुई, मानवता का जो संहार हुआ, उसके दर्दभरे क़िस्से हमतक भी पहुँचते रहे और उस घोर अर्थसंकट का किसी रूप में हमें भी साझीदार बनना पड़ा, जो उस युद्ध के परिणाम स्वरूप सारी दुनियाँ पर आया। प्रथम विश्व युद्ध ने न केवल मनुष्य के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डाला बल्कि पश्चिमी यूरोप की मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि को भी झकझोर दिया। भारतीय साहित्य पर उसकी स्पष्ट छाप नहीं पड़ी, किंतु मानवतावादी धारणा का प्रादुर्भाव हुआ। यह मानवतावाद पूर्वजो के नैतिक मानवतावाद की अपेक्षा उदार था, क्योकि किन्हीं अंशो में यह धर्मनिरपेक्ष भी था। उससे अंतर्राष्ट्रीयता की भावना जगी। यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। भारत को पहली बार यह समझने का सुयोग मिला कि वह भी विशाल विश्व का एक अविच्छिन्न अंग है। ऐसी किसी भी बात का जो संसार के किसी भी कोने में घटती हो, उस पर भी असर पड़ेगा। पश्चिमी समाज की जानकारी और संस्पर्श से धार्मिक संकीर्णता कुछ दूर हुई, जातीय और देश की सीमा से बाहर संसार को देखने समझने का अवसर मिला। अपने अतिरिक्त देश

ने अवतक अँगरेजी और अँगरेज को ही देखा था, इस युद्ध ने जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी साहित्य और जनता से भी परिचित होने का अवसर दिया। इससे संस्कृति और जीवन की धारणा तथा दृष्टि को एक व्यापक क्षितिज मिला। राष्ट्रीय गुण एवं जीवनपद्धति की मान्यताएँ बदलने लगीं।

शताब्दी का आरंभ और साहित्य

शताब्दी के आरंभ में साहित्य की यही अवस्था, यही गतिविधि थी। यह बहुत गौरवमय उत्कर्ष का चित्र चरित्र तो नहीं है, किंतु जैसी सामाजिक स्थिति, जैसी परिस्थितियाँ थीं, उनको देखते हुए इस विकास को असंतोषजनक नहीं कहा जायगा। इस तरह नवीनता के लिये एक ठोस भूमिका तैयार हो गई। सब कुछ नए सिरे से ही करना पड़ा, वह भी अनेक बाधा और विरोधों के बीच। इसलिये यह कुछ कम नहीं। हमारी दृष्टि बदली, हम नई स्थापना के लिये अभिप्रेरित होकर अग्रसर हुए। इस शताब्दी के आरंभिक बीस वर्षों के साहित्य की यही साधारण रूपरेखा है। एक पीढ़ी समाप्त हो रही थी और दूसरी का उदय हो रहा था। नये के आगमन का पूर्वाभास और पुराने की विदाई की विलंबित छाया कभी कभी कुछ वर्षों का समय घेर लेती है, इस कारण हमें नए युग के आगमन और पुराने युग के अवसान की ठीक तिथि निर्धारित करने में कुछ कठिनाई भी हो जाती है। परंतु सन् १८–१९ ई० में समाप्त होनेवाला प्रथम महायुद्ध और सन् १९१९ ई० में भारतीय राजनीति में गाधी जी का प्रवेश, ये दो ऐसे स्मारकचिह्न हैं, जिनके आधार पर इन्ही वर्षों को नए साहित्य के उन्मेष की प्रवर्तक तिथि मान लेने में किसी प्रकार की शंका नहीं होती।

नवोन्मेष का काल

आलोच्य काल—१९२०-४० ई० नए साहित्य के उन्मेष की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व का काल है। विषय, भाव और प्रवृत्ति तथा भाषा, शैली और रूप सभी दृष्टि से हिंदी में नवीनता की श्री और समृद्धि बढी। रचनात्मक प्रयोग और प्रयत्नों की उत्तरोत्तर प्रगति हुई। साहित्याकाश में प्रतिभा के नए ज्योतिष्कों का उदय हुआ। उपन्यासों में चित्र चरित्र, घटना समस्या नई, कहानियों के पात्र और विषयवस्तु नई, कविता की शब्दयोजना, प्रतीक और उपमाविन्यास नया; नाटकों में दृष्टि और रचनातंत्र नया; देशी विदेशी विचारपद्धतियों की अवतारणा नई सभी दिशाओं में नवीनता। हिंदी साहित्य के इतिहास में ये बीस वर्ष वास्तव में बड़े महत्व के हैं। इसमें महत्व की कई बातों और घटनाओं का योग था, जिनमें एक था यूरोप और भारत की साहित्यिक परंपराओं का निकट संपर्क होना।

दोनो परंपराओ के निकट आने की स्थिति और परिस्थिति तो पहले ही पैदा हो गई थी, परतु दोनों आपस में ठीक ठीक मिल नही पाई थीं। मिलने की प्रवृत्ति और सुयोग होने के बावजूद दोनों के बीच संशयात्मक विरोध की दीवार खड़ी थी। अँगरेजी शिक्षा की उत्तरोत्तर वृद्धि, पत्र पत्रिकाएँ, पुस्तकें इस दूरी को क्रमशः दूर करती जा रही थीं। जो रही सही रुकावट भी थी, पहले विश्वयुद्ध की प्रतिक्रिया ने उसे भी समाप्त कर दिया। विभिन्न साहित्य के माध्यम से वे भाव विचार क्रमशः घुलने मिलने लगे और निकटता से दोनों परंपराओ के समन्वय का अवदान साहित्य मे आने लगा।

पूर्व और पश्चिम का समन्वय

काव्य में यह युग छायावाद का था। छायावादो काल को दो महायुद्धो १९१४–१८ और १९३९–४५ के बीच का काव्य कहा जाता है। इस काव्य मे भारतीय दर्शन और यूरोप के स्वच्छंदतावाद तथा प्रतीकवाद का अद्भुत एकीकरण मिलता है। समन्वय की यह अनुप्रेरणा हिंदी को रवींद्रनाथ की काव्य रचनाओ से मिली। किंतु पाश्चात्य आदर्शों के अनुकरण से भारतीयता का विशिष्ट स्वर इन प्रयासो में लुप्त नहीं हुआ। छायावाद के चार प्रमुख स्तंभ - प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी—की रचनाएँ इसके प्रमाण हैं। प्रसाद ने पश्चिमी ऋण की स्वीकृति के साथ भारतीय संस्कृति के सर्वोच्चम को स्पष्ट कर दिया है। कहते हैं, इस युग की ज्ञान-संबंधिनी अनुभूति मे भारतीयो के हृदय पर पश्चिम की विवेचन शैली का व्यापक प्रयत्न क्रियात्मक रूप मे दिखाई देने लगा, किंतु साथ ही साथ ऐसी विवेचनाओ मे प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जा रही है। प्राचीन की काव्यकृतियाँ स्पष्टतः प्राचीन भारतीय संस्कृति की पोषक हैं। संपूर्ण छायावादी सर्जना में, जहा यूरोपीय प्रभाव की स्पष्ट छाप है, भारतीय दार्शनिक भावभूमि भी अपनी आदर्श रेखाओ में उतनी ही उज्जीवित है। पंत पर विवेकानंद, अरविंद और गाधी के साथ साथ औपनिषदिक तथ्यो का प्रभाव है। इसी प्रकार निराला पर वेदांत और वैष्णव दर्शन, महादेवी पर सूफी, बौद्ध तथा उपनिषद् के सिद्धातो की गहरी छाया पड़ी है।

व्यक्तिवादी सौंदर्य चेतना

प्रथम विश्वयुद्ध का एक बहुत बड़ा दान है मानववाद। दो युद्धो के बीच की हिंदी कविता पर इस वाद का प्रभाव निर्विवाद है, किंतु उसकी भूमिका पाश्चात्य एवं अपनी पूर्वागत परंपरा से कुछ पृथक् है। यह पृथक्ता न केवल भाव विचार वल्कि रूप तक में है। विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नए काव्य रूप

की जो प्रेरक या मूल दृष्टि है, वह वास्तव में सौंदर्यवादी है। सौदर्यवादी दृष्टि भी वह नहीं जो प्राचीन यूनान और ग्रीस की थी। यूनान की सौदर्य भावना के पीछे कुछ उनकी राष्ट्रीय मान्यताएँ थी। छायावादी की सौंदर्य चेतना वह नहीं है। यह सौंदर्य चेतना व्यक्तिवादी प्रवृत्ति पर प्रतिष्ठित हुई है। किंतु व्यक्तिवादी की संकुचित प्रखरता कल्पना के योग से उन्नत हुई, उदात्त हुई है। इस विशेषता को कई विचारकों ने एक दोष माना है। कल्पना के इस आश्रय को पलायनवादी प्रवृत्ति की संज्ञा दी गई है। इसकी पुष्टि में यह कहा गया है कि व्यक्तिवादी की आशा आकाक्षाएँ जब वास्तविकता के ठोस धरातल से टकरा कर निरर्थक होती हैं तो वह कल्पना का सौंदर्य स्वर्ग गढ़ता है। यहा तक कि कार्य और मत की यह बेमेल और डॉवाडोल मनःस्थिति अंततः हम छायावाद के एक अन्यतम स्तंभ पंत मे भी पाते हैं। वे कहते हैं—'दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले, हिंदी कविता, छायावाद के रूप में, ह्रास युग के वैयक्तिक अनुभवो, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियो, ऐहिक जीवन की आकाक्षाओ संबंधी स्वप्नो, निराशाओ और समवेदनाओ को अभिव्यक्ति करने लगी और व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयो से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धात के आधार पर, भीतर बाहर में, सुख दुख में, आशा निराशा और संयोग वियोग के द्वंद्वों मे सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।'[1]

किंतु छायावाद की आतरिक विशिष्टता का यही सच्चा रूप नहीं है। वह रूप प्रसाद के शब्दो में—छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौदर्य-मयता, प्रतीकविधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं[2]। उपर्युक्त विशेषताओ से काव्यशिल्प को निस्संदेह कलात्मकता मिली। संकेत और प्रतीको के बाहुल्य से लाक्षणिकता और सौदर्यमयता आई। व्यंजनात्मक शक्ति बढ़ी। प्रकृति से रागात्मक संबंध भी इस काव्य की एक आवश्यक दिशा है, वह संबंध तो जुड़ा किंतु जिस अंश तक तादात्म्य अपेक्षित था, व्यक्तिवादी आग्रह से वह संभव नहीं हुआ। इतना अवश्य हुआ कि सास्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय आकांक्षा और मानववादी प्रवृत्ति के योग से व्यक्तिवादिता उग्र अहं की रूखी और सँकरी सीमा पर पहुँचने से बच गई। इस योग का एक सुनिश्चित परिणाम यह हुआ कि जहाँ तक रूपविधान का सवाल

[1]. आधुनिक कवि भाग २।
[2]. काव्य, कला तथा अन्यान्य निबंध।

है, नई प्रवृत्ति को अनुकूल भावभूमि और शिल्प मिला और जहाँ तक काव्य की आत्मा का प्रश्न है, काव्य व्यक्तित्व में मिलेजुले स्वर, मिश्रित प्रवृत्ति की छाया पडी। सूक्ष्म अनुभूतियो का जो भाव जगत् प्रस्तुत हुआ, उसे रूप देने के लिए रूपको उपमाओ की चित्रात्मकता अनिवार्य हो गई, साकेतिकता के नाते लक्षणा और व्यंजना का आधार ग्रहण आवश्यक हो गया। फलस्वरूप प्राण से आवरण की प्रधानता सी दिखाई देने लगी। इसी लिये शुक्ल जी ने इसे काव्य अभिव्यंजना की शैली कहा है।

कलात्मक स्वतंत्रता

सन् १९२८ ई० में राजनीतिक स्वतंत्रता का संघर्ष आरंभ हुआ। काव्य के क्षेत्र में उसी के अनुरूप संघर्ष छिड़ा कलात्मक स्वतंत्रता का। साहित्यिक आदर्श की बँधीबँधाई भौतिक मर्यादा थी, जो रूढ़ियाँ थीं, उन्हें तोड़ फेका गया। तोड़ फेकने का कारण था। राजनीतिक स्वतंत्रता की आकाक्षा की मर्मवाणी थी नए जीवन मूल्यो की प्रतिष्ठा। उसी प्रकार कलात्मक स्वतंत्रता की आकाक्षा बनी अनुभूतियो का नया क्षितिज। ये अनुभूतियाँ स्थूलता से सूक्ष्मताभिमुखी थीं। उनको अपने अनुकूल धारक और वाहक भाषा की अपेक्षा हुई। सूक्ष्म अनुमानो को आकार और प्रेषणीयता देने के लिये भाषा में वही संपन्नता, वही सामर्थ्य अपेक्षित है। जीवन की उन अनुभूतियो की धड़कन को बाँधने के लिये ही काव्य को सूक्ष्म का साधक बनना पड़ा। स्थूलता में कलात्मकता की प्रतिष्ठा असंभव है और नीति और मर्यादा के भार से मुक्त हुए बिना वास्तविक जीवन को साहित्य मे अंकित भी नही किया जा सकता। भारत का नवनिर्माण हो रहा था, मनुष्य मे नई आत्मा का अविर्भाव हो रहा था। नए शिल्प की अवतारणा भी इसी लिये इतिहास की, युग की एक अनिवार्य माँग थी। किंतु प्राचीन संस्कार, जिसकी जड़ गहरी जमी थी, तत्काल ही नई आत्मा से झाड़ पोछकर फेके नही जा सकते थे। नवीनता पर उनका थोड़ा बहुत भार जाते जाते भी रहा। छायावाद मे मानवीयता और दर्शन की जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, निश्चित रूप से वह राष्ट्र और समाज की नैतिकता के ही कारण हैं।

सांकेतिक भाषा की उद्भावना

नवीनता के विद्रोही आग्रह से नैतिकता विरोधी भाव का प्रबल होना स्वाभाविक है। शैली, कीट्स, बायरन आदि अँगरेजी रोमाटिक कवियो में यह उग्र विद्रोह है—काव्य में भी, उनके जीवन में भी। उनकी भावनाएँ व्यक्तिपरकता से नितात व्यक्तिगत की सीमा तक भी पहुँच गई हैं। उनको देखते हुए छायावादी कवि कहीं संयत और अनुशासित हैं। काव्य मे प्रतीक योजना और साकेतिकता की प्रधानता का यह भी कारण है। जो भी

हो, भाषा में इस प्रयोग से लयात्मकता और सांगीतिक तत्वों का समावेश हुआ, छंदयोजना की नवीनता ने नाद सौंदर्य को संजीवित किया और लाक्षणिकता से अंतर की सूक्ष्मतम अनुभूतियों को सजीवता देने की समर्थता आई। अतः साहित्य की आत्मा पर पाश्चात्य प्रभाव की वह स्पष्ट प्रबलता चाहे न हो, रूपविधान में उसका बहुत बड़ा ऋण है। उपन्यास, कहानी, नाटक, सबपर यूरोपीय रचना-पद्धति का व्यापक प्रभाव पड़ा। उपन्यासों में प्रेमचंद के आदर्श तो भारतीय हैं, किंतु निर्माण प्रणाली पश्चिमी है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, कृपानाथ मिश्र के नाटकों पर शा और एब्सन की नाट्यपद्धति का गहरा प्रभाव है। यही नहीं, हिंदी आलोचना भी पाश्चात्य आदर्शों के अनुसरण से आगे बढ़ी।

राजनीति में गांधीजी का प्रवेश

साहित्य के लिये इस युग की दूसरी और संभवतः सबसे बड़ी घटना है, भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का प्रवेश। कांग्रेस की बागडोर गांधीजी के हाथों में आ जाने से युगजीवन के सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। गांधी जी का सबसे बड़ा युगांतरकारी और महान् ऐतिहासिक कार्य है राजनीति से आध्यात्मिकता का संबंध स्थापित करना। देश की अंतरात्मा की चरमतम आकांक्षा स्वाधीनता की प्राप्ति की सारी अभियोजनाओं के साथ उन्होंने देश के सर्वांगीण विकास की व्यापक जागृति की पृष्ठभूमि तैयार की। उनके नेतृत्व में, उनकी विलक्षण प्रेरणा और अद्भुत व्यक्तित्व से अभूतपूर्व जागरण देश में आया। सारा देश एकप्राण बना। देश एक साथ अपनी सभी समस्याओं, सभी अभावों, सभी लक्ष्यों की पूर्ति की संमिलित प्रचेष्टाओं में अग्रसर हुआ। उनके अधिनायकत्व में कांग्रेस मात्र एक राजनीतिक स्वतंत्रता के लिये शासकों से लोहा लेनेवाली राष्ट्रीय संस्था ही नहीं रही, वह एक ऐसा व्यापक केंद्र बन गई जिसमें राष्ट्र की समस्त आशा, आकांक्षाएँ एकत्र होकर सक्रियता से सजीव हो उठीं। गांधी जी की जीवनव्यापी साधना का बहुविधि स्वरूप आश्चर्यजनक है। संक्षेप में उसकी व्यापकता के तीन तत्व देखे जा सकते हैं, जो युगनियामक रहे। एक तो यह कि सहज आस्था उत्पन्न करके उन्होंने राष्ट्रीय जागरण को जन जीवन में व्यापक बनाया। दूसरा यह कि उन्होंने अधिकार के लिये लड़नेवाली केंद्रीय शक्ति कांग्रेस को राजनीतिक सीमा तक ही सीमित न रहने देकर उसे देश के आर्थिक और सामाजिक पहलुओं के लिये भी सचेतनता दी और तीसरी यह कि सत्याग्रह का अजेय और अनोखा अस्त्र प्रदान किया।

यथार्थ समन्वित आदर्शवाद

गांधी जी के जीवन और कार्य, व्यक्तित्व और विचारधारा का गहरा प्रभाव इस युग के समस्त साहित्य पर है। विशेषकर गांधी जी के उस आदर्शवाद का जो एक अनोखे ढंग से यथार्थवाद से समन्वित था। गांधी जी की यह एक विचित्र

विशिष्टता रही है कि उनका आदर्श अनुप्रेरित जीवन कभी यथार्थ विमुख नहीं रहा। कल्पना के आदर्श-स्वर्ग, स्वप्नो के निरवलंब सत्य और वास्तविकता की ठोस भूमि को उन्होने व्यावहारिक सूत्र से संयोजित कर दिया। यथार्थ और आदर्श को एक दिशा में मोड़कर दोनो को अविच्छिन्न बनाया। गांधी जी के महान व्यक्तित्व से राजनीतिक चेतना की जो अभूतपूर्व लहर उठी, हमारे समग्र साहित्य पर उस सर्वतोमुखी सक्रियता की स्पष्ट छाप पडी। हमारे तत्कालीन साहित्य की वह मूल अनुप्रेरणा और राष्ट्रीय चेतना बनी। इसलिये इस साहित्य पर गांधी के जीवन दर्शन की विशिष्टताएँ विभिन्न रूपो में, प्रत्यक्ष या परोक्ष, प्रभाव डालती रहीं। उदाहरण के लिये कविता में सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, सोहनलाल द्विवेदी की रचना का उल्लेख किया जा सकता है। सियारामशरण गुप्त के गीतो पर तो असहयोग आंदोलन का सीधा प्रभाव है। त्रिपाठी जी के मिलन, पथिक, सुमन उसी प्रभाव की देन हैं। यहाँ तक कि कुछ कवियो की कविता राजनीतिक कविता ही हो गई। पंत प्रभृति म वह प्रभाव दूसरे रूप में प्रतिफलित हुआ। उपन्यास में प्रेमचंद जी का उदाहरण लिया जा सकता है, जिनके उपन्यासो में गांधी जी के यथार्थ आदर्श की समन्विति बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत हुई है। ग्रामीण जीवन के जादूगर प्रेमचंद के उपन्यासो में वस्तुविन्यास की प्रणाली यथार्थवादी सी लगती है, किंतु वास्तव मे उनकी उपन्यास कला आदर्शप्रधान है। गांधी जी की तरह उन्होने दो परस्पर विरोधी तत्वो का अपूर्व संमेलन किया है। उपन्यासो का वस्तुविधान, घटनाविकास समाज की गतिविधि की वास्तविकता के इतने निकट हैं, ऐसी प्रत्यक्ष भूमि पर प्रस्तुत हैं कि वे यथार्थवादी प्रतीत होते हैं, परंतु चरित्रो के विश्लेषण से यह सत्य स्पष्ट हो जाता है कि वे कलाकार वास्तव मे आदर्शवादी हैं और उनकी कला आदर्शोन्मुख है। क्योंकि जो है, जो प्रत्यक्ष और सहज बोधगम्य है—मात्र वही यथार्थ नही है। यथार्थ की वास्तविक स्थिति के और भी पहलू हैं। वस्तु कोई भी अपने वर्तमान रूप में स्वयंपूर्ण या आत्मनिर्भर नहीं होती। जाने अनजाने नाना संबंध सूत्रो द्वारा, वह एक कड़ी द्वारा और भी वस्तुओ से जुड़ी रहती है। उसकी स्थिति का काल एक वर्तमान ही नहीं, भूत और भविष्य भी है। अतः जो है और जैसा है, उसी के चित्रण में कला की सार्थकता नही, न वह यथार्थ चित्रण है। अपनी सारी स्थितियो और अंतस्संबंधो के साथ वस्तु का रूपायन ही यथार्थ कहा जायगा।

साहित्यनिर्माण की वैज्ञानिक दृष्टि

यथार्थवादी दृष्टिकोण आज के विज्ञान युग की एक विशेष देन है। युग से साहित्यविचार को भी यह दृष्टि मिली, जो बुद्धि और तर्क के आधार पर ही

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को स्वीकार करती है। कल्पना को पर मारने के लिये वहाँ अवकाश का विस्तृत आकाश नहीं है। इस नई दृष्टि ने साहित्य को विज्ञान की श्रेणी में बिठाने की कोशिश की है। इसके अनुसार साहित्य से कल्पना, भावना, आदर्श की अपेक्षा निरर्थक ही नहीं, भूल है। साहित्य का लक्ष्य अंततः सत्य की खोज या प्रतिष्ठा है, जो विज्ञान का है। इसलिये साहित्य का निर्माण वैज्ञानिक दृष्टि तथा पद्धति से ही होना चाहिए। साहित्य के निरीक्षण परीक्षण की इस पद्धति से यह प्रश्न विचारणीय हो गया कि साहित्यनिर्माण का अंतिम लक्ष्य आखिर क्या हो? क्या साहित्य की रचना इस सीमारेखा से सीमित है कि उससे मात्र अच्छे भाव विचारों की सृष्टि हो या रचना का उद्देश्य रचना हो, जिसमे अच्छा या बुरा जो भी प्रभाव चाहे हो। स्पष्ट है कि यदि वैज्ञानिक सत्य की प्रतिष्ठा से ही साहित्य होता तो विज्ञान के होते उसके अस्तित्व की आवश्यकता पर उपयोगिता क्या होती? निश्चय ही साहित्य में विज्ञान से कोई विशेषता है, जिसकी अनुपस्थिति या अभाव से लोग विज्ञान के अतिरिक्त साहित्य का आश्रय लेते हैं। इसलिये साहित्य का प्रकृत लक्ष्य निस्संदेह विज्ञान संमत यथार्थवादी दृष्टिकोण से परे है, जहाँ जीवन की उपयोगिता और हीनता के बदले उसका रचनात्मक पक्ष हो। वस्तुतः यथार्थवादी कलाकर उसी को कहेंगे जो जीवन को स्वस्थ विकास देनेवाली शक्तियो को उद्बुद्ध करे। यथार्थवाद जीवन का इतिवृत्त है। यथार्थ प्रकृति और विकृति दोनों चित्र के लिये स्वतंत्र है पर जीवन मे विकृति अधिक प्रसारगामिनी है, परिणामतः यथार्थ की रेखाओ मे वही बार बार व्यक्त होती है। यथार्थवाद की नई शैली के उद्भावकों के यहाँ भी विकृति का यह स्वरूप एक दिन स्पष्ट होकर उपस्थित हुआ, जब जीवन के सच्चे और स्वस्थ चित्रचरित्रों की साहित्य मे कमी दिखाई देने लगी और तब वहाँ यथार्थवादियो के लिये यह भी कहा जाने लगा कि यथार्थवादियों ने हमें नया संसार देने की बात कही थी, लेकिन दिया उन्होने हमे अस्पताल[1]।

समाजवादी और साम्यवादी दृष्टिकोण

सन् १९३०–३५ ई० के आसपास देश मे विचार और राजनीति के क्षेत्र में एक नए दृष्टिकोण का उदय हुआ—समाजवादी और साम्यवादी दृष्टिकोण। इस काल तक राष्ट्रीय संग्राम एक ऐसी स्थिति के समीप आ पहुँचा था, जहाँ लक्ष्य-

१. दे प्रोमिस्ड टु गिव अस ए वर्ल्ड, इन्स्टेड दे गेव ए हॉसपिटल।

प्राप्ति की स्वस्थ आशा झाँकने लगी थी। फलस्वरूप स्वतंत्रता के मूल लक्ष्य के साथ राजनीतिक रंगमंच पर समानता संबंधी अनुषंगिक भी संमिलित हो गए। समाजवादी और साम्यवादी स्वर की उद्भावना के पीछे वर्गभावना और आर्थिक पक्ष था। अभी तक किसानों की संस्थिति विशेष ध्यान देने की रही थी अब उसके पास मजदूर के नए वर्ग को भी मान्यता मिल गई। इस प्रगतिशील तत्व का प्रादुर्भाव साम्यवाद की प्रतिष्ठा से हुआ। रूसी क्रांति सन् १७ ई० में ही हो चुकी थी, पर लगभग बीस साल की अवधि में उसने एक स्पष्ट रूप लिया। और तब साहित्य के यथार्थवादी सिद्धांत ने एक और तीखा मोड़ लिया। यथार्थवाद, प्रकृतिवाद के साहित्यिक सिद्धांतों का आविर्भाव फ्रांस में उन्नीसवीं सदी में ही हो चुका था। उसके आविर्भाव का मूल कारण था कल्पनाप्रवण स्वच्छंदतावादी साहित्यधारा का विरोध। समय की गति के साथ उसे मार्क्स और लेनिन के साहित्य और समाज संबंधी विचारों की नई उद्भावना मिल गई। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक भौतिकवाद कहते हैं। उनकी राय में साहित्य का वास्तविक संबंध ऐतिहासिक विकास है। काव्य और साहित्य वर्गसंघर्ष के ऐतिहासिक विकास क्रम की ही देन हैं, अतएव उसमें विभिन्न युगों के प्रभुतासंपन्न वर्ग की भावना तथा प्रवृत्ति की संस्थिति अवश्यंभावी है। युगविशेष के साहित्य में तत्कालीन अधिकारी वर्ग की संस्कृति की छाप अवश्य होगी। कल्पना और आदर्श का जादू लाख चलता रहे, साहित्य को वर्गसंघर्ष की पीठिका से असंपृक्त रखना संभव ही नहीं और यह अपेक्षित भी नहीं। साहित्य का संबंध व्यावहारिक सत्य से है, केवल कल्पना और आदर्श से नहीं। अपनी परिस्थिति के अनुसार हिंदी साहित्य में भी इस नई दृष्टि और नई यथार्थवादी रचनाशैली का आगमन हुआ। यहाँ वर्गसंघर्ष की वह स्थिति नहीं थी, जो समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिये साम्यवाद में आवश्यक मानी जाती है। देश का पूर्ण औद्योगीकरण यहाँ हुआ नहीं था। इसलिये विचारों की जो नई मनोभूमि तैयार हुई और उससे जिस प्रगतिशील आंदोलन ने जन्म लिया उसकी आरंभिक भूमिका की दो प्रमुख दिशाएँ साहित्य में सामने आईं—एक अंग्रेजों की शोषण नीति का विरोध और दूसरी किसानों मजदूरों की दयनीय स्थिति को सुधारने का आग्रह। तत्कालीन रचनाओं में भाव की दृष्टि से सामाजिक विषमता का स्वर ऊँचा जरूर हुआ है, पर देशप्रेम, राष्ट्रीय भावना का उद्घोषक भी है। रचनाप्रक्रिया में एक विशिष्टता अवश्य स्पष्ट दिखाई देती है। वह है आदर्श की अपेक्षा वस्तुनिष्ठा, यथार्थ की आग्रहशीलता। यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति का उपयुक्त माध्यम यद्यपि गद्य है, किंतु काव्य नाटकों में भी यह प्रवृत्ति प्रतिबिंबित हुई। राजनीतिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में इस प्रगतिशील भावना के ग्रहण का स्पष्ट उदाहरण है—कांग्रेस में समाजवादी दल की स्थापना (१९३४) और साहित्य क्षेत्र में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना (१९३६)।

अंतश्चेतनावाद

यथार्थवादियों का एक दूसरा वर्ग भी प्रादुर्भूत हुआ। वह है अंतश्चेतनावादी। इसका सिद्धात समाजवादी यथार्थवाद के बिल्कुल विपरीत है। यह यथार्थ सोलहों आने वैयक्तिक है, इसमें सामाजिक उपयोगिता के लिये स्थान ही नही। इस सिद्धात के अनुसार कविता कल्पना और भावना का व्यापार ही नहीं, कविता कवि की आत्म चेतना का उद्गार है। बुद्धिवादी दृष्टिकोण से उत्पन्न व्यक्तिवादिता और स्वच्छंदता की यह उग्रतम परिणति है। बुद्धिवाद ने तार्किकता की प्रवृत्ति बढ़ाकर सामाजिक नैतिकता के बंधन ढीले कर दिए, धर्म और ईश्वर की आस्था मिटती गई और अहम् प्रबल होता गया। ऐकातिक वैयक्तिकता ने साहित्य मे दुरूहता उत्पन्न कर दी। वह दुरूहता अस्वाभाविक नही कही जा सकती हानिकर चाहे जितनी हो। नितात व्यक्तिगत अनुभूतियों को रूप देने के लिये नवीन प्रतीक योजना आवश्यक हो जाती है। इस प्रतीकात्मक प्रवृत्ति को बल देने में नवीन मनोविज्ञान ने बड़ी सहायता दी। फ्रायड का स्वर ऊँचा हुआ। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धात का इसपर गहरा प्रभाव है। युंग ने चित्त का जो विभाजन किया है, उसके अनुसार इसपर मनोविज्ञान का ही प्रभाव है। युंग के अनुसार चेतन, व्यक्तिगत और अचेतन तथा समष्टिगत अचेतन मन चित्त के ये तीन विभाग हैं। इनमें अचेतन मन की अवस्थाएँ ही प्रतीकों की वास और सक्रियता की मूल भूमि हैं। प्रतीको का वास समष्टिगत अचेतन मन मे ही होता है। इन अंतश्चेतनावादियों ने साहित्य को नितात वैयक्तिक भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर देने की चेष्टा की। उनके अंतर्मुखी प्रतीकात्मक उद्गारों ने अस्पष्टता की ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि काव्य सहृदयों की नहीं, मानस-शास्त्रियों की वस्तु हो गया। उनकी उपमा, उनके अलंकार मनोविज्ञान के विशेषज्ञों के ही समझने योग्य रहे। इस प्रकार साहित्य में आतरिक और बाह्य दो विदेशी चिंतनपद्धति प्रतिष्ठित होने लगी। मन से संबंध रखनेवाली बातों पर फ्रायड मनोविज्ञान और समाज से संबंध रखनेवाली बातों पर मार्क्स की विचारधारा प्रबल हो गई।

गद्यमयता

यथार्थवादी दृष्टिकोण से गद्यात्मकता बढ़ गई। बौद्धिक दृष्टि की प्रधानता ने कल्पना और भावुकता के लिए जगह नहीं रहने दी। पद्य तक चिंतनप्रधान होकर गद्य से प्रतीत होने लगे। युग की आत्मा की मानो स्थिति ठीक उलटी थी—गद्य रचनाओं में काव्य के सभी गुणों का आरोपण हुआ। लयात्मकता लाने की कोशिश की गई। उपन्यासों मे महाकाव्य के तत्व का, गीतितत्व का संमिश्रण करके घटनाप्रधान और भावप्रधान उपन्यास लिखे गए। काव्य के अन्य अनेक रूपों

का विकास काव्योचित गुणों के आधार पर किया गया। किंतु ज्यों ज्यों जीवन स्थूल और प्रत्यक्ष समस्याओं के संमुख नत होने लगा, जीवन का दृष्टिकोण ही बुद्धिवादी बनता गया। जीवन की समस्याएँ दिनानुदिन विषम और जटिल होती गईं। राजनीतिक परिस्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। स्वतंत्रताप्राप्ति की चेष्टाएँ जिस अनुपात में प्रबल होती गईं, अंग्रेजी की दमन नीति जोर पकड़ती गई। पिछले महायुद्ध ने नई समस्याओं की कठिनाइयाँ बढ़ा रखी थी, दूसरे महायुद्ध के बादल मँडराने लगे, अंततः १६३६ ई० में वह प्रारंभ भी हो गया। जीवन और भी जटिल हो गया। मानवीय और सामाजिक समस्याएँ नया रूप लेकर समाधान के लिये खड़ी हो गईं। गरीबी, उपेक्षित नारी वर्ग, समाज और व्यक्ति, स्त्री पुरुष अनेक समस्याएँ साहित्य में अपनी अभिव्यक्ति ढूँढने लगीं। इन समस्याओं ने जीवन को तो कठोर कर ही दिया, अभिव्यक्ति के माध्यम मे भी बुद्धि और चिंतन के तत्वों की प्रधानता कर दी। साहित्य की वे शैलियाँ, जिनमें शुद्ध साहित्यिक कल्पना का संयोग था, महत्वहीन हो गईं। भावना तथा अनुभूति की जगह विचार और बुद्धि ने ली। काव्य गद्यात्मक हो उठा।

भाषा की पात्रता

इन बाह्य परिस्थितियों के बीच इन बीस वर्षों की अवधि में हिंदी साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ। विषय की दृष्टि से साहित्य का क्षितिज विस्तृत हुआ और भाषा की दृष्टि से प्रौढ़ता आई। युग के समस्याबहुल जीवन को प्रभावपूर्ण और कलात्मक ढंग से अंकित तथा चित्रित करने की समर्थता और पात्रता हिंदी मे आई। साहित्य के विभिन्न रूपों में आवश्यकतानुसार आंतरिक द्वंद्वात्मक सूक्ष्माति-सूक्ष्म अनुभूतियों तक की सफल अभिव्यक्ति सुगमता से होने लगी। गंभीर विचार और गूढ़ व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाने लगी। निगूढ़ भावनाओं की अभिव्यंजना भी सहज हुई। अभिप्राय यह कि समर्थ भाषा मे जो आतरिक शक्तिसंपन्नता अपेक्षित है, हिंदी में वह आई और इसलिये साहित्य के सभी अंगों का पुष्टि-साधन संभव हुआ। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, समालोचना के अतिरिक्त ज्ञान विज्ञान की सभी शाखाओं पर पुस्तकें लिखी गई। सर्वथा नए विषयों के लिये पारिभाषिक शब्दावली के अभाव से कठिनाई किन्हीं अंशों में अवश्य रही। इस-लिये ज्ञान-विज्ञान की उस श्रेणी की पुस्तकें कम लिखी जा सकीं और जो लिखी भी गईं, उनमें भाषा का वह परिमार्जित और शक्तिसंपन्न रूप नही आ सका। ललित साहित्य की भाषा में उपयुक्त निखार है। विषय के अनुरूप सांस्कृतिक प्रांजल शैली भी विकसित हुई और व्यावहारिक विषयों के लिये सरल भाषा शैली का भी निर्माण हुआ। साहित्य को जनजीवन के अधिक से अधिक निकट लाने के लिये सबल और स्पष्ट शैली नितांत प्रयोजनीय है क्योंकि आज का जीवन बहुत व्यस्त और समस्यासंकुल है। अपनी ही समस्याएँ जूझने के लिये काफी हैं, इतना

अवकाश कहाँ कि साहित्य की दुरुह दुर्गमता में गोते लगाकर कोई आनंद का मोती चुने। इस प्रयोजनीयता ने भाषा के स्वरूप को सुगम एवम् सुबोध करने की प्रचेष्टा को प्रोत्साहित किया।

हिंदुस्तानी

भाषा की सरलता की प्रचेष्टाओं में गांधी जी के प्रभाव ने भी बहुत बड़ा काम किया। कांग्रेस की नीति से हिंदी उर्दू का सामंजस्य करके एक नई भाषा हिंदुस्तानी को जन्म दिया। उसके पीछे उद्देश्य था भाषा का स्तर सर्वसुलभ करना, किंतु इस मिलावट की नीति ने न केवल एक समस्या खड़ी की, बल्कि भाषा के स्वरूप को विशृंखल सा कर दिया। विभिन्न विद्वानों के प्रयोग से सँवरने के बदले भाषा अस्थिर हो गई। शैली वास्तव में भाषा का ऐश्वर्य व्यक्त करती है। सहज सरल की नीति निर्धारित हो जाने से भाषा के स्वाभाविक विकास की गति अवरुद्ध हुई अथवा एकरूपता भी न आ सकी। गद्य के अनेक रूप हो गए। शब्दों का बड़ा बेमेल और हास्यास्पद व्यवहार भी होने लगा। संगति और सामंजस्य नहीं रहा। कहीं कहीं अर्थभेद भी हो गया। इससे दो विचारणीय प्रश्न सामने आए। बहुविध बोलियों के इस विशाल देश में जनता की निश्चित भाषा का स्वरूप क्या हो और विषयों की दृष्टि से उसी में सब कुछ को अभिव्यक्त किया भी जा सकता है या नहीं ? स्पष्ट है कि पारिभाषिक शब्दों के संबंध में ऐसी सहजता काम की नहीं होगी। नए विषय और तत्संबंधित नवनिर्मित शब्दों की जानकारी अलग से करनी ही पड़ेगी। इस श्रम से बचाकर जनता के लिये सभी विषय सुलभ कराने का कोई उपाय नहीं। फिर हर विषय न तो सबकी रुचि और प्रयोजन का होता है, न सब उसे जानने सीखने की बाध्यता का ही अनुभव करते हैं। विशिष्ट विषय एक वर्गविशेष से ही संबंध रखता है। उसके साथ खास शब्द की जानकारी उतनी के लिये ही जरूरी होती है। सबकी समझ के लिये चिंता करके सिरदर्द मोल लेना निरर्थक है, जैसे चिकित्सा शास्त्र, वन संबंधी शब्द या अभियंत्रण के शब्द। सबके लिये उनका ज्ञान आवश्यक नहीं। और अगर आवश्यक माना जाय तो उनके लिये अभ्यास और श्रम के लिये उनको तैयार रहना चाहिए। हिंदी ही नहीं, यह बात सभी भाषा में समान है। भाषा में इस दृष्टि से दुरुहता तो होती है, पर यह कोई दोष नहीं है। अर्जित ज्ञान की सीमा से जो बाहर होता है। वही अपरिचित और अनजान होता है। वही जब सामने आता है तो क्लिष्ट लगता है। क्लिष्ट वह होता नहीं है। ऐसे शब्दों को सर्वसाधारण के लिये सुलभ, सहज बनाने के आग्रह में ही भूल है। और जहाँ इस आग्रह पर बढ़ने की कोशिश की गई है, वहाँ एक अजीब खिचड़ी तैयार हुई है—जिसमें न सहजता है, न सौष्ठव है। वह स्वयं एक अलग समस्या बन जाती है।

प्रयोग की कृत्रिमता

इस प्रवृत्ति से दो विजातीय शब्दो में संधि भी हो जाती है और सामासिक पद भी बन जाते हैं. जो भाषा के रूप को बिगाड़ते हैं। कभी कभी सबको समझाने का आग्रह शब्दो में दुहरे तिहरे प्रयोग को भी विवश कर देता है। उन्नीसवीं सदी में उर्दू हिंदी के मेल के समर्थको में इस कमजोरी की झलक मिलती रही है। वे एक साथ एकार्थक दो दो, तीन तीन, चार चार शब्दों तक का प्रयोग करते रहे हैं। जैसे प्रतिष्ठा या इज्जत, सिद्धांतो का दृढ़ या उसूलो का पक्का, सम्राट बादशाह शाहंशाह। हिंदुस्तानी के प्रयोग में भी यह गड़बड़ी बढ़ी। संभवतः यह कृत्रिमता प्रयासकालीन रही हो। आगे चलकर सीधी, स्पष्ट और अर्थपूर्ण समर्थ शैली का निखार हो जाय, निरंतर प्रयोग से वह निखार बहुत कुछ आया भी। संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बॅगला आदि के प्रभावो से मुक्त हिंदी के स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास होने लगा। हिंदी उर्दू के मेल से एक भाषा के निर्माण की प्रवृत्ति ने साहित्यिक गद्य के प्राजल रूपनिर्माण में कुछ सहायता भी की। एक सुलझी हुई शक्त शैली निर्माणक्रम में आई जिसमें सुस्पष्टता और सौष्ठव दोनो लक्षणो का आभास है।

संस्थाओं का योगदान

इस अवधि में हिंदी जिस सर्वतोमुखी विकास की ओर अग्रसर हुई, उसमें सबसे बड़ा योगदान संस्थाओ का है। संस्थाओ में भी सर्वापेक्षा प्रधान हैं नागरीप्रचारिणी सभा और अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन। इनका इतिहास और कुछ नहीं, हिंदी के विकास का ही इतिहास है। हिंदी के सर्वांगीण विकास और व्यापक प्रचार प्रसार ही सभा तथा संमेलन का उद्देश्य और जीवनव्यापी साधना है। उनके विभिन्न अधिवेशनो में हिंदी के बहुव्यापी विकास के ही प्रयत्न किए जाते रहे हैं। नागरी वर्णमाला, लिंग भेद, टाइपराइटर में सुधार, हिंदी और नागरी को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के आसन पर आसीन कराने के प्रयत्न, गाँवो एवं अन्य प्रदेशो में हिंदी प्रचार की प्रचेष्टा, हिंदी में उपयोगी पुस्तको की रचना, लेखको के हितो की सुरक्षा आदि समस्याओ के लिये ये संस्थाएँ सजग रहीं। संग्रहालय कायम किया, जहा शोध की सुविधाएँ उपलब्ध हो। अहिंदी और हिंदी क्षेत्रो में हिंदी के प्रति रुझान बढ़ाने के लिये परीक्षाओ का प्रवर्तन किया, उत्तम रचनाओ के लिये विभिन्न पुरस्कारो की व्यवस्था चलाई। उपाधियाँ बॉटीं। संमेलन की तत्परता से हिंदी को बड़ा लाभ हुआ। हिंदुस्तानी अकादमी, विश्वविद्यालयो तथा हिंदी एवं अहिंदी प्रदेशो की साहित्य परिषदो की सेवाएँ भी बहुत महत्वपूर्ण रहीं। हिंदुस्तानी अकादमी की स्थापना सन् १९२७ ई० में हुई।

उत्तर प्रदेश के तत्कालीन गवर्नर विलियम मारस ने इस संस्था का उद्घाटन किया था। अकादमी ने हिंदी के लिये महत्व के अनेक काम किए। प्रतिष्ठित विद्वानो से शोध संबंधी व्याख्यान कराए, महत्वपूर्ण विषयो की पुस्तके लिखवाई, इनका अनुवाद और संपादन कराया। हिंदुस्तानी नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित की (१६३१) तथा ग्रंथों पर समय समय पर पुरस्कार देकर लेखको को प्रोत्साहित किया।

पत्र पत्रिकाएँ

हिंदी के इस विकास में पत्र पत्रिकाओ का कुछ कम सहयोग नहीं रहा। सन् २० ई० के आसपास हिंदी पत्रो की दुनियाँ में एक नए युग का आरंभ हुआ और पत्रकारिता ने एक नया मोड़ लिया। इस अवधि की यह विशेषता रही कि राजनीतिक और साहित्यिक दोनो चेतनाएँ साथ साथ चलती रहीं। १६२१ ई० में राष्ट्रीय आंदोलन का अधिनायकत्व गाधी जी पर आ जाने से जनजागृति नगरो के वर्गविशेष तक ही सीमित न रही, वह गॉवो और कृषक श्रमिको में भी फैली। आदोलन की चेतना को विशाल जनसमूह में फैलाने की दृष्टि से पत्रो की प्रयोजनीयता वढ़ती गई। पत्र पत्रिकाएँ अधिक निकलने लगीं, उनके पाठक भी बढ़ने लगे। समाचार पत्रो के पढ़नेवालो की बढ़ती हुई संख्या का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् ३६ ई० में उन पाठको की संख्या लगभग ३,२४,८८० हो गई, जब कि सन् २२ ई० में कुल २,१५,१२४ ही थी। १६२८ ई० से तो मासिक पत्र लगभग सभी साहित्यप्रधान हो गए। साप्ताहिको में आधी सामग्री साहित्यिक विषयो के लिये निश्चित स्थान रखने लगी। हिंदी भाषा और साहित्य के लिये अभिरुचि बढ़ने लगी। राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप प्रथम बार हिंदी की राष्ट्रभाषा की योग्यता घोषित हुई। विश्वविद्यालयो में हिंदी का प्रवेश भी लगभग इसी समय हुआ। फलतः पत्रकारिता में साहित्यिकता का संयोग हुआ। अँगरेजी पत्रकारिता के अनुभव रखनेवाले संपादको पर हिंदी पत्रो का भार आया। इस तरह हिंदी पत्रकार राष्ट्रीय आदोलन की ही पहली पंक्ति मे नही रहे, अपितु उन्होने हिंदी साहित्य के सर्वांगीण विकास मे भी पूरा हाथ बँटाया। इस अवधि में साहित्य क्षेत्र मे आनेवाले साहित्यिक मासिको में प्रमुख हैं—चॉद (१६२२), माधुरी (१६२३), मनोरमा (१६२४), सुधार (१६३०), विशालभारत (१६२५), त्यागभूमि (१६२८), हंस (१६३०), गंगा (१६३०), विश्वमित्र (१६३३), साहित्यसंदेश (१६३८), कमला (१६३६)। साप्ताहिकों में उल्लेखनीय हैं--कर्मवीर (१६२४), सैनिक (१६२४), हिंदूपंच (१६२६), जागरण (१६२६), स्वराज्य (१६३१), हरिजन सेवक (१६३२),

विश्वबंधु (१९३३), नवशक्ति (१९३४), योगी (१९३४), देशदूत (१९३८), संघर्ष (१९३८), और संगम (१९४०) । दैनिकों में—आज (१९२१), वर्तमान (१९२१), नवराष्ट्र (१९३१), भारत (१९३३), लोकमान्य (१९३०), विश्वमित्र (१९३७), आर्यावर्त्त (१९४०) आदि । इन पत्रों ने हिंदी के आंदोलनों को दृढ़ता, भाषा को प्रौढ़ता और साहित्यिक गतिविधि को बल दिया। युग और जीवन के अनुरूप जनमन का निर्माण भी होता गया।

अन्य सहायक स्थितियाँ

उच्चतम कक्षाओं में हिंदी के अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था भी इसी काल में हुई। कलकत्ता विश्वविद्यालय (१९२०–२१), काशी हिंदू विश्वविद्यालय (१९···), इलाहाबाद विश्वविद्यालय (१९२४) तथा पटना विश्वविद्यालय (१९३७) में ऊँची कक्षाओं में हिंदी का प्रवेश हुआ। इन सब सहायक स्थितियों से हिंदी निरंतर विकसित होती गई—रूप से भी अंतर्मन से भी। यह विकास भी उन्नत होता, यदि एक मानसिक दुविधा की स्थिति न उत्पन्न होती, किंतु वह स्थिति अवश्यंभावी ही थी। नई परिस्थितियों से सारी पुरानी व्यवस्था बिखरने लगी थी। सभ्यता और संस्कृति का व्यावहारिक रूप अनिश्चित होने लगा था। नए पुराने का द्वंद्व जोर पकड़ रहा था। भावना और बुद्धि, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद, हस्तशिल्प और यंत्र की टक्कर में पूरब पश्चिम का संघर्ष और संबंध स्थापित हो रहा था। दो विपरीत दिशाओं में निश्चित आदर्श का पड़ाव अब भी मानो आकांक्षित हो रहा था, क्योंकि बद्धमूल संस्कार जाते जाते भी जा नहीं पा रहा था और नवीनता की भूमि तैयार हो रही थी। अतएव नवीनता के आग्रह में उमंग का उफनता ज्वार उठा, निश्चयता की गहराई नहीं अर्जित की जा सकी। अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रूप नहीं ले सका, जो अभीष्ट है। यह स्वतंत्र व्यक्तिवाद विदेशी अनुकरण से नहीं बन सकता। विश्वजनीनता निस्संदेह साहित्य का बहुत बड़ा गुण है, किंतु उसकी साधना और सिद्धि का सही माध्यम राष्ट्रीयता ही है। अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को गँवाकर हम दोनों खो बैठेंगे—विश्वजनीनता भी और राष्ट्रीय व्यक्तित्व भी। यह एक निर्भ्रांत ऐतिहासिक सत्य है कि साहित्य में राष्ट्रीय तत्व की जितनी ही गहराई होगी, विश्वजनीनता की उसके सार्वभौम गुण की स्वीकृति उतनी ही सहज और निश्चित होगी।

द्वितीय खंड

निबंध का उदय

लेखक

श्री हंसकुमार तिवारी

निबंध का उदय

निबंध साहित्य

निबंध एक नया वाङ्मय प्रकार एवं गद्य का अत्यंत ही शक्तिशाली रूप-विधान है। गद्य की प्रौढ़ता भाषा की व्यंजना शक्ति के विकास की द्योतक है। गद्य को इसी लिये कवियों की कसौटी कहा गया है।[1] गद्य जिस प्रकार कवियों की कसौटी है, उसी प्रकार निबंध कसौटी है गद्यकार की।[2] प्रौढ़ गद्य का प्रतीक होने के नाते निबंध का उदय तबतक संभव नही होता जब तक कि गद्य की ऐश्वर्यमयी शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हो जाता। संसार की चाहे जिस किसी भी भाषा को मिसाल के तौर पर हम लें, उसके गद्य इतिहास के आरंभिक दिनो में निबंधरचना के दर्शन नही होते। साधारणतः सभी भाषाओ का यही इतिहास रहा है कि उनमें पद्यात्मक रचनाएँ पहले आईं, फिर गद्य के आविर्भाव के अनंतर कथा, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि। निबंध सबके बाद, क्योंकि इसके लिये भाषा की जिस प्रौढ़ता की अपेक्षा होती है वह गद्य की आरंभिक अवस्था में दुर्लभ होती है।

हिंदी में निबंधो की परंपरा इसी लिये बहुत पुरानी नही है। यह एक बहुत ही आधुनिक गद्य प्रकार है। इसके इतिहास की सौ साल की भी कड़ी मुश्किल से जोड़ी जा सकती है। कहने को तो लोग यहाँ तक कहते हैं कि हिंदी में निबंधरचना का आरंभ भारतेंदु युग से भी सौ साल पहले हुआ। उनकी राय में सदासुख लाल की रचनाओ मे प्राथमिक तत्व का आभास मिलता है और वे उनके 'सुरासुर निर्णय' शीर्षक रचना को उदाहरण के तौर पर पेश करते हैं। किंतु रूप और तत्व की दृष्टि से निबंध का आज जो स्वरूप है, उसके अनुसार इसके विकासक्रम का आदि बिंदु वह रचना है, यह निर्विवाद नहीं। सच तो यह है कि काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि तो हिंदी को विरासत में संस्कृत से मिल गए, किंतु निबंध पूर्णतया हिंदी की स्वार्जित संपत्ति है। यह सर्वथा खड़ी बोली गद्य की देन है, साथ ही इसकी प्रेरणा पश्चिमी है। इस सत्य की

[1] गद्यं कवीनाम् निकषं वदंति।

[2] द एसे इज़ द सीवियर टेस्ट ऑव द राइटर.

स्वीकृति में कई लोगो को हिचक हो सकती है और इसकी मूल प्रेरणा भारतीय है, यह प्रमाणित करने के लिये वे इसके उद्गम, अनुसंधान की कोशिश में आकाश पाताल एक कर सकते हैं, लेकिन हमें यह मानना होगा कि इसका ग्रहण भारतीय नहीं, बल्कि विदेशी साहित्य से हुआ है और इस दृष्टि से हिंदी का यह एक अपेक्षाकृत आधुनिक रूप है।

संस्कृत में निबंध शब्द का प्रयोग अवश्य होता रहा है किंतु उस अर्थ में नही, जिस अर्थ में आज होता है। संस्कृत वाङ्मय में निबंध का प्रयोग सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण के अर्थ में किया जाता था। किसी भी मौलिक रचना को, वह चाहे गद्य में हो या पद्य में, संस्कृत साहित्य में निबंध या प्रबंध कहते थे।

निबंध का अर्थ है गठा हुआ, कसा हुआ, बँधा हुआ। 'निबध्नातीति निबंधः' शब्द कल्पद्रुम में निबंध की यह व्याख्या की गई है। जो बाँधता है, वहीं निबंध है। पुराने जमाने में हस्तलिखित पोथियो को सीकर रखा जाता था। सीने की उस क्रिया का नाम था निबंध। निबंध अर्थात् सीना या सँवार कर सीना। बाद मे यह शब्द ऐसे ग्रंथो के लिये प्रयुक्त होने लगा जिनमें मतो अथवा व्याख्याओ का संग्रह हो। आप्टेकृत कोश में निबंध के बारह अर्थ दिए गए हैं: १—बाँधना, जोड़ना, २—लगाव, आसक्ति, ३—रचना, लिखना, ४—साहित्य टीका या कृति, ५—संग्रह, ६—संपत्ति का दान, पशुओं का यूथ या द्रव्य का अंश किसी की सहायता के लिये बाँध देना, ७—संयम, बाधा, रोक, ८—मूत्रावरोध, ९ शृंखला, १०—निश्चित धन, ११—उत्पत्ति और १२—कारण, हेतु। नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिंदी शब्दसागर' में निबंध का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—बंधन, वह व्याख्या जिसमें अनेक मतो का संग्रह हो।

संस्कृत में प्रबंध शब्द का भी प्रयोग लगभग इसी अर्थ में होता था। अंतर इतना ही था कि क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था। प्रबंध का आशय था—संबद्ध विचारो तथा विषयोवाली व्यापक रचना। वह रचना जिसमें गंभीरता से किसी विषय के स्वरूप और महत्व का प्रतिपादन हो या जिसमें कई रूपो के विषयो के बारे में अनेक मतो का संग्रह हो। 'प्र' उपसर्ग विस्तार अथवा सर्वतोभाव का ही बोधक है। निबंध की तरह प्रबंध का भी प्रयोग किसी भी मौलिक रचना के लिये किया जाता था।[1] 'हिंदी शब्दसागर' में भी प्रबंध का अर्थ इसी के अनुरूप है—

[1] बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसंबंधः प्रबंधो दुरुदाहरः।—शिशुपालवध।

कई वस्तुओं या बातों का एक में गुंथन, एक दूसरे से वाक्यरचना का विस्तार, लेख या अनेक पत्रों से संबद्ध वाक्य।

निबंध, प्रबंध, लेख - ये सब आज अनिवार्यतः गद्यरचना के ही प्रकार हैं। प्रबंध काव्य, पद्य प्रबंधपद्य निबंध की आज भी साहित्य में चर्चा जरूर होती है, पर इनका प्रयोग गद्य रचना के लिये ही होता है। पहले ऐसा कोई बंधन नहीं था। इनका प्रयोग गद्य या पद्य दोनों ही तरह की रचनाओं के लिये होता था। बल्कि यह कहें कि उपयुक्त शब्दों का प्रयोग प्राचीनकाल में मुख्यतया पद्य रचनाओं के लिये ही होता था, क्योंकि उस समय साहित्य के किसी भी अंग की रचना के लिये पद्य को ही अधिकतर अपनाया जाता रहा। कारण चाहे जो भी हो। भारतेंदु युग और यहाँ तक कि द्विवेदी युग के भी कुछ लेखक निबंध आदि शब्दों का आशय गद्यपद्य दोनों प्रकार की शैली में लिखी गई रचनाओं से लेते थे और वैसा ही प्रयोग करते थे। उदाहरण के लिये —

'यही समझकर राजा शिव प्रसाद सी० एस० आई० ने अपने गुटका के पहले और दूसरे खंड मे भारतीय ग्रंथकारों के उत्तम गद्यपद्य लेखों का संग्रह किया था जिनको विद्यार्थी बड़े प्रेम और श्रद्धा से पढ़ते और उनसे मातृभाषा का विशेष ज्ञान प्राप्त करते थे.'[1]

या—

'उसमें (सरस्वती मे) भिन्न भिन्न लेखकों के हिंदी पद्यमय अच्छे अच्छे निबंध छपते हैं'।[2]

ऐसा लगता है कि द्विवेदी युग के पूरे निखार में आने के पहले तक कुछ लेखक दोनों ही शैलियों की रचना के लिये इन शब्दों का व्यवहार करते थे। खड़ी बोली जब बहुत हद तक शक्तिसंपन्न हो गई और नई शिक्षा एवं पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित लोगों ने इसमें लिखना शुरू किया तब धीरे धीरे ये केवल गद्य रचना के लिये ही सीमित हो गए। हिंदी ही नहीं, अँगरेजी में भी कुछ लेखकों ने ऐसे शब्द का प्रयोग पद्य रचनाओं के लिये किया है। ऐलेक्जेंडर पोप की दो रचनाएँ उदाहरण स्वरूप ली जा सकती हैं। उनके 'एसे ऑन मैन' और 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' पद्य में ही हैं। जो भी हो, आज तो निबंध के लिये पद्य शैली की बात सोची ही नहीं जा सकती। उसकी जो निजी विशेषताएँ हैं, उनकी अभिव्यक्ति का साधन वह हो ही नहीं सकती।

शब्दार्थ की दृष्टि से निबंध, प्रबंध का अर्थ एक ही है—बँधा हुआ या कसा

[1] समालोचक १९०२

[2] समालोचक १९०२

हुआ। निबंध का नि उपसर्ग उसकी आकारगत लघुता और नैकट्य का संकेत करता है। प्रबंध का प्र विस्तार का। इसलिये स्वरूपगत अंतर होते हुए भी दोनो में रूपगत समानता है। प्राचीन निबंध और प्रबंध में धर्म, काव्य टीकाएँ आदि होती थीं, जिनमें उपयोगिता तो होती थी, पर सरसता और साहित्यिकता का अभाव होता था। आज भी प्रबंध से मतलब उस बड़ी रचना का लिया जाता है, जिसमें विषय की प्रधानता होती है और जिसमें गवेषणापूर्ण तथ्यो का संनिवेश होता है। स्वभावतया निबंध की अपेक्षित सरसता प्रबंध में न पहले थी, न अब है। विषय की प्रधानता हो और वह विषय गवेषणात्मक तथ्यो का हो, तो नीरसता स्वाभाविक है। अतएव रूप और विषय की दृष्टि से न केवल प्राचीन और आधुनिक निबंध में आकाश पाताल का अंतर है अपितु निबंध और प्रबंध में भी अंतर है। यह अंतर रूप और तत्व दोनो का है। प्रबंध में जहाँ बोधवृत्ति और बुद्धितत्व का स्थान है, वहाँ निबंध मे रागवृत्ति और भावतत्व का। प्रबंध सिद्धांतो का निरूपण और तथ्यो का आलेखन है, निबंध भावात्मक प्रतिक्रियाओ का सौदर्यमय चित्रण। निबंध वस्तुनिष्ठ नहीं होता आत्मनिष्ठ होता है इसलिये उसमें व्यक्तित्व का प्रकाश और आत्मीयता का आरोप आवश्यक है। प्रबंध चूं कि वस्तुनिष्ठ होता है, इसलिये उसमें लेखक की तटस्थता और आत्मनिरपेक्षता अपेक्षित है। निबंध में व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता अनिवार्य है। प्रबंध की अपनी अलग सत्ता है, स्वतंत्र क्षेत्र है।

निबंध का अर्थ आज एक विशिष्ट साहित्यविधान के रूप में रूढ़ हो गया है और यह अंगरेजी के 'एसे' (essay) शब्द का पर्याय बन गया है। 'एसे' शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी फ्रासीसी शब्द 'एसेइस' (essais) के अनुकरण पर हुई, जिसका अर्थ प्रयास, प्रयत्न या परीक्षण है। फ्रांस के मिकेल मौटेन ही इसके जन्मदाता माने जाते हैं। यह एक साहित्यप्रेमी न्यायाधीश थे। किसी सुदूर निर्जन स्थान में औरो के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहकर उन्होंने बहुत से निबंध लिखे और सं० १८१० मे 'एसेइस' नाम से उनका एक संग्रह निकला। 'एसेइस' का साहित्यिक अर्थ में सबसे पहले प्रयोग मौटेन ने ही किया। अपने उन निबंधो के द्वारा उन्होने साहित्य के एक सर्वथा नए अंग को जन्म दिया और शैली की दृष्टि से एक अभिनव रचनाप्रणाली का प्रवर्तन किया। रूप और तत्व की दृष्टि से साहित्य में एक नई दिशा का सूत्रपात हुआ। अपनी रचनाओ के बारे में उनका कहना है—अपने निबंधो में मैं स्वयं अपने को चित्रित करता हूँ—और—पुस्तक का मै खुद ही विषय हूँ।[1] इस उक्ति में ही निबंध की भित्ति का

[1] इट इज माईसेल्फ आई पोर्ट्रे या आई एम माईसेल्फ द सब्जेक्ट ऑव द बुक।

निश्चित संकेत है कि उसमें निबंधकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

आलोच्य काल मे हम साहित्य की जिस नई रचनाप्रणाली को निबंध की आख्या देते हैं, उसका सूत्रपात भारतेंदु युग में हुआ। सूत्रपात से हमारा अभिप्राय यह कदापि नही कि तत्कालीन रचनाओ में सब प्रकार से पूर्ण वास्तविक निबंधो के दर्शन हुए, बल्कि यह कि ऐसी लक्षणयुक्त रचनाओ का उदय हुआ जो विकास क्रम से आगे चलकर आधुनिक निबंधो का कारण हुईं। अथवा यो कहे कि तत्कालीन बहुत सी रचनाओ में निबंधो के कुछ कुछ लक्षण दिखाई दिए और उसी भित्ति पर भविष्य में साहित्य के इस नए अंग का महल खडा हुआ। सच्चे अर्थों में निबंध कहे जा सकनेवाले निबंध उस युग मे नही मिलते। उनमें मौलिक विचार, भावगाभीर्य, शैलीशिल्प की विशेषता नहीं मिलती। न मिलने के कारण भी हैं। निबंधो का वह जन्मकाल ही था। भाषा मे उसके अनुरूप शक्तिमत्ता न थी। उसके लिये भावप्रौढ़ता की विरासत न थी और वह गहरी साधना भी लोगो मे न थी, जिसकी आवश्यकता इसके लिये पड़ती है। भाषा की दरिद्रता थी, भावों की अपरिपक्वता थी और साहित्य के सभी अंग या तो सूने पड़े थे या अपरिपुष्ट थे। अतएव साहित्य और समाज के जो हितैषी इस दिशा मे आगे बढे उन्हें सव्यसाची की तरह काम करना पडा, अनेक उलझनो को एकसाथ सुलझाने की जिम्मेदारी लेनी पड़ी। भाषा को शक्ति और ऐश्वर्य देना था, नए नए भाव विचारों को अपनाना था, साहित्य के विभिन्न अंगो की अवतारणा करनी थी। इसलिये हम देखते हैं कि एक ही लेखक कभी उपन्यास, तो कभी नाटक, तो कभी कविता, कभी आलोचना लिखते। इन सबका इतना तो अच्छा परिणाम हुआ कि इस युग में अनेक नए नए साहित्यिक रूपो की सृष्टि हुई। इस सुविधा के कई कारण हुए। प्रेसो की स्थापना हुई, पत्र पत्रिकाओ के प्रकाशन हुए और अंग्रेजी शिक्षा का प्रवर्तन हुआ। निबंधरचना की अलक्षित प्रेरणा बनी अंग्रेजी शिक्षा। उस समय तक भारत की काफी शिष्ट जनता अंग्रेजी के संपन्न साहित्य के संपर्क में आ चुकी थी। अंग्रेजी निबंधसाहित्य के कोई ढाई सौ साल का वैभवशाली इतिहास सामने पड़ा था—बेकन, स्टील, एडीसन, स्माइल्स, गोल्डस्मिथ, हैजलिट आदि की ऐश्वर्यमयी रचना संपदा सामने बिखरी पड़ी थी। उस समृद्ध साहित्य की संनिधि में आने से वैयक्तिक भावो की सौंदर्यमूलक कलात्मक अभिव्यक्तिवाले गद्य के इस अभिनव साहित्यिक रूप की ओर बरबस लोगो का ध्यान गया और इस साहित्य-विधान-शैली को अपनाने की उन्हें स्वाभाविक प्रेरणा हुई। प्रेरणा को रूप देने के साधन भी सुलभ हुए। सामयिक पत्र-पत्रिकाओ ने उनके प्रचार प्रसार की सुविधा प्रदान की। भारतेंदु के समसामयिक कई समर्थ साहित्यकार स्वयं किसी न किसी पत्र के संपादक रहे। जैसे

बदरीनारायण चौधरी, तोताराम, अंबिकाप्रसाद व्यास, प्रतापनारायण मिश्र। अपने अपने पत्रो की सामग्रियो के लिये उन्होने काफी रचनाएँ लिखी, उन्हीं में से बहुतो मे निबंध के कुछ लक्षणो का समावेश भी हुआ। वह हुआ कदाचित इसलिये कि एक तो उन्होने अंग्रेजी रचनाओ को आदर्शरूप रखा, दूसरे पत्रो के जिन पाठको के लिये नियमित लिखते रहने से उनके साथ उनकी जो निकटता स्थापित हो चुकी थी, उससे इन रचनाओ में थोड़ी बहुत व्यक्तिगत विशेपता की झलक आई। पाठको से सामीप्य की भावना होने की एक सुविधा होती है कि लेखक विश्वास और सहजता के साथ स्वगत भाषण या बातचीत के तौर पर लिख सकता है। दोनो के बीच व्यवधान नहीं होता। इसलिये निबंध के कुछ गुणो का संनिवेश स्वयमेव तत्कालीन रचनाओ मे हो गया। क्योकि ऐसा प्रतीत नहीं होता कि निबंध की सबसे स्वतंत्र सत्ता की स्वभावतः उन्हे धारणा थी। वे लेख, प्रबंध, निबंध—इन साहित्यिक रूपो मे कोई भेद शायद नही मानते थे। 'संगीतसार' नाम के एक निबंध से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतेंदु जी लेख या प्रबंध में कोई अंतर नही समझते थे—

'भारत की सब विद्याओ के साथ यथाक्रम संगीत का भी लोप हो गया। यह गान शास्त्र हमारे यहाँ इतना आदरणीय है कि सामवेद के मंत्र तंत्र गाए जाते हैं। हमारे यहाँ वरंच यह कहावत प्रसिद्ध है—प्रथम नाद तब वेद। अब भारतवर्ष का संपूर्ण संगीत केवल कजली, ठुमरी पर आ रहा है। तथापि प्राचीन काल में यह शास्त्र कितना गंभीर था, यह हम इस लेख मे दिखलावेंगे'।

'हमारे प्रबंध से पढ़नेवालो को एक ही रागिनी का नाम बारंबार कई रागो में देखकर आश्चर्य होगा। यह हमारा दोष नहीं, यह संगीतसार के प्रचार की न्यूनता से ग्रंथो में गड़बड़ हो गई है'।

यही नहीं, भारतेंदु द्वारा संपादित 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में जो आदर्श वाक्य लिखा था, उसमें लेख शब्द का ही प्रयोग है -

'नवीन प्राचीन संस्कृत भाषा और अंग्रेजी मे गद्यपद्यमय काव्य, प्राचीन वृत्त, राज्यसंबंधी विषय, नाटक, विद्या और कला पर लेख, लोकोक्ति, इतिहास, परिहास, गप्य और समालोचना संभूषिता'।[1]

बालकृष्ण भट्ट की धारणा भी लगभग ऐसी ही थी—

'रसिक पढ़नेवाले हास्यरस पर अधिक टूटते हैं। सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुंदकली समान दाँत न मिल उठे तो वह लेख

[1] हरिश्चंद्र-चंद्रिका—जून सन् १८७४। संवत १९३१

ही क्या—हमारे संस्कृत साहित्य में तो वक्रोक्ति ही काव्य-का जीवन माना गया है।[1] या एक बंग महिला ने अपनी 'गृह' शीर्षक रचना की पाद टिप्पणी में जैसा लिखा है—यह प्रबंध 'प्रवासी' नामक बँगला मासिक पत्र के लेख का मर्मानुवाद है।[2]

प्रयोग की यह अव्यवस्था आज भी है। आज भी रचना, लेख, संदर्भ, प्रबंध ये शब्द सामान्यतया निबंध के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं किंतु समानार्थवाची जैसे प्रयुक्त होते हुए भी रूप और विषय मे ये अलग हैं। अंग्रेजी में निबंध के लिये एसे (Essay), प्रबंध के लिये एपिक, थीसिस या ट्रीटाइज (Epic, Thesis या Treatise) और लेख के लिये आर्टिकल (Article) शब्द के व्यवहार होते हैं। हिंदी में दर्शन की गूढ गुत्थियों का समाधान देनेवाली रचनाओ से लेकर स्कूल कालेज तक के विद्यार्थी के लिये लिखे गए सब प्रकार के लेख निबंध ही कहे जाते हैं। जैसे निबंध, नवनिबंध, निबंध पारिजात, निबंधादर्श, साहित्यिक निबंधावली, पुरातत्व निबंधावली आदि। रचना शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ रखता है और साधारण तौर से गद्य या पद्य में किसी भी तरह की रचना के लिये इसका प्रयोग होता है। इसके दो व्यावहारिक रूप हैं। एक, किसी प्रणाली की कृति की आख्या, दूसरा, शब्दो के शुद्ध प्रयोग, व्याकरण के नियमो के पालन के लिये विद्यार्थियो को जिसका अभ्यास कराया जाता है, वह रचना। अंग्रेजी मे रचना को कंपोजीशन कहते हैं और इसका प्रयोग इन्हीं दो अर्थों मे होता है। संस्कृत मे इसे प्रायः संग्रंथ और रचना कहा जाता है। हिंदी में भी यही दो रूप प्रचलित हैं। व्याकरणसंबंधी रचनाकोटि की पुस्तके हिंदी मे बहुत हैं—रचना चंद्रोदय, रचनाकला, हिंदीरचना बोध, रचनाचंद्रिका, माध्यमिक हिंदी रचना आदि।

लेख भी वास्तव मे निबंध नही है। वह भी एक स्वतंत्र रचनाप्रवाह है। सामयिक पत्रपत्रिकाओ में किसी भी विषय के प्रतिपादन मे विभिन्न लेखक के विचारो की जो रचनाएँ छपती हैं, सामान्य रीति से उनको लेख की संज्ञा दी जाती है।[3] विचार करके देखने से प्रतीत होता है कि लेख भी व्यापक शब्द है और निबंध, प्रबंध सबके लिये प्रयुक्त होता है। निबंध का आशय इससे भी स्पष्ट

[1] हिंदी प्रदीप—संवत् १९५७

[2] आनंदकादंबिनी—संवत् १९६१

[3] ए लिटरेरी कम्पोजीशन इन ए जरनल, न्यूजपेपर, इनसाइक्लोपीडिया एक्सेट्रा, ट्रीटिंग ऑव ए सब्जेक्ट डिस्टेन्टिली एंड इनडिपेंडेंटिली — कैम्ब्रिज ऐटींथ सेंचुरी

नहीं होता। हरिऔध जी ने संदर्भ शब्द का प्रयोग भी निबंध के ही अर्थ में किया है। अपनी रचनाओं के एक संग्रह का नाम उन्होने 'संदर्भ सर्वस्व' रखा है और भूमिका में संदर्भ की व्याख्या दी है—संबद्ध रचना। वास्तव में मूल अर्थ में ऐसी रचना प्रबंध है, जिसमें कोई संबद्ध कथा हो या किसी विषय का प्रतिपादन हो। प्रबंध का निबंध से आकार और प्रकार दोनो का अंतर है। कई लोग संक्षेप में यह भी कहते हैं कि सिद्धातो के प्रतिपादन से आनेवाली दुरूहता और आकार की लंबाई से निबंध प्रबध हो जाता है। किंतु वास्तव मे बात ऐसी नहीं। दोनो की अपनी अपनी विशेषता है और अलग अलग सत्ता। फिर भी एक ऐसी उलझन दीखती है कि लेख निबंध, प्रबंध सब एक दूसरे के पर्याय से प्रयुक्त हो रहे हैं—इनकी दूरी का स्पष्ट रूप निश्चित नहीं किया गया है। सचमुच ही यह आवश्यक है कि उसका भेदीकरण किया जाय। लेख, प्रबंध और निबंध की अपनी अपनी विशेषता के अनुरूप उनकी कोटि निर्धारित हो और निश्चित अर्थ में उनका प्रयोग हो। जहाँ तक निबंध के आधुनिक स्वरूप का प्रश्न है, अपनी विशेषता से वह पहचाना जा सकता है। व्यक्तित्व की योजना और कलात्मक अभिव्यक्ति – निबंध का यह आदर्श रूप है और इससे उसकी पहचान हो सकती है। लेकिन कलात्मक अभिव्यक्तिवाले विशुद्ध साहित्यिक निबंधो के बिलगाव के लिये उपभेदगत विशेषण जोड़ देने की परिपाटी चल पड़ी है। यथा, दार्शनिक निबंध, साहित्यिक निबंध, राजनीतिक निबंध, आलोचनात्मक निबंध। अत्याधुनिक निबंध का जो स्वतंत्र स्वरूप है, कभी कभी अंग्रेजी में भी उसे 'पर्सनल एसे' (व्यक्तिगत निबंध) कहकर दूसरी कोटि से अलग बताने की चेष्टा की जाती है, गो कि आज निबध का अर्थ ही व्यक्तिगत निबंध हो गया है।

हिंदी में निबंधो की अवतारणा संस्कृत के आदर्शों पर न हो कर यद्यपि पाश्चात्य प्रभाव से हुई, तथापि हिंदी निबंधो ने संस्कृत से कुछ बाते ग्रहण की हैं। नाम तो संस्कृत का ही है। अति आधुनिक निबंध के दो गुणो का संकेत भी इस शब्द मे है। निबंध का अर्थ है, कसा हुआ या गठा हुआ, अर्थात् आकार छोटा हो तथा सुगठित और सुव्यवस्थित योजना हो। निबंध के लिये ये दोनो गुण अनिवार्य माने जाते हैं। 'आक्सफोर्ड अंगरेजी कोश' मे निबंध को संक्षिप्त आकार की रचना कहा गया है।[१] अंग्रेजी में निबंध के बारे में ऐसे विचार भी मिलते हैं, जिनके अनुसार व्यवस्था और गठन, तारतम्य और प्रौढ़ता आवश्यक नहीं है। जैसे डा० मूरे की परिभाषा—'जिसमे किसी भी विषय का पूर्णता से विचार नहीं

[१] द एसे इज ए कम्पोजीशन ऑव मॉडरेट लेंथ

किया गया हो, ऐसा किसी भी आकार का अपूर्ण लेखन।' लेकिन निबंध के नवीनतम रूप के समीप की जितनी भी परिभाषाएँ हैं, वे आकार की संक्षिप्तता, गठन और तारतम्य का निर्देश देती हैं। जैसे—'निबंध किसी विषयविशेष अथवा किसी विषय के अंश पर लिखी गई साधारण आकार की रचना है, जिसमे आरंभ मे अपूर्णता की कल्पना रहती थी, किंतु अब उसका प्रयोग एक ऐसी रचना के लिये किया जाता है, जिसकी परिधि तो सीमित रहती है, पर प्रायः प्रौढ और परिमार्जित होती है।'[1] निबंध मे विषय का महत्व चाहे न हो, विषयप्रतिपादन भी अनिबंध हो, दूसरी ओर जो स्वतंत्रता लेखक चाहे लें, लेकिन रचना सुनिबद्ध, स्थापत्यपूर्ण, संलग्न और एकात्मक होनी चाहिए, यही विद्वानो का मत है।

निबंध शब्द के प्रयोग में जो अव्यवस्था यहाँ देखी जाती है, लगभग वही अव्यवस्था यूरोप मे भी रही है। वहा भी छोटी बडी, गूढ़, सरल सब प्रकार की रचनाएँ निबंध की ही कोटि मे गिनी जाती रहीं हैं। बोसाके के 'फिलासफी आफ स्टेट' तक को एसे कहा जाता रहा है। अतः इसके गुण, लक्षण और विशेषताओ के अतिरिक्त स्वरूप को समझने का दूसरा सहज उपाय नही है। परिभाषाएँ परस्पर विरोधी हैं और आंशिक तथा एकांगी सत्य को ही सामने रखती हैं। निबंध के जन्मदाता मौटेन ने इसे प्रयास कहा है। उनके निबंध अपनी बात को औरो तक पहुँचाने के प्रयास है। इससे दो बातो का संकेत मिलता है। एक तो यह कि निबंध आत्मनिवेदन है और चूंकि वह निवेदन अन्य आत्माओ के आगे होता है, इसलिये स्वाभाविक तौर पर निबंध मे आत्मीयता अपेक्षित है। इसमें बुद्धिविवेक, चिंतन-विचार का वैसा संनिवेश और प्रतिपादन अभीष्ट नहीं, जितना हृदय का योग।

निबंध की परिभाषा मे जो मतविभिन्नता मिलती है, वह इसलिये कि निबंध भी बनने के क्रम में था। उसके स्वरूप की स्थिरता नही थी। परिभाषा भी इसी लिये निश्चित नहीं थी, जो सर्वमान्य हो। यही कठिनाई आज भी है। इसकी ऐसी परिभाषा दे सकना मुश्किल है जो पूर्ण हो। अंग्रेजी मे निबंध के जन्मदाता बेकन ने निबंध को 'विकीर्ण चिंतन' कहा है। अंग्रेजी मे निबंध का प्रादुर्भाव प्रायः साढ़े तीन सौ साल पहले हुआ। किंतु उसके बाद कोई सौ साल तक निबंध की रचना रुकी रही। 'एज आफ रीजन' की समाप्ति के बाद वहाँ निबंधो की प्रगति हुई। गोल्डस्मिथ, ऐडीसन, स्टील, लैंब जैसे समर्थ साहित्यकार सामने आए। इस प्रगति के मुख्य कारण दो हुए। इस काल में समाचारपत्रो का विकास हुआ और साहित्य मे आत्माविष्करण की भावना बढ गई। डा०

[1] ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी कोश

जान्सन ने निबंध को मानसिक जगत् का ढीला ढाला बुद्धिविलास कहा, जिसमें न तो तारतम्य होता है, न नियमितता। वह अपरिपक्व विचार खंड होता है। इसके अनुसार निबंध निरर्थक प्रलाप के सिवा कुछ नहीं ठहरता। वास्तव में निबंध प्रौढ़ और परिमार्जित गद्य का वह स्वरूप है जो व्यक्तित्व की चेतना से संजीवित रहता है। इसी लिये विद्वानों ने परिभाषा की इस अपूर्णता को भरने की कोशिश की। प्रीस्टले, विलियम्स आदि ने निबंध के स्वरूप और महत्ता की दिशा के संकेत दिए।[1]

परिभाषाएँ सदा अधूरी होती हैं फिर भी परिभाषा गढने की परिपाटी सी है। हिंदी मे भी अनुरूप परिभाषाएँ निबंध की मिलती हैं। रामचंद्र शुक्ल ने निबंध के बारे मे कहा है—'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।' व्यक्ति भावना और बोध, हृदय और बुद्धि दोनो के समन्वय से बनता है। 'चिंतामणि' की भूमिका में शुक्ल जी ने लिखा है—इस पुस्तक मे मेरी अंतर्यात्रा मे पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिये निकलती रही बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर।

निबंध के स्वरूप के सभी लक्षण समेटे जा सकें, ऐसी परिभाषा देने की चेष्टा की है गुलाबराय ने। वे कहते हैं—'निबंध उस गद्यरचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।[3]

[1] सच्चा निबंध रहस्यालाप या प्रेम से किए हुए संलाप के समान होता है। और सही मानी में जो निबंधकार होते हैं पाठकों से उनकी हित वार्ता चतुराई से भरी तथा प्रभावोत्पादक होती है। निबंधकार एक एक शब्द अपने हृदय के अंतरतम में बोलता है। उसका लेखन अंतस्तल की आकुलता को व्यक्त करता है।—जे० बी० प्रीस्टले।

निबंध की संक्षिप्त परिभाषा यह है कि वह गद्यरचना का एक प्रकार है जो बहुत ही छोटा होता है। उसमें केवल वर्णन नहीं होते। कभी कभी अपनी बातों को सिद्ध करने के लिये निबंधकार प्रसंग की अवतारणा करते हैं, पर उनका मूल उद्देश्य कथा कहना नहीं होता है। निबंधलेखक का मुख्य कार्य सामाजिक, दार्शनिक, आलोचक या टिप्पणीकार जैसा होता है।—डबलु ई. विलियम्स।

[2] हिंदी साहित्य का इतिहास : रामचंद्र शुक्ल।

[3] काव्य के रूप : गुलाबराय।

निबंध की परिभाषाएँ इस तरह अनेक मिलती हैं और बहुत अंशो में, वे परस्पर विरोधी हैं और आंशिक सत्य को ही प्रकट करती हैं। फिर भी उन सबसे हम निबंध के बारे में कुछ निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं और उन पर से निबंध का जो गुण, लक्षण और रूप ठहरता है मोटामोटी वह होता है—

१. निबंध व्यक्ति की चेतना का प्रतीक है, इसलिये उसका मूल आत्म-प्रकाशन है। आत्मप्रकाशन के नाते आत्मीयता निबंध को अपेक्षित है।

२. निबंध का आकार संक्षिप्त या सीमित होता है। संक्षिप्त का तात्पर्य है सुव्यवस्थित, संयमित और सुसंगठित शिल्पविधान। गागर में सागर भरना। ठोस व्यंजना।

३. निबंध के न तो विषय सीमित होते हैं, न उसकी बंधीबँधाई एक शैली है। निबंधकार की दृष्टि जगत् और जीवन पर न तो दार्शनिक की दृष्टि होती है, न तो ऐतिहासिक, कवि, राजनीतिक या उपन्यासकार की; फिर भी निबंध में इन सारे ही गुणो के दर्शन होते हैं और इन सभी लक्षणो के बावजूद निबंध की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता है।

संक्षेप में निबंध एक ऐसी सीमित गद्य रचना है, जिसमें कार्यकारण की शृंखला के साथ विचार निबद्ध होते हैं और उन विचारों में व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप होती है। निबंध के लिये ये दो बाते नितांत प्रयोजनीय हैं। ऐसा तो हो सकता है कि रचना मे कहीं चिंतन प्रधान हो उठे, कहीं व्यक्तित्व। यही होता भी है। प्रत्येक स्थिति मे ये दोनो बाते अवश्य विद्यमान रहती हैं। लेकिन व्यक्तित्व की प्रधानता ही निबंध के लिये अपेक्षित होती है। इसकी इस प्रकृति के अनुसार इसे समझने के लिये इसकी भी दो कोटि किन्ही किन्ही ने की है— तथ्यनिरूपक या वस्तुनिष्ठ निबंध और निजात्मक या कलात्मक निबंध। जिन निबंधो मे चिंतन ही प्रधान हो उठता है, व्यक्तित्व परोक्ष में पड़ जाता है, उसकी प्रणाली वैज्ञानिक हो जाती है, उसकी प्रेषणीयता तर्क और विवेचना शक्ति पर आधारित हो जाती है।

तर्क और विवेचनावाली वैज्ञानिक प्रणाली वास्तव में बुद्धिवाद की देन है। साहित्य के क्षेत्र मे बुद्धिवाद का आरंभ ईसा की उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशक संवत् १९३७-१९५७ से होता है और बीसवीं सदी में तो वह पूर्णतः स्थापित हो गया है। अवश्य बुद्धिवाद का प्रवेश अहेतुक और आकस्मिक नहीं। उसका कारण रहा है। साहित्य के जिस काल में बुद्धिवाद को अनायास रचना के क्षेत्र में प्रवेश मिल गया, वह काल सामाजिक दृष्टि से सचमुच ही बड़ा

संघर्षमय रहा। फलत: जो धनी समाज के हितैषी थे और जो समझते थे कि समाज से साहित्य का घनिष्ठ संबंध है, समाज के प्रति साहित्य का एक सुनिश्चित कर्त्तव्य है, उन्होंने अपनी साहित्य सेवा से तत्कालीन सामाजिक समस्याओं के हल निकालने की यथासाध्य कोशिश की। उन्होंने उन समस्याओं के संघर्ष को साधन रूप में स्वीकार किया और उनके समाधान के, उनकी शांति के सुझाव पेश किए। फलतः यह प्रचेष्टा कभी कभी तो बुरी तरह उपदेशवाद के रूप में उभर कर आगे आई। भारतेंदुयुग में गद्य के सूत्रपात की जो रूपरेखा हमारे सामने है, उसमें इस बुद्धिवादी प्रेरणा और प्रयास के पर्याप्त स्पष्ट लक्षण हैं। तब की साहित्य-साधना में निर्माण की कामना के साथ वैचारिक क्रांति की अनेक दिशाएँ सामने आई हैं। यही कारण है कि इस काल से ऐसी भावात्मक शैलियाँ साहित्य में धीरे धीरे गौण होने लगीं, जिनका संबंध विशेष रूप से हृदय से है। स्पष्टतया इतना तो दीखता ही है कि काव्य का स्रोत मंद और क्षीण पड़ गया। उपन्यास, कहानी और नाटक की श्रीवृद्धि अधिक होने लगी। नाटक भावात्मकता के लिये काव्य के ज्यादा करीब है, मगर उसका ग्रहण किया गया उसकी काव्यात्मकता को यथासंभव बाद देकर। गद्य की विशेषतः वही शैलियाँ अपनाई गईं जिनसे सामाजिक समस्याओं को लोगों के सामने लाने और उनके समाधान की चेष्टा को रूप देने में सुगमता हो; यथा—कहानी, उपन्यास, नाटक। तात्पर्य यह कि बुद्धि प्रधान होती गई, भाव गौण; मस्तिष्क उभरता आया हृदय दबता चला गया। संसार की सभी भाषाओं के साहित्य का लगभग यही हाल हुआ।

कई लोग साहित्य के व्यक्तिवैचित्र्यवाद को भी बुद्धिवाद की ही उपज मानते हैं। उनकी राय में श्रोता, पाठक या दर्शक की बुद्धि को प्रभावित करने के लिये व्यक्तिवैचित्र्यवाद अधिक उपयुक्त साधन है। जो लोग अपनी रचनाओं द्वारा अपना कोई संदेश औरों तक पहुँचाना चाहते थे, उन्होंने इस साधन को अपनाया। वे कहते हैं, निबंध का प्रादुर्भाव गद्य के इसी युग में हुआ और इसी उद्देश्य से हुआ। साहित्य के अन्यान्य अंग विचारों के प्रेषण और प्रतिपादन के लिये उतने उपयुक्त न थे, जितना कि निबंध। यदि इसी सत्य को स्वीकार किया जाय, तो यह प्रश्न सामने आता है कि निबंध फिर सच्चे साहित्य की कोटि में किस प्रकार आ सकता है? बुद्धिप्रधान होने से हृदय का स्थान गौण हो जाता है और उसमें मन को रमाने की वह शक्ति नहीं आ सकती, जो सही मानी में साहित्य का सच्चा और सबसे बड़ा गुण है। इस प्रकार वह साहित्य की श्रेणी में न आकर गणित, दर्शन या विज्ञान की कोटि में जा पड़ता है। लेकिन बात ऐसी नहीं। निबंध कलात्मक अभिव्यक्ति है; सृष्टि है—रचनात्मक साहित्य। विचार और चिंतन के लिये उसमें प्रवेशनिषेध तो नहीं है, पर प्रधानतः कलाकार की आत्मीयता दूसरों के मर्म से अपना सीधा संबंध स्थापित करके मनोरंजन द्वारा विषय का प्रेषण

करती है। कलाकार उसमें स्वयं प्रकट होता है। जहाँतक निबंध के मूल स्वरूप का प्रश्न है, उसमें विषय से विषयी की प्रधानता होनी चाहिए, क्योंकि उसके पीछे निजी अनुभव की प्रेरणा काम करती है। उसमें उसका अपना मत, अपना दृष्टिकोण, अपनी अभिज्ञता रहती है। इसलिये और प्रकार की रचना में तटस्थता बरती जा सकती है, लेखक अपने व्यक्तित्व को ओझल रख सकता है पर निबंध मे यह कदापि संभव नहीं। इसमें मैं को बोलना ही पड़ता है व्यक्ति को उभरकर निखरना ही पड़ता है। अनेक विषय और रूपो का समिश्रण होते हुए भी निबंध सबसे निराला एक रसायन है। इस रसायन में जो सुगंध ज्यादा उभरती है, जो स्वाद सबपर प्रधान हो उठता है, वह व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व के समावेश से ही निबंध में अन्य तत्वो का स्वयं संनिवेश हो जाता है, जिनका संबंध हृदय से है, क्योकि व्यक्तित्व में भावात्मक और बोधात्मक दोनो ही पक्ष होते हैं।

इस प्रकार साहित्यसृष्टि की परंपरा में निबंध का स्थान इस तरह का ठहरता है—
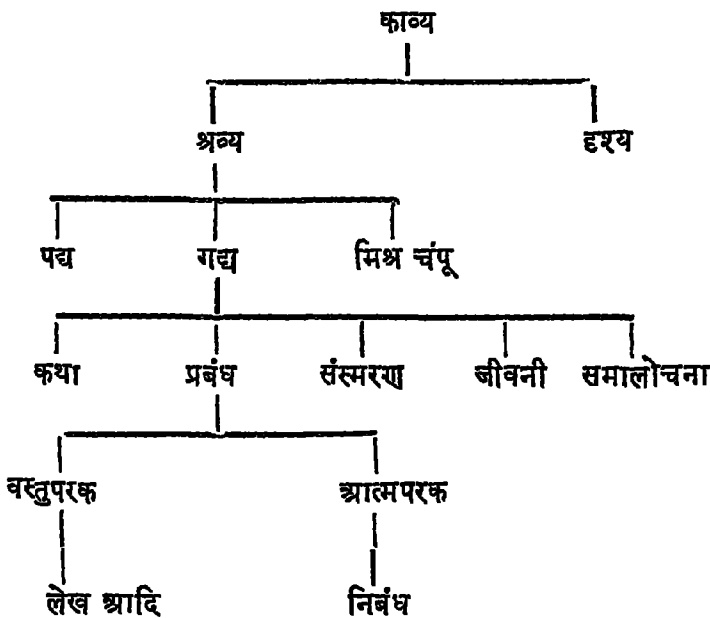
सृष्टिमात्र ही आत्मप्रकाशन की भावना से होता है। इसलिये साहित्य की जितनी भी विधाएँ हैं, व्यक्तित्व की छाप किन्ही अंशो में सबपर होती है। किसी भी ग्रंथ का जीवन, उसकी मर्यादा, लेखक के व्यक्तित्व के प्रकाश पर निर्भर करती है। भाव, विषय, वस्तु, ये सब जाने पहचाने और एक हो सकते हैं, उनको मूल्य और महत्व देती है लेखक की उनपर अपनी अंतर्दृष्टि, अपने ढंग की अभिव्यक्ति, रूपरचना। रचना की जान यही निजता होती है। विषय का आधार एक होने पर भी सर्जनकारी प्रतिभाओ की सृष्टि दूसरे से सर्वथा भिन्न होती है। साहित्य-

सृष्टि की प्रक्रिया की यही विशेषता है। बाहर का जगत् अंतर्जगत् में प्रवेश करता है और रचनाकर की अपनी रुचि, अपनी दृष्टि, अपनी ग्रहणशक्ति के अनुसार फिर वह बाहरी दुनिया में प्रकाशित होता है। प्रक्रिया के इस क्रम में बाहरी जगत् की उन्हीं वस्तुओं में अपनी आध्यात्मिकता के साथ एक नया रंग, नया रूप, नया रस चढ़ जाता है। यही रचनाकार की निजता या उसका व्यक्तित्व कहाता है, इसी के कारण शैली की विभिन्नता आती है। यह निजता रचना के मूल्याकन की मूल भित्ति ही हो जाती है। कोई चाहे भी तो चेष्टा से इस छूत को अलग नहीं कर सकता। कही ज्यादा, कही कम हो सकता है।

संसार के प्रथम निबंधकार मौंटेन ने कहा है—ये निबंध दूसरी आत्मा से आवेदन के प्रयास हैं।[1] यानी ये आत्मप्रकाशन के प्रयास हैं। इसका तात्पर्य है कि निबंध की नीव आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति पर पड़ती है और उसका जो अस्थि-पंजर खड़ा होता है, उसका जो मेरुदंड बनता है, वह लेखक के व्यक्तित्व पर। लेखक की मानसिक चेतना और भावात्मक सत्ता का लिखित रूप ही निबंध है। निबंध की इस प्रकृति का विचार करते हुए रामचंद्र शुक्ल ने अपना यह मत व्यक्त किया है—अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंधसूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंधसूत्र एक दूसरे से नथे हुए पत्तो के भीतर की नसो के समान, चारो ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतो के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ संबंधसूत्रो को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरो में नहीं फँसता। पर निबंधलेखक अपने मन की प्रकृति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्रशाखाओ पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थसंबंधी व्यक्तिगत विशेषता है।[2]

निबंध के मान की उच्चता व्यक्तित्व की उदारता पर निर्भर करती है। व्यक्तित्व जितना ही उदार होगा, निबंध उतना ही श्रेयस्कर होगा। व्यक्तित्व व्यष्टि की वेदी पर बैठनेवाला देवता है। सामाजिक समष्टिवाद के इस जमाने में वैयक्तिक आवेदन की कद्र नहीं हो सकती। वैयक्तिकता से सीमा के सँकरेपन का जो भाव टपकता है वास्तव मे वह उस संकीर्णता का पृष्ठपोषक नहीं होता। निरे वाच्यार्थ से अलग भी उसका एक अर्थ और अभिप्राय है। वह है, एक विशिष्ट अभिव्यक्ति, अन्य अनेक से भिन्न एक विशेष व्यंजना। विशिष्ट अभिव्यंजना के

[1] दीज एसेज आर एन् एटेम्प्ट टु कम्युनिकेट ए सोल
[2] हिंदी साहित्य का इतिहास खंड निबंध।

माध्यम से व्यक्तित्व बहुतो में आत्मभाव की व्यापकता, अनेक में एक की व्याप्ति, समग्र मानवसत्ता में निजत्व के प्रसार कर प्रयास है। इस दृष्टि से निबंध को विचारस्वातंत्र्य, जनसत्ता और सामाजिक स्वच्छंदता का निदर्शन कहना चाहिए। जिस प्रकार व्यक्तित्व की आधारशिला वैयक्तिकता है, उसी प्रकार व्यक्ति का नियामक उसका परिवेश होता है, समाज होता है। जीवन का अर्थ केवल वह बाहरी प्रकाश ही तो नहीं जो कि ज्ञानगोचर है। जीवन को उसके परिवेश की पटभूमि के बिना नहीं पहचाना जा सकता। परिवेश यानी वातावरण, सारा बाहरी जगत्, समाज, परिवार, प्रकृति और इन सबके कारण होनेवाले बाहरी भीतरी संघर्ष। व्यक्ति हम उसी को कहेंगे जो इस परिवेश में बाहरी और आतरिक अदृश्य जीवन के सामंजस्य में प्रकाशित है। ऐसे व्यक्ति का धातुगत अर्थ होगा, जो अपनी निजी विशेषताओं में व्यक्त हुआ हो। यह व्यक्ति अपने जैसा स्वय ही होता है, इसकी अनुरूपता और कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती। इसी को हम व्यक्तित्व कहते हैं। यह व्यक्तित्व विशेष विश्वास, विचार, मान्यता, जीवन-दर्शन पर बनता है। साहित्य में बहुजन हिताय की चर्चा के नाते ही व्यक्तित्व के बारे में गलत धारणा फैली है। आज लोग परस्मैपदी रचना को ही श्रेष्ठ और आत्मनेपदी को निकृष्ट कहने लगे है: यद्यपि आमतौर से कोई भी रचना उभयपदी ही होती है और उसका विषय व्यक्तिगत ही होता है। बल्कि देखा जाय तो साहित्य का व्यक्ति मनुष्य ही नहीं होता, संसार की जो कोई भी वस्तु साहित्य में रूप लेती है, वह व्यक्ति ही होती है, वह चाहे जीव जंतु हो, चाहे जंगल पहाड़ या चाहे दूसरी कोई अच्छी बुरी चीज।

व्यक्तित्वनिर्माण में सामाजिक परिवेश का बहुत बड़ा हाथ होता है। जिस समाज में जितना ही कम बधन होगा, सामाजिक स्वाधीनता की जितनी ही सुविधाएँ होगी, जितना ही स्वच्छंद और उन्मुक्त आनंद का वातावरण होगा, उसमें मानसिक धरातल के विकास का उतना ही व्यापक अवसर रहेगा, उतना ही सशक्त बनेगा व्यक्तित्व। आज के यंत्रयुग में जीवन भी यंत्रवत् बनता जा रहा है। फलस्वरूप जीवन को जीवंत बनाए रखनेवाली वैयक्तिकता की अकालमृत्यु हो रही है। वैयक्तिकता जीवन है, उसके बिना जिंदा रहना जीवित मृत्यु है। प्रसिद्ध मनीषी बर्टरेंड रसेल के अनुसार—आज का युग जरूरत से ज्यादा व्यवस्थित है, इसलिये वैयक्तिक प्रयत्न और उद्योग की गुंजाइश नहीं रह गई है। यही कारण है कि हम लोगो का युग पिछले युग से कम महत्वपूर्ण रह गया है, बहुत ही पिछड़ा हुआ है।[1]

[1] दि इनफिरिआरिटी ऑव अवर एज इन सच रिसपेक्ट इज एन इनइविटेबुल

व्यक्तित्व का मूलधार है अहम्। अहम् शब्द कुछ ऐसे अर्थ में रुढ़ हो गया है कि उसमें से अच्छी ध्वनि नहीं निकलती। लेकिन यह अहम् नितात प्रयोजनीय ही नहीं, बहुत स्वाभाविक भी है। फ्रायड ने इसको जीवनी शक्ति का प्राण माना है। व्यक्ति की जिस निजस्वता का नाम व्यक्तित्व है, उसका जनक यही अहम् है। फ्रायड ने व्यक्तित्व के पीछे दो शक्तियो की अवस्थिति मानी है। एक इगो [अहम्] दूसरी इद [इदम्]। एक उसका आतरिक पक्ष है, दूसरा बाहरी। अहम् से जिस एक संकीर्णता की बास आती है, वह न तो काम्य है, न तो सब समय वास्तव में उसमे वह होती है। विशेषतया जहाँ साहित्य की बात आती है, वहाँ तो यह संकीर्णता हर्गिज नहीं होती। सितार के बहुत से तारो की सामूहिक ध्वनि और इकतारे के एक तार के मूल सुर में कोई विषमता नहीं होती, क्योकि एक तार वही निश्चित स्वर निकालता है, जिस स्वरसंगम पर अनेक तार जाना चाहते हैं। 'मैं' भी जब अपनी संकुचित परिधि में ही अपने को समेटे रहता हूँ, तो आत्मरक्षा और वंशरक्षा, इन्हीं दो बिंदुओ में उसके समग्र जीवन की साधना बँध जाती है। 'मैं हूँ' इतने से ही तो अपने अस्तित्व का बोध संभव नहीं है। मैं के अस्तित्व की सुदृढ़ सार्थकता वहीं है जहाँ अन्य अनेक के होने में वह अपनी उपलब्धि करता है। रवींद्रनाथ ने इसे अपने मे अनंत का परिचय देना कहा है – जिस हद तक मनुष्य दूसरो के होने में ही अपने अस्तित्व को स्वीकार करता है, उसी हद तक वह अपने जीवन में अनंत का परिचय देता है। 'मैं हूँ' और 'और और लोग हैं,'— यह व्यवधान उसका मिट जाता है। औरो से ऐक्य-बोध का यह जो माहात्म्य है, यही आत्मा का ऐश्वर्य है—इसी मिलन की प्रेरणा से मनुष्य अपने आपको तरह तरह से प्रकाशित करता है।[1]

जिस निजस्वता की प्रेरणा से निबंध का जन्म होता है, वह प्रेरक अहम् सामान्य भावभूमि पर पहुँचकर ही व्यक्तित्व बनता है। सामाजिक पृष्ठभूमि पर पहुँचकर वैयक्तिक धारणा, मान्यता, विचार, विश्वास वैयक्तिक नहीं रह जाते, वे सामाजिक संपत्ति होकर व्यक्तित्व के विशिष्ट रूप का निर्माण करते हैं। यह निजस्वता आत्मप्रशंसा नहीं है, बल्कि उसके अपने भाव, चिंतन और अनुभवो पर आधारित उसका जीवनदर्शन होता है – वह जीवनदर्शन जो विश्व सहानुभूति के उद्बोधन,

रेजल्ट ऑव द फैक्ट दैट सोसाइटी इज सेंट्रलाइज्ड एंड आर्गेनाइज्ड टु सच ए डिग्री दैट इंडिविजुअल इनिशिएटिव इज रिड्यूज्ड टु ए मिनिमम—द रॉल ऑव इंडिविजुअल

[1] साहित्य के पथ पर—रवींद्रनाथ

सामान्य आनंद के आवाहन में सहायक होता है। वस्तु को रूप देनेवाला रचनाकारी अंतःकरण सदा वस्तुमय बन जाता है। वस्तु का रूप असल में इतना ही नहीं, जितना प्रत्यक्ष गोचर होता है – उसका वह अंश भी बहुत बड़ा है जो कि आँखों से नहीं दीखता या इंद्रियगोचर नहीं। इसी अदृश्य अंश को प्रकट करके उसे पूर्णता देने के लिये योग या समाधि की स्थिति में आना पड़ता है। साहित्य में इस दशा का नाम तन्मयता, सत्वशुद्धि या चित्त की एकाग्रता है, जिससे अंतर्दृष्टि जन्म लेती है। तन्मयता की स्थिति अथवा समाधि की दशा में अभिव्यक्ति की, प्रकाश की संभावना नहीं होती। समाधि और स्वाभाविक दशा—इन दोनों के बीच के अवकाश में ही रचना होती है। यह अवकाश आत्मा के साथ औरों की एकता स्थापित करता है – विश्वात्मैक्य या सर्वात्मैक्य की प्रतिष्ठा कराता है। फलस्वरूप व्यक्तिनिष्ठ व्यंजना से आत्मभाव का लोप हो जाता है, सँकरा अहम् समग्र मानवसत्ता में परिव्याप्त हो जाता है और एक अनेक में फैल जाता है। इसे हम अहम् का संस्कार या उन्नयन कह सकते हैं, सीमित आत्मभाव का विसर्जन कह सकते हैं। इसलिये किसी रचना की खामी उसकी आत्मपरक व्यंजना नहीं हुआ करती, खामी रचनाकार के छोटे मन की या उसकी आत्मिक संकीर्णता की होती है। छोटे मन से महत् सृष्टि की उम्मीद भी नहीं की जा सकती। वस्तुरूप को सर्वजनसंवेद्य बनानेवाली अभिव्यंजना संकीर्ण व्यक्तिमूलक नहीं होती, क्योंकि वह विशेष को निर्विशेष या सामान्य बना सकती है। इसलिये एडिसन ने जब प्रथम निबंधकार मौंटेन के बारे में यह कहा कि संसार में उससे बड़ा दूसरा अहंवादी पैदा नहीं हुआ, तो सोचना पड़ता है कि यह उसकी स्तुति है या निंदा ?

इन विचारों के बाद निबंध का जो स्वरूप ठहरता है, उस हिसाब से उसकी परिभाषा मोटामोटी इस प्रकार दी जा सकती है—निबंध एक ऐसा व्यक्तिनिष्ठ वाङ्मय प्रकार है, जो आकार में यथासंभव छोटा होता है और कार्यकारण की संगति तथा संबद्धता के साथ किसी विषय का स्वच्छंदतापूर्वक जीवंत और रोचक वर्णन करता है।

निबंध में विषय का महत्व नहीं होता, न ही विषय के प्रतिपादन का महत्व होता है। विषय और उसका प्रतिपादन चाहे जो हो, जैसा हो, उसमें निबंधकार मनमानी स्वच्छंदता से काम ले सकता है, किंतु उसका आत्मचिंतनपरक, सुनिबद्ध और स्थापत्यपूर्ण होना आवश्यक है। आवश्यक है कि उसमें सहृदयता हो, रसदृष्टि हो, संभाषण की पटुता हो और रोचकता लानेवाली सरलता हो। ये सारे ही गुण वही हैं, जो रचनात्मक साहित्य या सृष्टि के होते हैं। निबंधकार की कला में बेन्सन ने निबंधकार के कर्त्तव्य के संबंध में जो कुछ बातें बताई हैं, अंततो-

गत्वा वे निबंध को रचनात्मक साहित्य की श्रेणी में रखने पर ही कही जा सकती हैं। जैसे, निबंधलेखक जीवन की समग्रता का अनुभव और आनंद ग्रहण करना चाहता है। वह जीवन का तटस्थ द्रष्टा है और निरर्थक स्वप्नलोक मे स्वयं को गुमाना नही चाहता। वह हमारा सहप्रवासी है, सफर का साथी। उसकी मनोदशा चाहे जो हो, जीवन को देखने की उसकी दृष्टि चाहे पचासों प्रकार की हो, लेकिन एक बात वह हर्गिज नही कर सकता – वह है, जीवन का तिरस्कार। निबंधकार दूसरो के अनुभवो के प्रति अप्रीति नहीं व्यक्त कर सकता, क्योकि सारी रसानुभूति का आधार ही यह है कि हम आत्मौपम्य भाव से भावन करे। सहृदयता के बिना किसी भी चीज के बारे में हमें सोचने का अधिकार नही है।

निबंध मूलतया एक सृष्टि है। वाक्य और भाषा का आधार होने के नाते इसे भी हम एक वाङ्मय विग्रह या वाङ्मयी मूर्त्ति कह सकते हैं। किसी भी प्रकार की सृष्टि की अपनी विशेषता इतनी ही होती है कि वह निर्माण होती है। वह कुछ कहती नही, बताती नही, केवल हमारे सामने एक रूप खड़ा कर देती है। सृष्टि की जो भी वस्तुएँ हमारे समाने हैं, उनकी कोई भाषा नही है, वे हमसे कुछ कहती नहीं, कोई संदेश भी नहीं देतीं। रूप की भाषा से वे हमारे हृदय में मूर्त्त हो जाती हैं। हम उन्हे देखने हैं और हमे उनका बोध हो जाता है। अपने स्वरूप की धारणा करा देने के अतिरिक्त उन्हे और कोई अपेक्षा नही होती। रूपसौंदर्य का उद्देश्य न तो सीख देना है, न किसी इच्छा की पूर्ति करना, न किसी सिद्धात का अनुमोदन करना। उसका एक ही अर्थ, एक ही अभिप्राय है कि वह अपने रूप की सबको प्रतीति करा दे। प्रतीति से ही आत्मा का संबंध स्थापित होता है।

उपदेश या ज्ञानदान निबंध के ये उद्देश्य नही। वह मन का उन्मुक्त विचरण है। इस यात्रा में पथ के दोनो ओर अर्थपूर्ण, निरर्थक जो भी सामग्रियाँ सौदर्यशोध और आनंदबोध के हाथ लग जाती हैं, वह सबका सचय करता है और नितात आत्मीयता के साथ, एक मित्र की तरह उनका निवेदन करता है। इस शैली में आत्मपरकता और विषय घुलमिलकर ऐसे एकात्म हो जाते हैं कि उस एकीकृति से एक अभिनव आनद रसायन प्रस्तुत होता है। वह रसायन चित्त को अनुरंजित करता है, मन को मोहता है। उसमें बडी बातें आ ही नही सकती, ऐसा नहीं। बडी बाते भी जुड़ सकती हैं, लेकिन सहजता से। जिसे कहते हैं—हँसी-खेल मे बुद्धिमत्ता की बाते यानी। 'विज्डम इन ए स्माइलिंग मूड'। साहित्य लिये कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' एक बात आई है। निबंध के लिये हम कह सकते हैं, एक मित्र की एक सुहृद् की आत्मीयता। मराठी में निबंध के जन्मदाता प्रो० ना० सी० फड़के ने इसका नाम दिया है गुजगोष्ठी अर्थात 'बतकही'— क़नबात। यह कनबात श्रोता या वक्ता के बीच में किसी भी तरह का बंधन, व्यवधान,

आवरण सहन नहीं कर सकती है। इसमें एक से दूसरे हृदय का सीधा संबंध होता है। वैष्णव कवि ने राधा के मिलन क्षण का जैसा वर्णन किया है सारा शृंगार मानो मिलन का साधन हो। मिलन की घड़ी में उन्हे व्यवधान मान राधा ने सारे आभूषण सारा शृंगार उतार फेका। निबंध ऐसी ही एक सहज और छोटी पगडंडी है जो लेखक और पाठक के दोनो छोरो को जोड़ देती है। निबंधकार प्राध्यापक नहीं, प्रवचन देनेवाला नहीं, वह एक मित्र के समान मन से मन की कहता है।

एक आलोचक के अनुसार निबंध एक प्रकार का स्वगतभाषण है। स्वगत-भाषण में पाठक के ध्यान को वश में रखना नितात कठिन होता है।[1] रुचि की दृष्टि से निबंध मे यह शक्तिहीनता कदापि नही होती। वह एक निरावृत हृदय का परिचय है और जो बात निश्छल हृदय से सीधे बाहर निकलती है, वह सीधे हृदय मे प्रवेश पाती है। निबंध में सामर्थ्य के वे सभी तत्व होते हैं, जो पाठको को अपने साथ बहा ले जा सकते हैं। गद्य की पूर्ण प्राणवत्ता तो निबंध ही में पाई जाती है। किसी भी साहित्य के गद्यविकास का चरम मापदंड उसका निबंध साहित्य होता है, क्योकि इसका प्रादुर्भाव किसी साहित्य में तभी होता है, जब उसमें सशक्त अंजना के सभी ऐश्वर्य मौजूद होते हैं। वही भाषा के ऐश्वर्य का लेखा है। कार्लाइल ने कहा था—किसी भी साहित्य की गहराई का अनुमान उसके निबधो से लगाया जा सकता है। हम भी निबंध को गद्य की कसौटी कहते हैं।

निबंध के लिये भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि में समानता अवश्य नहीं रही है। पश्चिम में निबंध को कविता जैसा ही मनस्तृप्ति और हृदय को अनुरंजित करने का ही प्रधान साधन माना गया है। इसलिये स्वभावतया निबंध के लिये जटिल विधान को उन्होने प्रश्रय नहीं दिया है। अँगरेजी और अमरीकी साहित्य में निबंध ललित, मनोरंजक और स्वतंत्र साहित्यरूप के नाते विकसित हुआ है। अँगरेजी में एसे का अभिधेयार्थ है – काम्य विषय को प्रस्तुत करने का प्रयास। विषय की विवेचना और उसके प्रतिपादन से वहाँ निबध का सबंध नहीं माना जाता। अवश्य ऐसी मान्यता वहाँ प्रस्तुत निबंधो के स्वरूप को देखकर ही हुई। लार्ड बेकन तक ने, जो अँगरेजी के पहले निबंधकार हैं, निबंध को निक्षिप्त प्रणिधान कहा है[2]।

[1] हिंदी साहित्य — डा० भोलनाथ।

[2] दि वर्ड एसे इज लेट, बट द थिंग इज एंसिएन्ट। फार सकसेज इपिसलेस टु ल्यूसिलेस, इफ वन मेक देम वेल, आर बट एसेज, दैट इज डिसपर्स्ड मेडिटेशन।

—एसे पुस्तक का समर्पण।

आज वहाँ जैसे निबंधो की चाल चल पडी है, उसकी गिनती लोग हल्के साहित्य में करते हैं। अवश्य सभी पश्चिमी देशो में ऐसा ही नहीं हुआ है। फ्रांस में, जहाँ से निबंध की शुरुआत हुई, यह अधिकतर साहित्य कला की समीक्षा में ही सीमित रहा – मौटेन के निबंध इसके अपवाद जरूर हैं। उनके निबंध तो ऐसे हैं मानो किसी बगीचे मे टहलते हुए फूल चुने गए हैं। जर्मनी, इटली आदि देशो मे भी यह साहित्यसमीक्षा के रूप मे ही विकसित हुआ। इन देशो में ज्यादा-तर आलोचनात्मक निबंध लिखे गए। भारतीय पंडितो की दृष्टि निबंध मे विशेष-तया गंभीर विचारों की कड़ी जोड़ने की रही है। यहाँ निबंध मनोरंजक होने के बजाय अभ्यास एवं मनन की वस्तु रहा है। यहाँ हम उन्हे हल्के साहित्य के रूप मे स्वीकार नही कर सके। यही कारण है कि आज निबंध कहने से जिस कोटि की रचना समझी जाती है, हमारे यहाँ वैसी रचनाओ का बहुत बड़ा अभाव है। निबंध साहित्य का परंपरागत इतिहास तैयार करने की जरूरत पड़े तो दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, आलोचनात्मक निबंधो की शरण जाने के अलावा चारा नहीं रह जाता। आज के अर्थवाले निबंध तो कल के हैं और ये बहुत ही कम लिखे गए।

लिंड ने निबंध को बकवास (नानसेन्स) कहा है लेकिनसुंदर बकवास (ऐलिगेटेड पीस ऑव नानसेन्स)। जानसन ने कहा है मस्तिष्क की ढीली उद्भावना। इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह निरी निरर्थक और बेकार चीज है, बल्कि यह कि इसमें शास्त्रीय जटिलता के बजाय सहज रसमयता हो जहाँ सुगमता से पैठ हो सके। इस कोटि के आदर्श निबंधो पर गौर करें तो हम पाएँगे कि इनमें किसी विषय के प्रतिपादन का उतना महत्त्व नही है, किसी विषय की चर्चा करते हुए मन की उमंग की लहरो से रचनाकार अनेक विषय, अनेक व्यक्ति और अनेक वस्तु की अभिव्यक्ति ले आते हैं किंतु इसमे एक सूत्रबद्धता होती है और शिल्प होता है। पाठक इस प्रवाह मे बहता है। मराठी मे तो निबंध का नाम ही ललित निबंध पड़ गया है। ललित अर्थात् विदग्ध, रसप्रवण—शास्त्रीय नही। मतलब यह कि निबंध रस साहित्य की श्रेणी में है, जिसका धर्म है मानसिक उल्लास और उत्तेजना उत्पन्न करने की योग्यता रखना। यह योग्यता रचनात्मक साहित्य की ही होती है। इस दृष्टि से निबंध कुछ अंशो मे गीति कविता के समकक्ष पड़ता है। इसका लक्ष्य भाव की रस दशा मे पहुँचना है। संक्षेप में यहाँ भावो की प्रक्रिया को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

भाव जो वस्तु, है, वह हमारी मानस क्रिया का परिणाम है। किसी चिंतन किसी धारणा को भी हम भाव कह सकते हैं। भाव के सहज धर्म दो हैं। या तो वह हमारे मन में उदित होकर बाह्य जगत् पर आरोपित होता

है या बाह्य जगत् के संपर्क में आकर हमारे मन में ही उदित होता है। किंतु साहित्य में हम जिस भाव का अर्थ लेते हैं, वह भाव ठीक ठीक यही नहीं है। चाहे तो उसे हम रसप्रवृत्ति कह सकते हैं चाहे तो आनंद की आकांक्षा। इस भाव के भी दो स्वभाव होते हैं। या तो वह एकबारगी अंतर्मुखी होता है और भाव ही उसकी शेष सिद्धि या शरण होता है और या वह बहिर्मुखी होता है। जो बहिर्मुखी होता है, वह वस्तुगत अस्तित्व की कामना से अभिप्रेत होता है, जीवन और जगत् का आश्रयकामी होता है। सृष्टि की प्रेरणा इसी भाव से उद्भूत होती है। इसी प्रेरणा से प्रतिभा वाङ्मयी रचना में तत्पर होती है और रूप की सृष्टि करती है।[1]

निबंध चूंकि एक व्यक्तिनिष्ठ वाङ्मय प्रकार है, इसलिये उसका भी जन्म स्वाभाविक आनंद की आकांक्षा या रसप्रवृत्ति से होता है। रसप्रवृत्ति की दो दिशाएँ हैं—आनंद देना और पाना। शिल्प की वेदी पर जो भी निवेदन किया जाता है, उसके पीछे दो कामनाएँ होती है—बहुतो में अपनी व्याप्ति और बहुत दिनो तक स्थायित्व। निबंध मे भी निबंधकार की ये दोनो कामनाएँ निहित हैं और दूसरो के आनंद की आकांक्षा की परितृप्ति के साथ ही उन कामनाओ की परिपूर्ति होती है।

निबंध के अंतरंग और बहिरंग स्वरूप की चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह साहित्य का एक स्वतंत्र रूप है। आकार प्रकार, तत्व सभी दृष्टियो से इसकी अपनी विशेषताएँ हैं, अपना अलग अस्तित्व है। साहित्य की दूसरी जो विधाएँ हैं, उनमें से बहुतो से बहुत बातो में इसकी समानता भी है, बहुत बातो में असमानता भी। कई बार तो निबंध से साहित्य के किसी अंग की इतनी निकटता लगती है कि दूरी की सूक्ष्मता का पता पाना मुश्किल हो जाता है। फिर भी अलग अलग विशेषता के कारण इन दोनो अंगो को एक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिये कथा को लीजिए। कथा के दो रूप हैं – उपन्यास और कहानी। दोनो का व्यक्तित्व भिन्न है। उपन्यास का कोई अध्याय आकार में स्वल्प और आदि अंत की दृष्टि से अपने में पूर्ण हो सकता हैं। पूर्ण होते हुए भी चूंकि उसमें कहानी की शैली की निजता और कलात्मक पूर्णता नहीं होती, इसलिये उसको हम कहानी नहीं कहेंगे। ठीक इसी प्रकार किसी पुस्तक के अंशविशेष में किन्ही अंशो मे निबंध के लक्षण पाए भी जायँ तो उन्हें निबध की आख्या नही दी जा सकती। गोकि निबंध के संबंध मे लिखते हुए हिंदी के कुछ विद्वानो ने यही किया है—कभी कभी कोई विद्वान् अपनी बडी पुस्तक के किसी अध्याय के कुछ उन वाक्यो को. जो इस अध्याय का पिछले अध्यायो से संबंध प्रकट करते हैं, निकालकर उसे ऐसे निबंध

[1] कला—हंसकुमार तिवारी.

का रूप दे देता है। कभी कभी पुस्तकों की प्रस्तावनाएँ एवं भूमिकाएँ भी ऐसे निबंध का रूप पा जाती हैं।[1] यही नहीं, विद्वान् लेखक ने भाषणों तक को निबंध मान लिया है। कहते हैं—इस प्रकार के निबंधों का स्वरूप भाषणों से थोड़ा सा मिलता है। यदि भाषणों के आरंभ और अंत के अंश और बीच बीच के वे अंश जहाँ व्याख्यानदाता श्रोताओं से प्रत्यक्षतः व्यक्तिगत संबंध स्थापित करके अपने भाषण को आगे बढ़ा रहा हो, हटा दे, तो प्रायः भाषण इस रूप के निबंध ही हो जायँगे।[2]

निबंध के व्यक्तित्व के निर्माण में जिन विशेष तत्वों का अनिवार्य प्रयोजन है, किसी रचना में वे सारे ही तत्व निहित हों, तभी उसे निबंध कहेंगे। ऐसा न होता तो साहित्य के इतने अंगों के होते आखिर एक स्वतंत्र प्रकार की आवश्यकता भी क्या थी? जिन तंतुओं से निबंध का ताना बाना बनता है, जो बात जिस युक्ति, ढंग और कौशल से निबंध प्रकाश में ला सकता है, निश्चय ही साहित्य के अन्य अंगों से अभिव्यक्ति की वह दिशा पूरी नहीं होती। हिंदी में निबंध का सूत्रपात ही इसी कारण हुआ। अँगरेजी साहित्य के संपर्क में आकर लोगों को गद्य के एक ऐसे प्रकार का परिचय मिला जो शक्तिमत्ता में आकर्षक था, जिस माध्यम से पाठकों से निकटता स्थापित कर मुक्तकंठ से अपनी बात कहीं जा सकती थी। कविता, नाटक या उपन्यास का आधार ग्रहण करने में यह सुविधा नहीं थी। इसी अभाव से साहित्य के इस स्वतंत्र अंग को अपनाया गया। इसकी पुष्टि के दो सबल प्रमाण हैं। किसी भी भाषा के साहित्य में निबंध का उदय बहुत बाद में हुआ और किसी भी निबंधकार ने अपनी प्रौढ़ावस्था में निबंध लेखन का श्रीगणेश किया। क्योंकि निबंध के लिये अभिज्ञता और अनुभव की पूँजी के साथ साथ व्यंजना शक्ति की प्रौढ़ता और प्रांजलता भी आवश्यक है : अभिज्ञता और अर्जित अनुभव की प्रौढ़ता के ऐश्वर्य में निबंधकार को जीवन के साधारण धरातल से कुछ ऊपर उठकर कहना पड़ता है। संक्षेप में साहित्य के अन्य रूपों की समता विषमता की तुलना करते हुए हम निबंध की स्वतंत्र सत्ता, उसकी निजी विशेषता को समझें।

कथा या आख्यायिका और निबंध में कई बातों में समता है, इसलिये बहुत बार निबंध आख्यायिका के बहुत समीप का गद्यप्रकार प्रतीत होता है। मौंटेन ने निबंध के बारे में स्पष्ट कहा है – यह विचारों, उद्धरणों और कथाओं का

[1] हिंदी साहित्य—डा० भोलानाथ, पृ० २८८
[2] ,, ,, ,,

संमिश्रण है। निबंधो का मूल उद्देश्य कथा कहना अवश्य नहीं होता, पर प्रसंगो की अवतारणा करनी पड़ती है, कथाकार के समान पात्रो की सृष्टि भी कभी कभी आवश्यक हो जाती है। कहानी का आकार भी संक्षिप्त और सीमित होता है। कहानी में हेतु या परिपुष्ट करने के लिये शैली की तीव्रता और उसे केंद्रीभूत करने की आवश्यकता पड़ती है। कथा के समान घटना, वातावरण, चरित्र, उद्देश्य आदि की अन्विति आपेक्षित न होने पर भी निबंध मे एकता (युनिटी), यथाक्रमता (कन्टीन्यूड आर्डर) और युक्तियुक्त क्रम (लाजिकल सीक्वेन्सेज) के लिये भी प्रवाहमयी चुभती हुई शैली का होना जरूरी है। कहानी जीवन की किसी एक ही घटना को लेकर चलती है और परिणाम के लिये आनुषंगिक बातो का समावेश करती है। निबंध में वह नपीतुली सुनियोजित रूपरेखा चाहे न हो, किंतु आदि से अंत तक पाठको को ले चलने का जादू रहता है। कहानी में लेखक इतनी छूट ले सकता है कि निजी तौर पर विवरण उपस्थित करे। ऐसी स्थिति में कथा में निबंध के तत्व अजाने ही आ जाते हैं। ऐसी और भी कई बातें हैं, जिनसे दोनो के नितात नैकट्य की धारणा होती है। किंतु यथार्थतः दोनो में अंतर हैं। कथा से जो तुष्टि लोगो को होती है, वह सपूर्णतया भावात्मक होती है, जब कि निबंध से वैचारिक। कथा वस्तुनिष्ठ होती है, उसमें कथाकार अपने से, अपनी कृति से तटस्थ रहता है, उसका आत्मभाव कहीं आता भी है तो पात्रो में, वर्णन में नहीं। निबंध आत्मनिष्ठ ही होता है, उससे व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार से, अलग नहीं किया जा सकता। हवा में जैसे सुगंध की सत्ता स्पष्ट मालूम पड़ती है वैसे ही निबंधकार के स्व से निबंध सुवासित रहता है।

निबंध और आख्यायिका—इन्हीं दोनो के मिलेजुले तत्वो से शब्दचित्र बनता है। अँगरेजी में इसको स्केच कहते हैं—चित्रकला में मात्र रेखाओ से किसी का जो चित्र बनता है, स्केच उसका नाम है। शाब्दिक रेखाओ से चरित्रविशेष के रूपायन को साहित्य में इसी लिये स्केच कहते हैं। स्केच में साधारणतया किसी प्राणी के चरित्र का चित्र होता है। अब निर्जीव वस्तुओ के भी सजीव जैसे शब्द-चित्र लिखे जाने लगे हैं। काव्य में आत्मीयता के आरोप से जीवंतता की अनु-भूति छायावाद युग की एक विशेषता रही है। शब्दचित्रो के क्षेत्र में भी विषय-ग्रहण की वह उदारता अपनाई गई। आकार में छोटा से छोटा होना शब्दचित्रो की विशेषता है। उसमे जहाँ अनुभूति, विचार और भावतत्व की प्रधानता हो जाती है, वही वह निबंध के निकटतर आ जाता है। शब्दचित्र में व्यक्तित्व की भी झलक पाई जाती है। वह झलक दो रूपो में मिलती है—स्वतः लेखक का व्यक्तित्व और इस व्यक्ति या वस्तु का व्यक्तित्व ही ज्यादा उभरना चाहिए। लेकिन अनपेक्षित रूप से कभी कभी चरित्र के बजाय चरित्रकार

ही प्रधान और प्रबल हो उठता है। एक बात में शब्दचित्र और निबंध में नितांत निकटता है। वह है आत्मीयता। आत्मीयता के बिना रेखा रंग हो या भाषा, किसी की तस्वीर नहीं उतारी जा सकती। चरित्रकार और छविकार की सफलता बहुत कुछ इसी आत्मीयता पर निर्भर करती है। औपन्यासिको के लिये अपने पात्रो के साथ यही आत्मीयता प्रयोजनीय होती है। बालजक के संबंध में ऐसा कहा जाता है कि एक दिन राह मे अपने एक मित्र को देखकर वह तपाक से बोल उठा—भई, वह मर गया। और वह फफक उठा। मित्र ने समझा, कलाकार का कोई सगा संबंधी शायद गुजर गया। बाद में पता चला बालजक का मतलब उसके नए उपन्यास के नायक से था। शब्दकार की यही आत्मीयता चित्र के पात्र के साथ होती है। इसलिये आत्मीयता इसका एक साधन भर है, अंतिम लक्ष्य नहीं। निबंध और शब्दचित्र, दोनो में एक प्रेरक आवेग होता है लेकिन दोनों की गतिविधि में इतना अंतर होता है कि शब्दकार का आवेग अपने पात्रो में नियोजित होता है, निबंधकार का अपने पाठको पर। यो शब्दचित्र भी विचारात्मक हो सकता है, पर भावात्मक होना ही उसके स्वरूप की निजस्वता है। ऐसी कई बातों में समानता होने पर भी निबंध शब्दचित्र से भिन्न है, क्योकि निबंध का क्षेत्र बड़ा विस्तृत और व्यापक है। उसके विषय असीमित हैं। शब्दचित्र में आनंद अर्थ का आता है, निबंध के अर्थ नाद की लहरो से आनंद देते हैं।

सभी भाषाओ में निबंध के विकास में पत्रपत्रिकाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिंदी निबंध का जो स्वरूप आज निखरकर हमारे सामने है, उसकी पूर्वपीठिका भारतेंदु युग मे तैयार हुई थी। साहित्य के इस अंग की स्थापना मे भारतेदु ने स्वयं बड़ा उद्योग किया और जो थोड़ा बहुत रूप इसको दे सकना संभव हुआ, वह इसी लिये कि पत्रपत्रिकाओ का साधन सुगम हो सका। भारतेदु की रचनाएँ 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'बालबोधिनी' आदि पत्रिकाओ में निकला करती थी। उन रचनाओ में कई शैलियो के दर्शन होते हैं। बालकृष्ण भट्ट की रचनाएँ तत्कालीन श्रेष्ठ साहित्यिक पत्र 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित हुई। विनोदपूर्ण शैली के लिये लोकप्रिय प्रतापनारायण मिश्र स्वयं 'ब्राह्मण' पत्र के संपादक थे। बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन की व्यक्तिगत विलक्षणतावाली शैली उस समय अनूठी थी। गद्यरचना को वे एक कला और कलम की कारीगरी कहते थे। उनके लेख, प्रबंध, निबंध सब 'आनंद कादंबिनी' और 'नागरी नीरद' पत्रों में निकले। सरल और मुहाविरेदार भाषा के पृष्ठपोषक अंबिका प्रसाद व्यास की रचनाएँ 'वैष्णव पत्रिका' तथा 'पीयूष प्रवाह' में प्रकाशित हुई।

अँगरेजी साहित्य में भी बेकन आदि एकाध निबंधकार के बाद निबंध-रचना के ज्वार में भाटा पड़ गया था। अँगरेजी में उस समय पद्य युग था। निबंध के उपयुक्त भाषा प्रौढ़ नहीं हो पाई थी। इसलिये लगभग सौ साल तक निबंध की प्रगति बड़ी मंद रही। जब पत्रपत्रिकाओं का प्रकाशन बढ़ा, निबंध-लेखन की प्रवृत्ति को गति और प्रश्रय मिला। नई नई शैली का प्रवर्त्तन भी आरंभ हो गया। क्षेत्र और भावभूमि में परिवर्तन हुए।[1] उन्नीसवीं सदी में अँगरेजी निबंधों की आशातीत उन्नति हुई। हंट, हैजलिट, गिफर्ड, लैंब, मेकाले जैसे निबंधकारों की साधना से साहित्य समृद्ध हुआ। इस विकास की प्रेरणा और साधन स्वरूप रहीं—क्वार्टरली रिव्यू, ब्लैक वुड रिव्यू आदि पत्रपत्रिकाएँ।

इस दृष्टि से स्वरूप और विषयवस्तु को देखते हुए पत्रकारिता और निबंध बहुत पास पास के लगते हैं। विषय की स्वच्छंदता दोनों को है—कोई सीमारेखा नहीं। राजनीति, धर्म, अध्यात्म, संस्कृति जो भी विषय चाहे हो। यथार्थवादी या आदर्शवादी जैसा भी चाहे दृष्टिकोण हो। लेकिन इतने पर भी दोनों बहुत दूर दूर के हैं। पत्रकारिता एक कौशल है और निबंध रचनात्मक साहित्य। रस-प्रवृत्ति की पोषक रचनाएँ भी पत्रकारिता में हो सकती हैं, परंतु यही पत्रकारिता का लक्ष्य नहीं। जहाँ निबंध को व्यंजनात्मक तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का सहारा लेना पड़ता है, वहाँ पत्रकार का काम शाब्दिक अभिव्यक्ति से चल जाता है। क्योंकि पत्रकारिता का महत्व सामयिक होता है। मनस्वी रस्किन ने साहित्य की दो श्रेणियाँ बताई हैं—एक सामयिक, दूसरी सार्वजनीन। सामयिक साहित्य का लक्ष्य तात्कालिक प्रयोजन की सिद्धि है। इसलिये सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि आशु समस्याओं पर प्रकाश डालना और उनका समाधान ढूँढ़ना ही उसका उद्देश्य होता है। निश्चित है कि ऐसे समसामयिक आदर्श और तात्कालिक आवश्यकताएँ टिकाऊ नहीं होतीं, लिहाजा सामयिक-साहित्य में स्थायित्व की भी संभावना नहीं होती, न ही उसका यह लक्ष्य होता है। निबंध का लक्ष्य ठीक इसका उलटा होता है। इसके अतिरिक्त आकार तथा रूपयोजना में निबंध की जो सीमाएँ हैं, पत्रकारिता में स्वरूप और सीमा की वह मर्यादा नहीं होती।

पत्र अपने को व्यक्त करने का सशक्त और सुगमत साधन है। इसलिये स्वभावतया यह प्रश्न उठ सकता है कि व्यक्तित्व और निजीपन ही जब पत्र और निबंध, दोनों की विशेषता है तब इन दोनों में तात्विक भेद कौन सा है। पत्र के

[1] पुराने और नए निबंधों में सबसे बड़ा अंतर शिल्प का ही नहीं है, जितना कि मनोभूमि और विचारदर्शन का है।—जे० डब्ल्यू मेरिअट।

माध्यम से भी निबंध लिखे जाते हैं और पत्र में भी अपनी अनुभूतियाँ, विचार और भाव अभिव्यक्त किए जाते हैं। साहित्य में पत्र के अनेक प्रकार पाए जाते हैं। जैसे जवाहरलाल का 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' रवींद्रनाथ की 'रूस की चिट्ठी', पत्रात्मक उपन्यास, कहानियाँ आदि आदि। किंतु पत्र और पत्रसाहित्य, दोनो की कोटियाँ अलग हैं। साहित्य पदवाच्य होने के लिये पत्रो में कुछ विशेष तत्वों का समन्वय आवश्यक होता है। पत्र नितांत ही निजी और घरेलू होता है। उसमें व्यक्ति का अवरणहीन, उन्मुक्त, स्वतंत्र और निश्छल हृदय व्यक्त होता है, किंतु किसी एक व्यक्ति के लिये। उसका उद्देश्य किसी एक व्यक्ति के भाव और भावना, विचार और अनुभूति को किसी दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाना मात्र होता है। पत्र-लेखक अपनी बात एक से कहता है, निबंधकार लेखक अनेक से, असंख्य से। निबंधकार अपने पाठको के इतना पास नही होता जितना पत्रलेखक। पत्र दो व्यक्तियो के संबंधसाधन की कड़ी है, निबंध व्यक्तियो अथवा समाज के बीच का संबंधसाधन। निबंध में व्यक्ति की वैयक्तिकता व्यक्तित्व बनकर फूटती है, पत्र में व्यक्ति निरा व्यक्ति ही रह जाता है। उसे सामान्य भावभूमि की उदारता और व्यापकता का स्पर्श नहीं मिल सकता। निबंध अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक होता है, इसलिये उसे अनेक मर्यादाओ के किनारो के बीच अपनी दौड़ रखनी पड़ती है। विषय को देखते हुए निबंध की सीमाएँ बहुत व्यापक हैं, पत्र की सीमित। पत्र में भाव-विचार, विवरण, वर्णन, सभी कुछ हो सकते हैं, किंतु उसका सर्वोपरि तत्व घरेलूपन और दो की आपसी बातचीत है। उसमें व्यक्तिनिष्ठता नहीं बल्कि निजी समस्याएँ ही ज्यादा स्थान और महत्व पाती हैं। प्रशस्ति, संबोधन, स्थान, तिथि, लिखनेवाले के हस्ताक्षर आदि को अलग कर देने से ही कोई पत्र निबंध की आख्या के उपयुक्त नही हो सकता। साहित्य के स्वरूप और उसकी मर्यादा को ध्यान में रखते हुए जो पत्र लिखे जाते हैं वे निबंध हो सकते हैं, लेकिन ऐसे मे वे पत्र नही रह जायँगे। यात्रा संबंधी विचार विवेचन के पत्र हमारे यहाँ लिखे गए हैं। उनमें अपने हित मित्र का संबोधन एक बहाना भर है। वास्तव में वे सबके लिये लिखे गए हैं। ऐसे पत्रो की आत्मीयता घरेलू न होकर सामान्य और सार्वभौम होती है, क्योकि इसमें पत्र का परिमार्जित और सामाजिक रूप होता है। समाचार पत्रो में भी संपादको के नाम ऐसे पत्र प्रकाशित किए जाते हैं जिनका उद्देश्य अपने विचारो का प्रसारण, संपादको के अतिरिक्त ही होता है।

कई लोग यह कहते हैं कि पद्य में जो स्थान गीति कविता का है, गद्य में वही स्थान निबंध का है। सचमुच दोनो में कुछ ऐसी समानताएँ हैं कि गीति कविता निबंध की निकटतम साहित्यशैली सी लगती है। संक्षिप्तता, आत्मप्रकाशन और एकसूत्रता—स्वरूपविधान की ये जो तीन मुख्य शर्तें हैं, ये दोनो में पाई जाती हैं। भावनाओ, आकांक्षाओ, कल्पनाओ की सरस और अकृत्रिम अभि-

व्यक्ति गीत है - विचार, चिंतन, कल्पना, आकांक्षा का क्रमबद्ध प्रकाश निबंध। भावो की तीव्रता और गहराई के लिये भावघन अनुभूति की सघनता अनिवार्य है। गीतो में कम से कम मे ज्यादा से ज्यादा कहा जाता है। निबंध भी आकार की स्वल्पता मे अधिक से अधिक जितना ही कह सके, उतना ही उसमें प्रभावोत्पादकता आती है, उतनी ही उसकी सफलता और श्रेष्ठता है। इसे समास में व्यास कहते हैं।[1] गीत में एकसूत्रता जरूरी है, जिससे अन्विति का प्रभाव (इफैक्ट ऑव टोटेलिटी) आता है। निबंधकार स्वच्छंदता का उपभोग इच्छानुरूप जितना ही क्यो न करे, सुनियोजित क्रमबद्धता का निबंध में होना परमावश्यक है। गीत मे एक भावना और अनुभूति का आवेश होता है, निबंध मे एक विषय का संबद्ध वर्णन। ऐसी ही समानताओ को देखते हुए कुछ लोग भावात्मक लघु निबंधो को गद्य मे लिखे गए गीत कहते हैं। वास्तव मे भाव कविता की लयात्मकता, संगीतात्मकता आदि कुछ जो अपनी विशेषताएँ हैं, उन्हे यदि निकाल दिया जाय, और भावो के उच्छ्वास को गद्य के रूप मे लिखा जाय तो वह बहुत अंशो में निबंध के निकटतर हो जाय। किंतु निबंध गीति कविता से केवल इसी लिये भिन्न नहीं होता, क्योकि वह पद्यबद्ध और यह गद्यबद्ध होता है। इन दोनो में बहुत बड़ा तात्विक अंतर भी है। कवि का प्रयोजन जीवन की विराटता, सूक्ष्मता या सुंदरता होता है। निबंधकार जीवन की समग्रता के अनुभव और आनंद का आकांक्षी होता है। वह स्वप्नलोक में विचरण करने का अभिलाषी नहीं बल्कि जीवन का तटस्थ द्रष्टा होता है। कवि की अभिव्यंजना कल्पना की भावभूमि पर होती है, निबंधकार यथार्थवादी स्तर पर बातें करता है। गीत का शृंगार भावोच्छ्वास है, उसमें गीतकार का हृदय ही बोलता है, गीत में चूँकि बोध और हृदय पक्ष दोनों समन्वित होते हैं, इसलिये निबंधकार का हृदय और मस्तिष्क दोनो जागरूक रहते हैं। अतः गीत मे केवल रागतत्व की प्रधानता रहती है, निबंध में रागतत्व और बोधतत्व दोनो का संमिश्रण रहता है। गीति कविता के कुछ सुनिश्चित विषय हैं—विरह, मिलन, हर्ष, विषाद, विनय, उपालंभ। रस की भी सीमा है शृंगार, शांत, करुण आदि। रसनिष्पत्ति की उसकी पद्धति भी प्रायः बँधी बँधाई है। विलक्षणता उसमें नहीं होती। लेकिन निबंध में वैचित्र्य और वैविध्य का ऐश्वर्य होना है। उसके विषय और शैलियो की सीमा नहीं। सुकुमारता गीतो का स्वभाव है, सशक्तता निबंधो का। गीतो में कवि का चित्र

[1] शुद्ध विचारात्मक निबंध का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक पैराग्रॉफ में विचार दबाकर कसे गये हों और एक एक वाक्य किसी संबंध विचार खंड को लिये हो। हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल

कितना ही कुंठित; कितना ही निरावरण क्यों न हो, पाठको के उतना समीप पहुँचकर वह अपनी बात नहीं कर सकता, जितना निबंधकार। क्षेत्र की दृष्टि से तो निबंध के अधिकार की कोई सीमा ही नहीं। वह जहाँ कहीं भी विचरण कर सकता है—कोई रोक नहीं। तुच्छ से तुच्छ और महान् से महान् विषय निबंध मे अंगीकृत हो सकते हैं, गीत को भावात्मक होने के अतिरिक्त दूसरी शरण नहीं। कल्पना के तीव्रगामी पंख होते हुए भी गीत विहग को नीड होता है। निबंध सदाविहारी यायावर जैसा है, चिरप्रवासी, सर्वत्रगामी, स्वच्छंद।

हमारे यहाँ साहित्य के कई विचारको ने गद्यगीतो को निबंध ही माना है। बल्कि गद्यकाव्य को ही वे निबंधो का चरम विकास मानते हैं। 'कवित्वमय निबंधो का अंतिम विकास गीत काव्यो के समानांतर गीतिमय निबंधो में हुआ, जिसका दूसरा नाम गद्यगीत है। इसमें गीतिकाव्यो की कला का पूरा अनुकरण मिलता है। चित्र-चित्रण, नादध्वनि और लय तीनो के संमेलन से गद्य में भी काव्य का आनंद आ जाता है। × × × हिंदी में निबंधो का चरम विकास गद्यगीतो में ही मिलता है। काव्य और कला के देश भारतवर्ष में अँगरेजी साहित्य के निबंधो की भाँति हास्य, व्यंग्य तथा व्यक्तिगत विशेषताओ से पूर्ण निबंधो का विकास नही हुआ, वरन् काव्य के भाव, विचार, कला और आदर्श से युक्त गद्यगीतो का विकास हुआ'।[1]

अथवा—

'इन भावात्मक निबंधों का, जिन्हें प्रायः गद्य गीत की संज्ञा दी जाती है, एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति का सहारा लिया जाता है। भावप्रधान भाषा रखी जाती है। लेखक तटस्थ होकर एक दर्शक-दिग्दर्शक की भाँति सब कुछ कहता चलता है। इन निबंधो में विचारो की सुंदरता और सूझ की उत्कृष्टता प्रशंसनीय और विचारोत्तेजक होती है। इनके लेखको की कल्पना बड़ी ही उर्वर होती है। शैली चित्रात्मकता लिए हुए होती है।'[2]

और इस प्रकार गद्य गीतकारो को हिंदी मे निबंधकारो की ही श्रेणी में रखा गया है। बहुत से गद्य गीतों में लक्षण और गुणों की समानता से निबंध की योग्यता शायद हो भी लेकिन गद्य गीत निबंध नहीं हैं। गद्य कविता (प्रोज पोएट्री) नाम ही स्वविरोधी है, फिर भी सब साहित्य में इसका एक स्थान हो गया है। बीसवीं सदी के आरंभ में अँगरेजी के कुछ यशस्वी कवियो ने इसे भाववाहन के

[1] आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्ण लाल।

[2] आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास।

उपयुक्त मानकर अपनाया था। अपनाने का मूल कारण यह था कि उनका व्यक्तिगत आदर्श सामाजिक या अन्यान्य आदर्शों से मिलता नहीं था। नवीन छंद प्रवर्तन का एक आग्रह भी था। इस तरह संसार के सभी साहित्य में यह अर्धनारीश्वर काव्य-रूप प्रवेश पा गया। रवींद्र जैसे समर्थ कवि ने भी जीवन में इस तरह का प्रयोग किया, किंतु उनका कहना है कि 'इसमे कैद कविता प्राणहीन होती है।'[1] एक अँगरेज आलोचक ने अनागत भविष्य पर इसकी सार्थकता की कल्पना करते हुए ऐसी ही बात कही है।[2] जो भी हो, निबंध से गद्य कविता का अंतर बहुत बड़ा है। फिर अभी तो उसकी सही सही रूप रेखा भी तैयार नहीं हो सकी है, प्रयोगात्मक प्रयास ही चल रहे हैं। उसमें आवेग की गहराई, स्वच्छंदप्रवाही भावोन्मत्तता की रसमयता नहीं होती। सबसे बड़ी कमी उसमें यह दिखाई पड़ती है कि अपने चित्रात्मक सौंदर्य से चेतना को छूकर मन को मुग्ध करने की योग्यता उसमें नहीं आ पाई है। एक ही बात में दोनो की थोडी बहुत समता है कि गद्य गीत में भी आत्म प्रतिच्छवि की प्रधानता है। इसका जन्म ही ऐसी सामाजिक परिस्थिति में हुआ। आर्थिक और नैतिक दुर्दशा की घड़ी में, जब समाज जीवन वैयक्तिक वेदना के धुएँ से आच्छन्न हो उठा था, ऐसे लेखको ने जीवनप्रवाह के टूटे हुए कगारे पर बैठ-कर इसी शैली के माध्यम से आत्मभाव की परछाई देखने की कोशिश की थी।

निबंध और प्रबंध में भी, आज भी बहुत से लोग सामान्यतया कोई तात्विक भेद नहीं मानते, नामातर या पर्याय मानते हैं। निबंध को प्रबंध का पर्याय मानकर ही श्यामसुंदर दास ने लिखा है—प्राचीन संस्कृत परंपरा के अनुसार निबंध केवल बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन बनाया गया। भारत का सूक्ष्म दार्शनिक विश्लेषण और क्रमबद्ध वैज्ञानिक अभिव्यक्ति जगत् प्रसिद्ध है। इसी दार्शनिक विश्लेषण के लिये निबंध का प्रयोग किया गया, अतः उसकी शैली पूर्णरूप से वस्तुप्रधान और कहीं-कहीं जटिल तथा सूत्रबद्ध हो गई।[3]

आज के अर्थ में पिछले दिनो निबंध का प्रयोग अवश्य नहीं मिलता। किंतु तब भी निबंध और प्रबंध शब्द थे तथा पास पास के होते हुए भी दोनो में एक सूक्ष्म पार्थक्य था। जिस ग्रंथ में एक ही विषय की अनेक व्याख्याओ का संग्रह होता था उसे निबंध कहते थे और जिस ग्रंथ में कई विषयो के संबंध में अनेक मतों का संग्रह रहता था उसे प्रबंध। शब्दार्थ की दृष्टि से करीब करीब एक ही

[1] छंद—रवींद्रनाथ।

[2] अनलेस दी इयर कैन डीटैक्ट दैट व्हाट इज बींइग स्पोकेन इज डिफिनेटली नाट प्रोज, इट इज पेडेन्टिक नॉनसेंस फार दी वर्स लीब्रे स्कूल टू प्रीटेंड दैट सच राइटिंग हैज एनी एडवान्टेज ओवर प्लेन प्रोज.

[3] साहित्यालोचन।

अर्थ होने के बावजूद प्रबंध का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था। आज तो इन दोनो के बीच भेद की इतनी लंबी रेखा खिंच गई है कि दोनो के बिलगाव में आयास की आवश्यकता ही नहीं। विषय, विधान, गुण सब भिन्न। प्रबंध आज एक ऐसी रचना है जिसमे प्रतिपाद्य विषय का उसके स्वरूप, उसके मूल्य, महत्व, उसकी उपयोगिता के साथ विवेचन किया जाता है। शास्त्रीयता, सिद्धांत की स्थापना आदि उसके विशेष गुण हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रबंध में प्रधानता होती है वस्तुनिष्ठता की। विषय तो वास्तव में पुराने ही होते हैं, जाने पहचाने, उनको जीवंत और नवीन बनाती है शैली। साहित्य में इसी लिये शैली का इतना महत्व है। जिसे हम रचना की मौलिकता कहते हैं, वास्तव में वह शैली की ही देन होती है। वस्तु की प्रधानता के नाते प्रबंध को हम तन्मय या वस्तुनिष्ठ कहेंगे और व्यक्तित्व की मुख्यता के नाते निबंध को मन्मय या व्यक्तिनिष्ठ। प्रबंध में संयतता और निष्ठा की सीमाएँ हैं—वह आदि, मध्य और अंत समन्वित चिंतन-प्रधान सृष्टि है। जिस विषय का उसमें विवेचन या प्रतिपादन होता है, उसे छोड़कर अवांतर प्रसंगों में जाने की उसे निबंध के समान छूट नहीं रहती। जैसे, भेड़ों का जिक्र आए तो भेड़ चरानेवालों की चर्चा अछूती रहेगी। दृष्टांत, प्रमाण, स्थापना आदि अंगी विषय ही उसका पुष्टिसाधन करते हैं। लेखक का व्यक्तित्व इसमें भी झलक सकता है, किंतु उस व्यक्तित्व में पाठको के साथ प्रबंधकार की बुद्धि का योग हो सकता है, हृदय का संयोग कदापि नहीं। उसमें आत्मीयता स्थापित करने की जगह या तो प्रबंधकार अपने ज्ञान की पूँजी, पांडित्य या अपनी अद्भुत चिंतन प्रखरता से हमें अभिभूत करता है। बंधुभाव से समान श्रेणी में बैठकर वह पाठको से संलाप नहीं करता। गुरुदेव की तरह ज्ञान वितरण करता है। ऐसी रचना में लेखक में प्रतिभाजनित मौलिक पूँजी न भी हो तो हर्ज नहीं, शास्त्र-संग्रह से ही काम चल सकता है। सर्वोपरि बात यह कि इसमें लेखक परोक्ष में रह जाता है, उभर कर सामने आती है उसकी ज्ञानगरिमा, दृष्टि की सूक्ष्मता और विवेचन प्रणाली। हार्दिकता उसमें नहीं आती, जो निबंध का स्वभाव है। सेंट्सबरी ने इसी लिये निबंध को गद्य कलाकृति (वर्क आफ प्रोज आर्ट) कहा है—इसमें व्यक्ति-चिंतन के स्थान पर व्यक्तिहृदय प्रधान होता है। वैयक्तिकता का आशय भी यही है—लेखक की शैली और उसकी हृदयगत प्रवृत्ति की झलक। प्रबंध में वस्तु और चिंतन प्रधान है, निबंध में व्यक्ति और भाव। संक्षेप में कहें तो कहेंगे—

लेखक जब कल्पना और बुद्धिवृत्ति के सहारे किसी विषय वस्तु पर आत्मसचेतन होकर स्वल्पाकार के विशिष्ट साहित्य रूप की सृष्टि करता है तो वह निबंध कहलाता है।

अंतरंग पार्थक्य के अतिरिक्त आकार की भी शर्त है। दोनो के अंतर को विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस तरह स्पष्ट किया है—प्रबंध विस्तार से लिखा जाने-

वाला लेख है जिसमें प्रतिपाद्य विषय प्रधान होता है, व्यक्तित्व की योजना नाम-मात्र को होती है। निबंध अपेक्षाकृत छोटी रचना होती है। इसमें व्यक्तित्व अपनी झलक देता चलता है। प्रबंध मे वैसी कसावट नहीं होती, जैसी निबंध मे। निबंध में बंध निगूढ होता है, भाषा ऐसी कसी होती है कि शब्दो का परिवर्तन संभाव्य नही जान पड़ता।[1]

निबंध जीवन की समस्या की सूक्ष्म आलोचना या पेचीदे प्रश्नो की मीमासा नहीं उपस्थित करता अर्थात् विषय की गंभीरता में निश्छल और निविड हृदय रस के संयोग से एक शात और सुंदर भावमंडल की अवतारणा करता है। उसमें आत्मा का स्पर्श मिलता है। प्रबंध यदि आत्मप्रचार है तो निबंध आत्मनिवेदन। इस लिये प्रबंध में लेखक पाठक में एक दूरी होती है—निबंध मे दोनो शब्द अर्थ की तरह अभिन्नात्मा होते हैं। प्रबंध में पाडित्य का जो प्रखर प्रकाश होता है, उस पर श्रद्धा होती है-निबंध की अनुभूति स्निग्धता को हम स्नेह करते हैं। निबंध की मीठी जोत में चमत्कृत करने का विस्मय विस्तार नहीं होता, उस आलोक में हम एक हृदय से परिचित होते हैं और उस माध्यम से अपने आपको पहचानते हैं। प्रबंध प्रबंधकार को पाठको में प्रतिष्ठित करता है, निबंध निबंधकार को उनसे घुला मिला देता है। प्रसाद गुण और रमणीयता ये दो गुण निबंध के प्राण हैं। फलस्वरूप ये गीतो की तरह मीठे, सहज, सरल और आह्लाददायी होते हैं, मन उनमें रमता है। संक्षेप में निबंध आत्मप्रकाशन है—प्रबंध संचित ज्ञान का प्रकाशन।

परिभाषा, स्वरूपविवेचन आदि से निबंध की मर्यादा, उसकी सीमा की एक रूपरेखा समझ मे आती है। ए० सी० बेसन ने बहुत ठीक ही कहा है कि निबंधकार जगत् और जीवन को न तो इतिहासकार की भाँति देखता है, न दार्शनिक की, न कवि की, न उपन्यासकार की, फिर भी निबंधकार में इन सबका गुण होता है।[2] अर्थात् आसमान के सितारे से लेकर माटी के दिए तक निबंध की सामग्री हो सकते हैं। इसी तरह साहित्य के और और जो रूपविधान हैं, निबंध में थोड़ी बहुत सबकी झलक होती है।[3] और सब कुछ के बावजूद

[1] वाङ्मय विमर्श

[2] दि एसेइस्ट, देन, इन हिज पर्टीकुलर फैशन, इज एन इंटरप्रेटर आफ लाइफ, ए क्रीटिक आफ लाइफ,ही डज नाट सी लाइफ ऐज हिस्टोरियन, आर ऐज दि फिलास्फर, आर ऐज दि पोयट आर ऐज दि नावेलीस्ट, एन्ड येट,ही हैज दी टच आफ आल दोज। —दी आर्ट आफ दि ऐसेइस्ट।

[3] समटाइम्स इट इज नीयर्ली ए सरमन, समटाइम्स इट इज नीयर्ली ए शार्ट स्टोरी. इट मे बी ए फ्रैगमेंट आर ऑटोबॉयग्राफी आर ए पीस आफ नॉनसेंस. इट मे

साहित्य के अंगो में उसका एक अलग ही अस्तित्व होता है। यह साहित्य का स्वतंत्र रूपविधान ही नहीं, बड़ा महत्वपूर्ण अंग भी है। निबंध की चर्चा में डाक्टर जानसन की उक्ति जरूर लाई जाती है कि यह मन का मुक्त संचरण (लूज सेली आव द माइंड) है। इसमें यथाक्रमता और श्रृंखला नही होती। इसी परिभाषा पर से बहुतो ने निबंध को निहायत अटपटी, हल्की फुलकी, बेसिर पैर की, बेकार और न जाने क्या क्या समझा। क्रेवल ने तो यहाँ तक कह डाला कि निबंधलेखन कला का सर्वप्रिय साधन हैं। निबंधलेखन उसी के अनुरूप पड़ता है जिसमें न प्रतिभा होती है और न ज्ञानसंग्रह की वृत्ति और यह भाता भी उसी पाठक को है जो विविधता तथा हल्की रचना में रस लेते हैं।

वस्तुस्थिति किंतु ऐसी नहीं है। निबंध विचारों, भावनाओ तथा मानसिक प्रतिक्रियाओं का बहुत ही सँजोया एवं सँवारा हुआ रूप है। इसमें भाषा की पूर्ण शक्ति के चरम विकास के दर्शन होते हैं। स्वल्प परिसर में अधिक से अधिक कहना गागर में सागर भरने की कला है, अथच रूपसज्जा भी सरल ही होती है। ऐसी स्थिति में प्राणो मे पैठ और प्रभाव डालना एक कठिन कसौटी है। अनुभूति की तीक्ष्णता और शैली के पैनेपन के बिना यह संभव नहीं। मौलिक विचार, ठोस शैली और अखंड्य युक्ति के बिना निबंध में जीवन ही नहीं आता। डा० जानसन की दी हुई परिभाषा से निबंध के स्वरूप के सस्तेपन का एक भ्रम सा फैला और कई बातो की गलत धारणाएँ बनीं। जैसे (वान्ट आव फिनिश) को अपूर्ण लेखन समझा गया, (लूज शैली) को असंयत और असंबद्ध विचार, शैली की शिथिलता आदि।

निबंधकार नितांत आत्मनिष्ठ, निश्छल और कल्पनाशील होता है। निर्दिष्ट विषय का सीमाबंधन उसे रुचिकर और सह्य नही होता। वह एक से दूसरे दूसरे विषय को अपने मन की उमंग से[1] दौड़ता चला जाता है। हो सकता है उसने किसी सरोवर की सांध्य शोभा से लिखने का श्रीगणेश किया, उसकी घुमंतू प्रवृत्ति क्रम से झील सागर और इस प्रकार आकाश पाताल को नाप आई। अपने विषय से स्वच्छंद आत्मकौतुक निबंध का प्राण है। उसके इस मुक्त संचरण को

बी सटारिकल वीचूपरेटिव आर सेंटीम्यूचुअल. इट में डील विथ एनी सबजेक्ट फ्राम दी डे आफ जजमेंट टू ए पेयर आफ सीजर्स।—राबर्ट लीन्ड।

[1] दी सेन्ट्रल फैक्ट आफ दि ट्रू एसे, इनडीड, इज दी डाइरेक्ट प्ले आफ आथर्स माइंड एंड करेक्टर अपान दि मैटर आफ हिज डिसकस।—एन आउटलाइनआफ लिटरेचर—हडसन।

असंतुलित, असंबद्ध, शृंखलाविहीन कहने की यौक्तिक उपयुक्तता की परख होनी चाहिए। निबंध मे उडानो की अनेक सीढियाँ, प्रसंगो के अनेक स्तर, विचारो के अनेक खंड हो सकते हैं। किंतु शोभा उसकी समग्रता की होती है। एक माला में, बहुत से, बहुत प्रकार के, बहुत रंग के फूल पिरोए जाते हैं। पिरोने की कुशलता उस वैविध्य मे एकरूपता के सौदर्य की सृष्टि करती है। जैसे हमारी देह। यह देह न तो अगविशेष की सुषमा से व्यक्त है, न उसकी समष्टि से। एॅड़ी से चोटी तक उसकी जो एकरूपता है, उसमें संगीत का जो संगीतमय सौष्ठव है, प्राणो की चेतना की जो श्वास लावण्यमय योजना है, स्वस्थता की जो एक दीप्तिमयी काति है, इन सबको युक्त करके जो एकरूप प्रकाशित है, वही देह है। इस देह में केवल दैहिक लावण्य या भावमय सत्ता का ही प्रकाश नहीं, आत्मिक चेतना की भी ज्योति है। इतनी विभिन्नताओ का एक एकीभूत सौसम्य ? सितार के अनेक तारो के अनेक सुरो की एक संमिलित ऐक्यतान, शतदल की अनेक पॅखड़ियो में विकसित एक सौदर्य की रमणीयता।[1] निबंध में भी समता विषमता, विरोध सामंजस्य, रूप अरूप, अदृश्य प्रत्यक्ष, खंडता असंलग्नता के बहुविध वैचित्र्य का एक ऐक्य सुर है, पूर्ण छवि है। आत्म चेतना के दीप्त धागे में अवा-तरता के एक एक कुसुम इस तरह से गुॅथे होते हैं कि उसकी समग्रता में अपूर्णता रह ही नहीं सकती निबंध के एक एक उडते असंलग्न विचार, भाव, चिंतन और आवेग एकसूत्रता मे आबद्ध होकर, आपस मे अन्वित होकर एक ऐसे प्रभाव की सृष्टि करते हैं जिसमें संपूर्णता होती है। देखने में निबंध के विषय गौण, विच्छिन्न अव्यवस्थित और क्रमरहित लग सकते हैं, परंतु परिणाम में उनकी एकसूत्रता की अन्विति होती है, इसलिये उसका प्रभाव पूर्णता का होता है।[2]

वैचित्र्य में एकरूपता, विच्छिन्नता की एकसूत्रता विश्व का यह प्राकृतिक विधान है। समस्त विश्व अपनी विभिन्नताओ में भी एकसूत्र में आवद्ध होता है। साहित्य हो या दर्शन, सब अपने अपने ढंग से इसी सूत्रबद्धता के अनुरूप जीवन का रूप या जीवन की व्याख्या करता है। प्रणाली और पद्धति का अंतर जरूर पड़ता है—उसकी गति, उसकी विधि स्वतंत्र होती है। उसके मन की प्रवृत्ति भी अलग होती है। जैसे इन्हीं संबंध सूत्रो का एक दार्शनिक बौद्धिक विश्लेषण करेगा, एक निबंधकार मन और बुद्धि के मेल से उनके मर्म का उद्घाटन करेगा, मर्मस्पर्शी बनाकर प्रकाशित करेगा। निबंधकार की मानसिक सत्ता से उसकी बुद्धि और

[1] कला पृष्ठ—१२।

[2] दि ब्यूटीफुल कनटेम्प्लेटेड इन इट्स इसेंसल्स दैट इज इन काइंड एंड नाट इन डिग्री, इज दैट इन हिच दि मेनी स्टिल सीम ऐज मेनी, बी कम्स वन।

हृदय दोनो ही संयुक्त रहते हैं। परिणाम में अन्विति अर्थात् 'इफेक्ट आफ टोटेलिटी' रहती है। निबंध के तत्वविचार में इसी को एकसूत्रता (यूनिटी) कहते हैं जो उसका एक अनिवार्य अंग हैं। इसी के दो और पूरक अंग हैं—यथाक्रमता (कन्टीन्यूड आर्डर) तथा युक्तिक्रम (लाजिकल सीक्वेंस)। तत्व विचार की दृष्टि से निबंध के और दो प्रमुख तत्व हैं उसकी संक्षिप्तता और उसका आत्म-सचेतन होना।

संक्षिप्तता निबंध के आकारगत स्वरूप का ही परिचय नही, उसके सशक्त प्राण और सबल संगठन की भी द्योतक है। देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर। बेकन ने कहा है, 'जस्ट दी वर्ड' अर्थात् उपयुक्ततम, उचिततम शब्दो का प्रयोग, जिसकी जगह दूसरा बैठाने से काम ही न चले। आकार का व्यतिक्रम हो सकता है। लाक का 'एसे आन दी ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग' और मिल का 'लिबर्टी' लंबे निबंध हैं। मगर लंबाई इनके लिये भार नहीं हुई है, उससे रचना का सौंदर्य कही क्षुण्ण नही हो पाया है। इनकी रोचकता से लंबाई खीझ या ऊब नही लाती। तेज चाल-वाली गाडी हो तो दो स्टेशनो के बीच की दूरी को अखरने नहीं देती। इसे छोड़ा नही कि दूसरे पर हाजिर। कही से किसी शब्द को बदलने या हटाने की गुंजाइश नही। सीमासंकोच से पृष्ठ और पंक्तियों की गज इंच से नाप का अभिप्राय नहीं। अभिप्राय है कम से कम शब्दो के प्रयोग द्वारा ज्यादा से ज्यादा अर्थपूर्ण कह सकना। वह मर्यादा निबंध के प्रभावशाली बनने में है। आभूषण से जिस शृंगार का मतलब है, वह सदा जगर मगर ही नहीं होता, और हो भी तो हर समय वह चमक कीमती ही नही होती। सादगी भी शृंगार है। उपयुक्तता की परख होना असली कसौटी है। कब कहाँ कैसे शब्द उपयुक्त होगे इसकी तौल कुशल प्रयोग है। निबंध में भाषा के उत्कर्ष का ऐश्वर्य अपेक्षित है। यह उत्कर्ष भाषा की ध्वन्यात्मकता उसकी व्यंजना शक्ति पर निर्भर करता है, जिससे व्यंग्य वक्रोक्ति आदि विशिष्टताएँ आती हैं। कृत्रिम सजावट भाषा का निरर्थक बोझ होती है और वह मन की अकृत्रिमता को भी रास्ता नही देती। यह सब प्रकार के साहित्य के लिये एक समान सत्य है, परंतु निबंध के लिए विशेष रूप से। अरसिक के आगे कवित्व-निवेदन जैसा एक दुःखमय अभिशाप है, कृत्रिमता वैसे ही निबंध और निबंधकार के लिये। उसमें एक अकपट हृदय का सहज निर्मल प्रकाश होना चाहिए। दिल की किसी गाँठ, भाव के किसी आवरण, दाव पेच की उसमें गुंजाइश नहीं। वहाँ एक हृदय दूसरे को अपना निरावरण परिचय देता है। आदि निबंधकार मौटेन ने अपने संग्रह के शुरू में ही यह कहा है कि 'पाठको, इस पुस्तक के पीछे विचार अच्छा है। यदि मेरी यह नीयत होती कि मैं दुनियाँ भर के संदेश और आशीर्वचन पहले से ही बटोर लूं या खरीद लूं तो मैं खुद को और भी अजीबोगरीब ढंग से

सजाता या बहुत गुरु गंभीर बनकर, लंबी शक्ल लिए आपके सामने कवायद करता हुआ निकलता। मेरी इच्छा है कि मुझे सच्चे, सीधे, सहज सामान्य रूप में ही जाना जाय उसमे कोई लाग लपेट, दिखावा, बनावा, छल, छंद या नकलीपन न हो, क्योकि मैं अपनी ही तस्वीर जो बनाना चाहता हूँ।'

कोई भी पुस्तक प्राणो के स्पर्श के अभाव में कौड़ी काम की नही होती। निबंध के लिये तो यही पहली शर्त और यही एकमात्र कसौटी है। रचना अगर रचनाकार को साफ सामने नही ला खड़ा करती तो वह रचना कुछ भी हो सकती है, निबंध नहीं। क्योकि निबंध में व्यक्तित्व का प्रकाश पहली बात है। वाल्ट ह्विटमेन ने अपनी पुस्तक के लिये कहा है—'साथी यह कोई किताब नहीं। जो इसको छूता है, वह एक आदमी को छूता है।'[१] निबंध में व्यक्ति का यह स्पर्श अनिवार्य रूप से होना चाहिए। उसमें व्यक्तित्व अगर जीवत होकर सामने खड़ा नही हो जाता, तो समझना चाहिए कि उसकी सफलता में कसर है।

युग की प्रकृति और जीवन के परिवेश की देन है संक्षेप एवं सहजता की अभिरुचि। श्रम और समयसापेक्ष साधन के जैसे दान शिल्प के क्षेत्र में संसार को पिछले दिनो मिलते रहे, आज मानो उसका अवसर न रहा। अजंता और एलोरा की गुफाओ के चित्रशिल्प, बोरोबुदर और दक्षिण के मंदिरो का स्थापत्य, बुद्ध और देवी देवताओ की मूर्त्तियो का भास्कर्य, शास्त्रीय संगीत साधना, महाकाव्य रचना—ये सारे मानो असार्थक परिश्रम के साधन होते चले गए। जीवन के प्रत्येक पहलू पर वैज्ञानिकता का रंग चढ़ता गया, जीवन कर्मसंकुल, जटिल और व्यस्ततर होता गया। अन्न वस्त्र की चिंता मे एड़ी चोटी का पसीना एक करनेवालो को साहित्य कला के लिये एकाग्र चिंतन का भी अवकाश न रहा, रचना का भी नहीं। जीवन में समय की कमी और प्रतियोगिता की गतिक्षिप्रता ने ही प्रत्येक क्षेत्र में सहजता तथा संक्षिप्तता की अभिरुचि को स्वभाव बना दिया। फलस्वरूप महाकाव्य की जगह अजस्र अस्फुट कविताओ का उदय हुआ, उपन्यास से कहानी की रुचि बलवती हुई, पंचाकी नाटको के स्थान पर एकांकियो का बाजार भाव बढ़ा। ओड सानेट (चतुर्दशपदी) में बिखर कर प्रवाहित हुए। विराटता की पूजा का अवकाश न रहा, बहुलता की उपासना रह गई। ठीक इसी स्वाभाविक कारण से ही प्रबंध की अपेक्षा निबंध का प्रचलन बढ़ा। संगीत की सारी शास्त्रीय साधना ठुमरी और सुगम संगीत पर उतर आई।

[१] कामरेड, दिस इज नो बुक, हू टच्स दिस, टच्स ए मैन।

यह अंतर -आकृतिगत ही नहीं, प्रकृतिगत भी है। महाकवि की ओजस्वी प्रतिभा की सारी महानता लिये हुए भी रवींद्रनाथ ने किसी महाकाव्य की रचना नहीं की। उन्होने स्वयं स्वीकार किया है कि 'मैंने महाकाव्य रचने की सोची, पर मेरी वह कल्पना असंख्य गीतों में बिखर गई।' हमारे विचार में युग ने आत्मपरायणता का जो भाव दृष्टि को दिया, वही इसका कारणरूप है। अभिव्यक्ति के मूलतया दो रूप होते हैं—नाटकीय और गीतात्मक। एक में रचनात्मक दृष्टि निरपेक्ष होती है, दूसरी में आपेक्षिक। एक की देन है, नाटक महाकाव्य आदि अर्थात् ऐसी रचनाएँ जिनमें वस्तु प्रधान और व्यक्ति गौण होता है। दूसरी की प्रेरणा गीतादि आत्मपरायण रचनाएँ होती हैं। एक ओर जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओ ने सुयोग नहीं रहने दिया, दूसरी ओर आत्मपरायण भाव ने रचना की प्रकृति बदल दी। जीवन की जटिलता जैसी रचनाकार के लिये रही, वैसी ही पाठको के लिये। बड़ी और लंबी रचनाओ में डूबकर आनंद आहरण का अवकाश किसे रहा! पढ़नेवाले न मिले तो लिखा किसके लिये जाय? अँगरेजी के प्रथम निबंधकार लार्ड बेकन फ्रांसिस ने एसे लिखने के कारण में स्पष्टतया इसी बात का उल्लेख किया है कि प्रबंध लिखने के लिये लेखक को अवकाश चाहिए, पढ़ने के लिये पाठक को फुर्सत होनी चाहिए, इसलिये वह अनुकूल नहीं, अतः मैने संक्षिप्त निबंधो का चुनाव किया।[1]

भाषा पहले बनती है, व्याकरण के नियम उसके बाद। मौलिक रचना का रूप पहले प्रकट होता है, उसी के अनुरूप उसके स्वरूप के शास्त्रीय रूप और मान, विवेचन और पद्धति बाद में निर्धारित किए जाते हैं। निबंधो के आविर्भाव के बाद ही उसकी आकृतिप्रकृति के विधि निषेध प्रस्तुत हुए और अन्य अनेक आवश्यक लक्षणो के साथ यह माना गया कि आकार की लघुता निबंध का एक प्रधान गुण है। किसी भी साहित्यिक कृति का मान तौलने का न तो कोई निश्चित बटखरा संभव है, न आकार नापने का अंतिम गज। यह सदा ही एक सामान्य नियम भर होता है। विकल्प और व्यतिक्रम से हो सकता है। सुना जाता है, यूरोप में कहीं डाकुओं का कोई एक दल था। उनके पास एक मेज

[1] टू राइट जस्ट ट्रीटिज, रीक्वायर्थ लिजर इन द राइटर, एंड लिजर इन द रीडर, एंड देयरफोर आर नाट सो फिट, नाइदर इन रीगार्ड आफ योर हाइनेस प्रिंसली अफेयर्स, नार इन रीगार्ड आफ माई कन्टीन्यूअल सर्विस, ह्विच इज द काज़ दैट हैथ मेड मी चूज टू राइट सरटेन ब्रीफ नोट्स सेट डाउन रैदर सिग्नीफिकेंटली दैन क्यूरियसली ह्विच आई हैव काल्ड एसे। —बेकन टू प्रिंस हेनरी

थी। लूट में जब वे किसी को पकड़ कर लाते, तो उसे उसी मेज पर सुला देते। मेज से उसके शरीर का जितना अंश बढ़ जाता उसे वे काट डालते। यदि घट जाता, तो यमयातना करके खींचतानकर उतना बढ़ाने की कोशिश करते। दोनो ही उपायो के अवलबन से बेचारे कैदी के प्राणपखेरू उड़ जाते। पाँव के लिये जूता नहीं, जूते के लिये पाँव, यह कुछ ऐसी ही हठ पद्धति हुई। बटखरे के हिसाब से साहित्य के किसी भी रूप की ऐसी खींचतान की जाय तो उसकी आत्मा नहीं रह जाती। वास्तव में मुख्य बात है प्राण, रूप के जिस आकार में वह अपने को उपयुक्त रूप से प्रकट कर सके।

निबंध आकार में यथासंभव छोटा होता है, उसके रूप पर से ही पद्धति का यह सामान्य नियम निर्णीत हुआ है। आकार का संयम न होने से उसमें अपेक्षित कसाव का आ सकना संभव भी नहीं। प्रभावोत्पादकता के लिये एक तो निबंधकार को यो ही तलवार की धार पर चलना पड़ता है, फिर यदि आकार के मामले में संयत न रहे, तो प्रभाव और आकर्षण को केंद्रीभूत नही किया जा सकता। उसकी व्यक्तिगत विशेषता को कई लोग स्वगत भाषण का समीपी समझते हैं और इसलिये उन्हे इसकी भी आशंका होती है कि निबंध में रुचि बनाए रखने की एवं प्रभाव डालने की योग्यता नहीं आ सकती।[1] लेकिन ठीक इसके विपरीत हम यह पाते हैं कि जब गद्यशैली की विवेचना का अवसर आता है तब उत्कृष्ट नमूनों के उद्धरण निबंधों से ही चुनकर उपस्थित किए जाते हैं। यानी यही समझा जाता है कि शैली और सौष्ठव में उसी के संदर्भ ठोस हैं। यह सुष्ठुता वास्तव में आकार की संक्षिप्तता से ही आती है। मराठी में निबध 'लघु निबंध' के रूप में ही रुढ़ हो चुका है। गो कि निबंध के आगे ऐसा उपसर्ग लगाने की आवश्यकता नहीं। हम जिसे कहानी कहते हैं, उसका आशय अँगरेजी की शार्ट स्टोरी से ही है। कहानी को छोटी कहानी कहने की फिर कोई जरूरत भी नहीं रह जाती। उसके नाम में ही उसके आकारगत रूप का परिचय संलग्न है।[2] प्रकारांतर मे यह

[1] निबंध एक प्रकार का स्वगत भाषण है। स्वगत भाषण में पाठक के ध्यान को वश में रखना नितात कठिन होता है। एक निबंधकार के पास ऐसे साधन बहुत ही न्यून होते हैं जिनके द्वारा वह पाठक के मन को अपनी अपनी रचना में बांधे रखें। कहने के लिये उसके पास कहानी नही होती, जिसके द्वारा पाठक के मन में उत्सुकता बनाए रखे, गाने के लिये उसके पास स्वर, ताल तथा लय नहीं होते, जिनके द्वारा वह पाठक को मंत्र मुग्ध बनाए रखे।—साहित्य मीमासा—डा० सूर्यकांत।

[2] ऑक्सफोर्ड और चैंबर्स डिक्शनरियों में निबंध का छोटा होना निर्देशित है। जैसे किसी विषय पर एक साहित्यिक रचना [साधारणतः गद्य में और छोटी—ऑक्सफोर्ड कन्सा-इज डिक्सनरी। प्रबंध से अपेक्षाकृत एक छोटी रचना—चैंबर्स ट्वेंटियथ सेंचुरी डिक्शनरी।]

सर्वमान्य सिद्धात हो गया है कि निबंध एक सीमित आकार की अपेक्षाकृत कम लंबी रचना है। यह अपेक्षाकृत कम लंबाई कितनी हो, इस सीमित आकार की निश्चित सीमा क्या हो, इसका कोई निर्विवाद विधान नहीं, और न हो सकता है। इस पर विभिन्न विचार होने का कारण भी है कि एक ही नाप के निबंध नहीं मिलते। छोटा से छोटा भी निबंध है और कुछ बड़ा भी है। विषय विभिन्नता के अतिरिक्त यह निबंधकार की योग्यता, समर्थता और शक्ति पर निर्भर है। कहानी पर कुछ लेखकों ने आकार सीमा के बारे में अपने अभिमत व्यक्त किए हैं गोकि वे खास कोई अर्थ नहीं रखते। किसी ने कहा है कि कहानी वह जो एक साँस में लिखी और पढ़ी जाय। किसी ने १० से १५ मिनट तक के अंदर पढ़ी जा सकनेवाली कहानी को कहानी कहा है। अवश्य गिने गुथे पन्नो या घंटा मिनट में उसका आकार निश्चित नहीं किया जा सकता। बात वास्तव में ऐसी है कि निबंध की आकृतिगत लघुता उसकी प्रकृति की अनुरूपता के लिये आवश्यक भी है। निबंध को चुस्त दुरुस्त और सुलिखित होना चाहिए। लंबी रचना में उस कसावट की अपेक्षा नहीं की जा सकती कि शुरु से अंत तक एक सी रसघनता हो, रुचि को समान खुराक देनेवाला एक सा आकर्षण हो। जान मुरे ने लघुता के साथ निबंध के लिये एक और बात बताई है—वान्ट आफ फिनिश, यानी अंत की अपेक्षा। बहुतो की दृष्टि में यह लेखन की अपूर्णता के नाते निबंध की त्रुटि गिनी गई। परंतु इसका असली अभिप्राय है प्रतीक्षित अंत का न होना—पाठक सोच भी न पाया और निबंध समाप्त। 'वान्ट आफ फिनिश' निबंध की उस दिशा का संकेत है जो रुचि की संलग्नता का बोधक है। रचना किसी को भार न हो। निबंध में क्या लिखा जाय, इससे बड़ी चिंता इस बात की होनी चाहिए कि क्या नहीं लिखा जाय। हडसन ने अच्छे निबंध के बारे मे एक मार्के की बात बताई है—सुड नाट अटेम्प्ट टू मच, यानी बहुत अधिक कहने का आग्रह न हो। इस आग्रह से उद्देश्य की विफलता की संभावना है। 'बहुत अधिक न कहना' अनेकार्थगर्भित है। छोटा हो, शैली की सुचारुता हो आदि। विषय और भाषा की जटिलता भी रुचिविरूपता का कारण है। जटिल शब्दयोजना का एक नमूना वियोगी हरि की एक रचना के इस संदर्भ में देखिए—

'प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन घन तमाच्छन्न कृष्ण वसन लसित निशि समय सुजन मन मोहिनी रसिक रस रोहिणी वेणु बजाता है, माध्वी, मल्लिका, मकरंद लोलुप मिलिंद गुंजार समुल्लसित नव रस पूरित सुप्रभ प्रतिभा मुदित कवि हृदय द्वारा स्वच्छंद आनंदकंद संदेश भेजता है, और कभी कभी विरहदग्ध उर निस्सरित प्रेमाश्रुवर्षण का संयोगगत प्रगाढ़ालिंगन रोमघर्षण में अपनी सुप्रीतिमय झलक दिखा जाता है।'

किसी भी रचना के लिये शैली बहुत बड़ी चीज है, फिर निबंध की तो सबसे बड़ी परख वही है। शैली का संबंध रचना के बाह्यांग से है, लेकिन बड़ा ही महत्वपूर्ण संबंध है। इसे रचना का कला पक्ष कहते हैं। इसका गुण है प्रेषणीयता। कोई भी रचना अरण्यरोदन नहीं होती। चिड़ियों की तरह हम स्वभावतया निरर्थक और निरुद्देश्य गाते हैं, यह कहने से साहित्य का काम नहीं चल सकता। साहित्य के प्रकाश का एक लक्ष्य है और वह लक्ष्य पाठक या श्रोता-समाज है। जहाँ प्रकाश का प्रश्न आता है, वहीं उसका लक्ष्य स्पष्ट है कि उसके सामने और लोग हैं। अपने दुःख को अपने ही लिये अनुभव करने में बार बेबार रोने की जरूरत नहीं होती, इसकी जरूरत पड़ती है, दुःख की अपनी उस अनुभूति को औरों में प्रतिष्ठित करने के लिये। साहित्यकार की निजी अनुभूति अन्य अनेक में व्याप्त हो यही साहित्य की सार्थकता है। और इसी लिये जिस कुशलता से साहित्य में इस शक्ति का संनिवेश होता है उस शैली का बहुत बड़ा मूल्य निर्विवाद है। रचना की अंतरात्मा की महत्ता जितनी भी क्यों न हो, शक्त और सुंदर काया के विना न तो वह असंख्य आँखों को अपनी ओर खींच सकती है और न उन्हें अपने में रमाकर आत्मदर्शन करा सकती है। साहित्य अपने इसी रूप को लेकर उपस्थित होता है और तब अपनी आत्मा के प्रकाश से किसी को चमत्कृत और मोहित कर सकता है। साहित्य के इस बाह्यांग का आधार शब्दमय भाषा जरूर है लेकिन मात्र भाषा ही शैली का सर्वस्व नहीं। भाषा के ऐश्वर्य के साथ प्रकाश की शक्ति की भी अपेक्षा है। क्योंकि मात्र कथन प्रणाली ही शैली नहीं है। जैसा कि ए० बेनेट ने कहा है—स्टाइल इज ए फार्म आफ वर्ड्स, या जैसा कि वामन ने कहा है—'विशिष्टा पदरचना रीतिः' यानी काव्य के विशिष्ट अवयवों का संस्थान ही शैली है। शैली कहने से एक साथ ही कई विशेषताओं का स्वतः बोध होता है। विषयविन्यास, शब्दचयन, चित्रात्मकता सबका सुष्ठु नियोजन। कहा जाता है—स्टाइल इज द मैन, मतलब कि शैली का विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचायक होना जरूरी है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति एक अलग सृष्टि है। जाति विचार से मनुष्यमात्र एक है, किंतु व्यक्ति के नाते हर आदमी दूसरे से अलग है, उसकी कोई अपनी विशेषता है। इसी लिये यह सत्य है कि व्यक्ति जहाँ सबके साथ संमिलित है वहाँ उसका कोई व्यक्तित्व नहीं और जहाँ वह सबसे अलग अपने तईं खड़ा है वहीं उसकी स्वकीयता है। साहित्य की दुनियाँ में विषयग्रहण में विशिष्टता ढूँढ़े नहीं मिलती। लेखक के मानस व्यक्तित्व की परिचायक उसकी शैली ही होती है। व्यवहारिक जगत् और साहित्य जगत् दोनों ही जगत् में मनुष्य की अपनी अपनी शैली होती है। इसी शैली से वह दूसरों को अपनी ओर खींच सकता है, उसपर प्रभाव डाल सकता है। साहित्य में यह शैली न तो केवल शब्दयोजना, न वस्तुनियोजन, न प्रकाशभंगी पर

बनती है, बल्कि वह इन तीनों विशिष्टताओं का त्रिवेणी संगम है। भाषानियोजन पर ही शैली गठित होती है, किंतु प्रभावात्मकता के लिये उसकी शक्ति, रीति, गुण, अलंकार—सब पर दृष्टि रखनी पड़ती है। शब्दों की नियोजना की निपुणता चेष्टा से ही नहीं आती बल्कि बहुत बार यह लेखक की प्रतिभा पर निर्भर करती है। शैली का मूल उद्देश्य पाठकों में विषयानुरूप भाव का संचार करना है। विषय को आत्मसात् करके उसे अर्थपूर्ण शब्दरूप देने का प्रयोजन होता है। अधिकाश में रचनाकार को स्वयं भी यह पता नहीं होता कि कैसे और कौन कौन से शब्द उसके वक्तव्य के उपयुक्त तथा समर्थ वाहन होंगे। रचना करते समय स्वयमेव वैसे शब्द उनकी कलम की नोक पर आ जाते हैं। उन शब्दों में अन्य जो विशेषताएँ होती हैं, वे तो होती ही है, पर सबसे बड़ी विशिष्टता उनमें यह होती है कि उनमें लेखक की आतरिकता का स्पर्श होता है—उनमें उसकी व्यक्तिसत्ता का स्पंदन होता है। लेकिन कई लोग इस व्यक्तिदृष्टि अर्थात् वैयक्तिक ढंग को श्रेष्ठ रचना के लिये अनुकूल नहीं मानते क्योंकि वह आत्मतृप्ति के भावातिरेक से नितांत आत्मविलासी हो सकता है, जो पाठकों में भावसंचार के लिये समर्थ नहीं भी हो सकता है। लेकिन हम ऊपर कह आए हैं कि शैली न तो मात्र शब्दयोजना है, न वस्तुनियोजन, न व्यक्तित्वप्रकाश, वह प्रकाश और कुछ है जिसमें इन सारी बातों का एक अटूट संमेलन होता है। ह्योनेल बी० बरोज ने इसे मैनर कहा है और इस मैनर में चिंतन, अनुभूति तथा प्रकाश तीनों शामिल हैं।[1] विषयवस्तु भाव और कल्पना को रूप देती है, व्यक्तित्व प्रतिष्ठित करता है लेखक की मानससत्ता को और कौशल या कलाकुशलता भावकल्पना को वाच्यातीत रूप दान करती है। शैली की ये त्रिविध धाराएँ हैं और इनमें से प्रत्येक धारा का उद्देश्य प्रकाश है। निबंध के अपने रूप और लेखक की निजता के हिसाब से इसका न्यूनाधिक्य हो सकता है। पर निबंधगत व्यक्तितत्व और शैलीगत व्यक्तित्व में खास कोई फर्क नहीं। भाषा शैली में व्यक्त होकर निबंध का वह तत्व शैली के व्यक्तित्व का ही रूप धारण कर लेता है, क्योंकि जिस व्यक्तित्व की छाप निबंध पर पड़ती है, वही छाप निबंधकार की शैली पर भी निश्चित रूपेण होती है। इस प्रकार शैली साहित्य का बाहरी अंग तो है लेकिन उसके अंतरंग से उसका लगाव बड़ा महत्वपूर्ण है। आंगिक और आत्मिक तत्वों की विविधता देखते हुए निबंधों का वर्गीकरण या प्रकारभेद किया गया है। वास्तव में इस प्रकार के वर्गीकरण

[1] द आइडिया आफ स्टाइल इज इसेंसियली एंड कमेंटेबुल मैनर, द होल मैनर, इन ह्विच आइडिआज आर कनसीव्ड एंड आड इन टू द वर्ल्ड एस रीटेन वर्ड्स, मैनर आफ थिंकिंग, मैनर आफ फीलिंग एंड मैनर आफ एक्सप्रेसन।

का कोई वैज्ञानिक मूल्य नहीं फिर भी हम ऐसी चेष्टा करते हैं। क्योंकि यह हमारा एक संस्कार है। हम किसी भी वस्तु को दूसरों के आगे पीछे, श्रेणी, वर्ग, कोटि या क्रम में रखे बिना देख नहीं सकते। इसका एक वैज्ञानिक कारण है कि बाहरी दुनिया पर हमारी अपनी दृष्टि निरपेक्ष नहीं, आपेक्षिक होती है। किसी चीज को देखने में तीन बातें शामिल होती हैं—एक तो स्वयं वस्तु, दूसरी उस वस्तु का वातावरण और तीसरी हमारा अपना मन। मन के अपने कुछ संस्कार होते हैं—इन संस्कारों को कैंट ने मस्तिष्क की श्रेणियाँ कहा है। इन संस्कारों की कुछ ऐसी प्रभुता है कि हम उनके रंगों से परे किसी चीज को देख ही नहीं सकते। फल यह होता है कि वस्तु की अपनी जो वास्तविक सत्ता होती है, हम उसी से वंचित रह जाते हैं। और जब साक्षात् वास्तविक सत्ता को देख सकना संभव नहीं होता तो हम वस्तु को श्रेणी या कोटि में रखकर देखते हैं। बर्गसां ने रस के साथ भी मनुष्य की इसी प्रावृत्तिक विवशता का उल्लेख किया है। वस्तु-विशेष को जिस प्रकार हम चिपके हुए लेबिल से देखते पहचानते हैं, उसी प्रकार रस की प्रतीति भी हमें उसे श्रेणीविशेष में ही रखकर होती है। क्रोचे ने कला के विभाजन से संबंध रखनेवाली पुस्तकों को इसी लिये जला देने की राय दी है।[1]

सच तो यह है कि निबंध एक ऐसी साहित्यिक विधा है जिसका श्रेणी-विभाजन एक दुष्कर कार्य तो है ही, सर्वथा निरर्थक भी है। व्यक्ति व्यक्ति के हिसाब से इसके आंतरिक और बाह्य गठन में तत्वों की, ढंग की इतनी और इतनी सूक्ष्म विविधता देखी जाती है कि सैकड़ों प्रकार बताने के बाद भी प्रकारों की सीमा में वह विविधता बँध नहीं पाती और इस प्रकार जो भी, जितने भी भेद बताए गए हैं या बताए जाते हैं अपूर्ण और भ्रामक होते हैं। जिस विषयवस्तु को भी आधारभूत बनाकर, जिस भी शैली में रचना रूप लेती है, उसमें एक साथ इतनी विशेषताओं का परिपाक होकर उनका प्रकाश होता है कि योग्यता का कोई भी बटखरा यह बताने में कभी समर्थ नहीं हो सकता कि इसमें यह तत्व इतना छटाक और वह तत्व इतना छटाक है। अतः इस तरह के प्रयास निरे निरर्थक ही होते हैं, फिर भी आश्चर्य है कि ऐसे प्रयासों का अंत नहीं है। शैलियों में निबंध की अनेक शैलियों का विचार किया गया—व्यास, समास, प्रसाद, प्रलाप, व्यंग्य, आवेग। इसी प्रकार प्रकार में भावात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक, कथात्मक, व्यंग्यात्मक, उपदेशा-

[1] आल द बुक्स डीलिंग विथ क्लासीफिकेशन एंड सिस्टम आफ दि आर्ट्स कुड बी बर्न विदाउट एनी लास ह्वाटेवर.

त्मक, आख्यात्मक, व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक, अनालोचनात्मक, गवेषणात्मक, आदि जाने कितने भेद उपभेद बनाए गए आत्मक जोड़कर। ये सब न तो निर्विवाद ही हैं न सही स्वरूप का परिचय दे सकने की क्षमता ही रखते हैं। मनुष्य का अपना अस्तित्व जैसे कल्पना, तर्क, भावना, विचार आदि अनेक तत्वों से बनता है, अथच किसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से उसका बिलगाव करना या पाव तोले माप का हिसाब बताना संभव नहीं, ठीक इसी तरह उस निबंध का जो कि एक अन्विति है, खंड खंड चीरकर बताना संभव नहीं। हिंदी में विभाजन की प्रणाली जोरों से चल पड़ी है और बहुत से लोग अपनी मौलिक सूझ बताने तथा लकीर की फकीरी का दोषी न होने के ख्याल से कुछ न कुछ नया जोड़ने की कोशिश जरूर करते हैं। नतीजा यह निकला है कि विषय को सुगम बनाने के बजाय ये चेष्टाएँ ही उलझनें ही बढ़ाती गई हैं। उदाहरण के तौर पर गुलाब राय का विभाजन देखिए और एक एक आत्मक की व्याख्या भी देखिए। निबंध को उन्होंने चार वर्गों में बाँटा है—वर्णनात्मक, विवरणात्मक विचारात्मक और भावात्मक। आगे कहते हैं, वर्णनात्मक निबंधों का संबंध देश से है, विवरणात्मक का काल से, विचारात्मक का तर्क से और भावात्मक का हृदय से।[1] स्पष्ट है कि यह टिप्पणी बड़ी अधूरी, असंगत और उलझानेवाली है। कोटिविभाजन के एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण पड़े हैं जिनमें सूझ बूझ के निदर्शन न होकर परंपरापालन की प्रवृत्ति या नेग निभाने का रिवाज है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—'जनतंत्र का जमाना है, छापे की मशीनों की भरमार है। कह सकने की योग्यता रखनेवाले हर भले मानस को किसी न किसी विषय पर कुछ न कुछ कहना है। हर छापे मशीन को अपना पेट भरने के लिये कुछ न कुछ छापना है। सो राज्य भर के विषयों पर निबंध लिखे जा रहे हैं। कहाँ तक कोई उसका लेखा जोखा मिलाए। सभी विचार किसी न किसी निबंध शैली में लिखे जाते हैं।[2] वास्तव में शैली के हिसाब से श्रेणी का बटवारा किया जाय तो निबंध के प्रकार की गिनती नहीं हो सकती। प्रत्येक लिखनेवाले की मानससत्ता अलग, उसके प्रकाश की पद्धति अलग। कहाँ तक अलग अलग नामकरण किया जाय ?

यहाँ एक बात और भी विचारणीय है कि निबंध का एक निश्चित रूप स्वीकृत हो चुका है। वह यह कि वह व्यक्ति या व्यक्तित्वप्रधान गद्य रचना है।

---

१ काव्य के रूप

२ हिंदी निबंध और निबंधकार की भूमिका।

किंतु वर्गविभाजन में भ्रम से इस मान्यता के बाद भी लीक पीटी जाती है। यथा, व्यक्ति को मुख्य मानकर निबंधों को व्यक्तिप्रधान या विषयप्रधान दो प्रकारों में बाँटा गया है। व्यक्तिप्रधान, वैयक्तिक निबंध में निबंधकार निज को रखता है। वह सबल आग्रह से निजी वेदनाविकलता, हर्ष विषाद, भावअभाव को उपस्थित करता है। अँगरेजी में चार्ल्स लैंब के निबंध इसी वर्ग के श्रेष्ठ नमूने हैं। विषय-प्रधान में अपने को अलग रखकर शेष जगत् की बात कही जाती है।[1] इस मंतव्य से ऐसा ही प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व के स्वरूप की सही धारणा नहीं है। फिर यह मंतव्य स्वविरोधी है। एक ही साथ इसमें परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। जहाँ निबंध के लिये यह स्थापना है कि उसमें व्यक्ति की मुख्यता होती है, वहाँ विषय की प्रधानता का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? विषय और शैली चाहे जो हो, जैसी हो, निबंध में व्यक्तित्व की शर्त पहली है। जिसमें व्यक्ति ओझल हो जाय और विषय ही प्रधान हो उठे, वह रचना और चाहे जो हो, निबंध नहीं हो सकती। रचना की भले ही दो कोटियाँ हो सकती हैं—निजात्मक (सबजेक्टिव) और परात्मक (आब्जेक्टिव)। निजात्मक कोटि में गीतिकविता, गद्य, गीत, निबंध आदि आएँगे और परात्मक कोटि में काव्य, नाटक, प्रबंध आदि।

यही नहीं, इस अरसे में निबंध के रूपतत्व विचार, शैली समीक्षा, हिंदी में उसकी परंपरा, हिंदी में गद्यविकास की गतिविधि, इन विषयों पर एकाधिक पुस्तकें निकल चुकी हैं। प्रायः सबमें आत्मनिष्ठता को निबंध की आत्मा माना गया है। लेकिन उन्हीं पुस्तकों में निबंध की रूपरेखा पर जो विचार व्यक्त किए गए हैं, उनमें निबंध की इस विशिष्टता को ध्यान में नहीं रखा गया है। जो रचना निबंध-पद-वाच्य नहीं, उसको भी निबंधकोटि में रखा गया है और एक ही विचारक्रम में परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। हिंदी गद्य की प्रवृत्तियों में एक ही विषय और शैलीसीमा की बिना पर एक ओर यह कहा गया है कि स्वयं द्विवेदी जी ने विभिन्न गद्यशैलियों को जन्म दिया, लेकिन एकाध रचना को छोड़कर उनकी शेष गद्य-रचनाएँ निबंध की कोटि में नहीं आतीं। दूसरी ओर रामचंद्र शुक्ल के लिये यह कहा गया कि उनके मनोविकार संबंधी और व्यावहारिक आलोचनावाले निबंधों में यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से पाई जाती है। उनके निबंधों की असली विशेषता यही है कि जो व्यक्तिप्रधान नहीं, विषय प्रधान निबंधों की विशेषता है।

इस निष्कर्ष में दो बातें विचार करने की हैं—यदि आत्मनिष्ठता ही निबंध की चरम कसौटी है तो विषयनिष्ठ रचना निबंध कैसे हो सकती है और किसी एक

[1] हिंदी निबंधकार—जयनाथ नलिन।

की विषयप्रधान रचना अगर उत्तम निबंध हो सकती है, तो दूसरे की क्यों न होगी ?

हिंदी में निबंधों का जो श्रेणीविभाजन हुआ है, उसको देखने पर सामान्यतः उसके पाँच भेद सामने आते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, आत्मव्यंजक, वर्णनात्मक और कथात्मक। यह विभाजन मूलतया रचनापद्धति पर आधारित है। रचनापद्धति लेखक की अपनी शिक्षादीक्षा, अपने संस्कार, अपने परिवेश यानी उसके व्यक्तित्व के अनुरूप होती है। किंतु शैली के अनुसार श्रेणीभेद करने में स्वरूप की मूल्यस्थापना की बात का ध्यान मे होना आवश्यक है। निबंध निजात्मक कोटि की रचना अर्थात् व्यक्तिप्रधान है। व्यक्ति का निर्माण उसके मन और मस्तिष्क से होता है। मन की प्रधानता भावमयता लाती है, मस्तिष्क की मुख्यता विचारप्रवणता। अतः सही निबंध के प्रकारभेद करना ही चाहे तो वह ज्यादा से ज्यादा दो हो सकता है—विचारात्मक और भावात्मक। बाकी भेद किसी न किसी रूप में इन्हीं दो में आ जाते हैं। आत्मव्यंजक, हमारी समझ में कोई अलग भेद नहीं है। यह तो अँग्रेजी के पर्सनल ऐसे के अनुरूप एक और भेद गढ दिया गया है। विचारात्मक और भावात्मक—वास्तव में इन्ही दो रूपो में निबंध की स्वकीयता को देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल भी निबंधो के इन्हीं दो प्रकारो को मानते हैं और अपने विचार से विचारात्मक निबंध को ही श्रेष्ठ समझते हैं। लेकिन शुद्ध विचार का यह अर्थ कदापि नहीं कि उससे हृदय का कही योग ही न हो। मानव जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जिसमें बुद्धि और हृदय यानी भाव और विचार का उपयोग न होता हो। साहित्य में भी दोनो का संबंध अन्योन्याश्रित है। यो साहित्य में हृदय की प्रधानता मानी गई है, किंतु उसका अर्थ बुद्धि का निर्वासन नहीं है। निबंधो मे विचार और भाव दोनो होते है। भावहीन विचार नहीं होता, क्योंकि तब वह जटिल, नीरस और प्रभावशून्य होगा। विचारहीन भाव नहीं होता, नहीं तो वह हृदय बावला होगा और उसकी वाणी प्रलाप होगी। यह अवश्य होता है कि किसी में विचार ही प्रधान होता है, किसी में भाव और इसी लक्षण के अनुसार हमने विचारात्मक और भावात्मक निबंधो के ये दो रूप कहे हैं। गोकि इस विभाजन की बहुत बड़ी न तो सार्थकता है न प्रयोजन। आत्मव्यंजना के नाम पर निबंधो की एक स्वतंत्र कोटि कर दी गई है, आत्मव्यंजक। इसे कई लोग वैयक्तिक निबंध कहते हैं। विचार से वैयक्तिकता और व्यक्तित्व (इनडिविडुएलिटी और परसनालिटी) में अंतर अवश्य है। एक का संबंध स्वयं से है, दूसरे का स्व से। स्वयं अपने अतिरिक्त और की अपेक्षा नहीं रखता, किंतु स्व में दूसरो की स्थिति की अपेक्षा होती है। इस सूक्ष्म पार्थक्य का विचार की दृष्टि से बड़ा महत्व हो सकता है, पर परिणामतः एक में दूसरे का समाहार हो जाता है। अतः निबंध के व्यक्ति के लिये जो मान्यता ऊपर विश्लेषित

हो चुकी है, उसकी पुनरावृत्ति का प्रयोजन नहीं। भावात्मक और विचारात्मक-निबंधों की इन दो रचनापद्धतियों से अन्य कुछ रचनाओं की इतनी निकटता हो जाती है कि बहुत बार भ्रम सा हो जाता है। भावात्मक निबंधों के काव्यत्व से बहुत लोगों ने गद्यकाव्य को ही माना है और विचारात्मक निबंध में ही आलोचना को भी गिना है। हिंदी में साहित्यविचार संबंधी ऐसी अनेक रचनाओं को आलोचनात्मक निबंध कहते हैं। रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास, गुलाबराय की साहित्यिक रचनाएँ और यहाँ तक कि पुरातात्विक गवेषणासंबंधी लेख भी निबंध में ही गिना दिए जाते हैं।

सच तो यह है कि निबंधों के बारे में अभी भी निर्भ्रांत धारणा का अभाव है। सच्चे अर्थ में निबंध कही जानेवाली रचनाएँ हिंदी में हैं भी बहुत थोड़ी ही। इसलिये निबंधों पर विचार करते हुए यह दुविधा होने लगती है और अंततः उनका अभाव देख लेख प्रबंध आदि को भी इसी कोटि में रख लिया जाता है। आधुनिक अँगरेजी साहित्य में जिस श्रेणी के आत्मपरक और सरस निबंधों की आशातीत प्रचुरता है, हिंदी में वैसी रचनाएँ कितनी हैं? शुक्लजी ने इस कमी को महसूस करते हुए लिखा था-विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षाक्रम के भीतर हिंदी साहित्य का समावेश हो जाने से उत्कृष्ट कोटि के निबंधों की-'ऐसे निबंधों की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े, जितनी आवश्यकता है, उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं।'[1] इस दैन्य के ठोस कारण भी हैं। हिंदीवाले देश और परिवेश के अनुकूल साधारण तौर पर भावप्रवण हैं, अध्यात्मवादी हैं। जीवन को भावगंभीरता के आवरण में देखने की प्रवृत्ति हमारी जातिगत दार्शनिकता की देन है। जीवन को रस की सहज सरल दृष्टि से देखने में मन मानो तत्पर ही नहीं होता। इसलिये आनंद वेदना को सरल हास्योज्ज्वल दर्पणबिंबित देखने की एक स्वाभाविक अक्षमता हमारे जातीय जीवन की विशेषता सी रही है। यही कारण है कि वैसे निबंध अपने यहाँ नहीं लिखे जा रहे हैं जैसे कि चार्ल्स लैंब, अल्फा ऑफ दि प्लॉ या जेरोम के जेरोम ने लिखे। लैंब को प्रिंस आव दि एसेइस्ट्स कहते हैं। उसके निबंध सचमुच ही एक अंतरंग मित्र के संलाप हैं।

अपने यहाँ इस तरह के निबंधों की कमी का एक दूसरा भी कारण है। हमारा पाठक समुदाय भी दार्शनिकों के देश का है। रचना में आदर्श की मर्यादा और महिमा ढूँढ़ने की इसकी भी एक वैसी ही स्वाभाविक प्रवृत्ति है। दोष

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास।

दुर्बलता को भी आश्रय देकर रसमय बनानेवाली ऐसी रम्य रचनाओं से लेखक के प्रति उनमें अनास्था भी जग सकती है। यहाँ की मिट्टी में गहरी दृष्टि की खास उपज होने के नाते, एक विशेष आबहवा और मनोभाव के वातावरण के नाते इस कोटि की रचना के लिये जिस विशेष अंतर्दृष्टि का प्रयोजन है, वह न तो लेखकों में विकसित हो सकी, न पाठक समाज में पनप सकी। इंगलैंड को छोड़कर यूरोप के दूसरे देशों में निबंध की दिशा जैसे साहित्यकला समीक्षा रही, लगभग वैसे ही हिंदी में आत्मपरक रम्य रचनाओं की ओर लेखकों का ध्यान और साधना केंद्रित न हो सकी। वे आलोचना समीक्षा, विचारदर्शन की दिशा में झुके। ऐसे सूत्रपात के युग से वर्तमान परिणति तक यानी लार्ड बेकन (सं० १६५४) से बीसवीं सदी तक अँगरेजी निबंधों में हम एक विकासक्रम पाते हैं। वह दार्शनिक नैतिक उपदेशात्मकता से अब विशुद्ध बतकही पर आ पहुँचा है। अब के अँगरेजी निबंधकारों में तीन बातों की विशेषता देखने को मिलती है—विचारों की नवीनता, नूतन अनुभूतिक्षमता तथा नई विन्यास शैली। इन विशेषताओं ने लेखकों की अंतर्दृष्टि को सत्य की समग्रता के समीपतर कर दिया है। साहित्य की सामग्री और उसके क्षेत्र में ग्रहण वर्जन का जो विधि-निषेध था, वह अब नहीं रहा। अलुस हक्सले ने कहा भी है—'आज साहित्य सत्य की समग्रता के लिये ज्यादा से ज्यादा जागरूक हो उठा है।' हिंदी में निबंधों का जब से आरंभ हुआ तब से आज तक यहाँ भी भावविचार और विन्यास की दिशा में बेशक बड़े बड़े परिवर्तन हो गए लेकिन एक तो परिवर्तन की वह गति बड़ी मंद रही, और बड़ी ही क्षीण रही परिमाण की दृष्टि से निबंध की साधना। जिसे हम निबंध मानते हैं, वैसे निबंध वस्तुतः बहुत ही कम लिखे गए और निबंधों के विचार में इसी लिये यह कमजोरी देखने को मिलती है कि अधिकांश ऐसी रचनाओं को इस कोटि में लाकर निरख परख करते हैं, उदाहरण पेश करते हैं, जो वास्तव में निबंध नहीं हैं।

हिंदी में निबंधों की नींव भारतेंदु युग में पड़ी। साथ ही हम यह भी स्वीकार करेंगे कि शैली और विषय आदि की दृटि से उस आदि युग में ही जिस हद तक निबंध रचना की छटा छिटकी विकासक्रम में उस गति और परंपरा का आगे निर्वाह न हो सका। अँगरेजी शिक्षा के संपर्क में आकर उस युग के साहित्यकारों ने अँगरेजी साहित्य में गद्य का एक ऐसा अभिनव विधान देखा, जो हिंदी में नहीं था। उस गद्य विधान की यह विशेषता उन्हें अनुकूल प्रतीत हुई कि उसके द्वारा अपनी बात सीधे दूसरों तक पहुँचाई जा सकती है एवं उसमें प्रभावोत्पादकता है। चूँकि भारतेंदु युग के पहले साहित्य की दुनियाँ में काव्य-साधना की ही प्रधानता रही, इसलिये इन साहित्यिकों की दृष्टि विशेषकर गद्य

की ओर थी। इस गद्यप्रकार की कई खूबियों ने उन्हें आकर्षित किया और लोगो ने इस पद्धति को अपनाया। सौभाग्य से इस इच्छा को रूप देने के लिये और साहित्य के इस नए प्रकार की प्रतिष्ठा के लिये पत्रपत्रिकाओ के उपयुक्त साधन भी उपलब्ध हो गए। पत्रिकाएँ भी उस युग मे ऐसी मिली जिनकी मूल प्रेरणा साहित्यिक थी। कारण और सुविधा के कारण उस युग मे निबंधो के निर्माण का श्रीगणेश हुआ। स्वतत्र रूप से भी साहित्यिक लेख लिखे गए और पत्र-पत्रिकाओ के संपादकीय या अग्रलेख के रूप मे भी। यह अवश्य है कि उनमे से अधिकाश रचनाएँ सामाजिक प्रभाव से उद्भूत हुईं और उसमें पत्रकारिता के त्वरित लेखन की छाया ही अधिक है। किंतु यह कुछ अस्वाभाविक नहीं और दूसरी बात यह कि उसके पीछे प्रेरणा साहित्यिक थी। अँगरेजी मे, जिनके निबंधो को हम आदर्श रूप लेते हैं—ऐसा ही कुछ क्रम रहा। पहला ही निबध अपना चरम आधुनिक रूप लिए नही प्रकट हुआ। बेकन की प्रतिभा से इस गद्यविधान की झलक दिखाई पड़ी, लेकिन चूँकि वह पद्य युग था, इसलिये उसका विकास संभव न हुआ। समाचारपत्रो के प्रकाशन के साथ साथ गोल्डस्मिथ, ऑडीसन, स्टील, हैजलिट आदि ने निबंधो की जिस परपरा को बढ़ाया, उसमे हमें वह खामी साफ दीख पड़ती है जो अखबारो के लिखने में हो सकती है। सामाजिक प्रेरणा के उदाहरण भी अँगरेजी में दुर्लभ नहीं हैं। डेफो ने अपने निबंधो के लिये राजनीति को ही विषय बनाया था। जोजेफ ऑडीसन और रिचर्ड स्टील ने 'टैटलर' तथा 'स्पेक्टेटर' के माध्यम से समाजसुधार के लिये ही लिखा, इसी लिये लोगो ने उन्हे नीतिवादी कहा। इतना मानना ही पड़ेगा कि ऑडीसन और स्टील ने विषय तो सामाजिक लिए लेकिन निबध से उनका उद्देश्य साहित्यिक साधना का ही था। उसी आसपास से अँगरेजी निबधो मे व्यक्तित्व की स्थापना का प्रयास शुरू हुआ। ऑडीसन की ही 'सर रोजर दि कौवरली' में यह चेष्टा रूपायित हुई।

इन बातो से हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं कि भारतेंदुयुग के निबंध कला के चरम उदाहरण हैं, बल्कि यह कि पहली उठान में वैसे प्रयासों में निबंध के लक्षणो की प्राथमिकता की झाँकी मिली। उनकी प्रेरणा समाज-सुधार से आई जरूर थी, किंतु उनका उद्देश्य साहित्यिक ही था। निबंधकला का विकास जरूर नहीं हो सका। संभव भी नहीं था। भारतेंदुयुग एक प्रकार से आदोलनो का युग था। क्या धर्म, क्या समाज, क्या राजनीति और क्या साहित्य, सभी क्षेत्रो में आदोलनो की धूम। राजनीति के क्षेत्र मे परतंत्रता और समाज तथा धर्म के क्षेत्र में रुढ़ि की दासता। सर्जनात्मक प्रतिभा को कठोर कुठारघात की कर्मठता अपनानी पड़ी। कठोर व्यंग्यात्मक शैली इसी लिये इस युग की विशेषता

रही। साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक समस्याएँ थीं। उसके बहुविध अंगों की स्थापना, विषयो की अनेकरूपता का ग्रहण और सर्वोपरि साहित्य का प्रचार प्रसार। इन कारणों से साहित्य के अंगविशेष की एकनिष्ठ आराधना संभव नही थी। एक ही लेखक को रचना की दृष्टि से अनेकरूपता अपनानी पड़ती थी। इन सारी बातो को ध्यान मे रखकर देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि उस युग को जो सफलता निबंधरचना में मिली वह नाटक, कविता या अन्य विषयो में नहीं मिली।

भाषा का रूप स्थिर नहीं था और अभिव्यक्ति के उत्कर्ष की पर्याप्त क्षमता उनमें नही थी। भारतेंदु के पहले दो समर्थ लेखक हिंदी के हुए—राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मण सिंह। राजा साहब नागरी लिपि और रोजमर्रा की बोलचाल वाली भाषा के हिमायती थे। उनका प्रयत्न ऐसी भाषा गढ़ने का था कि किसी दलवाले को एतराज न हो। फलस्वरूप उन्होने जिस भाषा को अपनाया, उसके अधिकांश शब्द, वाक्यविन्यास, भाव को व्यक्त करने के ढंग, सब कुछ उर्दू के ढाँचे के थे। यथा—'इसमें अरबी, फारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिये अंग्रेजी के भी शब्द कंधा भिड़ाकर यानी दोश बदोश चमक दमक और रौनक पावें, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गड़बड़ मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हदें कायम हो गई हो और जिसका इंतजाम मुंतजिम की अक्लमदी की गवाही देता है।'

राजा लक्ष्मण सिंह शैली के इस स्वरूप के प्रत्यक्ष विरोधी और खड़ी बोली के स्वतंत्र अस्तित्व के पोषक थे। उन्होने अपनी रचनाओं मे भरसक अरबी, फारसी के शब्दो का प्रयोग नहीं होने दिया और यह सिद्ध करने की कोशिश की कि उर्दू की शरण गहे बिना भी हिंदी में सुंदर गद्य की रचना हो सकती है। और वस्तुतः उन्होंने बहुत ही पुष्ट और सुव्यवस्थित हिंदी गद्य का नमूना सामने रखा जैसा कि पहले किसी दूसरे ने नही लिखा था। इसी लिये तत्कालीन गद्य साहित्य में उनका स्थान सर्वोपरि है। भारतेंदु को सामने ये दो रास्ते मिले। उन्होने इन दोनो के बीच के रास्ते को अपनाया। न उर्दू तत्समप्रधान रचनाप्रणाली को प्रश्रय दिया, न संस्कृततत्समप्रधान। इन दोनों के सामंजस्य मे उन्होने शैली के एक ऐसे रूप को स्थिर करने की चेष्टा की, जो सबके लिये ग्राह्य और मान्य हो सके। उन्होने शैली का संस्कार किया, भाषा का परिमार्जन और परिष्कार करके रचनापद्धति को यथासाध्य व्यवस्थित किया। फिर भी उपयुक्त शब्दो की न्यूनता और व्यंजना शक्ति की दुर्बलता से प्रत्येक विषय के अनुरूप अभिव्यक्ति न हो सकी। उस युग में अनेक ऐसी रचनाएँ हुई जिनमें निबंध के कुछ तत्व

और लक्षण की झलक मिलती है। किंतु अंततोगत्वा वे पूर्णतया निबंध के स्वरूप को सामने नहीं रखते। उनमें से अधिकांश को तो लेख ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। उनमें विषयविस्तार किन्हीं अंशो में है, आत्मीयता का भी आभास मिलता है, व्यंग्य और हास्य का चुटीलापन भी है। स्वप्नो के बहाने व्यंग्य-रूपक, उपालंभ, स्तोत्र आदि जहाँ तहाँ समाविष्ट है, लेकिन उनमें से सब निबंध नही हैं। अतः तत्कालीन लेखक जितने शैलीकार हैं, उतने निबंधकार नही। उस युग मे जिनकी रचनाओ में प्रारंभिक निबंधो का थोडा बहुत आभास स्पष्टतया मिलता है, वे हैं स्वयं भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र। निबंध का आभास यानी आत्मपरकता। यो उस युग में अधिकतर सामाजिक विषयो पर ही ज्यादा रचनाएँ हुई। ऐसी रचनाएँ विचारात्मक तो हैं, भावात्मकता का भी जहाँ तहाँ पुट है। इन दोनो गुणो के कारण उनमें साहित्यिकता भी है। किंतु उपर्युक्त तीनो लेखको में आत्मपरक निबंधो की योग्यता और सामर्थ्य के दर्शन होते हैं। इनमें भी प्रतापनारायण मिश्र का स्थान सर्वोपरि है। इनके निबध को इस कोटि के निबंधो का प्रतिनिधि कह सकते हैं। निबंध की दो प्रधान विशेषताएँ—विषय की तुच्छता और विषय की अपेक्षा निबंधकार के व्यक्तित्व की प्रधानता इनमें मिलती हैं। जिसे हम हलका साहित्य कहते हैं, इनकी कई रचनाएँ आसानी से इस कोटि मे आती हैं। हलका साहित्य का अर्थ महत्व-हीनता नहीं, बल्कि विषय के प्रतिपादन की सहज सरल और मनोरंजक शैली तथा जिसमें जटिलता न हो, यह है।

भारतेंदु में गद्य की अनेक शैलियो के प्रति सजग जागरुकता हम पाते हैं, उन्हीं में से कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनमें हम निबंध के गुण और लक्षणो की झाँकी पाते हैं। 'कंकड़ स्तोत्र' और 'ईश्वर बडा विलक्षण है' ये दो रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें विषय के प्रतिपादन और महत्ता पर उतनी सचेष्टता नहीं है, जितनी व्यक्तित्व के विस्तार की। बल्कि विषय का मामूली होना भी बहुत बार आत्माभिव्यंजना के लिये उपयुक्त अवसर देता है। कंकड़ नाचीज सी चीज है किंतु उसी पर लेखक लिखने को अभिप्रेरित होता है और उस सामान्य कंकड को वह धरती से आसमान पर पहुँचा देता है। जैसे—'कंकडदेव को प्रणाम है। देव नही महादेव क्योकि काशी के कंकड शिवशंकर के समान हैं। हे लीलाकारिन! आप केशी, शकट, वृषभ, खरादि के नाशक हौ। इससे मानो पूर्वार्द्ध की कथा हौ अतएव व्यासो की जीविका हौ। आप वानप्रस्थ हौ क्योकि जंगलो मे लुढ़कते हो, ब्रह्मचारी हो क्योकि बटु हौ। गृहस्थ हौ चूनार रूप से, संन्यासी हौ क्योकि घुट्टमघुट्ट हौ। आप अंग्रेजी राज में भी गणेश चतुर्दशी की रात को स्वच्छंद रूप से नियम और

शांति का अस्तित्व बहा देते हो अतएव हे अंग्रेजी राज्य में नचात्री स्थापक! तुमको नमस्कार है।'

बालकृष्ण भट्ट वस्तुतः भारतेंदु युग के विचारप्रधान रचनाकारों के प्रतिनिधि हैं। जितनी रचनाएँ इन्होंने की है, विचारात्मक ही संख्या मे ज्यादा हैं। उन रचनाओं की विशेषता यही है कि उनमे विषयों का चुनाव तक विचारात्मक है, शैली तक विवेचनात्मक है। लेकिन यह नहीं कि ये विचार परंपरागत अंधी नकल या शास्त्रों के रटे बोलो की प्रतिध्वनि ही हो। उनमे निजी दृष्टिकोण और स्वतंत्रचिंतन की गहरी छाप है। साथ ही उममे कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें थोड़े मे ज्यादा कहने की क्षमता पाई जाती है और व्यक्तित्व का उभार मिलता है। जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि 'इस समय के प्रायः सभी लेखको मे एक बात सामान्य रूप में पाई जाती है। वह यह कि सभी की शैलियो में उनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। पं० प्रतापनारायण मिश्र और भट्ट जी में यह बात विशेष रूप से थी। उनके शीर्षको और भाषा की भावभंगी से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्ही की लेखनी है।[1]'

'बातचीत', 'जी', कल्पना शक्ति', 'द', 'नाक' आदि रचनाओं में निबंध की निजी विशेषताओं की झलक मिलती है। इसमें आत्मव्यंजकता है, मनोरंजकता है, अक्षर, शब्द और मुहावरो से चमत्कार पैदा करने की पटुता है। जैसे—

'योरुप के लोगो मे बात करने का हुनर है। 'आर्ट ऑव कनवरसेशन' यहा तक बढ़ा है कि स्पीच और लेख दोनो इसे नही पाते। इसकी पूर्ण शोभा काव्य-कला प्रवीण विद्वन्मंडली में है। ऐसे चतुराई के प्रसंग छेड़े जाते हैं कि जिन्हे सुन कान को अत्यंत सुख मिलता है। सुहृद गोष्ठी इसी का नाम है। सुहृद गोष्ठी की बातचीत की यह तरीफ है कि बात करनेवालो की लियाकत अथवा पंडिताई का अभिमान या कपट कही एक बात मे प्रकट न हो, वरन् क्रम रसाभास पैदा करनेवाले सभो को बरकते हुए चतुर,सयाने अपनी बात को अक्रम रखते हैं। वह हमारे शुष्क पंडितो की बातचीत में, जिसे शास्त्रार्थ कहते हैं, कभी आवेगा ही नहीं।'

'वही हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है, न लोगो के कहकहे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई हँस पड़े तो मुस्कुराहट से ओठों का केवल फरक उठना ही इस हँसी की

[1] हिंदी गद्य शैली का विकास।

अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवाले के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का ढंग है। इसमे स्पीच की वह सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।' —बातचीत

उपर्युक्त उद्धरण में हम एक यह भी विशेषता देख रहे हैं कि सुहृद-गोष्ठी, संलाप, घरेलू बातचीत, मन रमाने का ढंग है—आदि बातो से निबंध की निजता की धारणा का परिचय मिलता है। यो भट्ट जी के ऐसे दूसरे कई लघु निबंध हैं, जिनमे बडी जिंदादिली है। भाषा में प्रवाह है, मुहावरो का अच्छा निर्वाह हुआ है। उदाहरण के लिये 'कल्पना शक्ति' का कुछ अंश देखे—

'यावत् मिथ्या और दरोग की किबलेगाह, इस कल्पना पिशाचिनी का कही ओर छोर किसी ने पाया है। अनुमान करते करते हैरान गौतम से मुनि गौतम हो गए। कणाद किनका खा खाकर तिनका बीनने लगे पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्वो की कल्पना करते करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गये। व्यास ने इन तीनो महादार्शनिको की दुर्गति देख मन मे सोचा कौन इस भूतनी की पीछे दौड़ता फिरे, यह संपूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं सब कल्पना ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है।'

भट्ट जी की इस कोटि की रचनाओ की विशेषता है सीमित आकार, नपे तुले शब्द, अर्थविस्तार से परहेज और व्यक्तिगत ढंग। भूमिका नाममात्र की। तुरत अपने विषय पर उतर आना तथा मनोरंजन के साथ पाठक से आत्मीयता स्थापित कर लेना। आकर्षक शीर्षको का चुनाव, जैसे—नाक निगोड़ी भी बुरी बला है, भकुआ कौन कौन है, मनुष्य की बाहरी आकृति मन की प्रकृति है, आदि। यो भट्ट जी का सारा जीवन संस्कृत साहित्य के अध्ययन मनन में बीता, लेकिन उनकी रचनाओ मे यह बात हम पाते हैं कि वे विदेशी साहित्य से भाव, विषय या शब्दो को अपनाने मे हिचकते न थे। द्विवेदी युग मे शायद यही एक ऐसे लेखक थे जिन्होने अँगरेजी शब्दो का धडल्ले से उपयोग किया। बहुत बार तो अँगरेजी के शब्द ये कोष्टको मे रखते थे और उनमे हिंदी पर्यायवाची को बाहर और कभी कभी भाव को समझने की सुगमता के खयाल से यो ही रख देते थे। कैरेक्टर, नैशनैल्टी, फीलिंग, फिलासफी आदि शब्दो का इसी तरह से व्यवहार उन्होंने किया है। कभी कभी तो शीर्षक तक अँगरेजी का उठाकर रख दिया है।

स्वरूप की दृष्टि से तत्कालीन लेखको मे प्रतापनारायण मिश्र की कुछ रचनाओ में निबंध के लक्षण और तत्व अपेक्षाकृत अधिक निखरे हैं। भारतेंदु युग

में निबंधो के सही मानी में यही प्रतिनिधि हैं। 'उनके विषय में बात कुछ आगे बढकर भी कही जा सकती है। वह यह कि वे भारतेंदु युग के ही नहीं वरन् हिंदी साहित्य के आत्मव्यंजक निबंधकारो के प्रतिनिधि हैं। साहित्य के प्रत्येक युग की अपनी अपनी विशिष्ट देन होती है। भारतेंदु युग ने हिंदी साहित्य को अनेक विशिष्ट देन से सुशोभित किया, उनमें से आत्मव्यंजक निबंध भी एक है। इस युग के पश्चात् इस ढंग के निबंधो के लिखने की चाल ही बंद हो गई। अँगरेजी के वैयक्तिक निबंधो की ठीक नकल पर वर्तमान युग में कुछ निबंध लिखे गए अवश्य, परंतु उनमें दूसरे साहित्य से नकल करने की धुन के कारण अपनापन न आ सका। भारतेंदु युग के आत्मव्यंजक निबधो में पूरा अपनापन है।'[1]

मिश्र जी की शैली और विषय दोनो में सहजता है। साथ ही उनमें उनका व्यक्ति बिखरा निखरा है। विषय बडे सामान्य और शैली सरल। गंभीर विषयो पर उन्होने लिखा ही नहीं, ऐसी बात नहीं। किंतु उनके कहने का ढंग कुछ इस तरह का है कि लगता है, लेखक सामने बैठकर बातें कर रहा है। अपनी सहृदयता से रस और रोचकता लाने में वे सफल थे। रचनाओ में साहित्यिक सौंदर्य है, मानवीकरण की प्रवृत्ति है। कुछ शीर्षक, जैसे खुशामद, भौं, तिल, धोखा, आप, होली, घूरे क लत्ता बिना कनातन के डोल बाँधे आदि। हास्य की सजीवता–धन्य हो, जय हो, क्या कहने आदि परिहासभरे शब्दो के प्रयोग से नैकट्य और घरेलू वातावरण बनाने में ये कुशल थे।

'ऐसी ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदास जी का 'माया मोहिनी मनहरण' कहना प्रत्यक्ष तथा सत्य जान पडता है। फिर हम क्यो नहीं जानते कि धोखे को लोग बुरा क्यो कहते हैं? धोखा खानेवाले मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यो कहलाता है। जब सब कुछ धोखा ही धोखा है और धोखे से अलग रहना ईश्वर की सामर्थ्य से भी दूर है तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिचर ढिचर होने लगे, वरन् रही न जाय, फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक भौं क्यो सुकुड़ जाती है? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गँवा बैठता है और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलई खुले बिना नही रहती है और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनो में हो ही जाया करती है।'—धोखा।

[1] भारतेंदुयुगीन निबंध—शिवनाथ।

इस रचना में चुलबुलापन फिर भी कम है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इनकी ऐसी रचनाएँ भी है जिनमें चमत्कार पैदा करने की प्रवृत्ति है। जैसे, आप शीर्षक रचना की कुछ पंक्तियाँ—'अब तो आप समझ गये होगे कि आप कहाँ के हैं, कौन हैं, कैसे हैं, यदि इतने बड़े बात के बतंगड़ मे भी न समझे हो तो इस छोटे से कथन मे हम क्या समझा सकेंगे कि आप संस्कृत के आप्त शब्द का हिंदी रूपातर है और माननीय अर्थ के सूचनार्थ उन लोगो (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हो चाहे बाते करते हो चाहे बात करनेवालो के द्वारा पूछे बताए जा रहे हो अथवा दो वा अधिक जनो में जिनकी चर्चा हो रही हो।' या उनकी 'बात' शीर्षक रचना का एक अंश देखिए—'डाकखाने या तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहा की बात हो, जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगडती है, बात आ पड़ती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है......।'

निबधो की रसघनता के नाते हम जिस शक्ति की अपेक्षा करते हैं, आरम्भिक काल की इन रचनाओ में वह नहीं है। मुहावरा और अनुप्रास का एक निरर्थक मोह स्वाभाविक प्रवाह का बाधक है। मिश्र जी की रचना में बेशुमार मुहावरो की छटा तो है ही, कभी कभी शीर्षक तक मुहावरे मे हैं। जैसे—'किस पर्व मे किसकी बन आती है, मरे का मारै शाहमदार। लेकिन कम अधिक यह मोह उस युग के सभी जाने माने लेखको मे रहा है। साधारण सी बात मे चमत्कार पैदा करने के इस आग्रह ने भाषा को दुरूह और अव्यावहारिक बनाया। सबसे बड़ी क्षति यह हुई कि भावबोधन की सहज शक्ति का ह्रास होता गया। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपने पत्र मे बडहर की रानी के कोर्ट ऑफ वार्डर्स छूटने का समाचार जिस भाषा मे छपाया था, उसका नमूना देखिए—

'दिव्य देवी श्री महारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यंत बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल कोर्ट का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल पेल और कभी उसपर सुख की कुलेल है।'

निबंध की संज्ञा पाने लायक जो भी रचनाएँ भारतेंदु युग मे मिलती हैं उनमे तीन विशेषताएँ हैं—सजीवता, रोचकता और आत्मीयता। असल मे भारतेंदु युग के साहित्यिकों का दायित्व अनेकमुखी था। राष्ट्रीय जागरण का वह जन्मकाल था। राष्ट्र, समाज और साहित्य, एक ही साथ इस त्रिवेणी की तरफ से कर्त्तव्य के

तकाजे थे। प्राचीनता की केंचुल छोड़े जो अनेकरूप नवीनता झाँक रही थी, उसके अभिनंदन की तैयारी थी। गुलामी, रूढ़िवादिता के खिलाफ जनसमुदाय के प्राणों में चिनगारी जगानी थी, नव निर्माण के मार्ग की अवरोधक शक्तियों से लोहा लेना था। किंतु इसके लिये वाणी के जिस शस्त्र का संबल विरासत मे मिला था, उसमें उपयुक्तता नहीं थी, तेज और ताकत नहीं थी; भाषा मे वह ओज, वह शक्ति, वह संपन्नता नहीं थी कि वह राष्ट्रीय जागृति का समर्थ वाहन बन सके। अपने अंग उपांगो से साहित्य पुष्ट नहीं था। निर्माण के इस गुरुतर उत्तरदायित्व के अतिरिक्त एक और समस्या थी साहित्य से सर्वसाधारण का संबंध जोड़ने की। जनता साहित्य से उदासीन थी। उन्हे नवीन भावादर्शों की पात्रता के अनुकूल सचेत करने की आवश्यकता थी, ताकि वह घटना और ज्ञान के उन आवेगो से परिचित हो, जो हमारे राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित कर रही थी। इस प्रकार तत्कालीन लेखको पर चौमुखी जिम्मेदारी पड़ी। इसी लिये भारतेंदु और उनकी पीढी के अधिकांश लेखको को केवल लिखकर ही छुट्टी नही मिली, सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना की जागृति एवं साहित्यिक, अभिरुचि पैदा करने के लिये स्वयं पत्र पत्रिकाओ का प्रकाशन करना पड़ा, संपादन करना पड़ा, लिखना पड़ा। इस नई चेतना और सर्वसाधारण में संबंध स्थापित करने का सबसे सहज, सुगम और सशक्त माध्यम निबंध ही था। यह पत्रकारिता के बहुत समीप ही नहीं पड़ता था बल्कि इसी के सहारे पत्रकारिता भी निखरी। जनसाधारण से संपर्क कायम करने एवं उसे प्रभावित करने की उसमें स्वाभाविक शक्ति थी। इसी लिये साहित्य के अन्य रूपो की अपेक्षा उस युग में निबंध ज्यादा लिखे भी गए और अपेक्षाकृत अच्छे भी उतरे। गुरुगंभीर चिंतन और पांडित्य से बोझिल नहीं होने के कारण उन निबंधो में सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करने और पाठको को अपनी ओर खींचकर रमाने की योग्यता थी। भाषा में अपेक्षित प्रौढ़ता अवश्य नही थी, न प्रारंभिक अवस्था में उस वांछित उत्कर्ष की अपेक्षा ही की जा सकती है, फिर भी वास्तविक निबंध की जहाँ तहाँ जो थोड़ी बहुत झलक मिल जाती थी, आगे चलकर वह भी धीरे धीरे दुर्लभ होती गई। निबंध का चित्ताकर्षक, मनोरंजक, विनोदपूर्ण और स्वच्छंद जो उत्स उस युग में फूटा था, वह आगे संभावित कूलप्लावी प्रवाह न बन सका। आत्मीयता, सरलता, हार्दिकता और जिंदादिली की वह छाप ही निबंधो पर से मिटती चली गई जो भारतेंदु युग में पड़ी थी। निबंधो में हृदय से मस्तिष्क प्रबल होता गया, वह मित्र की हितवार्ता न होकर ज्ञानगरिमा से विस्मित करनेवाला पांडित्य प्रदर्शन हो गया; उसमें हमारी रागात्मिका वृत्ति की खूराक नहीं रह गई, जानकारी और उपदेशात्मकता लद गई। परिणामस्वरूप वह सहज सजीवता जाती रही और निबंध गंभीर और बोझिल होकर और ही रूप ग्रहण करते गए। ज्ञान संवर्धन तथा रुचिपरिष्कार के उपयोगितावाद ने कला-

त्मक ललित निबंधो की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया। लक्ष्य और साधन की भिन्नता ने निबंधो का वह रंग रूप ही न रहने दिया। देशप्रेम और जनजीवन की भारतेंदुयुगीन परंपरा लोप पाती चली गई। जनता के निकट संपर्क के विषय छूटते गए; गर्ज कि मानसिक खूराक जुगानेवाली वह चिंतनशैली और विचार-पद्धति ही क्षीण पड़ने लगी।

हिंदी साहित्य की दूसरी उठान बीसवीं सदी के आरंभ से शुरू होती है। सन् १६०० (सं० १६५७) को इसी लिये साहित्य के इतिहास में एक समय-विशेष कहना पड़ेगा। इस साल एक ही साथ तीन बड़ी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं—न्यायालयो में हिंदी का प्रवेश, हस्तलिखित पुस्तको की खोज के लिये काशी नागरी प्रचारिणी सभा को सरकारी सहायता और इलाहाबाद से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन। 'सरस्वती' से महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम जुड़ जाना तो और भी शुभ हुआ। द्विवेदी जी ने गद्य के सुस्थिर रूप और भाषा की व्याकरणसमत शुद्धता के लिये अथक परिश्रम किया। साहित्य की समृद्धि के लिये अछूते विषयो में लेखनप्रचेष्टा और लेखकनिर्माण का उन्होने स्तुत्य प्रयास किया। संक्षेप में उन्होने विषयानुरूप शैली के विकास की सक्रिय चेष्टा की। उस समय तक राजनीतिक चेतना क्रियात्मक बन गई थी। इसी लिये न केवल साहित्य की समृद्धि के लिये ज्ञान संचय भर की आवश्यकता थी, बल्कि देश मे जो राजनैतिक और सामाजिक उथलपुथल चल रही थी, उसके लिये भाषा को सशक्त माध्यम बनाना था। अँगरेजी सल्तनत की बुनियाद जम जाने से राजभाषा से लोगो की घनिष्ठता बढ़ी, उसके माध्यम से ज्ञानविज्ञान की नित्य नई अभिज्ञता बढ़ने लगी। उस उपलब्ध ज्ञानराशि को अपने साहित्य में लाने की अनिवार्यता बढ़ गई। द्विवेदी जी साहित्य को ज्ञान राशि का संचित कोश कहते भी थे। स्वभावतया भाषा की गति पर इसका प्रभाव दो प्रकार का पड़ा—भाषा में एकरूपता आने लगी और लेखनविधि अपेक्षाकृत गंभीर हो चली। निबंधलेखन का संबंध पत्रकारिता से जुड़ गया और उसमें आलोचना के तत्वों का समावेश होने लगा। तत्कालीन रचनाओ मे स्वरूप की विविधता के दर्शन होते हैं, विषय का अभूतपूर्व विस्तार मिलता है, किंतु यथार्थ निबंध की झाँकी इस युग में शायद ही मिलती है। पत्रकारिता को अनेकमुखी चेष्टा होने के कारण किसी लेखक ने जमकर किसी एक ढंग से या तो लिखा नहीं या जो लिखा, समय और परिस्थिति से उसमें यथार्थ निबंधो के लक्षण न आ सके। आचार्य शुक्ल लिखते हैं—'बहुत से लेखको का यह हाल रहा कि कभी अखबारनवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते, कभी कविता की आलोचना करते और कभी इतिहास और पुरातत्व की बातें लेकर सामने आते। ऐसी अवस्था में भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करनेवाले गूढ़ गंभीर लेखक कहाँ से तैयार होते ?'

इस युग के आरंभ में ही निबंध की दो अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हुईं। एक 'बेकन विचार रत्नावली' और दूसरी मराठी लेखक चिपलूणकर की 'निबंध मालादर्श'। पहली का अनुवाद तो स्वयं द्विवेदी जी ने ही किया था। अपनी अपनी भाषा में उपर्युक्त दोनो ही लेखक निबंध के अगुआ रहे। बेकन तो अँगरेजी साहित्य मे निबंध के जन्मदाता ही थे। सूत्रमयता और संक्षिप्तता उनके निबंधों की विशेषता मानी जाती है। उन निबंधों में बुद्धिमत्ता, व्यवहार-कुशलता तथा शैली की भव्यता की छाप है। चिपलूणकर मराठी के आदि निबंध-कार तो नही हैं, लेकिन मराठी में प्रकृत निबंध का आरंभ उन्ही से होता है। मराठी साहित्य के इतिहासकार गोडबोले ने उन्हे एक साथ ही हिंदी के भारतेंदु हरिश्चंद्र और श्रद्धाराम फुल्लौरी कहा है। बाहर से निबंधो की ऐसी दो पुस्तकें आने पर भी निबंधरचना की दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हो सकी। बल्कि पिछले युग में इसकी जो कड़ी शुरू हुई थी, वह भी ठीक से आगे न बढ़ाई जा सकी। प्रथम उत्थान के लेखकोवाला वह जोश, वह जिंदादिली मर गई, वह उत्साह और तत्परता न रही, इसी लिये वह मनोरंजक सजीवता भी नष्ट हो गई। साहित्य की सृजनात्मक प्रेरणा भाषाशुद्धि और परिभाषा-निर्माण की ओर मुड़ गई।

स्वयं द्विवेदी जी ने दो दो, तीन तीन पृष्ठ की शताधिक रचनाएँ लिखी हैं, पर वे सबकी सब या तो लेख हैं या टिप्पणियाँ। दंडदेव का आत्मनिवेदन' आदि कुछ गिनी चुनी रचनाएँ हैं जिनमें रोचकता, स्वतत्र भावना और आत्मीयता का स्पर्श है, लेकिन नाममात्र का। जो व्यक्तिपरकता निबंध की आत्मा है— वह द्विवेदी जी की रचनाओं में कहीं नही मिलती है। वास्तव में द्विवेदी जी के लिखने का उद्देश्य ही और था। 'पाश्चात्य निबंधकारो की भाँति द्विवेदी जी का व्यक्तित्व उनके निबंधो में विशेष स्फुट नही हो सका है। पश्चिम के व्यक्तित्व-प्रधान निबंध का लेखक स्वयं ही अपने निबंधो का केंद्र रहा है। द्विवेदी जी की अवस्था इसके ठीक विपरीत है। अनुमोदन का अंत, अभिनंदन मेले और संमेलन के भाषण, संपादक की बिदाई आदि कतिपय आत्मनिवेदनात्मक निबंधो को छोड़-कर अपने किसी भी निबंध मे द्विवेदी जी ने अपने को निबंध का केंद्र नहीं माना है। पाठक ही उनके निबंधो का केंद्र रहा है। उन्होने प्रत्येक वस्तु को उसी के लाभालाभ की दृष्टि से देखा है। ऐसी दशा में द्विवेदी जी के निबंधो का व्यक्ति-वैचित्र्य से विशेष विशिष्ट न होना सर्वथा अनिवार्य था।'[1]

१ महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डॉ० उदयभानु सिंह।

द्विवेदी जी में मूलतया सामाजिक आलोचक, साहित्य के विचार पक्ष के समीक्षक और भाषा के संस्कारक इस त्रिमूर्ति के दर्शन होते हैं। उन्होंने व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और विचारात्मक शैली के इन तीनो विधानो को प्रस्तुत किया। सामाजिक संस्कार की सामयिक बातो पर उनकी टिप्पणियो मे व्यंग्य और रस होता था। जैसे 'म्युनिसिपैलिटी के कारनामें'—

'इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखो रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसी लिये हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जॉय और खुशामदियो से आठ पहर चौसठ घड़ी घिरे रहे। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले आपकी बला से। इसके एक मेंबर हैं बाबू बख्शिश राय। आप के साले साहब ने फी रुपये तीन चार पसेरी का भूसा (म्यूनिसिपैलिटी को) देने का ठीका लिया है। आपका पिछला बिल १० हजार रुपये का था। पर कूड़ा गाड़ी के बैलो और भैंसो के बदन पर सिवा हड्डी के मास नजर नहीं आता।'

ठीक ऐसी ही दृष्टि—आलोचक दृष्टि—उनकी साहित्य विषयक रचनाओ मे है। आजकल के छायावादी कवि और उनकी कविता का यह अंश देखिए—

'छायावादियो की रचना तो कभी कभी समझ में भी नहीं आती। ये बहुधा बडे ही विलक्षण छंदो का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छःपदे। कोई ग्यारह पदे तो कोई तेरहपदे। किसी की चार सतरें गज गज भर लम्बी तो दो सतरें दो ही अंगुल की। फिर ये लोग वेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा मे इनकी रचना एक अजीब गोरखधंधा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल न ये पूर्ववर्ती कवियो की प्रणाली के अनुवर्ती नए समालोचको के परामर्श की परवाह करनेवाले। इनका मंत्र है, हम चुनी दीगरे नेस्त। इस हमदानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ मे नहीं आता।'

शैलियो की दृष्टि से रचना के जितने रूप जाने माने जाते हैं प्रायः सबके नमूने द्विवेदी जी की रचना से मिल सकते हैं। मनोविकार संबंधी जिन रचनाओ की नींव भारतेंदु युग मे बालकृष्ण भट्ट द्वारा डाली गई और जिनका उत्कर्ष आगे चलकर रामचंद्र शुक्ल की रचनाओं द्वारा हुआ, वैसी रचना भी द्विवेदी जी की है। लोभ और क्रोध जैसे विषय पर भी लिखकर मानो उन्होंने दो युग के बीच का सेतुबंध तैयार किया है। जैसे —

'जब क्रोधरूपी आँधी आती है तब दूसरे की बात सुनाई नहीं पडती। इसलिये ऐसी आँधी के समय बाहर से सहायता मिलना असंभव है। यदि कुछ सहायता मिल सकती है तो भीतर से ही मिल सकती है। अतएव मनुष्य को उचित है कि वह पहले ही से विवेक, विचार और चिंतन को अपने हृदय में इकट्ठा कर रक्खे। जिससे क्रोधरूपी आँधी के समय वह उससे सहायता ले सके। जब कोई नगर किसी बलवान शत्रु से घेर लिया जाता है तब उस नगर में बाहर से कोई वस्तु नही आ सकती। जो कुछ भीतर होता है, वही काम आता है। क्रोधाध होने पर भी बाहर से कोई वस्तु काम नहीं आती, इसलिये हृदय के भीतर सुविचार और चिंतन की आवश्यकता है।'

सच तो यह है कि चाहे जिस कारण से भी हो, द्विवेदी जी की निबंध-कारिता का स्वतंत्र रूप से विकास न हो सका। उनकी छोटी छोटी रचनाएँ संख्या में लगभग ढाई सौ हैं. मगर सब टिप्पणी जैसी हैं। उनका आरंभ तथ्य-कथन से होता है और आदि से उपसंहार तक सग्राहक वृत्ति का परिचय मिलता है। शुक्ल जी ने इसी लिये ऐसी रचनाओं को 'बातो का संग्रह' कहा है। आलोचना, पत्रकारिता और भाषासुधार की तत्कालीन समस्याओं के समाधान में निबंधकार द्विवेदी के दर्शन नहीं होते। उनकी रचना का मूल उद्देश्य सामयिक प्रश्नो का हल ही प्रतीत होता है, इसलिये शुद्ध कलात्मकता को वैसा महत्व नहीं मिला। युग की आवश्यकताओं की ओर उन्मुख रहने के कारण से ही शायद व्यक्तित्व अनुप्राणित निबंध द्विवेदी जी ने नही लिखे।

निबंधो के लिये यह उदासीनता न केवल स्वयं द्विवेदी जी तक सीमित रही, बल्कि सारा का सारा युग—१९००-१९२० (स० १९५७-७७) वैसा ही रहा। शुक्ल जी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि इस द्वितीय उत्थानकाल में एकदम पाच सात विशिष्ट लेखकों के भी नाम नहीं बताए जा सकते।[1] इन बीस वर्षों की साहित्यसाधना से हिंदी साहित्य का असीम उपकार हुआ, इसमें संदेह नहीं, लेकिन निबंधरचना की पुरानी परंपरा को न गति मिली, न बल मिला। 'इस समय ललित निबंधो का एक प्रकार से अभाव सा रहा। साहित्य में उपयोगितावाद को ही अधिक महत्व दिया गया। अतएव कलात्मक निबंधो की रचना की ओर लेखकों का ध्यान अधिक न जा सका। परंतु जो कुछ भी कलात्मक साहित्य आज हमें प्राप्त हो रहा है, उसका बीजवपन द्विवेदी जी के समय में ही हो चुका था, दूसरे, इस युग के निबंधो में एक तरह से सजीवता का अभाव है। उपदेशात्मक

१ हिंदी साहित्य का इतिहास—पृ०४९२।

वृत्ति को यहाँ तक अपनाया गया कि निबंधों में नीरसता आ गई है और पाठकों का जी ऊबने सा लगता है। भारतेंदु युग मे निबंधो में आत्मीयता तथा पाठक के हृदय को मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक प्रभावित करने की जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वह भी इस युग के निबंधो में देखने को अधिक नही मिलती। इसका मुख्य कारण है लक्ष्य तथा साधन मे भिन्नता। भारतेंदु युग का लेखक पाठक की रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित तथा हृदय को प्रभावित कर अपने साथ चलने को विवश करता है, परन्तु द्विवेदीकालीन लेखक पाठक के मस्तिष्क को अपनी ज्ञान-गरिमा से प्रभावित कर उपदेशक के रूप मे आकर, समान विचारधारा मे प्रवाहित कर अपने साथ ले जाना चाहता है। द्विवेदीयुगीन निबंधकार का प्रमुख उद्देश्य पाठक के ज्ञानविस्तार तथा रुचिपरिष्कार की ओर रहा है'।[1]

हम देख चुके कि द्विवेदी जी की रचनाओ में संग्राहक वृत्ति तथा सूचना-संपन्नता ही विशेष रूप से मिलती है जो मुख्यतया पत्रकारिता के गुण हैं। निबंध की आंतरिक शक्तियाँ उनमें नहीं हैं। न वह पर्यवेक्षण, न वैसा विश्लेषण। न रोचकता, न रंजकता। उनकी रचनाओ को ऐसा लेख या टिप्पणियाँ कह सकते हैं जो शैली की दृष्टि से सुबोध हैं और पढ़नेवालो को विविध विषयो की जानकारी देती हैं। मात्र मनोरंजन या चमत्कारप्रदर्शन उनकी रचना का उद्देश्य भी नहीं प्रतीत होता, उनमें ज्ञानवृद्धि और रुचि के संस्कार की चेष्टा है। कम या अधिक यही चेष्टा इस युग के लगभग सभी लेखको मे दिखाई पड़ती है। गिनती में भी बहुत अधिक लेखक इस युग में नहीं मिलते और जो हुए, उनमे भी मुश्किल से तीन या चार ही ऐसे मिलते हैं, जिनकी कुछ रचनाओ मे निबंध होने की पात्रता थोडी बहुत है। जैसे—बालमुकुंद गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, सरदार पूर्णसिंह, आदि। इनमे से बालमुकुंद गुप्त तो भारतेंदु युग की गोष्ठी के ही साहित्यस्रष्टा हैं, पर चूँकि उनकी साहित्यसाधना इस युग तक चली आई और वृत्ति एवं शैली की दृष्टि से इस युग के ज्यादा समीप है, इसी लिये उन्हें हम इसी अवधि मे रखते हैं। ठीक इसी प्रकार रामचंद्र शुक्ल, गुलाबराय आदि का उदय द्विवेदी युग मे होने के बावजूद उन्हे हमने बाद के युग में रखा है। इतना तो हमे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि निबंधो के आदियुग (भारतेंदु युग) और आधुनिक युग की योजक कड़ी के रूप में द्विवेदी युग की साधना का मूल्यांकन और ऐतिहासिक विकासक्रम का विचार आवश्यक हो जाता है, नही तो इस युग मे प्रकृत निबंध के बहुत थोड़े ही नमूने देखने को मिलते हैं और उल्लेख योग्य

[1] द्विवेदीयुगीन निबंध—गंगाबख्श एम. ए.

समर्थ निबंधकार भी बहुत थोड़े ही हैं। शैलीकार के नाते शैली के विकासक्रम की दृष्टि से इनकी चर्चा बेशक बहुत महत्वपूर्ण है और अंततः हमें भी तत्कालीन साहित्यसाधना के विचार से उन चेष्टाओं और तत्वों को जानना जरूरी है जिनसे भावी निबंधसाहित्य के रूप को स्थिरता और समृद्धि मिली, उसके विकास को वेग और बल मिला।

भारतेंदु और द्विवेदी–इन दो युगों के योजकबिंदु हैं बालमुकुंद गुप्त। फलस्वरूप उनके कृतित्व में दोनों युगों की विशेषताएँ परिस्फुट हैं। एक युग का प्राण, दूसरे युग का शरीर। भारतेंदु युग के नवजागरण के अभिनंदन का आवेगमय उल्लास, राष्ट्रप्रेम का ज्वार, नवनिर्माण की बेचैन कामना और द्विवेदी युग की विकसित भाषा, अभिव्यक्ति की प्रांजलता। भाषा बड़ी ही सरस, सशक्त और निखरी हुई। बात यह थी कि उन्होंने उर्दू के समाचारपत्र का संपादन किया था, उसके बाद हिंदी के 'बंगवासी' और 'भारत मित्र' का संपादन किया। इसलिये चलती भाषा लिखने का उन्हें बहुत अच्छा अभ्यास हो गया था। छोटे छोटे वाक्यों में भावों को खूबी के साथ प्रकट करने में वे सिद्धहस्त हो गए थे। मौजी और विनोदी स्वभाव होने से व्यंग्य की विलक्षणता उनकी कृतियों में खूब है। दिल और दिमाग दोनों से काम लेते थे। इन कारणों से इनकी कुछेक रचनाओं में निबंध के तत्वों का सफलता से समावेश हुआ। 'शिवशंभु का चिट्ठा' और 'चिट्ठियों और खत' में चुहलबाजी, छेड़छाड़, इनकी जिंदादिली के निदर्शन हैं। जैसे—

'नारंगी के रस में जाफरानी बसंती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनद ले रहे थे। खयाली घोड़ों की वागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था। हाथ पाँव को भी स्वाधीनता दी गई थी। वे खटिया के तूल अरज की सीमा का उल्लंघन करके इधर उधर निकल गए थे। कुछ इसी प्रकार शर्माजी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशंभु खटिया पर उठ बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कान में वह मधुर गीत बार बार अमृत ढालने लगा।'

इन्हीं के बिल्कुल समसामयिक गोविंदनारायण मिश्र की शैली इनके बिल्कुल विपरीत थी। भाषा का अनावश्यक आडंबर इतना बढ़ गया है, इतनी लंबी लंबी समासांत पदावली है कि कहने की बात उसी के बोझ से दबकर दम तोड़ देती है। व्यावहारिकता से कोई संबंध नहीं। पाठकों की जिज्ञासा उस वाक्यस्थल में उलझ सर मारती रह जाती है, पल्ले कुछ नहीं पड़ता। नमूने के तौर पर साहित्य की वह परिभाषा समझने की कोशिश कीजिए जो मिश्र जी ने बताई है—

'मुक्ताहारी नीर-क्षीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद-राज-हिय-सिंहासन-निवासिनी, मंदहासिनी, त्रिलोकप्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे प्राणो से प्यारे पुत्रो की अनुपम, अनोखी, अतुल बलवाली, परम प्रभाववाली, सुजन मनमोहिनी नवरसभरी सरस, सुखद विचित्र वचनरचना का नाम ही साहित्य ।'

यही नहीं, उनकी अक्सर रचनाएँ भाषा की दृष्टि से इसी नमूने की हैं। और तो और, हिंदी साहित्यसंमेलन के दूसरे अधिवेशन के सभापति पद से उन्होंने जो भाषण दिया, वह भाषण आद्योपांत ऐसा ही उलझा हुआ, जटिल और भाररूप है। एक पंक्ति इतनी लंबी और इतनी अंतःपंक्तियो का समेलन है कि अंत तक पाठक पहुँचते हैं तो यही भूल जाते हैं कि पीछे क्या पढ़ गए और इस तरह कुछ भी तत्व निकालना टेढ़ी खीर हो जाता है। जैसे, उस भाषण की केवल एक पंक्ति देखिए—

'जिस सुजन समाज में सहस्रो का समागम बन जाता जहां पठित कोविद, कूर, सुरसिक, अरसिक, सब श्रेणी के मनुष्यमात्र का समावेश है, जहां जिस समय सुकवि, सुपंडितो के मस्तिष्क सोते अदृश्य प्रवाहमय प्रगल्भ प्रतिभा स्रोत से समुत्पन्न कल्पनाकलित अभिनव भाव माधुरी भरी छलकती अति मधुर रसीली स्रोतस्वती उस हंसवाहिनी हिंदी सरस्वती की कवि की सुवर्ण विन्यास समुत्सुक सरस रसनारूपी सुचमत्कारी उत्स (झरने) से कलरव कल कलित अति सुललित, प्रबल प्रवास सा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ रसिको को श्रवणपुट रंध्र की राह मन तक पहुँच सुधा से सरस अनुपम काव्य रस चखाता है, उस समय उपस्थित श्रोता मात्र यद्यपि छंद बंद से स्वच्छंद समुच्चारित शब्द लहरी प्रवाह पुंज का सम भाव से श्रवण करते हैं परंतु उसका चमत्कार आनंद रसास्वादन सबको स्वभाव से नहीं होता।'

एक ही समय की दो शैलियो में रूपगत आकाश पाताल की विषमता-छत्तीस का रूप। 'एक ने अपने प्रखर पांडित्य का आभास अपनी समासांत पदावली और संस्कृत की प्रकांड तत्समता में झलकाया, दूसरे ने साधारण चलते उर्दू के शब्दो को संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम तथा तद्भव शब्दो के साथ मिलाकर अपनी उर्दूदानी की गजब बहार दिखाई। एक ने अपने वाक्यविस्तार का प्रकांड तांडव दिखाकर मस्तिष्क को मथ डाला, दूसरे ने चुभते हुए छोटे छोटे वाक्यो में अजब रोशनी घुमाई। एक ने अपने द्रविड़ प्राणायामी विधान से लोगो को त्रस्त कर दिया, दूसरे ने अपनी रचनाप्रणाली द्वारा अखबारी दुनियाँ में वह मुहावरेदानी दिखलाई कि पढ़नेवालो के उमड़ते हुए दिलों में तूफानी गुदगुदी पैदा हो गई। इसका कारण केवल एक था, वह यह कि एक तो कादंबरी को आदर्श मानकर अपने को संसार से परे रखकर केवल एक शब्दमय जगत्

की रचना करना चाहता था और दूसरा वास्तविक संसार के हृदय से हृदय मिलाकर व्यावहारिता का आभास देना चाहता था।'

इस युग में हिंदी निबंध के क्षेत्र में यद्यपि बहुत कम किंतु उल्लेखनीय काम किया, ऐसे दो लेखक हैं—माधवप्रसाद मिश्र और सरदार पूर्णसिंह। इनके नाम अधिक प्रसिद्ध अवश्य नहीं हैं, पर द्विवेदी युग में ये निबंधों के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। मिश्र जी वास्तव में एक समर्थ लेखक थे और उन्होने जो कुछ भी लिखा है, उनमें उनका अपना व्यक्तित्व है। भाषा में चमत्कार, अभिव्यक्ति की समर्थता, ओज और प्रवाह है। काशी से निकलनेवाले 'सुदर्शन' पत्र का उन्होने संपादन किया था। उन्होंने जर्मन पंडित वेबर[1] की और महावीरप्रसाद द्विवेदी[2] की तीखी आलोचना की। ऐसे क्षोभमय आवेश में लिखते हुए मिश्र जी की भाषा में ओज ही नहीं, अनोखे नाटकत्व का भी समावेश हो जाता। भावावेश में इनकी भाषा में गहरी आंतरिकता आई है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह इंडियन प्रेस से निकला है—माधव मिश्र निबंधमाला। रचनाएँ आठ खंडों में विभाजित हैं—जीवनचरित्र, पुरातत्व, पर्व या त्योहार, साहित्य, राजनीति, स्थानवर्णन और भ्रमण वृत्तात, धर्मचर्चा और आंदोलन तथा कहानियाँ।

नाम चाहे निबंधमाला हो पर इसमें की संगृहीत रचनाएँ सबकी सब निबंध नहीं हैं, या तो प्रबंध हैं, लेख हैं या और कुछ हैं। पर्व त्योहार या भ्रमण वृत्तांत खंड में जो रचनाएँ शामिल हैं उनमें से कुछ में निबंधकार माधव मिश्र के दर्शन किन्ही अंशो में होते हैं। भारतेंदु युग में पर्व त्योहारों पर लिखने की जो परिपाटी शुरू हुई थी, ये निबंध उसी कड़ी में हैं और उस कड़ी की लगभग यहीं इति भी हो जाती है। इनकी इस कोटि की रचनाओं में आकर्षण है, हार्दिकता है और वैयक्तिकता है। रचना का अंत कुछ इस ढंग से हो जाता है कि लगता है अपूर्ण रह गई 'यानी वांट आफ फिनिश'। धृति और क्षमा जैसे विषय पर भी इन्होंने लिखा है। 'परीक्षा' की कुछेक पंक्तियां देखिए—

'वह बड़भागी धन्य है, जिसका कभी इस तीन अक्षर के शब्द से काम न पड़े। अपना भरम लिये मुंदी भलमंसी के साथ जीवन के दिन पूरे कर दे। परीक्षा वह चीज है, जिसके नाम से देवता और ऋषि मुनि भी काँप उठे हैं। हमारे जैसे साधारण मनुष्यों की सामर्थ्य ही कितनी है जो इसके सामने पैर जमा सके।'

[1] वेबर का भ्रम

[2] काव्यालोचना

निबंध कहने को सरदारपूर्णसिंह की कुल चार ही पाँच रचनाएँ हैं—सच्ची वीरता, मजदूरी और प्रेम, ब्रह्म क्रांति, आचरण की सभ्यता आदि—परंतु इन्हीं से उनकी उद्भावना शक्ति, शैली की दक्षता और प्रतिभा का पूरा परिचय मिलता है। 'भावात्मक निबंध लिखनेवालों में सरदार पूर्णसिंह का का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है, पर सरदार जी हिंदी को छोड़कर अंग्रेजी की ओर झुक गए और उनके केवल पाँच निबंध ही हिंदी को प्राप्त हो सके।'[1] सचमुच द्विवेदी युग को जो निबंधों की दृष्टि से विशेष उन्नत न रहा, पूर्णसिंह की रचनाओं से निबंध के क्षेत्र में एक नया रूप मिला। पश्चिमी सिद्धांतों के अनुसार निबंध का जो स्वरूप है, टेकनिक के नाते उसका रूप पूर्णसिंह की रचनाओं के सिवाय इतना शुद्ध और यथार्थ द्विवेदी युग के किसी दूसरे लेखक में नहीं पाया जाता। उनमें आत्मीयता और व्यक्तित्व को हम निखार में पाते हैं। विषय के लिहाज से जो शैली विचारात्मक होनी चाहिए; अनुभूति की सप्राणता, स्वाधीन चिंतन और हार्दिकता के प्राबल्य से वह भी भावात्मक बन गई है। बीच-बीच में व्यंग्य के पुट से वह और भी आकर्षक हो गई है। जैसे—'परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान, चाहे वह कार्लाइल ही का लिखा हुआ क्यों न हो, बनारस के पंडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृतज्ञानहीन पुरुषों के लिये स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते।' शिष्ट व्यंग्यों के ऐसे अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। फलस्वरूप भाव विचार मिलकर ऐसे एकाकार हो गए हैं, हृदय और मस्तिष्क का ऐसा सुष्ठु सामंजस्य बन पड़ा है कि रचनाओं में हृदय रमता है। 'हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं, खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियाँ सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। किसान मुझे अन्न में, फूल में आहुति हुआ सा दिखाई पड़ता है।'—मजदूरी और प्रेम।

सरदार पूर्णसिंह की तरह कुछ ही निबंधों के कारण चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने भी हिंदी निबंध के विकास क्रम के इतिहास में अपने को सुप्रतिष्ठित कर लिया। 'कछुआ धरम' और 'मारसि मोहि कुठाऊँ' इनके इन दो निबंधों का बारबार

[1] हिंदी साहित्य—श्यामसुंदर दास।

उल्लेख किया जाता है। निःसंदेह इनकी शैली बडी ठोस, प्रौढ़, परिमार्जित और साहित्यिक है। इनमें व्यक्तित्व की छाप है, अर्थगर्भित वक्रता है, हास्य और व्यंग्य का गहरा पुट है। भाषा शैली में वैयक्तिकता की स्पष्ट छाप है। जैसे 'मारेसि मोहि कुठॉऊ' का यह अवतरण—

'वकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है, वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है। आर्य समाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया, औरो ने तो गांठ का कुछ न कुछ दिया इन्होने अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं मारसि मोहि कुठाऊँ। अच्छे-अच्छे पद तो यों सफाई से लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया। लेने के देने पड़ गये !!!'

चलतापन, प्रवाह और नाटकीयता रहने से भाषा इनकी बड़ी जोरदार हो गई है। कहने का ढंग भी निराला है, उसमें विनोद से भरा कटु व्यंग्य है जिसमें विषय विवेचन में बोझिलता के बजाय एक चमत्कारपूर्ण वक्रता आ जाती है। विषय की रोचकता को बढ़ाने के लिये उर्दू या अँगरेजी के भी शब्दो का उपयोग ये धड़ल्ले से कर देते थे। अँगरेजी के ऐसे शब्द आमफहम ही हो, यह बात नहीं, व्यवहार में कम आनेवाले शब्दो को भी ये समेट लिया करते थे, जैसे ड्रैमेटिक, मनोपोली, एज्युम्ड आदि। 'कछुआ धरम' के इस संदर्भ में उनकी शैली की सारी विशिष्टताएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

'पर ईरान के अंगूरो और गुलो का मूंजवत् पहाड़ की सोमलता को चस्का लगा हुआ था। लेने जाते तो पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हॉ, उनमें से कोई कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता वेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थी। जैसे आजकल लाखपती, करोड़पती कहलाते हैं, वैसे तब शतगु, सहस्रगु कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने, नवग्वा, दशग्वा पितरों से शरमाते न थे। आदर से उन्हे याद करते थे। आजकल के मेवा बेचनेवाले पेशावरियो की तरह कोई कोई सरहदी सोम वेचनेवाले यहां पर भी आते थे। कोई आर्य सीमात पर भी जाकर ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी। जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़ियो से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला मे सोम बेंच दो। वह कहता वाह, सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर वे गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौवे जी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिये कहा था कि 'या ही मे बेटा या ही में बेटी' वैसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता।

उसके पास सोम की मनोपली थी और इनको बिना लिए वह सरता नहीं। अंत में गौ का एक पाद अर्थ होते होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखोवाली एक बरस की बछिया मे सोम राजा खरीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते।'

निबंधकारो में इस युग के कुछ और भी समर्थ गद्य लेखको के नाम लिए जाते हैं। यथा, पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्यामसुंदर दास, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध आदि। इनकी गद्य लेखन क्षमता और हिंदी गद्य साहित्य को देन—इन दो विशेषताओ से तो किसी को इनकार हो नही सकता, परंतु निबंध के क्षेत्र में इनका विशेप कृतित्व नही है। पद्मसिंह शर्मा हिंदी में तुलनात्मक समालोचना के जन्मदाता हैं। ये साहित्य के पारखी और कृति समालोचक रहे हैं। इनकी चुस्त और चुभती शैली की दिनो तक नकल होती रही। 'पद्मपराग और प्रबंधमंजरी' नाम के दोनो संग्रहो में इनकी जो रचनाएँ हैं वे वास्तव मे निबंध नहीं हैं। शर्मा जी वस्तुतः आलोचक थे निबंधकार नही। इसी प्रकार चतुर्वेदी जी की जो थोडी सी रचनाएँ हैं उनमें हास्य है विनोद है, मनोरंजकता है, पर निबंधता नही है। 'निबंध निचय' और 'गद्य माला' नाम के इनके दो संग्रह हैं, जिनमे अधिकाश उनके भाषणो का संग्रह ही है। उन संगृहीत रचनाओ में 'म', 'बड़प्पन', 'अनुप्रास का अन्वेषण,' पिक्चरपूजा' आदि कुछ के शीर्षक ऐसे हैं जो निबंध का आभास देते हैं। किंतु उनमें न तो व्यक्तित्व की वह झलक है, न भावोत्तेजन की वह शक्ति। 'ब की बहार' आदि में भाषा चातुरी है। श्यामसुंदर दास प्रधानतः आलोचक और व्यवस्थापक हैं। उनकी रचनाएँ साहित्यिक सिद्धांत और समीक्षा संबंधी हैं। श्यामसुंदर दास की साधना और प्रेरणा से हिंदी का भंडार समृद्ध हुआ है। हरिऔध जी ने भी दो एक पुस्तको की भूमिका तथा सामयिक पत्रो मे कुछ लेख के अतिरिक्त निबंध नहीं लिखे।

ऊपर किए गए संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ललित निबंधो की परंपरा को द्विवेदी युग से वैसा अवदान नहीं मिल सका। भारतेंदु युग के बाद विपयप्रधान विचारात्मक निबंधो की धारा जितनी पुष्ट हुई, उतनी रचना विषयक नियमानुवर्तिता छोड़कर नए ढंग से काम या अधिक स्वच्छंदतापूर्वक रोचक शैली में लिखे गए निबंधो की नही। द्विवेदी युग का नैतिक आग्रह भी इसमें कम बाधक नहीं हुआ। उस युग में भी गुलेरी जी और पूर्णसिंह जैसे लेखक हुए, जिनमें वह मानसिक स्वच्छंदता मिलती है जो निबंध के लिये आवश्यक है, पर वे लोग भी इस नए मार्ग पर अधिक आगे नहीं बढ़ पाए।[1] नहीं बढ़ पाने

[1] हिंदी गद्य की प्रवृत्तियाँ

का प्रमुख कारण हुई युग की आबहवा। उस युग की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति ही कुछ ऐसी थी कि लेखकों का मानसिक धरातल निर्बंध निबंधों के लिये उपयुक्त प्रेरणा की खूराक नहीं उत्पन्न कर सका। राजनीतिक वातावरण बिल्कुल बदल गया था और देश की मुक्ति की भावना प्रबल से प्रबलतर होती आ रही थी। सन् १९०७ (सं० १९६४) में कांग्रेस ने केवल प्रस्ताव पास करने के बजाय, उन प्रस्तावों के अनुसार कार्य करने की ठानी। इस बीच यानी दस पंद्रह साल की अवधि में देश की राजनैतिक गतिविधि में बड़ी उथल पुथल हुई। सन् १९०८ (सं० १९६५) मे राष्ट्रीय दल को कुचल डालने के प्रयासों ने जोर पकड़ा। लोकमान्य तिलक को छः साल की कड़ी कैद की सजा मिली। १९०९ (सं० १९६६) का सेडीशस मीटिंग्स ऐक्ट, १९१० (सं० १९६७) का प्रेस ऐक्ट आदि से सर्वसाधारण के मन में विदेशी शासकों के प्रति घृणा और विक्षोभ के भाव भर गए। ऐसी और भी अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। १९०५ (सं० १९६२) की बंगभंग योजना और राष्ट्र की धमनियों में जोश और जागृति की लहर फूँकने वाले बंदेमातरम् पर रोक। १९११ सं० १९६०) का दिल्ली दरबार और बंगभंग योजना का रद्द होना। १९१४ (सं० १९७१) में लोकमान्य तिलक की कारा-मुक्ति आदि आदि। अँगरेजी के संपर्क में आने से अपनी सामाजिक रूढ़िदासता की नींव पहले से ही डगमगा गई थी। परिणामस्वरूप सामाजिक सुधार की जो चेतना भावना पहले से चली आ रही थी, वह प्रवृत्ति और बलवत्तर हुई साथ ही उससे जुड़ गई स्वराज्य पाने की प्रबल आकांक्षा। विदेशी शासन और व्यापार से आर्थिक शोषण का मार्मिक क्षोभ भी विचारों के आकाश मे घुमड उठा। इन सब कारणों से तत्कालीन लेखकों का समय और श्रम देश की तात्कालीन आवश्यकताओं पर ही अधिक केंद्रित हुआ। इन बीस वर्षों की अवधि की साहित्यसाधना का यदि लेखा लिया जाय तो हम देखेंगे कि ज्यादा से ज्यादा रचनाएं इन्हीं परिस्थितियों से उद्भूत हुई हैं और अंततोगत्वा वे हमारी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमता के अभाव और क्षोभ की प्रेरणा से प्रसूत हैं। देश की वर्तमान दुरवस्थाओं के प्रति क्षोभ राष्ट्रीय चेतना की जागृति आर्थिक विषमता से असंतोष, सारी रचनाएँ लगभग इसी मानसिक अवस्था की परिपोषक हैं। सरस्वती, मर्यादा, इंदु, लक्ष्मी, आदि पत्र पत्रिकाओं मे अधिकांश लेख इन्हीं भाव विचारों से संबंधित हुआ करते थे। अतीत गौरव की ओर दृष्टिपात, देश-गुण-गान, समाज के सर्वांगीण उत्कर्ष पर मनोनिवेश, कृषि, कला कौशल और उद्योग धंधों के लिये आकर्षण, आस्था और आह्वान अधिकांश रचनाओं की मर्मवाणी यही हुआ करती थी। स्पष्ट है कि ये परिणाम प्रयोजनप्रेरित हैं, इनमें निर्बंध निबंध की विशेषताओं के विकास की संभावना भी नहीं। इनमें विषय का वैचित्र्य है, विचारों की वैज्ञानिकता है, शैली की शास्त्रीयता है, अतः अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति और उपदे-

शात्मकता भी इनके लिये स्वाभाविक ही हैं। चर्वितचर्वण में वह संजीदगी, वह नवीन उपलब्धि आ भी नहीं सकती जो कि अंतःप्रयास की देन होती है।

इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि अगले युग में निबंधो के निखरे रूप के जो भी थोडे बहुत निदर्शन मिलते हैं, उनके लिये ठोस पृष्ठभूमि, भाषा का सशक्त आधार और शैली की प्राजलता नींव इसी युग मे पड़ी। समय के अनुसार जीवन और समाज की समस्याएँ भी बदली और समस्याओ के साथ साथ उनपर दृष्टिकोण भी व्यापक, विशद और सर्वांगीण हुआ। यह तो फिर भी नही कहा जा सकता कि अगले बीस वर्षो मे निबंधो का बड़ा विकास हुआ। आधुनिक युग में कुछ वडे ही सुंदर और प्रकृत निबंध पाठको की दुनिया में आए, किंतु निबंध—साहित्यिक, ललित या निर्बंध—की परंपरा का यथोचित विकास न हुआ। आचार्य शुक्ल ने बीसवी सदी के दूसरे दशक तक प्रकृत निबधो की कमी का रोना रोया था[1] और इसके सोलह साल बाद अर्थात् सन् १९३५ (सं० १९९१) में भी उन्हें निबंधो के लिये वही रोना रोना पड़ा कि—'ऐसे प्रकृत निबंध जिनमे विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य और उनके हृदय के भावो की अच्छी झलक हो हिदी मे कम देखने मे आ रहे हैं।'[2] यही शिकायत हिंदी के दूसरे दूसरे हितकामियो ने भी की है। हिंदी में अबतक निबंधो का युग नहीं आया है। समालोचनात्मक निबंधो के अतिरिक्त हिदी के अन्य सभी निबंध साधारण कोटि के हैं। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के निबंध हिंदी की बाल्यावस्था के हैं। उनमे विनोद आदि चाहे जो कुछ हो, वे साहित्य की स्थायी संपत्ति नही हो सकते। × × × साराश यह कि निबंधो की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हिदी साहित्य के इस अंग की पुष्टि की ओर सुलेखको का ध्यान जाना चाहिए।[3]

वास्तव मे आज भी हिंदी में निबंधो की यही स्थिति है। पाश्चात्य आदर्शो के अनुसार निबंध को रूप, परिभाषा और शैली की दृष्टि से जिस कोटि की रचना माना गया है, हिंदी में आज भी उस कोटि की रचना का नितात अभाव है। इसके सौ साल के इतिहास मे उल्लेखयोग्य रचनाएँ बहुत थोडी ही मिलती हैं। जब जब और जिन जिन लेखको ने भी हिंदी निबंध पर विचार किया है सबने विविध विषय और विविध श्रेणी की रचनाओ को निबंध के

[1] इंदौर में दिया गया भाषण

[2] चिंतामणि।

[3] हिंदी साहित्य—श्यामसुंदर दास, १९४४ का संस्करण।

अंतर्गत मानकर किया है। संभवतः इसके अतिरिक्त गत्यंतर नहीं। लेख, रचना, आलोचना समालोचना, सबकी गिनती निबंध में ही कर ली गई है। सामाजिक राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, अर्थनैतिक सब विषयों एवं यात्रा, इतिहास, स्केच, संस्मरण, गद्यगीत सभी शैलियों की रचनाएँ निबंधविचार में ही शामिल कर ली गई हैं। जैसे 'द्विवेदीजी के निबंधों की भाँति उस युग के निबंध भी चार रूपों में प्रस्तुत किए गए। पहला रूप पत्रिकाओं के लिये लिखित लेखों का था। ×× दूसरा रूप ग्रंथों की भूमिकाओं का था। ×× तीसरा रूप भाषणों का था। द्विवेदी युग में दिए गए हिंदी साहित्य संमेलन के सभापतियों के महत्वपूर्ण भाषण इसी रूप के अंतर्गत हैं। इस युग के निबंधों का चौथा रूप पुस्तकों या पुस्तकों के आकार में दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ द्विवेदी जी का नाट्यशास्त्र या जयशंकर प्रसाद का चंद्रगुप्त मौर्य।[1] भोलानाथ राय ने अनेक कोटि की रचनाओं में निबंध के विकास क्रम का स्वरूप निर्धारित किया है।[2] पत्र पत्रिकाओं के लेख, पुस्तकों के अध्याय, भाषण, पत्र, पुस्तकों की भूमिकाएँ और प्रस्तावनाएँ, संस्मरण, पैम्फलेट या ट्रैक्ट, पुस्तक, गद्यगीत आदि आदि। पत्र, डायरी, रिपोर्ताज, संस्मरण, स्केच, गद्यगीत आदि निबंध की निकटतम अवस्था तक पहुँच तो सकते हैं, पर उनकी स्वतंत्र कोटि है—वे निबंध नहीं हैं। भाषण भूमिका तो निबंध हो ही नहीं सकते। न केवल इसलिये कि ऐसी रचनाओं में विषयपरकता होती है बल्कि इसलिये कि इनमें मूलतया निबंधता ही नहीं। यों विषय कोई भी हो, रचना निबंध हो सकती है, शर्त इतनी है कि उसमें व्यक्तित्व की वह छाप हो, जो निबंध के लिये अपेक्षित है। ए० जी० गार्डनर ने ठीक ही कहा है कि 'कोई भी खूँटी चल सकती है, मुख्य बात उसपर टोप लटकाने की है।'

हिंदी निबंध विचार में मुख्यतया यही बात ध्यान में नहीं रखी जाती और इसलिये निबंध के उदाहरणों में सब तरह की रचनाएँ उपस्थित कर दी जाती हैं। हमारी समझ से इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि प्रकृत निबंध के स्वरूप की धारणा ही निर्भ्रांत नहीं है। दूसरा यह कि उल्लेखयोग्य निबंधों का नितांत अभाव है। इसमें भी दूसरा ही कारण हमें ज्यादा प्रबल और सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि रूप और परिभाषाविचार में लोग लगभग उसी पाश्चात्य विचार से सहमत हैं और मानते हैं कि निबंध हिंदी में नई चीज है एवं इसका उद्भव पाश्चात्य प्रेरणा से हुआ है। किंतु चूँकि हिंदी

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग—पृष्ठ ३२८।

२ हिंदी साहित्य—१९२६–१९४७।

निबंध परंपरा की रूपरेखा तैयार करने में उदाहरण के लिये पर्याप्त सामग्रियाँ नहीं मिलतीं, इसलिये अन्य कोटि की रचनाओं को भी इसी वर्ग मे संमिलित कर लिया जाता है। कुछ लेखकों ने अभावजन्य इस प्रकृति को स्वीकार किया है। 'आज साहित्य मे इस प्रकार की रचनाएँ भी प्रायः निबंध के नाम से अभिहित की जाती हैं। इन्हें निबंध की कोटि में रखा जाय अथवा नहीं ? यह तो सत्य है कि ऐसी रचनाएँ आदर्श निबंध की तुला पर नही तुल सकती। यदि इन्हें भी निबंध की कोटि में प्रतिष्ठित कर दिया जाय तो निश्चय ही निबंध का अपना सच्चा रूप रग कुछ फीका प्रतीत होगा। ऐसी स्थिति में इनके लिये एक अलग कोटि का निर्धारण ही श्रेयस्कर जान पड़ता है। प्रश्न यह है कि इनकी कौन सी कोटि हो और इन्हें नाम कौन सा दिया जाय। कोटि की दृष्टि से इन्हें हम निबंध से नीची कोटि मे ही रखेंगे अर्थात् द्वितीय कोटि में, निबंध प्रथम कोटि की रचना होगी। अब, इन्हें नाम क्या दिया जाय, प्रश्न यह है। ये सभी कठिनाइयाँ दूर हो जायँ, यदि इस प्रकार की रचना के लिये लेख शब्द का ग्रहण कर लिया जाय, क्योकि कोई दूसरा प्रशस्त मार्ग नही दृष्टिगोचर होता। × × तो निबंध के समान ही विस्तार में छोटी, अभीष्ट विषय के प्रतिपादन से युक्त तथा विषय के प्रतिपादन में ग्रंथन कौशल से परिपूर्ण रचना को हम लेख शब्द द्वारा अभिहित करे तो कोई हानि नही। इस प्रकार की रचना द्वितीय कोटि की मानी जायगी क्योकि आदर्श निबंध के अन्य-तत्व इसमें संभवतः न मिल सकेंगे। निबंध की व्यापकता के लिये ऐसा करना आवश्यक प्रतीत होता है। यदि ऐसा न किया जायगा तो हिंदी साहित्य में निबंध की संख्या अँगुलियों पर गिनने योग्य ही होगी।'[1]

निबंध विचार में संभवतः इसी लिये ऐसा किया गया है। किंतु प्रश्न यह है कि ऐसा करना कहाँ तक युक्तियुक्त है। कई लोगो ने तो लेख आदि को भी निबंध मान लेना उचित समझा है। उनके अनुसार पाश्चात्य आदर्श हिंदी निबंध की कसौटी नही हो सकते। 'हिंदी निबंधो के स्वरूप और विकास को समझने के लिये वर्तमान युग की पश्चिमी परिभाषाएँ उधार लेने से काम नहीं चल सकता। हिंदी में निबंध का न तो उतना विस्तृत इतिहास ही है और न उसका आरंभ बेकन से ही हुआ है। निबंध की यह पश्चिमी कसौटी कि वह व्यक्तित्व की मनोरंजक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति है, हिंदी के लिये प्राप्त नहीं हो सकती। यहाँ तो सीमित गद्यरचना मे, व्यक्त की गई सुसंबद्ध विचारपरंपरा को ही निबंध मानना अधिक समीचीन जँचता है।'[2] इस कथन में भी यही प्रचेष्टा परिलक्षित होती है

[1] भारतेंदुयुगीन निबंध

[2] द्विवेदी और उनका युग।

कि चूँकि उस दृष्टि से संख्या में अधिक निबंध उपलब्ध नहीं होते, इसी लिये उसके क्षेत्र का कुछ विस्तार कर दिया जाय। इस प्रचेष्टा से विचार के लिये निश्चय ही सामग्रियो का अभाव नहीं रह जाता, किंतु निबंधो की कमी की पूर्ति नहीं होती। सच तो यह है कि हिंदी में वैसी गति से निबंधो का विकास हुआ भी नहीं, जैसी गति से अँगरेजी साहित्य में हुआ। उत्तर-द्विवेदी-युग मे अपेक्षाकृत अधिक समर्थ निबंधकार एवं शुद्ध निबंध के दर्शन अवश्य होते हैं, लेकिन यदि युग का प्रवृत्तिगत विचार करें, तो कहना पड़ेगा कि प्रवृत्ति प्रधानतया आलोचनात्मक रही। यूरोप के अन्य अनेक देशो की भाँति हिंदी की सृजनात्मक शक्तियाँ मुख्य रूप से समालोचना और समीक्षा के क्षेत्र में ही नियोजित रही। आलोचना समालोचना का सूत्रपात बहुत पहले हो तो चुका था, परंतु भाषा की सीमित शक्ति के कारण न तो उसकी प्रणाली परिष्कृत थी, न विचारो में वैसा वैज्ञानिक सुलझाव ही था। इसी लिये शक्तिमत्ता के अभाव में यह क्षेत्र खाली सा पडा था। कृतिकारो की प्रतिभा इस अभाव की पूर्ति में नियोजित हुई और फलस्वरूप प्रौढ़ भापा की सभी संभव शैलियों—विचारात्मक, भावात्मक, इतिवृत्तात्मक, व्यंग्यात्मक—की उद्भावना हुई। भाषा मे पात्रता और योग्यता आने के कारण निबंधो के विकास की भी वैसी पृष्ठभूमि तैयार हुई। अगले युग मे इसी लिये निबंधो की संख्यागुरुता चाहे न हो उनके वैविध्य का वैभव, स्वरूप की शुद्धता और प्राणवत्ता की स्पष्ट झलक मिलती है। विषय की अनुरूपता का ग्रहण, भापा की सरलता मे प्रभावोत्पादकता और जीवनमयता, रंग और रूप का वैचित्र्य ये विशेषताएँ स्वभावतया आ जाती हैं। द्विवेदी जी के बाद ही वास्तव में प्रकृत निबधो का एक नया, सबलतर और समृद्ध युग आरंभ होता है।

आलोच्यकाल—१९२०-४० (संवत् १९७७-९६) जिस प्रकार गद्य के सर्वांगीण विकास का स्वर्ण युग है, उसी प्रकार यह हिंदी निबंधो के विकास का महत्वपूर्ण समय है। गद्य के अन्य अंग, उपागो की तरह निबंध भी इस युग में स्वस्थ, सबल और संपन्न हुआ। पिछले युग की जो आंतरिक और बाहरी स्थूलता थी, वह जाती रही और निबंध सूक्ष्म एवं अंतर्मुखी हो गया। विवरण का अनावश्यक आडंबर हटता गया और रूप तथा आत्मा उसकी प्रौढ़ता की ओर बढ़ती गई। दृष्टिकोण की व्यापकता से विषय की विशदता, सुलझे विचारो से शैली की सहजता का स्वयं समावेश हुआ। संक्षिप्तता में ही मार्मिक शक्ति तीक्ष्णता सन्निविष्ट हुई। इसके पीछे समय की गति का भी हाथ रहा है। निबंधो के इस नए मोड़ की अंतःप्रेरणा को गांधीवाद की शालीनता से वेग मिला। पहले महायुद्ध की समाप्ति के बाद भारत की अंतश्चेतना को आत्मनिर्भरता के एक नए आलोक का स्पर्श मिला। सन् १९२० (सं० १९७७) में अँगरेजी साम्राज्यवाद

के विरोध में गांधीजी ने सत्याग्रह का शख फूँका। सन् १९२१–२२ (सं० १९७८–७९) में गांधी इरविन समझौते की विफलता राष्ट्रीय जीवन में नए संकल्प की सप्राणता का संचार कर गई। ऐसी अन्य अनेक घटनाएँ राष्ट्र के अंतर्जीवन में करवट बदल गई जिनका भाव विचार पर एक अजेय और अलक्षित नियंत्रण रहा। कालपुरुष की इस गति से साहित्य का अंतःप्रवाह भी अछूता न रहा। इस युग ने जीवन की समग्रता को देखने की एक नई दृष्टि दी। इस प्रांजल दृष्टि ने साहित्य के विषय का क्षेत्र ही बहुत विस्तृत नहीं कर दिया, वरन् मर्म की नई दिशा और द्वार का भी उद्घाटन किया। भाषा में पात्रता आ रही थी, उसमें सब प्रकार के भावों का उपयुक्त वाहन बनने की योग्यता जुट रही थी, उपयुक्त और नए नए विषयों का संसार भी मिल गया। इसी लिये इस युग में भाव विचार, विषय, शैली के वैचित्र्य का एक ऐसा अनोखा वैभव आया कि हिंदी भारती का भंडार गौरवमय हो उठा।

इस युग के निबंधकारों में अग्रणी हैं आचार्य रामचंद्र शुक्ल। व्यक्तित्व विधायिनी विविधताओं के साथ साथ स्वच्छ चिंतन, प्रौढ़ भाषाशैली और अभिरुचिसंपन्नता सबसे पहले इन्हीं की रचनाओं में प्रत्यक्ष हुई। यह अवश्य है कि इन्होंने समीक्षात्मक और व्यावहारिक आलोचनाएँ ही ज्यादा लिखीं और उस क्षेत्र में नई उद्भावना के नाते हिंदी के निर्माताओं में उनका स्थान अनन्य है। शैली की दृष्टि से उनकी संपूर्ण रचनाओं पर विचार करें तो इस सत्य की अनायास ही प्रतीति होगी कि उनमें हिंदी की पूर्ववर्ती सारी उद्भावित शैलियों का समाहार है और बाद की विविध शैलियाँ किसी न किसी रूप से उनसे प्रभावित हुई हैं। द्विवेदी युग की शास्त्रीय शैली को और भी सप्राण, शक्तिशाली बनाकर शुक्लजी ने गद्यरचना की दिशा में भविष्य की बड़ी संभावनाएँ भर दीं। भावाभिव्यंजना की उपयुक्तता के लिये अर्थगर्भ सशक्त पदावली के संग्रह में उन्होंने बड़ी पटुता दिखाई और इसी उदार संग्राहक वृत्ति के कारण सुस्थिर, गंभीर, प्रभावपूर्ण एवं प्रौढ़ गद्य शैली का स्वरूप निखर सका। उनके शब्दविधान में संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्द, अँगरेजी के अनूदित शब्द और उर्दू के शब्द ऐसे घुले मिले प्रयुक्त हुए हैं कि अभिव्यक्ति को बल और गति मिली है। जब जैसा अवसर, तब तैसी भाषा के प्रयोग की उनकी कुशलता और आदर्श अनुकरणीय है। इस प्रकार हिंदी आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी का व्यक्तित्व अप्रतिम है। उन्होंने स्वयं बहुत कुछ लिखकर हिंदी भारती के भंडार को समृद्ध किया है। उनका कृतित्व केवल इतना ही नहीं, बल्कि आलोचना को नया मान, नया दिशा संकेत देकर आगे का पथ परिष्कृत करते हुए प्रेरणा का संचार किया है।

हिंदी आलोचना के प्रतिष्ठाता और उन्नायकों में शुक्ल जी का अपना स्वतंत्र

और महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्यतया उनकी रचनाएँ विचार और समीक्षा संबंधी हैं। इस कोटि की रचनाओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—साहित्य सिद्धांत और व्यावहारिक आलोचना। दोनों ही श्रेणी की रचनाओं में लकीर की फकीरी के बजाय उनके स्वतंत्र चिंतन की छाप है। अपनी प्रवृत्ति, अपनी पद्धति और अपनी उद्भावना स्थापना है। आज अवश्य हिंदी समीक्षा उस सीमा रेखा को पारकर आगे निकल गई है। जिस मान और क्षेत्र तक उनकी समीक्षा साधना केंद्रित थी, वह भूमि बहुत विस्तृत हो गई है। नए युग की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का सही और संपूर्ण प्रतिबिंब उस कृतित्व दर्पण में नहीं समा सकता। इसी लिये आज ऐसी भी प्रतीति जिज्ञासुओं और विवेचकों को होने लगी है कि समाज शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य विवेचन भी प्रबंध कथानक और जीवन सौंदर्य के व्यक्त रूपों के संग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहनेवाली काव्य धारा का आकलन हम शुक्ल जी में नहीं पाते। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि शुक्ल जी जिस युग के प्रतिनिधि हैं, हम उसको पार कर चुके हैं। वे हमारी साहित्य समीक्षा के बालारुण हैं। किंतु दिन अब चढ़ चुका है और नए प्रकाश और नई उष्मा का अनुभव हिंदी साहित्य समीक्षा कर चुकी है।[1]

शुक्ल जी को हमने आधुनिक युग के निबंधकारों का अग्रणी कहा है। इससे हमारा यह तात्पर्य न समझें कि हम उनकी इन समीक्षात्मक रचनाओं को निबंध कहते हैं। कुशल निबंधकार शुक्ल के दर्शन तो उनके मनोविकार संबंधी रचनाओं में होते हैं। संख्या में ऐसी रचनाएँ यद्यपि बहुत थोड़ी है पर वही उन्हें एक श्रेष्ठ निबंधकार की श्रेणी में सहज ही प्रतिष्ठित कर देती है। हिंदी के लिये वे रचनाएँ वस्तुतः गर्व और गौरव की वस्तु हैं। वे निबंध हैं—भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा और भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध। मूलतया इन निबंधों में भी विचार प्रधानता ही है जो शुक्ल जी की प्रवृत्ति की निजस्वता है, परंतु सहृदय हृदय का सुष्ठु संयोग भी है। इसी लिये उनमें न तो साहित्यिकता की कमी खटकती है, न सरसता की। निबंध के स्वरूप संबंधी विचार और मान्यताएँ शुक्ल जी की अपनी भी रही हैं। और उस मान्यता में उन्होंने विचार को मुख्यतया दी है। यथा, उनके विचार से उत्तम निबंध वह है जिसमें नए नए

१ हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—नंददुलारे बाजपेयी

विचारों की उद्भावना या अभिव्यक्ति हुई हो और वे विचार एक दूसरे से गुँथे हुए हो जिनके पढ़ने से पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचारपद्धति पर दौड़े। वे यह मानते हैं कि निबंध पढ़ने के पश्चात् यह आवश्यक है कि उसकी गहन विचारधारा पाठको को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े। निबंधो मे विचार संबंधी शुक्ल जी के इस विचार का जो साराश है, वह यह है कि निबंधो मे विचारो का बंधान और कसावट जरूरी है। इस बंधान और कसावट की मुख्यतया दो विशेषताएँ होती हैं—भाषा और अर्थ की सशक्तता अर्थात् निबंध में भाषा का जीवंत चमत्कार तथा विचारो की सुगठित शृंखला हो। लेकिन विचारो की शृंखला से उनका यह आशय कदापि नही रहा है कि वह केवल मस्तिष्क का व्यायाम हो। साहित्य के इतिहास के निबंध प्रकरण में उन्होने इस बात को साफ समझाया है कि निबंध रचना के लिये विचार के साथ भाव का, बुद्धि के साथ हृदय का संयोग आवश्यक है। शुक्ल जी यद्यपि विचारप्रौढ़ निबंध को ही श्रेष्ठ मानते हैं तथापि भाव योग की अनिवार्यता से उन्हें इनकार नही, न अपनी रचनाओं में से उसे वह निर्वासित ही कर सके हैं। 'चिंतामणि' की भूमिका में उन्होने स्पष्ट लिखा है कि 'इस पुस्तक मे मेरी अंतर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिये निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को साथ लेकर', और सचमुच ही निबंधो की यह नियमानुकूलता उनके उन निबंधो में है। भावात्मक कोमलता का समावेश उनमें सर्वत्र है।

कई लोग इन निबंधो के प्रस्तुत किए जाने को हिंदी साहित्य मे एक नवीन घटना मानते हैं।[1] इसमे संदेह नही कि ये निबंध बडे ही उच्च कोटि के हैं और इनसे हिंदी निबंध साहित्य की श्री समृद्धि हुई है। परंतु यही प्रचेष्टा पहली और एकमात्र नहीं। मनोविकारो पर लिखने का सूत्रपात भारतेंदु युग में हो चुका था। उदाहरण स्वरूप बालकृष्ण भट्ट के 'आत्मनिर्भरता', प्रतापनारायण मिश्र के 'मनोयोग' माधवप्रसाद मिश्र के 'धृति और क्षमा' शीर्षक निबंधो के नाम लिए जा सकते हैं। ये सभी निबंध मानसिक शक्ति या मनोभावो से संबंध रखते हैं। हिंदी में निबंधो के वे आरंभिक दिन थे। विचार की वैसी परिपक्वता, भाषा की वैसी प्रौढ़ता, समर्थता उन दिनो नही थी। इसी लिये शुक्ल जी के इन निबंधो के आगे वे सामान्य हैं। शुक्ल जी निबंध कसाव, विचारोत्तेजन और तीव्र अंतर्दृष्टि, सभी दृष्टियो से अप्रतिम हैं। मनोभावो मे उन्होने रूप लक्षण, उत्पत्ति और विकास—सर्वांगीण दृष्टि डाली है। लेकिन वह दृष्टि मनोवैज्ञानिक न होकर व्यावहारिक है, विज्ञानी

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल—श्री शिवनाथ

न होकर मानवी है। भाव के धागे में विचारो के मोती की लड़ी पिरोई गई है, इसलिये अनुभूतिशीलता का कही अभाव नहीं है, शास्त्रीय या वैज्ञानिक रूक्षता तथा दुरूहता नही है। सर्वत्र एक साहित्यिक सरसता है। जैसे लोभ और प्रीति निबंध के दो एक स्थल देखे—

'जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नही सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय सौरभ मंजरियो से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नही झाँकते कि किसानो के झोपड़ो के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने ठने मित्रो के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देशप्रेम का दावा करे, तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयो, बिना परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख दुःख के तुम कभी साथी न हुए, उन्हे तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नही बनता। उनसे कोसो दूर बैठे बैठे, पडे पड़े या खड़े खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब किताब की बात नहीं है, हिसाब किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकने हैं, पर प्रेम करनेवाले नहीं। हिसाब किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है।'

'लक्ष्य की एकता से समाज में एक दूसरे की आँखो में खटकनेवाले लोभ की बृद्धि हुई। जब एक ही को चाहनेवाले बहुत से हो गए, तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसंद करते। लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पथर के हो गए। धीरे धीरे यह दशा आई कि जो बाते पारस्परिक प्रेम दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थी वे भी रुपए पैसे की दृष्टि से होने लगी। आजकल तो बहुत सी बाते धातु के ठीकरो पर टहरा दी गई हैं। पैसे से राजसंमान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है, बडे बडे विद्यालयो में अपने लड़के को भेज सकते हैं, न्यायालयो में फीस देकर अपने मुकदमे दाखिल कर सकते हैं और मँहगे वकील बैरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं, राज धर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रो में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से ब्राह्मण धर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिग् धर्म रह गया।"

उपर्युक्त उद्धरणों में हम भाषा की चुस्ती और सहज प्रवाह, विचारो की संघटित परंपरा, व्यंग्य आदि का स्वाभाविक समावेश पाते हैं। निश्चय ही यह शब्द-विधान शुक्ल जी की उन रचनाओ से भिन्न है जो समीक्षा संबंधी हैं। इसमें

विचारों की अटूट शृंखला रहते हुए भी सजीव रोचकता है, क्योंकि अनुभवशीलता है। लेकिन स्वाभाविकतया यहाँ एक प्रश्न उठता है। विचारो की ऐसी सुसंबद्ध अभिव्यक्ति से रचना विषयप्रधान हो उठती है, अतः ऐसी रचना को निबंध की संज्ञा भी दी जा सकती है या नही ? निबंध की विशिष्टता व्यक्तिप्रधानता की है। पाश्चात्य आदर्शों को स्वीकारते हुए स्वयं शुक्ल जी ने निबंध को व्यक्तिप्रधान माना है और, 'चितामणि' के जिसमें ये निबंध संगृहीत हैं, निवेदन में कहा है- इस बात का निर्णय मै विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबंध विपयप्रधान हैं या व्यक्तिप्रधान । जहाँ तक विचारो की सुगठित अभिव्यक्ति का प्रश्न है, निबंध का स्वरूपगत विषयप्रधान हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। किंतु विचारो में व्यक्तित्व की उभार क्या हो ही नहीं सकती ? शैली के विचार से निबंध के अनेक प्रकार निर्धारित किए गए, पर अंततोगत्वा निबंध के दो ही रूप में सभी प्रकारी का समाहार हो जाता है। विचारात्मक और भावात्मक का विचार कर देखे तो यह भी सत्य लगता है कि सिर्फ विचार या सिर्फ भाव वाली रचना होती नहीं। यह वर्गीकरण केवल उस प्रधानता के अनुसार है—अर्थात् विचार के साथ भाव और भाव के साथ विचार संश्लिष्ट होते हैं। किसी मे विचार प्रबल होते हैं, किसी मे भाव और जिसमें जिसकी प्रधानता होती है, वह रचना उसी श्रेणी में रखी जाती है। विषय और व्यक्ति की प्रधानता भी लगभग यही और ऐसी ही होती है— दोनो मे विरोध नही होता। विपय का प्रतिपादन यदि निजस्वता की छाप छोडता है तो वह वैयक्तिक वैशिष्ट्य से परे नही हो सकता। दूसरे, शुक्ल जी सामान्यतया विषय और व्यक्तित्व, दोनो को समान स्थान देने के पक्ष मे थे। फिर भी वैयक्तिकता की निर्बाध गति के जो परिणाम होते हैं, इनके निबंधो में वह है ही नही, ऐसी बात नही। वैयक्तिकता का एक प्रधान लक्षण है विषयांतर, एक से अबाध दूसरे प्रसग में पहुँच जाना या प्रथम पुरुष एक बचन से आत्माभिव्यक्ति करना शुक्ल जी के निबंधो में इसके भी परिपोपक स्थल दुर्लभ नही हैं। श्रद्धा एवं भक्ति निबंध में प्रसंगवश संगीत, चित्रकला और कारीगरी की चर्चा आ गई है। एक स्थान पर वे ज्ञानेंद्रिय के अनुभवो पर विचार करते हुए प्रथम पुरुष मे नितात निजी बात भी कह गए हैं—'रात्रि में विशेषतः वर्षा की रात्रि में झींगुरो और झिल्लियो के झंकारमिश्रित सीत्कार का बँधा तार सुनकर मै यही समझता था कि रात बोल रही है।' विचारों की स्पष्टता और सरसता के लिये ऐतिहासिक, पौराणिक या अन्य प्रकार के अनेक कथाप्रसंगो की अवतरणा में हमें एक बात यह देखने को मिलती है कि वे कथाएँ बड़ी प्रचलित और लोकप्रिय होती हैं, जिससे विषय स्पष्ट हो सके, दुरुह न बन जायँ। यहाँ तक कि यदा कदा उन्हे वैज्ञानिक तत्वो का भी उल्लेख करना पड़ा है तो ऐसे ही तत्वो का किया है जो सर्वजन बोध्य है। जैसे— सामाजिक महत्व के लिये आवश्यक है कि या तो आकर्षित हो या आकर्षित करो।

जैसे इस आकर्षण विधान के बिना अणुओ द्वारा व्यक्त पिंडो का आविर्भाव नहीं हो सकता, वैसे ही मानव जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।

मीठे व्यंग्य और छेड़छाड़ की सजीवता भी सर्वत्र है। एक निबंध में प्रसंङ्गवश वे कहते हैं— 'मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुंदर छोटी सी पहाड़ी पर है। नीचे एक छोटा सा जंगल है, जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्व विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हमलोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारो ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है। इस लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा—यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे। मैं चुप हो गया। समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।' व्यंग्य विनोद के ऐसे छींटे उनकी सब प्रकार की रचनाओ में मिलते हैं। अवसर या प्रसंग आने से शुक्ल जी कभी चूकते नहीं पाए गए। क्या व्यक्तिगत जीवन में और क्या रचना में।

शुक्ल जी की आदर्श निष्ठा, लोकमंगल की भावना इस कोटि के निबंधो में भी है। आदर्शों का पृष्ठपोषण निबंधों के सहज स्वरूप को बोझिल बनाता है। इन शुद्ध निबंधो में भी उसकी छूत लगी है और इसीलिये कुछ विचारक इन्हे विशुद्ध आत्म निबंध कबूल करने में हिचकते हैं। 'रामचंद्र शुक्ल के पास भाषा शैली विचारो की सुसूत्रता, खंडन मंडनात्मक वाद विवादपूर्ण विषय प्रतिपादन आदि गुण होते हुए भी उनके निबंध शुद्ध आत्म निबंधो की कोटि में नहीं आ पाते इसका कारण उनका कसा हुआ मर्यादावादी दृष्टिकोण था। एक कुशल निबंध लेखक के लिये यह आवश्यक है कि वह मर्यादा को कुछ तोड़े भी, कुछ उन्मुक्त उड़ान ले सके। परंतु मैथ्यु आर्नल्ड की भाँति शुक्ल जी अपने निबंधो में अपनी शुद्धिवादिता के आग्रह से बराबर चिपटे रहे और परिणाम स्पष्ट है कि उनके निबंधों में वह काव्यात्मकता नहीं आ पाई, वह सहज विश्रब्धालाप वहाँ लक्षित नहीं होता।'[1] फिर भी उनसे भावात्मकता को वैसी आँच नहीं आई है। शैली की गंभीरता को भी भावुकता रोचक बना देती है। व्यंग्य विनोद से जीवंतता और उदार भावना से मार्मिकता का समावेश हो जाता है। जैसे, प्रसंगवश देशप्रेम की चर्चा में कैसी हृदयस्पर्शिता आ गई है—'रसखान तो किसी की

[1] हिंदी निबंध—प्रभाकर माचवे।

लकुटी अरु कामरिया पर तीनो पुरो का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर दे प्रेम की दुहाई देनेवालो में से कितने अपने थके माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ो और धूलभरे पैरो पर रीझकर या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे ? मोटे आदमियो ! तुम जरा सा दुबले हो जाते, अपने अंदेशे से ही सही, तो न जाने कितनी ठठरियो पर मांस चढ़ जाता।'

विषय के अनुरूप उपयुक्त भाषाशैली को अपनाने की अनोखी कुशलता शुक्ल जी की अपनी विशेषता है; और इस प्रणाली ने भावी प्रेरणा को संजीवित किया है। शास्त्रीय पद्धति की रचनाओ में सांगोपांग विवेचन के लिये परिष्कृत पदावली अपनाई गई है और निबंधो में मुहावरेदार चलती भाषा। भावो की स्पष्टता के लिये मनोविकार संबंधी निबंधो में तुलनात्मक शैली का ग्रहण किया गया है। भाषा सरल है। इनमें तद्भव शब्दो की प्रधानता है और मुहावरो का सुंदर प्रयोग है। इनमें प्रवाह और जिंदादिली है।

गुलाब राय ने कुछ बड़े ही अच्छे निबंध लिखे। इनकी साहित्यसाधना की दो दिशाएँ रही हैं। समालोचना और निबंध। काव्य के रूप, हिंदी काव्य-विमर्श, सिद्धांत और अध्ययन—ये इनकी साहित्यसमीक्षा संबंधी पुस्तके हैं। इनमे संग्राहक वृत्ति अधिक है, स्वतंत्र चिंतन और विचार नहीं के बराबर। इनकी साहित्यसेवा द्विवेदी युग से आरंभ होकर आजतक चल रही है, परंतु पद्धति और दृष्टिकोण वही पुराना है, उसपर नए युग के बाहरी भीतरी आदोलनो का कोई प्रभाव नही पड़ा। एक ही गति से चलनेवाली गद्यशैली, न चढ़ाव, न उतार। हाँ, शैली सुबोध जरूर होती है। इसी लिये आलोचक गुलाबराय उतने सफल नही हैं, जितने निबंधकार। निबंधो मे उनकी प्रतिभा अपेक्षाकृत अधिक कृतित्व दिखा सकी है। इनके कई निबंधसंग्रह हैं—फिर निराश क्यो, मेरी असफलताएँ, मन की बात। कुछ निबंधो मे विचार ज्यादा उभरा है, कुछ में भाव। फिर निराशा क्यो, कुरूपता, कर्तव्य संबंधी रोग, चिकित्सा और निदान, समाज और कर्तव्यपालन आदि पहले संग्रह के निबध हैं। लेकिन जहाँ तहाँ संदर्भशीलता और नीत्युपदेश का पुट है और विवेचन पद्धति में मनोवैज्ञानिक दृष्टि की झलक मिलती है। इससे निबंध के सहज सौदर्यप्रवाह को आघात लगता है। निबंध के लिये जिस कसाव की महत्ता सर्वोपरि है, वह इनमें नहीं है। इतना ही है कि स्वाभाविक आत्मीयता का आभास अवश्य मिलता है। जैसे, सेवाधर्म का एक संदर्भ देखिए—

'सेवाधर्म द्वारा जितना उपकार उपकृत पुरुष का होता है, उससे अधिक उपकार उपकारी का होता है। कर्तव्यपालन और आलस्यत्याग की बड़ी भारी

प्रसन्नता होती है। इस प्रसन्नता के अतिरिक्त मनुष्य में सहृदयता के कोमल भावों की वृद्धि होती है। दया और क्षमाभाव उपकारी और उपकृत दोनों को पवित्र करता है। उदार मनुष्य अपनी आत्मा को विस्तृत रूप मे देखने लगता है। जिन लोगों की सेवा की जाती है, वे आत्मीय से हो जाते हैं। उदार मनुष्य सच्चा वीर बन जाता है। स्वार्थी मनुष्य कायर होता है। सेवा त्याग का मार्ग है। जो मनुष्य त्याग नहीं कर सकता, वह वीर नही। इसी लिये साहित्य के ग्रंथो मे वीररस के वर्णन मे दयावीर और धर्मवीर को भी स्थान दिया गया है। सेवा से विनय भाव बढ़ता है और विनय ही मनुष्यता है।'

छोटे छोटे वाक्य। सरल शब्दावली। लेकिन जैसे कोई शक्ति नहीं, गति नहीं। 'मेरी असफलताएँ' में संगृहीत निबंधों मे बल्कि निबंधत्व बहुत अंशों में है। उनमे आत्मपरकता है, जीवनसंबंधी घटनाओं के चित्र हैं। शिष्ट, संयत और सूक्ष्म परिहास का पुट है। ऐसे कई निबंध उनके अच्छे व्यक्ति निबंध की कोटि मे रखे जा सकते हैं। ऐसे निबंधों के शीर्षक भी उपयुक्त हैं—खट्टे अंगूर, आप बीती, मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ, मेरा मकान, एक स्केच। सब में आत्मव्यंजना है। व्यंग्य और परिहास की जिंदादिली है, भाषा मे संजीदगी है। जैसे—

"खैर आजकल उसका (भैंस का) दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी न पिला सकने की विवशता की झूंझल होते हुए भी (सुरराज इंद्र की तरह मुझे भी मठा दुर्लभ हो जाता है—तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्) उसके लिये भूस लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यजनावाद की चर्चा और कहाँ भुस का भाव। भुस खरीदकर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत से लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं। कभी कभी गधे के साथ कदम मिलाए रखना कठिन हो जाता है, लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनद आता है जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में। बहुत से लोग तो जीवन से छुट्टी पाने के लिये कला का अनुसरण करते हैं, किंतु मै कला से छुट्टी पाने के लिये जीवन का अनुसरण करता हूँ, कभी नाव लढ़ी पर, कभी लढ़ी पर नाव।[1]

शिवपूजन सहाय भाषा के जादूगर माने जाते हैं। उनकी मस्ती और जिंदादिली, उनके विशद साहित्यानुभव और विशाल एव पैनी दृष्टि के प्रसाद हिंदी की निधि हैं। मतवाला, आज, गंगा, हिमालय आदि अनेक पत्र पत्रिकाओं के संपादन काल में उन्होंने बड़े ही मार्के के बहुत से निबंध लिखे। काशी के 'आज' में

[1] मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ।

शिव नाम से उन्होने लगातार कुछ निबंध लिखे थे, उनका एक संग्रह 'कुछ' नाम से अलग प्रकाशित हुआ था। निबंधो मे शिवजी की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। वे हैं कि विषय के महत्व को वे महत्व नही देते, कोई भी विषय, कुछ भी विषय उनकी रोचक रचनाप्रणाली से महत्वशाली हो उठता है। परिहास और व्यंग्य के छीटो से अपूर्व रंजकता का समावेश करने में वे कुशल हैं। भाषा में मुहावरो की मीनाकारी और लोकोक्तियो के पुट से अनोखा चमत्कार पैदा कर देते हैं। उसमे (भाषा मे) माधुर्य एवं ओज का अपूर्व समेलन स्थापित दिखाई पड़ता है। प्रातीयता का प्रभाव इनकी भाषा शैली में तनिक भी न मिलेगा। इनकी सामान्य शैली परिष्कृत, सतर्क तथा परिमार्जित है। उनमें विषयानुकूल भाषा के उपयोग करने की अच्छी कुशलता है। यही कारण है कि इनकी रचनाओ में चमत्कार, आकर्षण और प्रभाव रहता है। संख्या में शिवजी के निबंध बहुत अधिक अवश्य नहीं हैं, पर जो भी थोड़े से हैं, उनमें उनकी निजता है, आत्मव्यंजना है, भाषा का सुंदर शिल्प विधान है।

इनकी भाषा शैली के दो रूप हैं—दीर्घ समासात पदावली वाली सानुप्रासिक भाषा और चलती हुई बामुहावरा। दोनो में ही विशुद्धता का विचार है। सानुप्रासिक भाषा का इन्हे मोह सा रहा है और बहुत बार वैसी भाषा प्रयासलब्ध, कृत्रिम तथा ऊब लानेवाली बन गई है। जैसे, 'सौंदर्य गरिमामय मुखारविंद, मल्लिका-वल्लरी वितानो, अलि अवलि केलिलीला, मंजुल मंजरिकलित तरुवर की शाखाओ पर शान से तानकर तीर मानेवाली काली कलूटी कोयल, पल्लवावगुंठन में मुँह छिपाए बैठी हुई इस अनुरूपा सुंदरी को देख रही थी। शीतल सुरभित समीर विलुलित अलकावली तीर डोल डोलकर रस घोल जाता था। चंचल पवन अंचल पर लोट लोट कर अपनी विकलता बताता था। धीरे धीरे कुंचित कुंतल-राशि, नितंबावरोहण करती हुई, आपाद लटक रही थी। यद्यपि निराभरण शरीर पर केवल एक वस्त्र ही शेष था, तथापि वह शैवाल जल जटित सुंदर सरोजिनी सी सोहती और मनमोहती थी।' किंतु हर जगह ऐसी अनुप्रासयुक्त भाषा अनुपयुक्त ही लगती हो, ऐसा नहीं। शिवपूजन सहाय की इस अलंकारपूर्ण शैली में उस युग की प्रवृत्ति छिपी हुई है। उनके स्वाभाविक और विषयानुकूल उपयुक्त प्रयोग के भी उदाहरण विरल नहीं है। साथ ही यह सिफत है कि ये चुस्त भाषा के भी वैसे ही कुशल और धनी हैं। कम से कम इनकी भावावेश की शैली में बड़ा ही प्रवाह और प्रभाव है। भाषा की विशदता और शक्ति का अपूर्व परिचय ऐसे स्थलो में मिलता है। जैसे—

'जिस मेवाड़ की मान मर्यादा बनाने के लिये, हमारी माताओ ने, अपनी गोद के लाखों लाल लुटा दिए हैं, उसी मेवाड़ की गौरवान्वित गद्दी को सनाथ करनेवाला राणा हमीर और राणा सांगा तथा हिंदू-कुल-सूर्य प्रताप का वंशधर क्या

राज्यनाश के भय से जंगलों में भटकते फिरने की शंका से शरण में आई हुई एक अबला को आत्मघात करने का अवसर देगा ? यदि ऐसा होगा, तो उसी दिन वीररक्ताभिषिक्त मेवाड़भूमि रसातल में पैठ जायगी, सूर्य चक्कर खाकर डूब जायगा, भूमंडल भी तूफान से घिरे हुए जहाज की तरह डगमगा उठेगा, तारे एक से एक टकराकर चूर्ण हो जायँगे, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर भूलोक को डुबो देगा, चाँद से चिनगारियाँ बरसने लगेंगी और अरावली का हृदय भीषण ज्वालामुखी के प्रस्फोट से एकाएक फट पड़ेगा '

तृतीय खंड

पत्रपत्रिकाओं का विकास : आलोचना का उदय

लेखक

डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश', एम० ए०,

पी० एच० डी० (लंदन)

प्राचीन भारत में समाचारपत्र

प्राचीन भारत में समाचारपत्र जैसी कोई चीज नही थी। कभी कभी ऐसी राजकीय घोषणाएँ होती थी, जिनको डुग्गी पीटकर जनता तक पहुँचा दिया जाता था। ऐसी भी राजकीय घोषणाएँ होती थीं जिनको शिलाखंडो, स्तंभो अथवा मंदिरो पर उत्कीर्ण करवा दिया जाता था। अशोक के शिलालेख इसी कोटि की घोषणाएँ हैं। मुगल काल में एक किस्म के समाचार पत्रो की चर्चा है। पानीपत के युद्ध में बाबरशाह अपने खीमें बैठकर अखबार पढ़ते थे। शाहजहाँ ने आगरे के मुहर्रम के दरबार में कहा था कि – 'अखबार में यह पढ़कर कि इलाहाबाद की हिंदू प्रजा में विद्रोह के लक्षण देख पड़ते हैं।' सम्राट औरंगजेब की मृत्यु औरंगाबाद में हुई थी, उनकी बीमारी की खबर और ब्यौरा फारसी के 'पैगामें हिंद' नामक अखबार में निकलता था। किंतु इन अखबारो का संबंध साधारण जनता से नहीं था। ये समाचारपत्र हस्तलिखित होते थे और इनको निकालनेवाले 'वाकयानवीस' कहलाते थे। इनका भी प्रकाशन नियमित रूप से नहीं होता था। वस्तुतः ये विविध दरबारो के वाकयातो को इकठ्ठा करके कभी कभी हस्तलिखित रूप में निकाले जाते थे। महत्वपूर्ण जिलोमे 'वाकयानवीस' रखे भी जाते थे जो विशेष घटनाओ के समाचार संगृहीत कर हस्तलिखित पत्र निकालनेवालो के पास भेजने थे। सवारो, कारवाँओ और हरकारो द्वारा समाचार भेजे जाते थे। समाचारो में राजदरबारो, दरबारियो तथा उन्ही से संबंधित घटनाओ का संग्रह रहा करता था। इन समाचारो से दरबारो और दरबारियो की गतिविधि का पता लगता था। कभी कभी तो इन हस्तलिखित समाचारो के आधार पर ही राजकीय निर्णय तक होते थे। सरकारी घोषणाओ पर भी इन हस्तलिखित समाचारपत्रो का प्रभाव पड़ता था।

मुगलो के अंतिम दिनो मे भी इन हस्तलिखित समाचारपत्रो का प्रचलन था। बहादुरशाह के काल में हस्तलिखित 'सिराज उल अखबार' प्रसिद्ध था। दरबारो के प्रभावशाली अमीर उमरा भी हस्तलिखित अखबार निकालते थे। इनको 'अखबारनवीस' कहते थे। अवध के नवाबो के यहाँ ऐसे सैकडो 'अखबारनवीस' थे। किंतु न तो ये छपते थे, न इनका प्रकाशन नियमित था और जो चाहे इन्हें खरीद भी नहीं सकता था। इसलिये ठीक अर्थों में इनको समाचारपत्र कहना उपयुक्त नही है।

प्रेस और समाचार

समाचारपत्र और प्रेस का अनिवार्य संबंध होता है। बिना प्रेस के समाचारपत्र चल ही नहीं सकते। भारतवर्ष में सब से पहले प्रेस की स्थापना ईसाई मिशनरियो ने की। उन्हें अपने धर्मप्रचार के लिये किताबे छापनी थीं। अतः सबसे पहला प्रेस गोआ में सन् १५५० ई० में और दूसरा उसी वर्ष तमिलनाद में स्थापित हुआ। तीसरा प्रेस सन् १६०२ ई० में विपिनकोटा, मालाबार में खुला। इन सभी की विशेषता यह थी कि स्थानीय लिपियो के टाइप तैयार किए। सन् १७१२ ई० में तनजोर जिले के तिनकोवर स्थान में डेनमार्क के मिशनरियो ने भी प्रेस खोला। १७७६ ई० में कलकत्ते में अँगरेजो का एक सरकारी प्रेस भी स्थापित था। किंतु इनमें से किसी भी प्रेस में समाचार पत्र नहीं छपता था।

शिक्षा की व्यवस्था

ईसाई धर्मप्रचारक मिशनरियो ने जिस प्रकार अपने धर्मप्रचार के लिये प्रेस खोले, उसी प्रकार उन्होने शिक्षाप्रचार का भी कार्य किया। उन्होने सीरामपुर में कालेज खोला। कलकत्ता में डफ कालेज, हेयर स्कूल, विशप कालेज आदि शिक्षण संस्थाएँ मिशनरियो ने ही खोलीं। ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ में जब बंगाल का शासन आ गया, तब जनता के आपसी झगड़ों का फैसला करने की जिम्मेवारी भी उसी पर आ गई। इसके लिये हिंदू धर्मशास्त्र और मुसलिम शरह की जानकारी आवश्यक थी। अतः वारेन हेस्टिंग्ज ने १७८० ई० मे मुसलिम शिक्षा के लिये मदरसा कायम किया। बनारस पर अधिकार कर लेने के बाद वारेन हेस्टिंग्ज ने ही वहाँ संस्कृत शिक्षा की व्यवस्था के लिये क्विंस कालेज की स्थापना की, जिसमें हिंदू धर्मशास्त्रो के सभी अंगो की शिक्षा की व्यवस्था थी। १८२४ ई० में सरकार ने कलकत्ते में संस्कृत कालेज की स्थापना की। शिक्षाप्रचार के साथ बंगाल में गौडीय समाज, आत्मीय सभा, धर्मसमाज और ब्रह्मसमाज आदि सामाजिक संस्थाओं की स्थापना हुई। समाजसुधार के आंदोलन आरंभ हो गए। कलकत्ते के हिंदू समाज में समाजसुधारक और परंपरावादी, दो दल हो गए। ईसाइयों में अपने धर्मप्रचार की प्रवृत्ति पहले ही थी, इस लिये प्रेस की स्थापना भी हो चुकी थी। अब इन आंदोलनो ने समाचारपत्रो की भूमि भी बना दी।

समाचारपत्र का आरंभ

भारतवर्ष में सबसे पहला समाचारपत्र जनवरी १७८० ई० में अँगरेजो द्वारा, अँगरेजी भाषा में और उनकी अपनी आर्थिक प्रतिद्वंद्विता के कारण निकला।

इस संबंध में संपादकाचार्य पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है—'उस समय कंपनी के सिवा भारत के व्यापार से मालामाल होने के लिये बहुत से अँगरेज स्वतंत्र रूप से व्यापार करने बंगाल में आए थे। इन्होने देखा कि कंपनी के कर्मचारी उसकी आड़ में अपना स्वतंत्र व्यापार चलाते हैं और अन्य लोगों के व्यापार में बाधा डालते हैं। इस बाधा का निवारण करने के दो उपाय थे—एक इस देश के लोगो में शिक्षा का प्रचार करके लोकमत जाग्रत करना और दूसरा सब स्वतंत्र अँगरेज व्यापारियो का ऐसा संगठन करना, जिससे अन्याय यदि पूर्ण रूप से बंद न हो जाय, तो कम तो अवश्य ही हो जाय। पहला उपाय समयसाध्य था, इसलिये दूसरे उपाय की ओर ही ध्यान दिया गया। इस दिशा में पहला काम विलियम बोल्ट नाम के व्यापारी ने 'भारतीय विषयो पर विचार' नामक ग्रंथ लिख कर किया। दूसरा उपाय जेम्स आगस्ट हिकी ने 'बेंगाल गेजेट आव कैलकेटा जेनरल एडवाइजर' नामक पत्र प्रकाशित करके किया। हिकी ने पत्रप्रकाशन के पहले यह सोच लिया था कि उसके इस कार्य का परिणाम क्या होनेवाला है, इसलिये उसने पहले ही अंक में लिखा—'मुझे अपने मन और आत्मा के लिये स्वतंत्रता मोल लेने को अपने शरीर को दास बनाने में प्रसन्नता होती है।' पत्र के नाम के नीचे छपा था–'राजनीतिक और व्यापारिक साप्ताहिक खुला तो सब पार्टियो के लिये है, पर प्रभावित किसी से नही है।'[1] हिकी का यह 'बेंगाल गेजेट' वारेन हेस्टिंग्ज की नीति का विरोधी था। उन दिनो समाचारपत्रसंबंधी कोई नियम नही था, अतः मौका पाकर वारेन हेस्टिंग्ज ने हिकी के इस पत्र का गला घोंट दिया। इसके साथ ही समाचारपत्रो के नियंत्रण के लिये कड़े नियम बनाए।

सन् १७८० से '९० ई० तक कलकत्ता से हिकी के 'बेंगाल गेजेट' के अतिरिक्त और भी चार पत्र निकले—'इडिया गेजेट' (१७८०), 'कैलकटा गेजेट' (१७८४), 'बेंगाल जनरल' (१७८५) और 'इंडियन वर्ल्ड' (?)। इसी के आसपास 'ओरियंटल मैगजीन' नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित हुआ। इसी अवधि में मद्रास से 'मद्रास क्रानिकल' (१७८५), 'बंबई हेरल्ड' (१७८९) आदि सब मिलाकर लगभग पंद्रह पत्र प्रकाशित हुए। किंतु सभी अँगरेजी में निकले और सभी पर अँगरेजो का नियंत्रण था।

देशी भाषा के पत्र और विचारसंघर्ष

जिस प्रकार मिशनरियो ने धर्मप्रचार के लिए स्कूल कालेज खोले, छापाखानो की स्थापना की, उसी प्रकार उन्होने देशी भाषा में समाचारपत्र भी

[1] समाचारपत्रों का इतिहास, पृ० २८

निकाला। सिरामपुर के बेपटिस्ट मिशनवालों ने सन् १८१७ ई० में 'दिग्दर्शन नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया। इसका संपादन भी कोई अँगरेज सज्जन करते थे। इसके कुछ ही दिनो बाद बंगला भाषा में दो पत्र निकले कलकत्ता से 'बेंगाल गजेट' इसका हिकी के गजट से कोई संबंध नहीं था, और सिरामपुर से समाचार दर्पण'। इस समय राजा राममोहन राय शिक्षित, उदार और प्रगतिशील विचार के बंगालियो के नेता थे। वे अँगरेजी, फारसी, संस्कृत और बँगला के प्रकांड विद्वान् थे। ईसाई धर्म के आक्रमण का उन्होने विरोध किया। इसी सघर्ष के प्रवाह में पहले तो बँगला में 'संवाद कौमुदी' (१८२०) तथा बाद में अँगरेजी और बंगला में 'ब्राह्मेनिकल मैगेजीन' का प्रकाशन हुआ। आगे चलकर अपने विचारो के प्रचार के लिये राजा साहब ने फारसी भाषा में 'मीरात-उल-अखबार' भी निकाला। विचारो के तीव्र संघर्ष के कारण कलकत्ते में दो दल हो गए। एक उदार विचारवाले प्रगतिशील सुधारको का दल था, जो समाज और राजशासन दोनो में सुधार चाहता था। इस दल के नेता राजा राममोहनराय थे। इस दल के विचारो का प्रचार 'संवाद कौमुदी', कैलकटा जनरल' और 'मीरात-उल-अखबार' द्वारा होता था। दूसरा दल कट्टर, रूढ़िवादी, सुधारविरोधी और सरकारी रीतिनीति के समर्थको का था। इसके विचारो का प्रचार 'समाचार चंद्रिका', 'जानबुल' और 'एशियाटिक जरनल' द्वारा होता था। धीरे धीरे उदार नीतिवाले समाचारपत्रो का प्रभाव बढ़ने लगा। भारत में कंपनी सरकार और इंगलैंड में कंपनी के डायरेक्टरों में घबराहट पैदा हो गई। समाचारपत्रों के नियंत्रण का उपाय सोचा जाने लगा। ४ अप्रैल १८२३ ई० को ऐडम ने सुप्रीम कोर्ट के सामने समाचारपत्रो के नियंत्रण के प्रस्ताव रखे। उन सबपर विचार होने के बाद गवर्नर जेनरल ने रेग्युलेशन जारी किए। इनके अनुसार सरकारी अनुमति के बिना पुस्तको, कागजों का छापना और प्रेस का उपयोग करना निषिद्ध ठहराया गया। बिना लाइसेंस के चलनेवाले प्रेसो को जब्त कर लेने और उन्हें सरकार की मर्जी के मुताबिक बेच देने का भी नियम बना। लाइसेंस के लिये सरकार के पास दरखास्त देना और उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करना सरकार पर छोड़ा गया। यह ऐसा काला कानून था कि राजा राममोहनराय जैसे संतुलित विचार के व्यक्ति ने इसके प्रतिवाद का नेतृत्व किया। उन्होंने ५०० व्यक्तियो के हस्ताक्षर के साथ सुप्रीम कोर्ट को प्रतिवाद पत्र भेजा। किंतु परिणाम कुछ न निकला। सबसे पहला वार राजा साहब के 'मीरात-उल-अखबार' पर ही हुआ। राजा साहब ने प्रतिवाद में अखबार बद कर दिया। दूसरा वार 'कैलकटा जनरल' पर हुआ। उसके सह संपादक सेंडर्स आॅरनाट निर्वासित कर दिए गए। कुल मिलाकर यह प्रगतिशील सुधारक दल पर आक्रमण था।

प्रथम उत्थान

हिंदी समाचारपत्रों का आरंभ

सरकार ने उदार विचार के सुधारक समाचारपत्रो को बन्द तो किया किंतु उन्होने जिन विचारो का प्रचार जनता में किया था उसके प्रभाव को न रोका जा सका। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध सामाजिक आंदोलन छेड़ दिया था। यह बड़ा नैतिक और उदार आदोलन था। सरकार पर उसका प्रभाव पड़ा और सरकार ने एक कानून बनाकर सतीदाह की प्रथा पर रोक लगा दी। इससे नए विचारो के प्रसार को बल मिला। इस समय लार्ड एमहर्स्ट भारत के गवर्नर जनरल थे। उसके वैयक्तिक व्यवहार के कारण प्रेस को थोड़ी स्वतंत्रता मिली। बंगाल, मद्रास और बंबई में नए नए पत्र निकले। देशी पत्रकारिता की दृष्टि से यह काल बडे महत्व का था। हिंदी का पहला पत्र 'उदंत मार्तण्ड' ३० मई १८२६ ई० को निकला। इसके प्रथम पृष्ठ पर लिखा था—

उदंत मार्तण्ड

अर्थात्

दिवाकान्तकान्ति विना ध्वान्तान्तं न चाप्नोति तद्वज्जगत्यज्ञलोकः।
समाचारसेवामृते ज्ञप्तमाप्तुं न शक्नोति तमाकरोमीति यत्नः॥

१ अंक ज्येष्ठ बदि ९ संवत् १८८३। ३० मे १८२६ साल भौम।

इसके प्रथम अक के अंत मे यह श्लोक है—

युगुलकिशोरः कथयति धीरः सविनयमेतत् सुकुलजवंशः।
उदिते दिनकृत सति मार्तण्डे तद्वत् विलसति लोक उदन्ते॥

पत्र के सबसे अंत मे छपा है—

'अंक उदन्त-मार्तण्ड कोल्हूटोला के अमड़ातला की गलि के ३७ अंक की हवेली के मार्तण्ड छापा मे हर सतवारे मंगल को छापा होता है जिनको लेने का काम पड़े वे उस छापाघर में अपना नाम भेजने हि से उनके समिप भेजा जायगा उसका मोल महिने में दो रुपया जिन्होने सहि किई हे जो उनके पास न पहुँचे (तो) उस छापाखोने में कहला भेजने हि से तुर्त उनके पास भेजा जायगा।'

भारतीय नवजागरण का आरंभ कलकत्ते से ही हुआ। कलकत्ते में जीवि-कार्जन के लिये हिंदी भाषाभाषी भी रहते थे। उन्ही में कानपुर निवासी पं० युगलकिशोर शुक्ल भी थे। ये कलकत्ते की सदर दीवानी अदालत में प्रोसिडिंग रीडर थे; किंतु बाद में वहीं वकालत करने लगे। १६ फरवरी १८२६ ई० को

सरकार ने उन्हें 'उदंत मार्तण्ड' नामक पत्र निकालने का अधिकार पत्र दिया था। इस प्रकार 'उदंत मार्तण्ड' हिंदी का सर्वप्रथम समाचारपत्र है और इसको निकालने का श्रेय पं० युगलकिशोर शुक्ल को है। 'उदंत मार्तण्ड' की अल्पकालीन सफलता और लोकप्रियता के कारण अन्य व्यक्तियों को भी हिंदी में पत्र निकालने की प्रेरणा मिली। कंपनी सरकार द्वारा लगाए गए कुछ प्रतिबंधों के रहते हुए भी लोग अपने भावों और विचारों को प्रकट करने के इतने अच्छे और उपयोगी साधन को बनाए रखना चाहते थे। उनका उत्साह मंद न पड़ा और अनेक स्थानों से हिंदी में समाचारपत्र निकले। इनका क्रमबद्ध इतिहास तो नहीं मिलता, किंतु एक रूपरेखा मिलती है। इसी का संक्षिप्त विवरण यहाँ देने का प्रयत्न किया जायगा।

राजा राममोहन राय ने अंगरेजी 'हिंदू हेरल्ड' को देशी रूप भी दिया। बँगला, हिंदी और फारसी का मिलाजुला यह पत्र 'बंगदूत' कहलाया। 'बंगदूत' साप्ताहिक के प्रथम वर्ष के संपादक नीलरतन हालदार थे। यह रविवार को निकलता था। इसका पहला अंक १० मई १८२९ ई० को निकला था। 'बंगदूत' के हिंदी अंश के ऊपर निम्नलिखित पद छपता था—

'दूतनि की यह रीति बहुत थोड़े में भाखे।
लोगनि को बहु लाभ होय याहि तें लाखें॥
बंगाला को दूत पूत यहि वायु को जानो।
होय विदित सब देश क्लेश को लेश न मानो'॥

इस पत्र की विशेषता इसी के शब्दों में इस प्रकार थी—

'भारत खंड को ठकुरई और राजनीति और बनज बैपार और विद्याभ्यास के प्रकार और सब देश के समाचार और देशांतरीय की विद्या और सुघड़ता के प्रसंगनी के शास्त्रार्थयुक्त यह समाचार पत्र बंगला और काम पड़े तो फारसी और हिंदी भाषा में प्रति सतवारे छपैगा जिसकर के बहुत भाँति के प्रयोजन के मूल सजीव होने की संभावना है। अधिक करके इस देश की अरघौती इस देश और पछाही बैपारी का उपकार विचार नगर कलकत्ते की बड़ी बाजार के आवते बानों की अरघौती बाजार भाव बंगले औ देवनागर अक्षरों में छपैगी जिस उपलक्ष से बैपारी लोग अपने गौं के बानों का भाव समय पर जान सूचित हो लेने बचने का जांच विचार कर अपने अपने धंधे की बढ़ी से बढ़ बढ़ी के भागी हुआ करें और इस समाचार के साथ अंगरेजी भाषे और एक में (?) समाचार ऊपर लिखे ब्यौरों के साथ छपैगा।'

'बंगदूत' अल्पायु निकला। बारहवीं संख्या के बाद ही यह बंद हो गया।

१८४५ ई० में 'बनारस अखबार' का प्रकाशन हुआ। हिंदी प्रदेश से निकलनेवाला यह पहला हिंदी पत्र माना जायगा। 'बनारस अखबार' हिंदी पत्र होने पर भी भाषा की दृष्टि से उर्दू का ही समझा जाना चाहिए। उसमें प्रकाशित होनेवाले लेख देवनागरी लिपि में छपते थे अवश्य, किंतु इसकी भाषा उर्दू रहती थी। ऐसा मालूम पडता है कि इस तरह का प्रयत्न और प्रयोग जान बूझकर किए जा रहे थे। इन सबका उत्तरदायित्व अखबार के मालिक शिवप्रसाद सितारेहिंद पर था, जो हिंदुस्तानी नाम की नई भाषा चलाने के पक्षपाती थे तथा जिनकी निज की भाषा हिंदी मे अधिक उर्दू होती थी। यद्यपि बनारस अखबार के मुख्य पृष्ठ पर जो उद्देश्यमूलक पंक्तियाँ छपती थीं, उनसे इस तरह की किसी बात का पता नही चलता। ये पंक्तियाँ यो हैं—

> सुबनारस अखबार यह शिवप्रसाद आधार।
> बुधि विवेक जन निपुन को चितहित बारंबार॥
> गिरजापति नगरी जहां गंग अमल जलधार।
> नेत शुभाशुभ मुकुर को, लखो विचार विचार॥

किंतु पत्र के अंदर प्रयुक्त भाषा ऐसी नहीं है। उदाहरण—

'यहाँ जो पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान कीट साहब बहादुर के इहतमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है इसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है। अब यह मकान एक आलीशान बन्ने का निशान तैय्यार हर चेहार तरफ से हो गया बल्कि इसके नकशे का बयान पहिले से मुन्दर्ज है, सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बडी तदेही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है। देखकर लोग उस पाठशाला के कितने के मकानो की खूबियां अक्सर बयान करते हैं और उसके बनने से खर्च का तजबीज करते है कि जमा से ज्यादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है सो वह सब दानाई साहब ममदूह की है। खर्च से दूना लगावट मे यह मालूम होता है।'

१८५० ई० मे बनारस से बंगला भाषाभाषी तारामोहन मैत्र ने 'सुधाकर' का प्रकाशन किया। इसकी भाषा बनारस अखबार से कहीं अच्छी होती थी। यह हिंदी और बंगला दोनो मे प्रकाशित होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक हिंदी गद्य उस अवस्था को प्राप्त नहीं हो सका था जिसकी अपेक्षा पत्रकारिता के लिये थी। हिंदी पत्रकारिता के विकास में जो रुकावट थी उसका एक कारण यह भी रहा होगा।

१८४६ ई० मे कलकत्ते से 'इंडियन सन' प्रकाशित हुआ। यह 'बंगाल हेरल्ड' और 'बंगदूत' की तरह पाँच पाँच भाषाओ मे प्रकाशित होता था। इसमें

दस पृष्ठ और प्रत्येक पृष्ठ पर पाँच कालम रहते थे। पहला हिंदी, दूसरा फारसी, तीसरा अँगरेजी, चौथा बँगला और पाँचवाँ उर्दू का। इसका हिंदी नाम 'मार्त्तण्ड' था। इससे प्रतीत होता है कि उस समय अपने विचारों को विविध भाषा में व्यक्त करने की भावना थी।

तासी ने १८४६ ई० में प्रकाशित एक और पत्र की चर्चा की है। इसका नाम 'ज्ञानदीपक' था। पत्र का अधिक विवरण नहीं मिलता।

१८४८ ई० मे प्रेमनारायण ने मालवा' अखबार हिंदी, उर्दू में निकाला। आठ पृष्ठो के इस साप्ताहिक पत्र की एकाध प्रति आज भी कहीं कहीं सुरक्षित है। तासी ने भूल मे इसका संपादक धर्मनारायण को लिखा।

१८४६ ई० में कलकत्ते से किसी बंगाली सज्जन ने बँगला हिंदी में 'जगदीपक भास्कर' का प्रकाशन किया। किंतु इसका विवरण नहीं मिलता।

१८५२ ई० में आगरे से 'बुद्धिप्रकाश' निकला। इसके संपादक लाला सदासुखलाल थे। कुछ लोगों का ख्याल है कि वे प्रसिद्ध हिंदी लेखक सदासुखलाल ही हैं। किंतु यह भ्रम नामसाम्य के कारण है। तासी के कथनानुसार इसके लेख और समाचार विविध विषयो के और रोचक होते थे। भाषा समयानुकूल अच्छी थी।

१८५२ ई० में ही भरतपुर दरबार की ओर से एक उर्दू हिंदी पत्र 'मजहरुल सरूर' निकाला गया था। यह एक उर्दू प्रधान मासिक पत्र था। इससे अधिक और विवरण प्राप्त नहीं है।

१८५३ ई० में मुंशी लक्ष्मणदास ने ग्वालियर से ग्वालियर गजट' निकाला। पहले यह उर्दू हिंदी में साथ-साथ छपता था। बाद में अलग अलग छपने लगा। अलग छपने में हिंदी भाषा में सुधार लक्षित हुआ।

१८५३ ई० में प्रकाशित 'प्रजाहितैषी' के जन्मदाता अभिज्ञान शाकुंतल के प्रसिद्ध अनुवादक राजा लक्ष्मण सिंह थे। राजा साहब के योग्य हाथो से पत्र की भाषा में न केवल सुधार और अपनापन देखा गया, प्रत्युत उसमें प्रगति और उन्नति की सूचना मिली।

१८५४ ई० में श्यामसुंदर सेन नामक एक बंगाली सज्जन ने 'समाचार सुधावर्षण' नामक हिंदी और बँगला दैनिक कलकत्ते से प्रकाशित करना प्रारंभ किया। यह हिंदी और बँगला दो भाषाओ में प्रकाशित होता था और इसका संपादन बँगला भाषाभाषी सज्जन करते थे। यह कभी छः पृष्ठ का तो कभी आठ पृष्ठ का रहता था। इसमें अधिकाश हिंदी रहती थी। हिंदी का अंश पहले रहता था। संपादकीय टिप्पणियाँ, लेख तथा महत्त्वपूर्ण समाचार हिंदी में ही रहते थे।

१८५५ ई० में आगरे से 'सर्वहितकारक' प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशक थे शिवनारायण। यह उर्दू, हिंदी में छपता था, किंतु जैसा कि पत्र के नाम से ज्ञात होता है इसमें हिंदी की प्रधानता रही होगी।

१८५७ ई० का स्वातंत्र्य आंदोलन संनिकट आ रहा था। आंदोलन के ठीक पहले दोनो तरह के पत्र अँगरेजो के अँगरेजी और भारतीयो के अँगरेजी तथा देशी—एक दूसरे के बहुत पास थे। किंतु जब दोनो के स्वार्थ टकराए तब आंदोलन हुए। आंदोलन ने दोनो की बोली ही बदल दी। जहाँ भारतीयो के पत्र सरकार के विरुद्ध बोलने और आंदोलनकारियो से सहानुभूति दिखाने लगे, वहाँ अँगरेजो के पत्र सरकार से मिलकर सरकारी दमन नीति का समर्थन करने लगे।

१८५७ ई० मे स्वातंत्र्य आंदोलन के नेता अजीमुल्ला खा ने दिल्ली से 'पयामे आजादी' का प्रकाशन किया। पहले यह पत्र हिंदी उर्दू में निकलता था। किंतु शीघ्र ही हिंदी मे निकलने लगा। इसका एक मराठी संस्करण झाँसी से निकालने का विचार था। आंदोलन की विफलता के कारण पत्र का बंद हो जाना स्वाभाविक ही था। इसी पत्र में भारत का प्रसिद्ध १८५७ ई० का राष्ट्रगीत छपा था। वह गीत इस प्रकार है—

> हम हैं इसके मालिक, हिंदुस्तान हमारा।
> पाक वतन है कौम का, जन्नत से भी प्यारा
> ये है हमारी मिल्कियत, हिंदुस्तान हमारा
> इसकी सहाभियत से, रौशन है जग सारा;
> कितना कदीम, कितना नईम, सब दुनियां से न्यारा,
> करती हैं जरखेज जिसे, गंगोजमन की धारा।
> ऊपर बर्फीला पर्वत, पहरेदार हमारा,
> नीचे साहिल पर बजता, सागर का नक्कारा;
> इसकी खानें उगल रहीं, सोना, हीरा, पारा,
> इसकी शानों शोकत का दुनियां में जयनारा।
> आया फिरंगी दूर से ऐसा मंतर मारा,
> लूटा दोनों हाथों से प्यारा वतन हमारा
> आज शहीदों ने तुमको अहले वतन ललकारा
> तोड़ो गुलामी की जंजीरें, बरसाओ अंगारा।
> हिंदू, मुसलमां, सिख हमारा भाई भाई प्यारा,
> ये है आजादी का झंडा, इसे सलाम हमारा।

१८५६ ई० मे मनसुखराम ने अहमदाबाद से 'धर्मप्रकाश' का संपादन और प्रकाशन किया। यह धर्मसभा का मुख्य पत्र था। इसका प्रकाशन विभिन्न

स्थानों से समय समय पर होता रहा। पहले यह केवल हिंदी में निकलता था, बाद में उर्दू और संस्कृत में भी प्रकाशित किया गया।

१८६१ में हिंदी प्रदेश से कई पत्र निकले। इनमें आगरे से गणेशीलाल के संपादकत्व में 'सूरजप्रकाश' और शिवनारायण के संपादकत्व में 'सर्वोपकारक' तथा अजमेर से सोहनलाल के संपादकत्व में 'जगलामचिंतन' और इटावे से जवाहरलाल के सपादकत्व में 'प्रजाहित' प्रसिद्ध हैं। इन सब पत्रो के उर्दू सस्करण भी निकलते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि हिंदी की माँग बढ़ रही थी और उस माँग को ध्यान में रखकर ही उर्दू हिंदी को अलग अलग किया जा रहा था।

१८६१ ई० में आगरे से ही एक और हिंदी का पत्र प्रकाशित हुआ। इसका नाम 'ज्ञानदीपक' या 'ज्ञानप्रकाश' था।

१८६३ ई० में आगरा नगर के पास से मिशनरियों ने 'लोकहित' का प्रकाशन किया। पत्र शुद्ध हिंदी में निकलता था। १८६४ ई० में आगरे से 'भारतखंडामृत' नामक पत्र का प्रकाशन लल्लूलाल जी के समकालीन पंडित वंशीधर ने किया। इसका उर्दू संस्करण 'आवेहयात' नाम से निकलता था।

१८६४ ई० में जोधपुर दरबार से हिंदी अँगरेजी में 'जोधपुर गवर्नमेंट गजट' निकला। यह साप्ताहिक पत्र था।

१८६५ ई० में बरेली में गुलाबशंकर के संपादकत्व में 'तत्वबोधिनी पत्रिका' प्रकाशित हुई। यह भी विशुद्ध हिंदी पत्रिका थी।

१८६६ ई० में लाहौर से नवीनचंद्र राय ने 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' का प्रकाशन किया। इसके संपादक एक काशमीरी पंडित मुकुंदराम थे। प्रारंभ में यह पत्रिका हिंदी उर्दू दोनो में छपती थी। किंतु आगे चलकर केवल हिंदी में छपने लगी।

१८६६ ई० में 'मारवाड़ गजट' का प्रकाशन हुआ। यह पत्र धीरे धीरे उन्नति करता गया और एक ऐसा समय आया जब कि सुसंपादित पत्र समझा जाने लगा। १८६६ ई० मे ही बंबई से शक्तिदीपक' नामक पत्र निकला। संभवतः यह मिशनरियों का पत्र था और हिंदी में निकलता था।

१८६७ ई० में और इसके बाद के समय में हिंदी पत्रकारिता ने बड़ी उन्नति की। जम्मू काश्मीर से 'वृत्तातविलास' आगरे से 'सर्वजनोपकारक' और रतलाम से 'रतनप्रकाश' प्रकाश में आए। जम्मू काश्मीर से एक और पत्र हिंदी उर्दू में निकला जिसका नाम 'विद्याविलास' था।

द्वितीय उत्थान

हिंदीभाषी प्रदेशों में नवजागरण के अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। उन्होंने अपनी प्रेरणा और अपने द्रव्य से अनेक पत्रों का प्रकाशन और संपादन किया। उनकी प्रेरणा से हिंदी प्रदेशों में लगभग पचीस पत्र प्रकाशित हुए। यही कारण है कि उनके अल्प जीवनकाल में ही लेखकों और संपादकों का एक मंडल तैयार हो गया, जिसे भारतेंदु मंडल के नाम से जाना जाता है। इसमें पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहनसिंह और पं० बालकृष्ण भट्ट प्रमुख थे। इस मंडल के लेखकों द्वारा ही हिंदी गद्यशैली के विकास का आरंभ हुआ। स्वयं भारतेंदु के गद्य में दो शैलियों का विकास लक्षित होता है—एक भावावेश शैली और दूसरी तथ्यनिरूपण शैली। पं० प्रतापनारायण मिश्र की शैली में व्यंग्य और विनोद की प्रधानता है। 'प्रेमघन' की शैली अनुप्रासपूर्ण और अलंकृत है। इसमें गद्यकाव्य के सूक्ष्म तत्व निहित हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट की शैली मे यथातथ्य निरूपण के साथ ही तीखापन है। ठाकुर जगमोहनसिंह की शैली अलंकृत और प्रसादपूर्ण है। इस काल के लेखकों में भाषा की परख, विचारों के प्रति निष्ठा और जिंदादिली है। संपादकों का जीवन त्याग और संघर्षमय है। आगे चलकर देश मे जो जाग्रति पैदा हुई उसका आरंभ इसी काल में हुआ।

१८६८ ई० में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने काशी से 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन किया। इसमें कविताओं का संग्रह रहता था। पहले यह मासिक पत्रिका थी, बाद में पाक्षिक हुई। फिर साप्ताहिक तथा हिंदी अंग्रेजी दोनों में प्रचलित हुई। भारतेंदु ने इस पत्रिका द्वारा भाषा को खूब सुधारा और सँवारा। १८७५-८५ ई० के बीच इसमें राजनीति और समाज नीति पर स्वतंत्र लेख भी निकलने लगे। अधिकतर लेख स्वयं 'भारतेंदु' के ही रहते थे। इससे उनपर सरकार की कोपदृष्टि का होना स्वाभाविक ही था। इसलिये इस पत्रिका के कारण भारतेंदु को अनेक कष्ट उठाने पड़े। सरकार के कोप के कारण उनकी अवस्था दिन दिन बिगड़ती गई। 'कविवचन सुधा' का सिद्धांत वाक्य था—

खल गगन सों सज्जन दुखी मति होहिं, हरिपद मति रहै।
अपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होहिं, जग आनंद रहै।
तजि गाम कविता, सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥

कविवचन सुधा में मूल्यादि के नियम भी पद्य ही में छापे जाते थे। नियम वाले पद्य इस प्रकार हैं—

शद् मुद्रा पहिले दिए बरस बिताए सात।
साथ चंद्रिका के लिये दस मैं दौउ मिलि जात।।
बरन गए बारह लगत दो के दो महसूल।
अलग चंद्रिका सात, शद् वचन सुधा समतूल।।
दो आना एक पत्र को टका पोस्टेज साथ।
सारथ आना आठ दै लहर चंद्रिका हाथ।।
प्रति पंगनि आना जुगुल जो कोउ नोटिस देइ।
जो विशेष जानन चहै पूछि सबै कुछ लेइ।।

उस समय जब कि राष्ट्रीयता नामक भाव का ठीक से उन्मेष भी नहीं हुआ था भारतेंदु ने कविवचन सुधा द्वारा भारतीयो में क्रांतिमूलक भावो का उद्रेक किया। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र न केवल हिंदी राष्ट्रीयता के जनक थे, प्रत्युत वे हिंदी पत्रकारिता के भी पुरोहित थे। सच तो यह है कि हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में उनका वही स्थान है जो बँगला पत्रकारिता मे राजा राममोहन राय का। भारतेंदु को अपनी इस विचार स्वतंत्रता के कारण जिन कष्टो को झेलना पड़ा; उसकी लंबी कहानी है।

१८६८ ई० में प्रयोग से 'वृत्तांत दर्पण' निकला। इसके संपादक सदासुखलाल थे। ये कौन सदासुखलाल थे, यह कहना कठिन है। किंतु पत्र विविध-विषय विभूषित अपने ढंग का अकेला था। १८७० ई० में अनेक पत्रो के प्रकाशन हुए। इस वर्ष कानपुर से 'हिंदूप्रकाश' और प्रयाग से प्रयागदूत'। जोधपुर से 'मुहब्बे मारवाड़' (हिंदी,, उर्दू में) और ललितपुर से 'बुंदेलखंड अखबार' (हिंदी, उर्दू में)। मेरठ के 'म्यूर गजट' (पहले उर्दू में और बाद में हिंदी में) और सहारनपुर से 'सांडर्स गजट' (हिंदी में) तथा बंबई से 'मनोविहार' (हिंदी, मराठी, गुजराती, संस्कृत मे) का प्रकाशन हुआ। इन सभी पत्रो से जहाँ एक ओर हिंदी पत्रकारिता के विकास की सूचना मिलती है, वहीं यह भी मालूम पड़ता है कि किस प्रकार हिंदी भाषा का प्रसार हो रहा था और उसकी लोकप्रियता में वृद्धि हो रही थी।

१८७२ ई० में बाबू कार्तिकप्रसाद ने कलकत्ते से 'हिंदी दीप्ति प्रकाश' निकाला। १८५० ई० के बाद जब कि 'सामदंड मार्तण्ड' बंद हुआ था, यह पहला पत्र कलकत्ते से निकला। यह पत्र भी अल्पायु ही रहा। इस वर्ष कई और पत्र निकले।

सन् १८७२ ई० में पं० केशवराम भट्ट तथा पं० मदनमोहन भट्ट के उद्योग से 'बिहार बंधु' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। पं० अंबिका-

प्रसाद वाजपेयी के कथनानुसार आरंभ में इसका प्रकाशन कलकत्ता से हुआ था। भट्टबंधु मूलतः बिहार के बिहारशरीफ के रहनेवाले थे। इसलिये १८७४ ई० में यह पत्र पटना चला गया। तबसे 'बिहारबंधु' का प्रकाशन पटना से ही होने लगा। इसका संपादन पं० दामोदर शास्त्री सप्रे करते थे। कुछ दिनो तक इसके संपादक मुशी हसन अली भी थे। बिहारबंधु बिहार का पहला हिंदी पत्र है। बिहार मे हिंदीप्रचार का बहुत बडा श्रेय इसी को है। यह लगातार १६०५ ई० तक चलने के बाद बद हो गया। इनमें 'प्रेमपत्र' नामक एक पाक्षिक पत्र भी था, जो आगरा से प्रकाशित हुआ था और जिसे रायबहादुर शालग्राम निकालते थे। इसी पत्र से पं० रुद्रदत्त जी का संपादकीय जीवन आरंभ हुआ।

१८७३ ई० में पत्रकारिता जगत् में पुनः हलचल हुई। यद्यपि पत्रों की संख्या में कोई विशेष वृद्धि न हुई किंतु पाठको की संख्या खूब बढ़ी। इसी वर्ष भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने काशी से 'हरिश्चंद्र मेगजीन' का प्रकाशन किया। १८७४ ई० मे इसी का नाम बदलकर 'हरिश्चंद्र चद्रिका' कर दिया गया। पृष्ठसंख्या बढा दी गई। यह विविध-विषय-विभूषित मासिक पत्र था। इसमे कविता, आलोचना, उपन्यास, इतिहास, राजनीति तथा पुरातत्व आदि विषयो पर लेख निकलते थे। इसी वर्ष भारतेंदु की 'कविवचन सुधा' का (साप्ताहिक) प्रकाशन हुआ। इन दोनों पत्रो की अच्छी प्रसिद्धि थी और इनसे पत्रकारिता को यश मिल रहा था। अमृतसर से 'हिंदी प्रकाश' हिंदी, उर्दू तथा पजाबी मे निकला। 'जबलपुर समाचार' जबलपुर से (हिंदी, अंगरेजी) में निकला। लखनऊ से 'भारत पत्रिका' (अखबारे अंजूमने हिंद का हिंदी संस्करण) अवध के तालुकेदारो ने निकाला। आगरे से 'मर्यादा परिपाटी समाचार' हिंदी, संस्कृत मे निकाला गया। इसके संपादक पंडित दुर्गाप्रसाद शुक्ल थे।

१८७४ ई० में भारतेंदु ने ही स्त्रियो के लिये 'बालबोधिनी' का प्रकाशन किया। इसमें स्त्रियो के लिये कुछ उपदेश भी रहते थे। प्रयाग से 'नाटक प्रकाश' का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक थे रतनचंद। हिंदी अक्षरो के लिये आदोलन करने के हेतु मेरठ से 'नागरी प्रकाश' निकाला गया। इसका उर्दू संस्करण 'मुहब्बते हिंदी' भी निकाला जाता था। 'जगत अरशना' पंजाब से निकला था। इसकी जानकारी अतीत में लुप्त हो गई है। अलीगढ़ के वकील तोताराम वर्मा ने 'भारतबंधु' निकाला। लाला श्रीनिवास ने 'सदादर्श' दिल्ली से प्रकाशित किया था।

१८७५ ई० में पं० शिवनारायण शुक्ल ने 'धर्मप्रकाश' मासिक का प्रकाशन प्रयाग से आर्यसमाज की ओर से हिंदी, संस्कृत में प्रारंभ किया। उसी समय सनातन धर्म की ओर से प्रयाग से ही 'धर्मपत्रिका' निकाली गई। सरदार संतोष सिंह ने

अमृतसर से 'सकल संबोधिनी पत्रिका' हिंदी में प्रकाशित की। इसमे धर्मचर्चा रहती रहती थी। लुधियाना से कन्हैयालाल ने 'नीतिप्रकाश' (पुस्तक या पत्र ?) प्रकाशित किया। 'आनन्द लहरी' का प्रकाशन धीरा शास्त्री ने बनारस में शुरू किया। 'सुदर्शन समाचार' के संपादक प्रयाग के मुरलीधर और राव बृजप्रसाद थे। तासी के अनुसार बंबई से 'सत्यामृत' निकला था।

भारतेंदु की लीलाभूमि काशी से 'कविवचन सुधा', 'बालबोधिनी' और 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' तो निकलती ही थी, भारतेंदु की ही प्रेरणा से १८:६ ई० में 'काशी पत्रिका' भी निकली। इसके संपादक बालेश्वरप्रसाद बी० ए० थे। आरंभ में यह नागरी अक्षरो में निकली। फिर दूसरा पृष्ठ उर्दू अक्षरो में निकलने लगा और स्तर गिर गया। इसके अतिरिक्त 'नुरुलबसर', 'कमरुल अखबार' और 'कन्दे नजाइर' आदि उर्दू वाले निकालते थे। इनमें कुछ स्थान हिंदी के लिये भी रहता था। लाहौर का 'हिंदूबांधव' तथा शाहजहाँपुर का 'आर्यभूषण' भी निकलता था। 'हिंदूबांधव' हिंदी और उर्दू मे छपता था। आर्यसमाज का एक और पत्र 'आर्यभूषण' जो पहले 'आर्यदर्पण' के नाम से साप्ताहिक निकलता था, मासिक रूप में शाहजहाँपुर से निकलने लगा था।

१८७७ ई० में पं० मुकुंदराम के संपादकत्व में 'मित्रविलास' निकला। 'भारतदीपिका' और 'भारतहितैषी' इसी वर्ष प्रकाशित हुए थे। प्रयाग से 'नागरी प्रत्रिका', 'धर्म पत्र' और 'धर्मप्रकाश' का प्रकाशन हुआ। इन तीनों पत्रो के संपादक सदासुखलाल थे। शाहजहाँपुर से मुंशी बख्तावर सिंह ने आर्यसमाजी विचारो के प्रकाशन के लिये 'समाज' निकाला। इसी समय पं० बालकृष्ण भट्ट का प्रयाग से 'हिंदी प्रदीप' निकला। भट्टजी बडी लगन के व्यक्ति थे। उन्होने इस पत्रिका द्वारा हिन्दी की बड़ी सेवा की। इस पत्रिका में प्रकाशित उनके अनेक निबंध प्रसिद्ध हैं।

१८७८ ई० में प्रयाग से 'कायस्थ समाचार' निकला। यह बहुत प्रभावशाली जातीय पत्र था। कुछ विद्वानो का मत है कि डा० सच्चिदानंद सिन्हा के 'हिंदू रिव्यू' की प्रेरणा का यही आधार था। प्रयाग से ही 'ज्ञानचंद्र' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ। लखनऊ से 'अखबारे सरिश्ते तालीम' हिंदी, उर्दू में निकला। इसी समय काशी से किन्हीं एच० के० भट्टाचार्य के संपादकत्व में 'आर्यमित्र' का प्रकाशन हुआ। किंतु यह 'आर्यमित्र' आर्यसमाज का नहीं था।

१८७८ ई० में जो सबसे प्रभावशाली हिंदी पत्र निकला, वह कलकत्ते का 'भारतमित्र' था। इसके संस्थापक पं० छोटूलाल मिश्र और पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र थे। इसके निवेदन में लिखा है—'विदित हो कि यह पत्र प्रतिपक्ष में एक बार प्रकाशित होगा, परंतु बिना सर्वसाधारण की सहायता के इसके चिरस्थायी होने की आशा निराशा मात्र है, इसलिये सर्वसाधारण को उचित है कि इसकी सहायता करे और

यदि यह पत्र ईश्वर की इच्छा से समाज में प्रचलित हुआ तो और इसके ५ सौ ग्राहक हुए तो शीघ्र ही साप्ताहिक हो के प्रचारित होगा।' और यह निवेदन सफल हुआ तथा 'भारतमित्र' साप्ताहिक निकलने लगा। इसके ऊपर यह आदर्श वाक्य छपा रहता था —

सगुण खनित्र विचित्र अति खोले सब के चित्र।
शोधैं नरचरित्र यह 'भारतमित्र' पवित्र॥

'भारतमित्र' का प्रकाशन हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र मे एक अभूतपूर्व घटना थी। 'भारतमित्र' ने हिंदी पत्रकारिता को बड़ा ऊँचा उठाया। यह एक युग मे हिंदी का सर्वाधिक प्रभावशाली पत्र था। यह राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक आदोलनो में खुलकर भाग लिया करता था। स्वामी दयानंद सरस्वती के लेख 'भारतमित्र' में छपते थे। हिदी के मामले में 'भारतमित्र' भारतेंदु हरिश्चंद्र का समर्थक था। उनके लेख भी इसमें छपते थे। कलकत्ते में जो जुए के अड्डे थे, उनके विरुद्ध उसने आंदोलन चलाया था और उसे सफलता भी मिली थी। बंको में जो २ बजे रात तक काम होता था, उसके विरुद्ध भी इसने आंदोलन छेड़ा था। बाबू बालमुकुंद गुप्त के संपादकत्व में 'भारतमित्र' में हिंदी भाषा के संस्कार का आदोलन छिड़ा। बालमुकुंद गुप्त ने स्वयं 'व्याकरण विचार', 'भाषा की अनस्थिरता' (१० लेख), 'आत्मारामीय टिप्पण' (२) लेख और 'हिंदी में आलोचना' (७ लेख) लिखे। इन सभी का आधुनिक हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक महत्व है। गुप्त जी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से गहरी टक्कर ली थी। 'भारतमित्र' का संपादन पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे और पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ने भी किया था।

१८७८ ई० मे जयपुर से 'जयपुर गजट' का प्रकाशन हुआ। यह उदार विचारो का राजनीतिक पत्र था। राजनीतिक ज्ञान के प्रचार और प्रसार तथा हिंदी आंदोलन को सतत जागरूक रखने में इसने बड़ा काम किया। आरंभ में इसका प्रकाशन हिंदी, अंग्रेजी में होता था, आगे चलकर उर्दू में भी होने लगा।

१८७९ ई० में कलकत्ता से पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने अपने तीन और साथियो के साथ सारसुधानिधि प्रेस से 'सारसुधानिधि' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया। इसका मंगलाचरण इस प्रकार था—

श्री हरिचरण प्रसाद ते, जगमग जगत प्रसिद्ध।
अन्तर नभ शुभ शरद में, सार सुधानिधि सिद्ध॥
'सारसुधानिधि' सिद्ध, 'शंभु', 'दुर्गा' श्रुति शारद।
गणपति गणपति ब्रह्म, ब्रह्म बुध बुद्धि विशारद।
गणपति गणपति सूर्य, सुरसरवर देहिं विजय श्री।
नमो ओम् 'गोविंद', 'सदानन्द' मंगल जयश्री॥

इस पत्र में सदानंद दुर्गाप्रसाद, गोविंदनारायण और शंभुनाथ कुल चार साझी थे। इसके संपादक पं० सदानंद थे। यह अपने समय का तेजस्वी पत्र था। कुछ वर्ष चलने के बाद अर्थाभाव के कारण इसे बंद कर देना पड़ा। १८७६ ई० में ही कलकत्ते से 'जगतमित्र' का प्रकाशन भी हुआ। कानपुर से 'शुभचिंतक', प्रयाग से 'ज्ञानचंद्रोदय' और काशी से 'काशीपंच' का प्रकाशन भी इसी वर्ष हुआ।

१८८० ई० में कलकत्ते का तीसरा विख्यात पत्र 'उचितवक्ता' प्रकाशित हुआ। उसका आदर्श वाक्य था—'हितं मनोहारि च दुर्लभ वचः'। इस पत्र की दिलचस्पी राजनीति में भी थी। विशेष रूप से देशी रजवाड़ो तथा अँगरेजो से जो विवाद उठे उनमें 'उचितवक्ता' अपने ढंग से बोलता था। साहित्य तो उसका अपना विषय था ही। इस प्रकार विविध आलोचना की ओर इसका झुकाव था। यह पत्र अपने व्यंग्यात्मक लेखो के लिये भी प्रसिद्ध था। इसके लेखकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र भी थे। यह कई बार बंद होकर भी निकला। इसके अतिरिक्त १८८० ई० में निम्नलिखित और भी पत्र निकले—'जैन पत्रिका' (प्रयाग), 'धर्मनीतितत्व' (पटना), 'क्षत्रिय पत्रिका' (पटना) इसके संपादक बाबू रामदीनसिंह थे। आगे चलकर इन्होने हिंदी की बड़ी सेवा की।

१८८१ ई० में 'नवीन वाचक' साप्ताहिक पत्र गोंडा से प्रकाशित हुआ। मासिक पत्रिकाओ में 'भारतदीपिका' (लखनऊ), संपादक बाबू अंबिकाचरण घोष, 'आरोग्यदर्पण' प्रकाशित करनेवाले पं० जगन्नाथप्रसाद वैद्य (प्रयाग) और चौधरी पं० बदरीनारायण उपाध्याय द्वारा संपादित और प्रकाशित 'आनद कादंबिनी (मिर्जापुर) निकली। इसमे प्रायः उपाध्याय जी के लेख भरे रहते थे। इसकी भाषा शुद्ध, अलंकृत और मुहावरेदार थी।

१८८२ ई० में हिंदी उर्दू का संघर्ष जोरो से चल रहा था। हिंदीवाले हिंदी (देवनागरी) अक्षरों को अदालत और दफ्तर में प्रवेश कराने के लिये यत्नशील थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही श्री गौरीदत्त शर्मा ने देवनागरी प्रचारक' मासिक का प्रकाशन आरंभ किया।

१८८३ ई० में प्रतापगढ़ के तालुकेदार राजा रामपाल सिंह ने इंगलैंड से हिंदी और अँगरेजी मे 'हिंदोस्थान' नाम का पत्र निकाला। १८८५ ई० मे जब वे स्वदेश लौट आए तब कालाकाँकर से हिंदी मे दैनिक 'हिंदोस्थान' निकाला। इसका एक अँगरेजी संस्करण भी छपता था। इसके संपादक महामना पं० मदनमोहन मालवीय थे। 'हिंदोस्थान' के संपादन से ही मालवीय जी का सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन आरंभ होता है। जब मालवीय जी को राजनीतिक कार्यो के कारण समयाभाव हो गया, तब बाबू बालमुकुंद गुप्त ने 'हिंदोस्थान' का संपादन

भार सँभाला। आगे चलकर जब राजा साहब ने अपना राजनीतिक मतपरिवर्तन कर लिया तब 'हिंदोस्थान' का प्रकाशन बंद हो गया।

१८८३ ई० में ही पं० प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर से 'ब्राह्मण' नामक बड़ा तेजस्वी अखबार निकाला था। जब इसे अर्थाभाव रहने लगा तब पटना के खंगविलास प्रेस के मालिक बाबू रामदीन सिंह ने इसे खरीद लिया और कुछ दिनों तक यह पटना से निकला। इस पत्र को निकालनेवाले लखनऊ के बाबू गंगाप्रसाद वर्मा थे। इनके सिवा 'धर्मोपदेश' (बरेली), 'भारतहितैषिणी' (लाहौर), 'विद्योदय' (कलकत्ता), 'यज्ञविलास' (पटना), 'सद्चार मार्तंड' (जयपुर), 'कविकुल कंज दिवाकर' (बस्ती), 'इंदु' (लाहौर), 'वैष्णव पत्रिका' (काशी) 'हिंदी समाचार' (भागलपुर) और 'व्यापार बंधु' (बंबई) भी निकले।

१८८४ ई० में भागलपुर से 'वैष्णव पत्रिका' का प्रकाशन पं० अंबिकादत्त व्यास के संपादकत्व में हुआ। इसका नाम इसी वर्ष 'पीयूषप्रवाह' कर दिया गया। इसके पहले यह काशी से निकलता था। भागलपुर से यह पहला पत्र निकला था। चंपारण से 'चंपारण हितकारी' का प्रकाशन हुआ। चंपारन में यह प्रथम जाग्रति थी। इनके अतिरिक्त साम्प्रदायिक तथा जातीय पत्र भी निकले। इनमें कायस्थों का 'कायस्थ व्यवहार', 'गौड़ कायस्थ', 'कुलश्रेष्ठ समाचार' प्रकाशित हुआ। ये सभी मासिक थे। इनके अतिरिक्त कलकत्ता से 'वेदप्रकाश' और कानपुर से 'रसिकपत्रिका' और 'भारतभूषण' का प्रकाशन हुआ। जम्मू से 'जम्मू गजट' भी निकला। ये सभी साप्ताहिक पत्र थे। 'राजपूताना गजट' और मथुरा समाचार' ये तो उर्दू के पत्र, किंतु इनमे हिंदी के लेख भी छपते थे।

तृतीय उत्थान

हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में सन् १८९० ई० का विशेष महत्त्व है। इसी वर्ष कलकत्ता से साप्ताहिक 'हिंदी बंगवासी' और इसके दस वर्ष बाद प्रयाग से 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इन दोनों में १० वर्ष का अंतर है। 'हिंदी बंगवासी' जनता की भावनाओं को व्यक्त करनेवाला, ताजा समाचार सस्ते में देनेवाला पत्र था। उसने हिंदी साहित्य की भी बड़ी सेवा की थी। दस वर्ष बाद प्रकाशित होनेवाली 'सरस्वती' का हिंदी साहित्य में दिशानिर्देशक स्थान है। हिंदी साहित्य की सेवा की दृष्टि से ही 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ था। इसी लिये उसपर लिखा था—काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदित—और उसके संपादक मंडल में थे – सर्व श्री राधाकृष्णदास, कार्त्तिक प्रसाद खत्री, जगन्नाथदास रत्नाकर', किशोरीलाल गोस्वामी और श्यामसुंदर दास। १९०३ ई० में आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक हुए। हिंदी भाषा

के संस्कार की दृष्टि से द्विवेदीजी का बहुत महत्व है। उनके पूर्व हिंदी के लेखकों में व्याकरण की शिथिलता थी। व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता को द्विवेदीजी ने दूर किया, विस्तृत आलोचना का पथ प्रशस्त किया, अनेक लेखकों और संपादकों को हिंदी क्षेत्र में उतारा और उनका मार्गदर्शन किया।

१८६० ई० में कलकत्ता से 'हिंदी बंगवासी' के प्रकाशन द्वारा हिंदी पत्रकारिता ने एक नया मोड़ लिया। यह साप्ताहिक था। तत्कालीन सभी समाचार-पत्रों से आकार प्रकार में बड़ा, समाचार की दृष्टि से ताजा, विचारपूर्ण लेखों से संपन्न और जनभावना को व्यक्त करनेवाला होते हुए भी कम मूल्य का था। इस रूप में यह सार्वजनिक समाचारपत्र था। इसका संचालन कुछ बंगाली सज्जनों के हाथ में था और इसके आदि संपादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती थे। 'हिंदी बंगवासी' की विशेषता का वर्णन करते हुए बाबू बालमुकुंद गुप्त ने लिखा है —

'हिंदी बंगवासी नए ढंग का अखबार निकला। हिंदी में उससे पहले वैसा अखबार कभी न निकला था। वह डबल रायल आकार के दो बड़े बड़े पत्रों पर निकला। दो रुपये साल उसकी कीमत हुई। प्रति सप्ताह कम से कम एक चित्र उसमें प्रकाशित होने लगा। खबरें ताजा ताजा उसमें निकलने लगीं। लेख भी अच्छे होते थे। एकाध लेख हँसी दिल्लगी का भी होता था। जिनके चित्र छपते थे उनके चरित्र भी बहुधा निकला करते थे। बहुत सी ऐसी बातें उसमें छपने लगी जो और भी अखबारों में होती थीं...'

'यह खूब फैलने लगा। विशेषकर बिहार और युक्तप्रदेश में उसका बड़ा आदर हुआ। थोड़े ही दिनों में उसकी ग्राहकसंख्या २००० हो गई।' 'हिंदी बंगवासी' के आदि संपादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती ने इस पत्र का संपादन अपनी समस्त विशेषताओं के साथ किया।

१८६६ ई० में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (त्रैमासिक) निकली। इसके संपादक थे—बाबू श्यामसुंदर दास, महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, श्री कालीदास और श्री राधाकृष्ण दास। बाद में यह पत्रिका जब मासिक बनी तब संपादक थे — श्री श्यामसुंदर दास, श्री रामचंद्र शुक्ल, श्री रामचंद्र वर्मा और श्री बेनी प्रसाद। १६२० ई० में यह पुनः त्रैमासिक बनी और संपादक हुए—पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, श्री श्यामसुंदर दास, श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी और मुंशी देवी प्रसाद। यह मुख्यतः शोध पत्रिका है। इसमें हिंदी साहित्य तथा इतिहास पर प्रभाव डालनेवाले महत्वपूर्ण शोध लेख छपते हैं। इसके अनेक अंक प्रमाण-कोटि में आते हैं। यह पत्रिका आज भी अपने तरीके से निकलती जा रही है। इसी वर्ष का उल्लेखनीय साप्ताहिक है—श्री वेंकटेश्वर समाचार। इसे सेठ

खेमराज बजाज ने बंबई से निकाला। इसमे कितने ही साहित्यिक ग्रंथ छापे जाते रहे। यह आकार प्रकार में बहुत बड़ा निकलता था और आज भी निकल रहा है।

इंडियन प्रेस के अध्यक्ष श्री चिंतामणि घोष ने १९०० ई० में मासिक 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ किया। आरंभ में इसका संपादन काशी से होता था और पत्रिका पर छपा रहता था – काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदित— और इसके संपादक मंडल मे थे—सर्व श्री राधाकृष्ण दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', किशोरीलाल गोस्वामी और श्यामसुंदर दास। सन् १९०३ ई० प० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के संपादन का भार स्वीकार कर लिया। उस समय संपादन कला का कोई आदर्श स्थिर नहीं हुआ था। बड़े और प्रसिद्ध व्यक्ति के त्रुटिपूर्ण लेख भी छपते थे, किंतु अप्रसिद्ध और छोटे लोगो के विद्वत्तापूर्ण लेखो की भी उपेक्षा होती थी। आलोचनार्थ आए ग्रंथो का नाममात्र छाप दिया जाता था। लेखो के प्रतिपाद्य विषय का समुचित संपादन तो दूर उनकी भाषा तक को नहीं सुधारा जाता था। समय की पाबंदी पर तो किसी का ध्यान ही नहीं था। ऐसी परिस्थिति में उन्होने 'सरस्वती' का संपादन आरंभ किया। 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखो की फाइल नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। उसे देखने से यह प्रतीत होता है कि द्विवेदी जी प्रत्येक लेख को मनोयोगपूर्वक पढ़कर विषयवस्तु तथा भाषा की दृष्टि से उसका संपादन करते थे। अधिकाश लेखो का तो कायाकल्प कर देते थे। बडे से बड़े आदमियो के अप्रतिपादित लेखो को छापने से इनकार कर देते थे। स्वयं विषय देकर नए नए लेखको और कवियो से लिखवाते तथा उनको सुधारकर छापते थे। इस प्रकार लेखक भी पैदा करते जाते थे। आलोचनार्थ आए ग्रंथो की समालोचना तो करते ही थे; यदि कोई गलत और अमर्यादित ग्रंथ कहीं से प्रकाशित हुआ हो, तो उसे मँगाकर उसकी बखियाउधेड़ आलोचना भी करते थे। इसी लिये उनके अनुशासन से लोग थर्राते थे। समय की पाबदी तो ऐसी करते थे कि ठीक वक्त पर 'सरस्वती' अपने ग्राहको के पास पहुँच जाती थी। प्रायः तीन मास के लिये 'सरस्वती' के लिये रचनादि प्रेस में रखते थे। अपने हानिलाभ की उपेक्षा करके भी पाठको के हानिलाभ का ध्यान रखते थे। आरंभ में ही नागरीप्रचारिणी सभा से उनका संघर्ष हो गया और उन्होंने उसपर से सभा के अनुमोदन को निकालकर 'सरस्वती' में 'अनुमोदन का अंत' छापा। व्याकरण के संबंध में उनका बालमुकुंद गुप्त से संघर्ष छिड़ गया। यद्यपि इसमें द्विवेदीजी का पक्ष कमजोर था, किंतु टक्कर गहरी रही। यह था 'अस्थिरता' और 'अनस्थिरता' का द्वंद्व। पं० श्यामबिहारी मिश्र, पं० शुकदेवबिहारी मिश्र और अनेक आर्यसमाजियो से भी उनका संघर्ष रहा किंतु कहीं भी उन्होने माफी

नहीं माँगी। द्विवेदीजी ने लगभग २० वर्षों तक 'सरस्वती' का संपादन किया। उन्होंने अपनी विद्वत्ता, श्रमशीलता और कार्यदक्षता से हिंदी साहित्य और हिंदी पत्रकारिता के स्तर को बहुत उन्नत किया। बहुत से लेखक, कवि और संपादक तैयार किए। इसी लिये उनके कार्यकाल तक के संपूर्ण हिंदी साहित्य पर उनकी छाप बैठ गई।

१९०१ ई० में जो पत्र प्रकाश में आए, उनमें 'समालोचक' का स्थान विशेष है। इसे जयपुर से पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने निकाला था। वही इसके संपादक थे। गुलेरी जी संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी और अँगरेजी भाषा तथा साहित्य के प्रकांड विद्वान थे। उनकी लेखनी से प्रसूत 'समालोचक' बड़ा सारगर्भित पत्र था। 'समालोचक' द्वारा गुलेरी जी एक अनूठी शैली लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। यह पत्र अल्पायु हुआ किंतु उतने ही समय में इसने हिंदी जगत् पर अपनी छाप लगा दी।

कानपुर के आर्मी प्रेस से लाला सीताराम जी ने 'सिपाही' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया था जिसे १९०४ ई० में साप्ताहिक कर दिया गया। इसके अतिरिक्त 'गढ़वाल समाचार' (गढ़वाल) और 'नारद' (छपरा) प्रकाशित हुआ। किंतु इनका स्थानीय ही महत्व था। इस काल में 'हितवादी' नामक पत्र का प्रकाशन कलकत्ता से हुआ। इसके संपादकों में पं० रुद्रदत्त शर्मा और प्रसिद्ध क्रांतिकारी पं० सखाराम गणेश देउस्कर थे। देउस्करजी ने 'सरस्वती' संपादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से व्याकरण का एक महत्वपूर्ण प्रश्न भी किया था कि बँगला, मराठी आदि में तो शब्द के साथ विभक्ति मिलाकर लिखी जाती है पर हिंदी में अलग क्यों लिखी जाती है। यहाँ द्विवेदी जी का पक्ष कमजोर था, अतः वे चुप लगा गए किंतु 'हितवार्ता' में ही पं० गोविंद नारायण मिश्र के लेख 'विभक्ति विचार' और प्राकृत विचार' पर निकले। इन लेखों के कारण ही मिश्र जी की प्रसिद्धि हुई। 'हितवादी' में ही देउस्करजी से पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर ने पत्र-संपादन-कला का अभ्यास किया। इन्हीं दिनों आर्यसमाज मे ब्राह्मण-अब्राह्मण - संघर्ष के परिणामस्वरूप पं० भीमसेन शर्मा आर्यसमाज से अलग हुए और उन्होने 'ब्राह्मण सर्वस्व' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया। १९०५ ई० में-जो पत्र प्रकाश में आए, उनमें लाहौर से निकलनेवाला 'संगीतामृत प्रवाह' विशेष उल्लेखनीय है। यह विष्णु दिगंबर पुलुस्कर का पत्र था। इसके संपादक पं० ठाकुरराम श्रीवर थे किंतु सारा कार्य विष्णु दिगंबर के निर्देश से होता था।

सन् १९०७ ई० का हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इसी वर्ष महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने प्रयाग से 'अभ्युदय' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। इसके पूर्व वे कालाकाँकर से निकलनेवाले 'हिंदोस्थान' का

संपादन करते थे। 'हिंदोस्थान' राजा रामपाल सिंह का पत्र था। उसमें मालवीय जी अपने विचारो का पूर्ण प्रतिपादन नहीं कर पाते थे। इसी लिये उन्होने 'अभ्युदय' का प्रकाशन किया। कुछ समय तक तो मालवीय जी ने ही 'अभ्युदय' का संपादन किया किंतु जब उनको राजनीति से एकदम अवकाश नहीं बचा तब उन्ही की प्रेरणा से बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने 'अभ्युदय' का संपादन अपने हाथ मे लिया। बाद में उन्हें भी समय का अभाव हो गया और पं० कृष्णकात मालवीय 'अभ्युदय' का संपादन करने लगे। 'अभ्युदय' का महत्व राजनीतिक और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से है। उत्तरप्रदेश की राजनीतिक जाग्रति में इसका पूर्ण योग रहा है। इसी भाँति हिंदी भाषा और साहित्य का भी कार्य 'अभ्युदय' ने किया है। अखिल भारतीय हिंदी साहित्य संमेलन की स्थापना मे 'अभ्युदय' का विशेष हाथ था।

इसी वर्ष लोकमान्य तिलक के केसरी' का हिंदी संस्करण 'हिंदी केसरी' नाम से प्रकाशित हुआ। इसके संपादक माधवराव सप्रे थे। यह गरम दल का अखबार था अतः चाव से पढ़ा जाता था। आगे चलकर तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चला और उनको सजा मिली किंतु उसी केस में सप्रे जी ने माफी माँग ली। इसका प्रभाव तिलक पर गहरा पड़ा और उन्होने दुःखी होकर 'हिंदी केसरी' को बंद कर दिया। इसके अतिरिक्त अनेक पत्र पत्रिकाओ का प्रकाशन होता रहा।

१९०९ ई० में प्रयाग से 'कर्मयोगी' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। 'कर्मयोगी' की प्रेरणा श्री अरविंद घोष के 'कर्मयोगिन' से मिली थी। यह क्रातिकारी विचारधारा का प्रचारक था। केवल 'कर्मयोगी' पढने के जुर्म में अनेक विद्यार्थी स्कूलो और कालेजो से निकाल दिए गए थे। 'कर्मयोगी' पढ़ने के अपराध मे ही श्री गणेशशंकर विद्यार्थी नौकरी से अलग कर दिए गए थे। 'कर्मयोगी' के वास्तविक सपादक पं० सुंदरलाल जी थे किंतु नाम अन्य क्रातिकारियो का छपता था। अल्पकाल में ही 'कर्मयोगी' के तीन संपादको को लंबी सजाएँ मिलीं किंतु जब लंबी सजाओ से भी 'कर्मयोगी' का प्रकाशन बंद नहीं हुआ तब सरकार ने लंबी जमानत माँगकर 'कर्मयोगी' को बंद कर दिया।

१९०९ ई० मे ही दो और मासिक पत्रिकाओ का जन्म हुआ। हिंदी साहित्य के इतिहास में इन दोनो का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें एक है 'इंदु' और दूसरी 'मर्यादा'।

'इंदु' का प्रकाशन काशी से १९०९ ई० में जयशंकर प्रसाद जी ने किया। इसके मुख पृष्ठ पर लिखा है—

सुखद सुशीतल राशि बरषि सुधा शिव भाल ते।
चहुँदिशि कला प्रकाशि 'इंदु' सकल मंगल करे॥

इसके संपादक श्री अंबिकाप्रसाद गुप्त थे और मूल्य ३॥) वार्षिक था। यह साहित्यिक पत्रिका थी। छायावादी कविता की मूल प्रवृत्ति का आभास इसमें मिलता है। इसी के द्वारा 'प्रसाद' जी साहित्य जगत् में अवतीर्ण हुए।

'मर्यादा' का प्रकाशन प्रयाग से १९०९ ई० में अभ्युदय प्रेस से हुआ। इसके प्रेरणास्रोत महामना पंडित मदनमोहन मालवीय थे। यह राजनीति प्रधान मासिक पत्रिका थी। इसके संपादक पंडित कृष्णकांत मालवीय थे। 'सरस्वती' से इसमें यह विशेषता थी कि 'सरस्वती' राजनीति से दूर रहती थी और 'मर्यादा' में खुलकर राजनीतिक लेख निकलते थे। हिंदू विश्वविद्यालय की परिकल्पना सबसे पहले 'मर्यादा' में निकली थी। जब मालवीय जी अधिकतर काशी रहने लगे, तब श्री शिवप्रसाद जी गुप्त की प्रेरणा से 'मर्यादा' काशी आ गई। कुछ दिनो तक उसका संपादन बाबू श्रीप्रकाश जी और डा० संपूर्णानंद जी ने भी किया था।

१९१२ ई० में पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने 'मनोरंजन' नामक मासिक पत्र शाहाबाद से निकाला। यह शुद्ध साहित्यिक पत्र था। अपने समय में बड़ा लोकप्रिय था। इसने दो विशेषांक भी निकाले। तीन वर्ष निकलकर यह बंद हो गया।

१९१३ ई० की महत्वपूर्ण घटना है कानपुर से साप्ताहिक 'प्रताप' का प्रकाशन। इसे अमर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने कुछ मित्रो के सहयोग से निकाला था। वही इसके संपादक थे। विद्यार्थी जी तथा उनके 'प्रताप' का आदर्श था देश के स्वाभिमान तथा उसकी स्वाधीनता के लिये सर्वस्व निछावर करनेवाले कार्यकर्ता पैदा करना। वे छोटे से छोटे कार्यकर्ताओं से संपर्क रखते थे और उनको सहारा देते थे। यही कारण था कि दूर दूर से जनता से संबंध रखनेवाले समाचार 'प्रताप' में आते और छपते थे। 'प्रताप' की व्यापक प्रसिद्धि और प्रभाव का यही रहस्य था। 'प्रताप' किसान आंदोलन का समर्थक था, उसने किसानो पर ताल्लुकेदारो के अत्याचारो का विरोध किया। बरेली जिले के ऐसे ही एक अत्याचार का विरोध 'प्रताप' में छपा। 'प्रताप' पर मुकदमा चला किंतु विद्यार्थी जी ने संवाददाता का नाम नहीं बताया। किसानों के पक्ष में लिखने के कारण एक बार और 'प्रताप' पर मुकदमा चला और विद्यार्थी जी को कारावास की सजा मिली। मित्रो ने कहा कि माफी माँग लीजिए, यह कोई राजद्रोह का मुकदमा तो नहीं है, किंतु विद्यार्थी जी ने माफी न माँगकर जेल जाना पसंद किया। गणेशशंकर विद्यार्थी भीतर से क्रांतिकारी किंतु प्रत्यक्षतः कांग्रेस के नेता

थे। उन्होंने पश्चिमी उत्तरप्रदेश के राजनीतिक जीवन का निर्माण किया था। उन्होने रामप्रसाद विसमिल, चंद्रशेखर 'आजाद' और सरदार भगतसिंह आदि क्रांतिकारी नेताओ का बराबर पोषण किया। उत्तरप्रदेश मे मजदूर संगठन के वे ही जन्मदाता थे। काकोरी षडयंत्र केस, मेरठ षडयंत्र केस और लाहौर षडयंत्र केसो में वे प्रेरणास्रोत थे। हिंदी के आंदोलन में उन्होने बराबर आगे बढकर काम किया। इसी लिये गोरखपुर हिंदी साहित्य संमेलन के वे अध्यक्ष हुए। १९३१ ई० में सरदार भगतसिंह की फॉसी के अवसर पर कानपुर मे जो भयानक हिंदू मुसलिम दंगा हुआ, उसे शांत करने में वे शहीद हो गए। गणेशशंकर विद्यार्थी जैसा तेजस्वी संपादक हिंदी में और कोई नही हुआ।

अप्रैल १९१३ ई० में खंडवा के कुछ साहित्यप्रेमियो की एक समिति ने 'प्रभा' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। इसके संपादक थे श्रीयुत कालूराम जी गंगराडे बी० ए० एल० एल० बी०। पत्रिका का आदर्श इंगलैंड से प्रकाशित होनेवाला 'रिव्यू आफ रिव्यू' था। इसकी पृष्ठ संख्या ६० से ७० तक होती थी। वार्षिक मूल्य पहले ३) था बाद में ५) हो गया। लगभग १९१७ ई० से इसका प्रकाशन प्रताप प्रेस, कानपुर से होने लगा। उस समय सपादक पर नाम छपता था—गणेशशंकर विद्यार्थी, संपादक 'प्रताप' और देवदत्त शर्मा बी० ए०। १९२१ ई० में 'प्रभा' के संपादक हुए श्रीकृष्णदत्त पालीवाल एम० ए०। १९२३ ई० में पं० माखनलाल चतुर्वेदी और उसके बाद पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'। १९१७ ई० से 'प्रभा' राजनीतिक पत्रिका हो गई और उसके मुखपृष्ठ पर छपता था – विविध विषय संपन्न सचित्र राजनैतिक मासिक पत्रिका।

१९१४ ई० में सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० काशीप्रसाद जायसवाल के संपादकत्व में पटने से 'पाटलिपुत्र' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ। यह हथुवा राज का पत्र था। लगभग ६ महीने तक डा० जायसवाल इसके संपादक थे। उस काल तक यह बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और सुसंपादित ढग से निकला। इसका एक विशेषांक तो बहुत सुंदर निकला था। डा० जायसवाल के बाद बाबू सोनासिंह चौधरी इसके संपादक हुए।

लगभग १९१८ ई० में बाबू मूलचंद अग्रवाल ने कलकत्ते से 'विश्वमित्र' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन किया। आरंभ में उनको द्रव्याभाव था। एक हैंडप्रेस पर उन्होने 'विश्वमित्र' निकाला था। १९२१ ई० के असहयोग आंदोलन मे उन्हें सजा भी हुई थी। इसके बाद 'विश्वमित्र' का प्रचार बढने लगा। 'विश्वमित्र' के मालिक और वास्तविक संपादक श्री मूलचंद ही थे। किंतु कुछ दिनो तक पं० मातासेवक पाठक ने भी इसका संपादन किया था। व्यवसाय बुद्धि के कारण मूलचंद जी ने 'विश्वमित्र' को चलाया और उससे द्रव्यार्जन भी किया। १९४० ई०

के बाद 'विश्वमित्र' दिल्ली, कानपुर, बंबई और पटना से भी निकलने लगा। इसका साप्ताहिक संस्करण भी निकलता था और उसके संपादक पं० देवदत्त शुक्ल थे। कुछ दिनों तक मासिक 'विश्वमित्र' भी निकला था, जिसके संपादक डा० हेमचंद्र जोशी और पं० इलाचंद जोशी थे। 'विश्वमित्र' ने धनार्जन तो खूब किया किंतु यश उसके भाग्य में नहीं था। वह अब भी दैनिक रूप में कलकत्ता और पटना से निकलता है।

इनके अतिरिक्त भी अनेक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन उस काल मे हुआ है। स्थानाभाव के कारण उन सबका वर्णन यहाँ संभव नहीं है. अब आगे हम अपने आलोच्य काल पर आते हैं।

हिंदी समाचारपत्रों की प्रगति

(१९२० से १९४० ई० तक)

सामान्य प्रवृत्तियाँ

समचारपत्रो का इतिहास देश की राजनीति और सामाजिक स्थिति से संबद्ध होता है। प्रचार का साधन होने के कारण समाचारपत्रो पर राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों का सीधा प्रभाव पड़ता है। भारतीय राजनीति मे गांधी जी के प्रवेश के साथ देश का इतिहास नया मोड़ लेता है। गाधी जी के नेतृत्व में देश के अंदर जैसी व्यापक जागृति हुई, वैसी इससे पूर्व कभी नहीं हुई थी। समाचारपत्रो पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा। इसी लिये उस काल की सामान्य स्थिति का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है।

सन् १९१६ ई० में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर गांधीजी ने भारतीय राजनीति मे प्रवेश किया। उन्होने चंपारन में नीलहे गोरो के अत्याचार के विरुद्ध सत्याग्रह किया और उसमें उनको सफलता मिली। फरवरी १९१९ ई० में भारत सरकार ने रौलट एक्ट पास किया जिसके द्वारा उसके हाथ में दमन के लिये व्यापक अधिकार मिला। देश ने इसका विरोध किया। १३ अप्रैल १९१९ ई० को जलियाँवाला बाग में अँगरेजो ने सैकड़ो भारतीयों को गोली से भूनकर सारे पंजाब में सैनिक कानून लागू कर दिया। इसके प्रतिक्रियास्वरूप देश मे विरोध और विक्षोभ की लहर दौड़ गई। दिसंबर १९१९ ई० में अमृतसर में ही कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें लोकमान्य तिलक, देशबंधु चितरंजन दास और महात्मा गांधी जी ने अंग्रेजी सरकार द्वारा माटेगु चेम्सफोर्ड शासनसुधारो की घोषणा को अपर्याप्त और असंतोषजनक बताते हुए सरकार से संघर्ष करने पर जोर दिया। १९२० ई० में देश का वातावरण और गरम हो गया। इस समय देश

के एकछत्र नेता महात्मा गांधी थे। उन्होने संपूर्ण भारत में असहयोग आंदोलन का शंखनाद किया। उनके असहयोग का कार्यक्रम बहुत कुछ वही था जिसे १९०५ ई० में स्वदेशी आदोलन के क्रम में देश ने स्वीकार किया था। किंतु वह व्यापक स्तर पर नही था। उसने संपूर्ण भारतीय जीवन को स्पर्श नहीं किया था। १९२० ई० के असहयोग आदोलन ने भारतीय जीवन को अपने में समेट लिया। हिंदी प्रदेशो पर उसका व्यापक ,प्रभाव पड़ा। जिन कार्यक्रमो द्वारा इसका प्रभाव दूर तक प्रसारित हुआ, उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ अपेक्षित है—महात्मा गांधी के इस असहयोग आदोलन में विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार, सरकारी नौकरियो और मान, पद, प्रतिष्ठा का त्याग, अँगरेजी स्कूलो, कालेजो और अदालतो का छोड़ना, अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षाप्रणाली का देशी भाषाओ के माध्यम से अपनी आवश्यकताओ के अनुसार विकास, ग्रामो और शहरो में झगड़ा मिटाने के लिये पंचायतो को कायम करना, और इसी प्रकार अपनी एक सामान्य समानान्तर राष्ट्रीय सरकार कायम करना। इसी के अनुसार काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, साबरमती आश्रम आदि संस्थानो की स्थापना हुई। इन सारे कार्यक्रमो के प्रचार के लिये अनेक दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र पत्रिकाओ का प्रकाशन हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि में आरंभ हुआ। इनमे 'आज' (काशी), 'स्वतंत्र' (कलकत्ता), 'वर्त्तमान' (कानपुर ', 'दैनिक प्रताप' (कानपुर), विश्वमित्र' (कलकत्ता', 'भविष्य' (प्रयाग), 'विजय', 'अर्जुन' (दिल्ली) इत्यादि हैं। इसी काल मे वेतार के तार से समाचार भेजने की व्यवस्था हुई, रूटर और एशोसिएटेड प्रेस नामक समाचार एजेंसियो की स्थापना हुई, जिनसे समाचारपत्रो का विकास हुआ।

आलोच्य काल की दूसरी सामान्य परिस्थिति है हिंदू मुसलिम दंगो से उत्पन्न संगठन और आदोलन तथा उनसे संबद्ध प्रचार। इन साम्प्रदायिक प्रवृत्तियो के उत्स को ठीक से देखने के लिये हमें १९२० ई० की राजनीतिक स्थिति पर एक नजर और डालनी होगी। राष्ट्रीय संघर्ष में मुसलमानो को साथ लाने के लिये काग्रेस ने खिलाफत के प्रश्न को राष्ट्रीय संघर्ष का एक मुद्दा बना दिया। बीच मे तुर्की की क्राति ने खिलाफत के आधार को ही समाप्त कर दिया किंतु काग्रेस के समर्थन के कारण खिलाफत जैसे मजहबी मामले को राष्ट्रीय स्तर प्राप्त हो गया। इस प्रकार मुसलमानो की सांप्रदायिकता देश के राष्ट्रीय स्तर पर आ गई। उनका खिलाफती धर्मराज कायम करने का जोश, विदेशी अंगरेजों के विरुद्ध ही सीमित न रहकर स्वदेशी हिंदुओ के विरुद्ध भी भड़क उठा। परिणामस्वरूप १९२२ ई० मे ही मुलतान में भीषण हिंदू मुसलिम दंगा हुआ। किंतु उस मुसलिम प्रधान इलाके मे दंगे को शांत करने के लिये कोई मुसलिम नेता नहीं

पहुँचा। प्रतिक्रियास्वरूप हिंदुओं में भी हिंदू संगठन कायम करने की प्रवृत्ति पैदा हुई। फलस्वरूप तब्लीग और तंजीम, हिंदू संगठन और शुद्धि आंदोलन की सांप्रदायिक भावना उभरकर सामान्य धरातल पर आ गई। इस विषय से संबंधित भी अनेक पत्र पत्रिकाएँ हिंदी में निकलीं। लगभग सभी हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में यह विषय भी स्थान पाने लगा।

आलोच्यकाल की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं में सन् १९३० ई० का सत्याग्रह संग्राम भी है। इसकी पृष्ठभूमि में १९२८ ई० का साईमन कमीशन है जिसके बहिष्कार के अवसर पर लाहौर में लाला लाजपत राय पर लाठी का भयानक प्रहार हुआ और उनकी मृत्यु भी हुई। प्रतिक्रियास्वरूप सरदार भगतसिंह ने सैंडर्स का बध किया और सेंट्रल असेंबली मे बम फेंककर क्रांतिकारी प्रवृत्ति को सामान्य धरातल पर ला दिया। १९३० ई० में महात्मा गांधी ने बारडोली में नमक कानून तोड़कर सत्याग्रह संग्राम छेड़ दिया। यह सत्याग्रह संग्राम बहुत ही व्यापक और देश के आमूलचूल को झकझोरकर जगा देनेवाला हुआ। इसमें देश की और विशेषकर हिंदी की सभी पत्र पत्रिकाओं ने खुलकर भाग लिया। अँगरेजी सरकार झुकी। गांधी इरविन पैक्ट हुआ किंतु फिर सरकार ने वार किया। नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। फलस्वरूप १९३२ ई० में पुनः सत्याग्रह छिड़ा। देश की संघर्ष शक्ति आसमान चूम रही थी। अँगरेजों ने उसे समझा और प्रांतीय शासनाधिकारों की घोषणा की। १९३६ में कांग्रेस ने लगभग सभी सूबों पर अधिकार कर लिया। इन सभी परिस्थितियों में हिंदी के पत्रों ने साथ दिया।

आलोच्यकाल की एक और सामान्य प्रवृत्ति, जिसने हिंदी पत्रों, पत्रकारों और साहित्यकारों को प्रभावित किया, वह है—साम्यवादी या समाजवादी, जिसे साहित्य में प्रगतिवाद भी कहते हैं। इस प्रवृत्ति का बीजारोपण भी भारत में सन् १९२० ई० में ही हुआ। सन् १९१७ ई० में रूस में साम्यवादी क्रांति हुई। उसका भारत पर भी प्रभाव पड़ा। १९२० ई० में कुछ भारतीय क्रांतिकारी छिपकर रूस चले गए। उन्होंने रूसी क्रांति का अध्ययन किया और वापस आकर अमर शहीद श्री गणेश शंकर विद्यार्थी के नेतृत्व में कानपुर में मजदूर संगठन कायम किया। १९२४ ई० में कानपुर में कम्युनिस्ट केस भी चला १९२४ ई० में पं० जवाहरलाल नेहरू ने रूस की यात्रा की। नेहरू जी के द्वारा कांग्रेस के अंदर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव फैला। १९२७ ई० तक भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो गई। १९२८ ई० में मेरठ षडयंत्र केस चला किंतु अपने अंतर्राष्ट्रीय दर्शन के कारण १९३० ई० में कम्युनिस्टों ने सत्याग्रह संग्राम का विरोध किया। यहीं से समाजवादी विचारधारा में दरार पड़ी।

१९३४ ई० में आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता मे काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। अप्रत्यक्ष रूप से इस दल को पं० जवाहरलाल नेहरू का समर्थन प्राप्त था। १९३६ ई० से प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। समाजवादी विचारधारा के कारण देश में अनेक स्थानो पर किसानों के तथा अनेक स्थानों पर मजदूरो के आंदोलन हुए। अनेक पत्र पत्रिकाओ का प्रकाशन हुआ। सामान्य रूप से हिंदी की पत्र पत्रिकाओ पर किसी न किसी रूप से समाजवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार इस विचारधारा ने भी समाज को प्रभावित किया।

आलोच्यकाल मे पत्र पत्रिकाओ की संख्या बहुत अधिक है। सभी पत्र-पत्रिकाओ को ढूंढ़कर देख पाना भी कठिन है। किसी भी संग्रहालय में सबका संग्रह नही है। संपादकाचार्य पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी और डा० रामरतन भटनागर भी सभी पत्र पत्रिकाओ को देख पाने में समर्थ नही हुए। प्रस्तुत प्रयत्न तो एक इतिहास का एक छोटा कोना मात्र है। अतः आलोच्यकाल के सभी पत्रो का इतिहास दे पाना कठिन है। किंतु आलोच्यकाल का प्रतिनिधित्व जिन हिंदी पत्र-पत्रिकाओ ने किया है, उनका इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न हम अवश्य करेंगे। इसके अतिरिक्त ऐसे पत्रो की चर्चा भी हम करेंगे जिनका किसी न किसी रूप में महत्व रहा है किंतु स्थानाभाव के कारण बहुत से पत्रो का नाम भी छोड़ जाना पड़ेगा।

आज

देश के सार्वजनिक जीवन में स्व० शिवप्रसाद गुप्त का बड़ा विशिष्ट स्थान है। दस लाख रुपयो का दानकर उन्होने काशी विद्यापीठ की स्थापना की। राष्ट्रीय शिक्षा का प्रथम दौर १९०५ ई० में चला था और द्वितीय १९२० ई० में। इस द्वितीय दौर के राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओ में काशी विद्यापीठ का स्थान महत्वपूर्ण है। यह एक प्रशिक्षित राजनीतिक कार्यकर्ता पैदा करने का केंद्र था। इतना ही नही, श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से जनता के मानस को संस्कृत और समुन्नत करने के लिये शिवप्रसाद गुप्त ने 'ज्ञानमंडल' प्रेस की स्थापना की। इसके द्वारा अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथो का निर्माण और प्रकाशन कराया। १९२० ई० में जन्माष्टमी के दिन उन्होंने 'आज' नामक दैनिक पत्र काशी से प्रकाशित कराया। 'आज' में रोमन टाइप का उपयोग नही होता था। असोशिएटेड प्रेस से समाचार बराबर लिया जाता था। 'आज' के प्रथम संपादक बाबू श्री प्रकाश जी थे। इनके सहकारी के रूप में पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर भी थे। कालातर में श्रीप्रकाशजी को समयाभाव रहने लगा, इसलिये 'आज' के प्रधान संपादक बाबूराव विष्णु

पराड़कर हुए। 'आज' अँगरेजी के 'पायोनियर' और 'लीडर' के टक्कर का दैनिक पत्र बराबर रहा। अनेक प्रसंगो पर उसने 'लीडर' की आलोचना की और विवाद किया। 'आज' के संपादक को शिवप्रसाद गुप्त ने पूरी स्वतंत्रता दी थी। लेखक ने गुप्तजी के अनेक पत्र देखे हैं जिनमें उन्होने 'आज' मे प्रकाशित किसी लेख अथवा टिप्पणी में त्रुटि दिखाई है। उनमें संपादक के प्रति नम्रता और सौजन्य का अद्‌भुत मिश्रण है। पराड़कर जी के किसी भी संपादकीय कार्य में उन्होने कभी भी बाधा नहीं पैदा की। उनके सा आदर्श मालिक दुर्लभ है। १९३३ ई० में 'आज' का अंगरेजी संस्करण 'टूडे' नाम से निकला। इसके संपादक डा० संपूर्णानंद जी थे। 'आज' भारतीय स्वाधीनता का प्रबल समर्थक था। आदोलन के दिनों में जब अग्रलेख का लिखना कानून की मार में आता था, उस समय संपादकीय कालम को कोरा छोडकर उसपर 'काले कानून की भेंट' लिख दिया जाता था। घोर आंदोलन के दिनो में जब 'आज' का प्रकाशन बंद हो जाता था, तब वह गुप्त रूप से 'रणभेरी' के रूप में निकलता था और उसका भी संचालन पराड़कर जी करते थे। 'आज' हिंदी का सर्वाधिक लोकप्रिय और आदर्श दैनिक पत्र रहा है ।

स्वतंत्र

जन्माष्टमी सन् १९२० ई० को कलकत्ता से 'स्वतंत्र' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी थे। यह भारतीय स्वतंत्रता का समर्थक था किंतु गांधी जी के असहयोग आदोलन पर इसकी पूर्ण आस्था नहीं थी। इस तरह इसकी नीति स्पष्ट नही थी। आगे चलकर बाबू पारसनाथ सिंह ने जो 'स्वतंत्र' के संपादकीय विभाग मे थे, असहयोग आदोलन का समर्थन कर दिया। कुछ समय तक कलकत्ते मे इसका बड़ा प्रचार था। १९३० ई० में सत्याग्रह के अवसर पर इससे पॉच हजार की जमानत माँग ली गई। जमानत न दे पाने के कारण इसका प्रकाशन बंद कर देना पड़ा। बाद में बाबू मूलचंद अग्रवाल ने इसका स्वामित्व खरीद लिया। लगभग १९३४ ई० में 'स्वतंत्र' बंद हो गया। 'स्वतंत्र' का साप्ताहिक संस्करण भी निकलता था।

वर्तमान

विजयादशमी सन् १९२० ई० को कानपुर से 'वर्तमान' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक और प्रकाशक पं० रमाशंकर अवस्थी थे। इसका मनोरंजन का स्तंभ प्रसिद्ध था जिसे अवस्थीजी स्वयं लिखते थे। आगे चलकर 'वर्तमान' समाजवादी विचारो का समर्थक हो गया। १९५२ ई० में यह बंद हो गया।

दैनिक प्रताप

'प्रताप' का जन्म तो १९१३ में ही हो चुका था। १९२० ई० में देश की स्वाधीनता के व्यापक प्रचार के लिये श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' का दैनिक संस्करण 'दैनिक प्रताप' नाम से कानपुर से ही निकाला। 'दैनिक प्रताप' के संपादक भी विद्यार्थी जी ही थे। हम अन्यत्र लिख चुके हैं कि विद्यार्थी जी मूलतः क्रातिकारी थे। १९२३ ई० मे फतहपुर केस में विद्यार्थीजी ने हिंसा का समर्थन किया। उनपर मुकदमा चला। उनके मित्रो ने माफी माग लेने के लिये कहा किंतु विद्यार्थी जी ने माफी नही माँगी। उन्हें सजा हो गई। आर्थिक संकट के कारण कुछ दिनो तक 'दैनिक प्रताप' का प्रकाशन बंद हो गया था किंतु वह फिर प्रकाशित होने लगा। विद्यार्थीजी की शहादत के बाद 'दैनिक प्रताप' के संपादक पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और बाद में विद्यार्थी जी के बड़े पुत्र श्री हरिशंकर विद्यार्थी हुए। कुछ दिनो तक श्री ओंकारशंकर विद्यार्थी भी सपादक थे। आज कल श्री सुरेश भट्टाचार्य इसका सपादन करते हैं।

कर्मवीर

आरंभ में १९२० ई० में जबलपुर से 'कर्मवीर' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। यह पं० माखलाल चतुर्वेदी का पत्र था। वे ही इसके संपादक भी थे। थोड़े दिनों के बाद यह खंडवा चला गया। यह राजनीति में गरम दल का समर्थक था। राजनीति के अतिरिक्त साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी इसकी थी। कुछ दिनो तक इसका संपादन श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने भी किया था। यह पत्र अब भी निकलता है।

देश

पटना में सदाकत आश्रम की स्थापना के बाद लगभग १९२० ई० में डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने पटना से 'देश' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। आरंभ में वे ही इसके संपादक थे। बाद में आचार्य बदरीनाथ वर्मा इसके संपादक हुए। श्री गदाधर प्रसाद अंबष्ठ, मथुरा प्रसाद और पं० पारसनाथ त्रिपाठी ने इसके संपादकीय विभाग मे काम किया था। यह गाधीजी की नीति का समर्थक था। लगभग १० वर्ष चलने के बाद यह बद हो गया। इसी नाम का एक पत्र १९३९ मे साप्ताहिक रूप मे पटना से निकला। कुछ अंको के बाद इसे भी बंद कर दिया गया।

भविष्य

इसी वर्ष प्रयाग से पं० सुंदरलाल जी के संपादकत्व में 'भविष्य' नामक दैनिक पत्र निकला। गरम दल के विचारो का पोषण करते हुए भी यह महात्मा गांधी जी के कार्यक्रम का समर्थक था। बाद में यह साप्ताहिक हो गया।

स्वार्थ

काशी के ज्ञानमंडल से अर्थशास्त्र संबंधी एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी १९२० ई० में हुआ। यह बहुत ऊँचे स्तर की अपने विषय की सर्वांगपूर्ण पत्रिका थी। वार्षिक मूल्य ४) था। एक वर्ष तक इसके संपादक पं० जीवनशंकर याज्ञिक एम० ए०, एल० एल० बी थे। बाद में बाबू नरसिंहदास एम० ए०, एल० एल० बी० हुए। इनके बाद श्री मुकुंदीलाल श्रीवास्तव ने इसका संपादन किया।

इसी वर्ष बिजनौर से 'स्वराज्य' नामक अर्ध साप्ताहिक पत्र निकला। दैनिक पत्रो में इसी वर्ष कलकत्ते से 'साम्यवादी', कानपुर से 'लोकमत' और गूँजरवाला से 'भावनामा' नामक दैनिक पत्रो का प्रकाशन हुआ। इस वर्ष के अन्य महत्वपूर्ण पत्र पत्रिकाएँ हैं—'जैनबंधु' (दिल्ली), 'वैश्य बंधु' (काशी), 'अग्रवाल सोहिया हितैषी' (आगरा), 'गोहा वैश्य पताका' (नागपुर), 'मारवाड़ी सुधार' (आरा), 'राजस्थान केसरी' (यह तिलक के 'केसरी' के आदर्श पर निकलनेवाला राजनीतिक पत्र था। इसका उद्देश्य राजस्थान में राजनीतिक जागृति पैदा करना था। सेठ जमनालाल का संरक्षण इसे प्राप्त था), 'प्रेमबंधु' (कानपुर), 'विश्वभूषण' (अयोध्या), 'बंधु' (मुरार, ग्वालियर), 'सौरभ' (झालरा पाटन), 'पतिव्रता' (कलकत्ता , 'भारती' (कलकत्ता), छात्र सहोदर' (जबलपुर), 'किसान' (उन्नाव) 'किसान समाचार' (मुजफ्फरपुर), 'आर्यदेश' (हरिहर, बस्ती), 'उषा' (मुरार ग्वालियर), 'अहिंसा' (काशी), 'स्वास्थ्य दर्पण' (जबलपुर), 'सेवक बंधु' और 'स्वयंसेवक' (प्रयाग)।

इस वर्ष लगभग २८ मासिक पत्र निकले जिनमें ११ जातीय पत्र थे। अनेक जातीय पत्रो का स्तर भी ऊँचा था।

१९२१ ई० के महत्वपूर्ण पत्र पत्रिकाओ में 'हिंदी नवजीवन' का नाम लिया जा सकता है। यह महात्मा गाधी जी के गुजराती 'नवजीवन' का हिंदी रूपांतर था। यह विचार पत्र था। इसके संपादक महात्मा गांधी ही थे किंतु संपादन का सारा काम पं० हरिभाऊ उपाध्याय करते थे। इसके प्रकाशक सेठ जमनालाल बजाज थे। यह नवजीवन प्रेस गुजरात से साप्ताहिक रूप में निकलता था और इसका वार्षिक मूल्य ४) था। महात्मा गांधी के 'यंग इंडिया' का हिंदी रूपातर पटना से 'तरुण भारत' नाम से निकलता था। इसका संपादन श्री मथुराप्रसाद दीक्षित करते थे।

कुछ दिनो तक नागेश्वर प्रसाद शर्मा भी इसके संपादक थे। एक पत्र हिंदी अंग्रेजी में 'मारिशस इंडियन' नाम से मारिशस के पोर्टलुईस से श्री देवदत्त शर्मा के संपादकत्व मे निकला था।

१६२१ ई० में निकलनेवाले हिंदी दैनिक समाचारपत्रो में कानपुर से 'आदर्श' और जबलपुर से 'तिलक' का नाम लिया जा सकता है। 'आदर्श' के संपादक कस्तूरी नारायण थे। 'तिलक' की विशेष जानकारी नही मिली।

इस तरह कुल मिलाकर २३ मासिक पत्र निकले किंतु इनमे एक भी महत्वपूर्ण साहित्यिक मासिक नहीं हैं। अनेक तो जातीय पत्र ही हैं जिनमें से कुछ साहित्यिक रुचि के हैं। कुछ सार्वजनिक महत्व के भी पत्र हैं।

१६२१ ई० की हिंदी पत्र पत्रिकाओ की जो उल्लेखनीय बात है वह यह कि प्रायः सबके सब असहयोग के समर्थन मे कुछ न कुछ लिखते रहे। इस वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं—'समाजसेवक' (नागपुर), 'धर्मवीर' (दिल्ली), 'स्वाधीन' (कलकत्ता), 'निर्भीक' (मोतीहारी), 'किसान' (इटावा), 'महिला संसार' (फतहगढ़), 'नाई मित्र' (मोठ, झाँसी), 'खंडेलवाल जैन हितेच्छु, (शोलापुर), 'राष्ट्रीय अध्यापक' (कानपुर); 'जैन विजय पताका' (कलकत्ता), 'खडेलवाल हितेच्छु' (बंबई), 'बारह सेनी' (अलीगढ), 'आमरवैश्य शुभचिंतक' (कानपुर), 'श्रीसनाढ्य' (जबलपुर), 'श्रीगोतम' (मूडवा, मारवाड), 'गूजर गौढ हितैषी (सोहागपुर), 'नाईब्राह्मण' (कानपुर), 'उद्यम' (नागपुर), 'उद्योग' (कलकत्ता), 'कर्तव्य' (आगरा), 'तिलक' (आगरा), 'महिला' (आगरा), 'शिल्प कला' (दिल्ली), 'शिल्प समाचार' (कन्नौज), 'वैदिक संदेश' (काँगडी), 'समय' (मुरार, ग्वालियर), 'आयुर्वेद प्रदीप' (मुजफ्फरपुर), 'कविराज (दिल्ली), 'आर्यावर्त (पटना) यह वर्तमान दैनिक आर्यावर्त से भिन्न था।

१६२२ ई० मासिक पत्रिकाओ की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

माधुरी

लखनऊ से 'माधुरी' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन ३० जुलाई १६२२ ई० को हुआ। इसपर लिखा था 'विविध-विषय-भूषित साहित्य संबंधी सचित्र मासिक पत्र। इसके संपादक थे—श्री दुलारेलाल भार्गव और श्री रूपनारायण पाडेय। पृष्ठसंख्या १०४ थी और वार्षिक मूल्य ६॥) था। प्रथम अंक के मुखपृष्ठ पर यह दोहा छपा था—

> सिता, मधुर मधु अधर तिय सुधा माधुरी धन्य।
> पै नव-रस-साहित्य की यह माधुरी अनन्य॥

आगे चलकर दूसरी लाइन को बदलकर इस प्रकार कर दिया गया—

पै यह साहित माधुरी नव-रस-मयी अनन्य।

इसमें प्रमुख स्तंभ निम्नलिखित थे—(१) विविध विषय, (२) सुमन संचय, (३) विज्ञान वाटिका, (४) महिला मनोरंजन और (५) पुस्तक परिचय।

कुछ समय तक श्री प्रेमचंदजी और पं० कृष्णविहारी ने भी 'माधुरी' का संपादन किया था। श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला तथा श्री शिवपूजन सहाय ने भी 'माधुरी' में काम किया था।

'माधुरी' प्रधानतः साहित्यिक मासिक पत्रिका थी। 'माधुरी' का प्रचार प्रसार तथा ग्राहकसंख्या बहुत बढ़ी। इसका स्तर भी ऊँचा रखा गया। रीतिकालीन अनेक कवियों पर इसमें महत्वपूर्ण लेख निकले हैं। इसके अनेक साहित्यिक विशेषांक प्रसिद्ध हैं। हिंदी संसार में 'माधुरी' का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस से होता था।

चाँद

लगभग १९२० में ही श्री रामरख सिंह सहगल ने 'चाँद' निकालने का निश्चय किया था। उस समय उन्होंने जो डिक्लरेशन मैजिस्ट्रेट के यहाँ दाखिल किया था, उसमें 'चाँद' के प्रकाशन का उद्देश्य समाजसेवा घोषित किया था किंतु उस समय सरकार ने १५००) जमानत माँगकर 'चाँद' का निकलना रोक दिया था। सहगल जी समय की प्रतीक्षा में थे। नवम्बर १९२२ ई० में 'चाँद' का प्रकाशन हुआ। प्रथम अंक में 'चाँद' का उद्देश्य इस प्रकार घोषित था—'हमारे पत्र का उद्देश्य स्त्रियों का अज्ञान, परदे की कुप्रथा इत्यादि सामाजिक बुराइयों को दूर करना, स्त्रियों को उपयोगी तथा उनके हित की बातों से सदा उनका परिचय कराते रहना, उन्हें बच्चों के पालने की उचित शिक्षा देते रहना, उन्हें गृहस्थी के सभी आवश्यक कार्यों में निपुण बनाना है···' प्रथम अंक में दो व्यक्तियों का नाम संपादक के रूप में छपा—श्री रामरख सिंह सहगल और श्री नंदकिशोर तिवारी। समाजसुधार की दिशा में 'चाँद' ने बहुत काम किया। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये 'मारवाड़ी अंक' आदि निकाले। आगे चलकर 'चाँद' की नीति में परिवर्तन हो गया। उसका उद्देश्य सामाजिक के साथ ही राजनीतिक भी हो गया। अतः उसके मुखपृष्ठ पर निम्नलिखित उद्देश्य छपने लगा—

'आध्यात्मिक स्वराज्य हमारा ध्येय, सत्य हमारा साधन और प्रेम हमारी प्रणाली है। जब तक इस पावन अनुष्ठान में हम अविचलित हैं तब तक हमें इसका भय नहीं कि हमारे विरोधियों की संख्या और शक्ति कितनी है।'

इसने राजनीतिक क्राति से संबंधित लेखों का भी प्रचार आरंभ किया। इस दिशा में 'चाँद' का फाँसी अंक प्रसिद्ध है। इसमे उच्चकोटि के सामाजिक और राजनीतिक लेख निकलते थे। पुस्तकों की आलोचना भी इसमें होती थी।

१६२२ ई० के दैनिक पत्रों में कुछ नाम गिनाए जा सकते हैं किंतु सभी अल्पायु थे। इनमे 'प्रकाश' (कलकत्ता), 'मातृभूमि,' 'विक्रम' (कानपुर), 'स्वराज्य' (उन्नाव) और 'वैभव' (दिल्ली) हैं। इनमें 'प्रकाश' के संपादक बाबू पारसनाथ सिंह थे और 'विक्रम' के श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा। दैनिक 'वैभव' का संपादन पं० इंद्र विद्यावाचस्पति ने किया। इसी के द्वारा इंद्रजी पत्रकार जगत् में आए। इस वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं—'भारत तिलक' (मद्रास), 'विहार दर्पण' (मुजफ्फरपुर), 'हिंदू गजट' (हरिद्वार), 'देवेन्द्र' (लखनऊ), 'नवीन राजस्थान' (अजमेर), 'नवभारत' (देहरादून), 'मातृभूमि' (पटना), 'हिदी आउटलुक (लखनऊ), 'स्वाधीन' (झाँसी), 'हिंदी' (नेटाल), 'देव-दर्शन' (प्रयाग), 'महान लोथी राजपूत धर्म पताका' (आगरा), 'झाँसी समा-चार' (झाँसी), 'स्वराज्य' (गोरखपुर), 'भारत धर्म नेता' (काशी), 'अरोड़ा वंश सेवक' (नसीराबाद), केशरवानी मार्गदर्शक' (सागर), 'गहोइ वैश्य हितकारी' (मुरार, ग्वालियर) 'जाटव' (आगरा), 'रजकबंधु' (प्रयाग), 'धीमान् ब्राह्मण' (सरधना), 'मस्ताना योगी' (कानपुर), 'घनचक्कर' (पटना), 'कपट सखा' (कानपुर), 'तिजारत' (दिल्ली), 'छात्र हितैषी' (अलीगढ), 'तिलक' (मुजफ्फरपुर)

१६२३ मे अनेक पत्र पत्रिकाएँ प्रकाश में आईं। इनमें ६ दैनिक, २४ साप्ताहिक, ६ पाक्षिक और लगभग १० मासिक थे।

१६२३ में प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्रों में 'अर्जुन' सबसे प्रभावशाली दैनिक पत्र था। यह दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसके संपादक पं० इंद्र विद्यावा-चस्पति थे। दिल्ली, पंजाब और राजस्थान में यह अत्यंत प्रभावशाली दैनिक था। 'विजय' नागपुर से निकला था। पटना से 'ब्रह्मर्षि' नामक एक दैनिक पत्र निकला था, किंतु उसका कोई विवरण नहीं मिलता। 'प्रकाश' सागर (म० प्र०) से निकला था। किंतु 'अर्जुन' को छोड़ कर सभी अल्पायु थे। 'अर्जुन' का साप्ताहिक संस्करण भी निकलता था। दिल्ली से ही 'सत्यवादी' नामक एक और भी साप्ताहिक पत्र निकला जिसके संपादक इंद्र जी थे। इस प्रकार इस काल में इंद्र जी सबसे प्रभावशाली संपादक थे।

१६२३ ई० में कुल २४ साप्ताहिक पत्र निकले। इनमें साहित्यिक रुचि का सबसे प्रभावशाली साप्ताहिक कलकत्ता से निकलनेवाला 'मतवाला' था। इसके

प्रकाशक संचालक और संपादक मिर्जापुर निवासी और कलकत्ता प्रवासी श्री महादेव प्रसाद सेठ थे। 'मतवाला' अपने समय मे उदीयमान साहित्यकारो का केंद्र था। इसे 'मतवाला मंडल' भी कहते थे। 'मतवाला मंडल' में महाकवि 'निराला,' 'उग्र', शिवपूजन सहाय तथा अन्य अनेक महत्वपूर्ण साहित्यिक थे। इसका दो पंक्तियो का मोटो बड़ा मजेदार था—

अमिय-गरल-रवि-शशिकर सीकर राग विराग भरा प्याला।
पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह मतवाला।

मासिको में अधिकांश जातीय ही थे। किंतु उनमें भी साहित्यिक रुचि के लेख रहते थे। इस वर्ष सार्वजनिक रुचि का मासिक 'आर्यकुमार' दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसके संपादक सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री केशवदेव शास्त्री थे।

इस वर्ष की पत्र पत्रिकाओ में प्रमुख है—'नवयुग' (प्रयाग), 'अहिंसा-प्रचारक' (अजमेर), 'गोरक्षक' (दिल्ली), 'साप्ताहिक विश्वदूत' (रंगून), 'जीवन' (मथुरा), श्रमजीवी' (नागपुर), 'युगांतर' (लुधियाना), 'तरुण राजस्थान' (अजमेर), 'अहिंसा' (अजमेर), 'आर्य मार्तंड' (अजमेर), 'जैन पताका' (बंबई), 'वैश्य गजट' (दिल्ली), 'महिला समाचार' (लखनऊ), 'महिला सुधार' (कानपुर), 'व्यापार पत्र' (दिल्ली , 'मातृभूमि' (मेरठ), 'अरुणोदय' (मिर्जापुर), ग्रामवासी (काशी), 'स्वच्छंद' (हाथरस), 'राम' (शाहाबाद), कायस्थ पत्रिका' (गया), 'गुलहरे वैश्य हितकारी' (कानपुर), 'कुशवाहा क्षत्रिय मित्र' (काशी), 'विजयवर्गीय' (कलकत्ता), 'अछूत' (दिल्ली), 'राजस्थान सारस्वत' (अजमेर), 'क्षत्रियवीर' (कलकत्ता), 'दागी मित्र' (गया), 'परवार बंधु' (जबलपुर), 'अनुभूत योगसार' (इटावा), 'इलाज' (प्रयाग), 'गृहस्थ जीवन' (झाँसी), 'कैलाश' (मुरादाबाद), गोहितैषी' (दिल्ली), 'व्यवसाय' (मथुरा), 'रेलवे वकील' (दिल्ली), 'बहारे काश्मीर' (लाहौर), 'बालविनोद' (दानापुर), 'स्त्रीधर्म शिक्षा' (चुनार, मिर्जापुर), 'स्त्री दर्पण' (प्रयाग), 'हिंदी समाचार' (मद्रास), 'छत्तीसगढ़' (रायगढ़), 'भ्रमर' (बरेली)।

१६२४ ई० में गांधी जी का आंदोलन समाप्त हो गया था। यह काल आंदोलन का कम और विचारों के प्रचार का अधिक था। संभवतः इसी लिये दैनिक पत्रो में प्रगति नहीं हुई। साप्ताहिको में विचार तो रहते थे, सप्ताह भर के समाचार भी अपनी अपनी दृष्टि से संगृहीत होते थे। इसी लिये १६२४ ई० में साप्ताहिको की संख्या सबसे अधिक है। इस वर्ष साप्ताहिक ३६, मासिक ३३ और दैनिक २ ही निकले। मासिको में सार्वजनिक और साहित्यिक महत्व के एक

भी नहीं निकले। प्रायः सभी जातीय, साप्रदायिक अथवा दस्तकारी आदि से संबंधित पत्रिकाएँ निकली। कुछ मासिक महिलोपयोगी और बालको के भी निकले। किंतु कोई भी व्यापक और प्रभावशाली नहीं था।

इस वर्ष की एक और विशेषता है कानपुर से अर्धसाप्ताहिक 'मजदूर' का प्रकाशन। 'मजदूर' का संपादक कौन था, यह नहीं पता चलता किंतु इतना सिद्ध है कि इस वर्ष कानपुर में मजदूर आंदोलन मजबूत हो गया था। परोक्ष रूप से उसे श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का भी समर्थन प्राप्त था।

१९२४ ई० के सार्वजनिक महत्व के साप्ताहिको में 'श्रीकृष्ण संदेश' की गणना की जा सकती है। यह कलकत्ता से प्रकाशित होता था। डा० एस० के० वर्मन कंपनी ने इसे प्रकाशित किया था। इसके संपादक पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे थे। इसमे गंभीर और महत्वपूर्ण लेख छपते थे।

इसी वर्ष कलकत्ता से श्री युगलकिशोर बिड़ला जी की प्रेरणा से 'श्री सनातन धर्म' नामक पत्र प्रकाश में आया। यह उदार दृष्टि का पत्र था इसके संपादक प० अमृतलाल चक्रवर्ती थे।

१९२४ ई० में इस बात का अनुभव हुआ कि जहाँ प्रतिवर्ष नई नई पत्र पत्रिकाएँ निकलती हैं वहाँ कितनी ही बंद भी हो जाती हैं। इस अवस्था के मूल में कितनी ही बाते रही हैं। इनमें मुख्य हैं संपादको की अनभिज्ञता और पाठको की उदासीनता। कहना न होगा कि अस्त होनेवाली पत्र पत्रिकाओ के प्रति दुःख प्रकट करना और नई आनेवाली पत्रपत्रिकाओ का हर्षपूर्ण स्वागत करना एक स्वाभाविक बात लक्षित हुई। इस वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं—'प्रेत' (लखनऊ), 'प्रणवीर' (नागपुर), 'संगठन' (सिकंदरपुर, फरुखाबाद), 'साहस' (झाँसी), 'नाई केसरी' (कालपी), 'आर्य गजट' (लाहौर), 'आर्य जगत' (लाहौर), 'आर्यजीवन' (कलकत्ता), 'श्री सनातन धर्म' (कलकत्ता), 'ज्योति किरण' (नीमच), 'माहेश्वरी' (कलकत्ता), 'माहेश्वरी सुधार' (अजमेर), 'मारवाड़ी ब्राह्मण' (कलकत्ता), 'देशबंधु' (कलकत्ता), 'मौजी' (कलकत्ता), 'युगातर' (कलकत्ता), 'अग्रसर' (कलकत्ता), 'रसगुल्ला' (कलकत्ता), 'श्रमिक' (कलकत्ता), 'भांड' (काशी), 'भूत' (काशी), 'वाणिज्य' काशी), कूर्मांचल मित्र' (अलमोड़ा), 'गोलमाल' (कलकत्ता), 'ब्रजवासी' (मथुरा), 'महात्मा' (बंबई), 'महावीर' (सहारनपुर), 'रंगीला' (गया), 'लोकमान्य' (बाँदा), वीरभूमि' (दिल्ली), 'वीरेंदु' (कोच, जालौन) 'संदेश' (भिवानी), 'सावधान' (भिवानी), 'नवयुग' (कानपुर), 'अमर' (देहरादून), 'कायस्थ पत्रिका' (गया), 'औदीच्य ब्राह्मण' (दिल्ली), 'चित्रगुप्त'

(पटना), 'कसौधन मित्र' (भागलपुर), 'वणिक हितकारी' (दरभंगा), 'आरोग्य' (कानपुर), 'रत्नसागर' (कालाकाँकर), 'हिंदी पुष्कर' (बरेली), 'रंगमंच' (काशी), 'मनोरमा' (प्रयाग), 'हितैषी' (सारगपुर, मालवा), 'खादी हितकारी' (नागपुर); 'रिझाया' (गोंडा), 'बीर बालक' (दिल्ली), 'बीर संदेश' (लाहौर), 'साम्यवादी' (कानपुर), 'महिला सर्वस्व' (अलीगढ़), 'महिला महत्व' (कलकत्ता), उत्साह' (काशी), 'आशा' (कलकत्ता), 'योग प्रचारक' (काशी), 'भारत गौरव' (कलकत्ता), 'समालोचक' (सागर), 'श्रीमाली अभ्युदय' (महुवा काठियावाड़), 'साहु मित्र' (पटना), 'शिक्षामृत' (नरसिंहपुर), 'साहित्य' (कानपुर), 'साहित्य सरोज' (कलकत्ता), 'गुरुकुल' (कांगड़ी), 'अवतार' (मद्रास), 'समालोचक' (सिकंदरपुर) ।

१६२५ ई० में २ दैनिक, ६ साप्ताहिक, ८ पाक्षिक और ११ मासिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। दो दैनिकों में एक 'आर्यमित्र' और दूसरा 'हिंदू संसार' था। पहला 'आर्यमित्र' साप्ताहिक का ही दैनिक संस्करण था, उसके भी संपादक पं० हरिशंकर शर्मा थे और आगरा से ही प्रकाशित भी हुआ था। दूसरा कलकत्ता से निकला था और कलकत्ते के साप्ताहिक 'कलकत्ता समाचार' का दूसरा रूप और दैनिक था। दोनों पर हिंदू मात्र भावनाओं का व्यापक प्रभाव था। दोनों ही कुछ दिनों तक निकलकर बंद हो गए।

सैनिक

१६२५ ई० के प्रकाशनों में सर्वाधिक प्रभावशाली और लोकप्रिय साप्ताहिक आगरे का 'सैनिक' था। यह श्री कृष्णदत्त पालीवाल एम० ए० का पत्र था। वे ही इसके संपादक थे। पालीवाल जी ने 'प्रताप' में रहकर पत्रकार कला सीखी थी। वे गणेशशंकर विद्यार्थी के शिष्य थे। 'सैनिक' प्रधानतः राजनीतिक पत्र था किंतु उसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों के लिये भी स्थान था। सैनिक बड़ा ही निर्भीक पत्र था। १६३१ ई० में यह दैनिक हो गया किंतु सरकार द्वारा जमानत माँगे जाने के कारण बंद हो गया। १६४२ ई० के आंदोलन के अवसर पर तो सरकार ने 'सैनिक' के प्रेस आदि को भी जब्त कर लिया था। अब भी दैनिक रूप से 'सैनिक' का प्रकाशन होता है।

कल्याण

विक्रम संवत् १६८२ और ईस्वी सन् १६२६ में संपूर्ण हिंदू धर्म के ज्ञान, भक्ति और योग के साहित्य का प्रतिनिधित्व करनेवाला 'कल्याण' प्रकाश में आया। इसके मुखपृष्ठ पर लिखा था—'भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार संबंधी सचित्र मासिक पत्र'। यह गीता प्रेस, गोरखपुर से निकला और संपादक में नाम था—श्री

हनुमान प्रसाद पोद्दार का। यह परंपरागत हिंदू धर्म के परंपराप्राप्त साहित्य का प्रामाणिक प्रचारक रहा है। अब तक इसके दर्जनों विशेषांक निकल चुके हैं। इसके विशेषांक संग्रहणीय होते हैं। इसकी ग्राहकसंख्या सर्वाधिक है और अब तक यह नियमित प्रकाशित होता जा रहा है।

इस वर्ष पत्रपत्रिकाओं की संख्या पिछले वर्षों को पार कर गई। दैनिक पत्रों की संख्या कम और मासिक की ज्यादा देखी गई। साथ ही बंद होनेवाली पत्रपत्रिकाओं की संख्या भी पिछले वर्षों से कम रही। एक बड़े संतोष की बात यह रही कि पिछले वर्ष की अपेक्षा पत्र पत्रिकाओं में लेख कुछ अधिक सुरुचिपूर्ण और उन्नत तथा छोटे होने लगे। उनकी भाषा में सुधार की आवश्यकता तो थी ही किंतु उसकी प्रगति वांछनीय थी। वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं—'भविष्य' (कानपुर), 'जाटवी' (आगरा), 'प्रभात' (लाहौर), 'प्राणरक्षा' (मथुरा), 'जीवन' (मथुरा), 'धर्मवीर' (मधुबनी, दरभंगा), 'सत्यवादी' (लाहौर), 'व्यापारदर्पण' (कलकत्ता), 'कुर्मी क्षत्रिय दिवाकर' (काशी), मारवाड़ी मित्र' (पूना), 'मौर्य भास्कर' (लखनऊ), 'विश्वकर्मा' (कानपुर), 'वैश्य हितकारी' (मेरठ), 'भृगु' (सागर), 'आयुर्वेद केसरी' (कानपुर), 'वैद्यकल्पद्रुम' (कुलपहाड, हमीरपुर), 'आधुनिक धनवंतरी' (कानपुर), डाक्टर (बरेली), 'कलाकौशल' (कानपुर), 'कला शिक्षक' (बनखेरी), 'अनुपम' (सिकंदराबाद), 'संजीवन' (दिल्ली), 'खद्दर' (कानपुर), 'व्यापारिक संसार' (हाथरस), 'विद्यार्थी जीवन' (करॉची), 'हिंदसेवक' (ब्यावर), 'महारथी' (दिल्ली), 'श्री मैथिली' (दरभंगा), 'युग प्रदेश' (मद्रास), 'भारतपुत्र' (फीजी), 'राजस्थान' (अकोला), 'श्रीमारवाड़ जैन सुधारक' (आबू रोड), 'खडेलवाल जैन' (बरोसापुर), 'धर्मचक्र' (कलकत्ता), 'प्रकाश' (लाहौर), 'भारतफल' (देहरादून), 'मार्तण्ड' (देवास), 'आरोग्य दर्पण' (अहमदाबाद), 'कथाचिकित्सा' प्रयाग), आनंद' (हरदुआगंज, अलीगढ़), 'कंपोजिटर बंधु' (ग्वालियर), कूर्मक्षत्रिय दिवाकर' (काशी), 'खंडेलवाल' (काशी)।

हिंदू पंच

१६२६ ई० में कलकत्ते से 'हिंदू पंच' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। यह तत्कालीन हिंदू विचारधारा का पोषक और हिंदू संगठन का समर्थक था। इसमें हास्य व्यंग्य की भी प्रमुखता रहती थी। इसके प्रकाशक आर० एल० वर्मन और संपादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा थे। यह एक समय में बड़ा प्रभावशाली पत्र था।

बालक

१६२६ ई० में पुस्तक भंडार लहेरियासराय के मालिक श्री रामलोचन शरण ने 'बालक' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन किया। अपने परिश्रम और व्यवहारकुशलता से इन्होंने 'बालक' को अच्छी तरह चलाया। बालक के संपादकों में आचार्य शिवपूजन सहाय, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी और श्री अच्युतानंद दास भी थे। किंतु अब इधर बहुत वर्षों से श्री रामलोचन शरण ही इसका संपादन करते हैं। बालक' मुख्यत: शिक्षासंबंधी पत्र है किंतु आरंभ से ही इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी पोषण हुआ। 'बालक' का 'भारतेंदु अंक' तथा 'चित्र चरित्रांक' महत्वपूर्ण निकले थे। 'बालक' अब भी पटना से निकल रहा है।

लगभग इसी समय पटना से साप्ताहिक 'महावीर' का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री जगतनारायण लाल, एम० ए०, एल० एल० बी० थे। यह हिंदू राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति का पोषक था। १६३० ई० में जगतनारायण लाल के सत्याग्रह में आ जाने के बाद यह पत्र बंद हो गया।

सुधा

१६२७ ई० में माधुरी से अपना संबंध त्यागकर लखनऊ से ही श्री दुलारेलाल भार्गव ने 'सुधा' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। यह विविध-विषय-विभूषित साहित्यसंबंधी सचित्र मासिक पत्रिका थी। आगे चलकर यह सहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक पत्रिका हो गई। आरंभ में इसके संपादक श्री दुलारेलाल भार्गव ही थे किंतु बाद में उनके साथ ही श्री रूपनारायण पांडेय और श्री नंदकिशोर तिवारी का नाम भी रहने लगा। आगे चलकर पुनः श्री दुलारेलाल भार्गव ही अकेले संपादक रह गए। इसमें समाजसुधार, साहित्य-चर्चा और विविध विषय नामक स्तंभ थे। रंगीन चित्र, फोटोग्राफ और कार्टून भी इसमें छपते थे। कार्टून राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक विषयों पर भी रहते थे। 'सुधा' में उच्च कोटि के साहित्यिक, सामाजिक और धार्मिक विषयों पर लेख तथा निबंध रहते थे।

विशाल भारत

जनवरी १६२८ ई० में श्री रामानंद चट्टोपाध्याय ने अपने प्रवासी प्रेस कलकत्ते से विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्र 'विशाल भारत' निकाला। अपने आरंभिक जीवन में श्री रामानंद जी ने प्रयाग में अध्यापन का कार्य भी किया था। वहीं उनका संबंध पं० सुंदरलाल जी से हुआ था और आगे चलकर जब उन्होंने 'विशाल भारत' निकालने का निश्चय किया तब सुंदरलाल जी की

प्रेरणा से ही पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को उसका संपादक बनाया। 'विशाल भारत' के मुखपृष्ठ पर 'सत्यं शिवं सुंदरम्' और 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' लिखा रहता था। यह साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों का उच्च कोटि का मासिक पत्र था। इसके प्रत्येक अंक में प्रवासी भारतीयों की समस्या पर बराबर कुछ न कुछ रहता था। आरंभ में ही पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अश्लील साहित्य के विरुद्ध प्रबल आंदोलन चलाया। उन्होंने अश्लील साहित्य का घासलेटी साहित्य नाम रखा था। चतुर्वेदी जी के इस आंदोलन का आघात 'उग्र' तथा उन जैसे कुछ लेखकों पर पड़ा। इसके बाद साहित्य में दुरूह अस्पष्टता के विरुद्ध भी उन्होंने आंदोलन किया। आगे चलकर 'कस्मै देवाय' नाम से उन्होंने साहित्यिक आदर्श के लिये भी आंदोलन किया। चतुर्वेदी जी के सभी आंदोलन सफल रहे। इस प्रकार 'विशाल भारत ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में बड़ा काम किया। इसके सहायक संपादक श्री बृजमोहन वर्मा थे। ये हिंदी, उर्दू, फारसी और बँगला साहित्य के सहायक विद्वान् थे। 'विशाल भारत' का 'चायचक्रम' नामक स्तंभ यही लिखते थे। चतुर्वेदी जी ने अनेक नए साहित्यिकों को साहित्य जगत् में उतारा। श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' उनमें से एक हैं। अपने छोटे भाई की मृत्यु तथा कुछ आर्थिक कारणों और ओरछा नरेश श्री वीर सिंहजू देव के आग्रह पर १९३८ ई० के आसपास चतुर्वेदी जी टीकमगढ़ (म० प्र० चले गए। उस समय 'विशाल भारत' के संपादक श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन हुए। उन्होंने भी 'विशाल भारत' को अच्छा निकाला किंतु आगे चलकर किसी कारण मालिकों से उनकी नहीं पटी। वात्स्यायन जी के चले जाने के बाद पं० श्रीराम शर्मा ने 'विशाल भारत' का संपादन कार्य सम्हाला। 'विशाल भारत' अब तक निकल रहा है।

वीणा

'विशाल भारत' के प्रकाशन के कुछ पूर्व ही मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इंदौर की ओर से 'वीणा' नामक मासिक पत्रिका निकली। इसके संपादक पं० कालिका प्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' थे। एक प्रकार से यह उस काल के मध्य भारत की साहित्यिक प्रगति की परिचायक पत्रिका थी। इसमें भी उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाएँ छपती थी। यह अब भी प्रकाशित हो रही है।

त्यागभूमि

विजयादशमी संवत् १९८४ (१९२७ ई०) में अजमेर से 'त्यागभूमि' का प्रकाशन हुआ। यह मासिक पत्र था। इसके संपादक पं० हरिभाऊ उपाध्याय और श्री क्षेमानंद 'राहत' थे। इसके मुखपृष्ठ पर लिखा था—'राजस्थान की जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका।' आरंभ में ही छपा है—

आत्म समर्पण होत जहँ, जहँ विशुभ्र बलिदान।
मर मिटने की साध जहं, तहँ हैं श्री भगवान ॥

आरंभ मे ही श्री हरिभाउ उपाध्याय ने लिखा है—'जब 'मयूर' का जन्म हुआ, विघ्न और कठनाइयो की ठोकरो से थकी हुई व्यवहार बुद्धि को यह शंका थी कि यह एक साल भी कैसे पूरा होगा'''ईश्वर की कृपा से इस तीसरे ही वर्ष मे 'मयूर' 'त्यागभूमि' के रूप मे पाठको के सामने उपस्थित है।' 'मयूर' का प्रकाशन और संपादन भी हरिभाऊ जी ने ही किया था। ६३ पृष्ठ की 'त्यागभूमि' का वार्षिक मूल्य ४ था।

पिछले वर्ष की तरह कोई विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन लक्षित न हुआ। प्रतिवर्ष की तरह ही अनेक छोटे मोटे नए पत्रो का प्रकाशन हुआ और अनेक वैसे ही बंद हो गए।

युवक

जनवरी १९२९ ई० में पटना से 'युवक' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुआ। इसके संपादक श्री रामवृक्ष वेनीपुरी थे। ६४ पृष्ठो के इस मासिक पत्र का वार्षिक मूल्य ४) था। इसके मुखपृष्ठ पर लिखा था—'शक्ति, साहस और साधना का मासिक'। आगे चलकर इसी के नीचे निम्नलिखित पंक्तियाँ और जोड़ दी गई—

सफलता पाई अथवा नहीं, उन्हें क्या ज्ञात, दे चुके प्राण।
विश्व को चहिए उच्च विचार? नहीं केवल अपना बलिदान ॥

युग की माँग को पूरा करनेवाला यह मासिक पत्र बहुत लोकप्रिय था। कुछ दिनो बाद सरकारी वार से इसका प्रकाशन बंद हो गया।

हंस

श्री प्रेमचंद जी ने संभवतः १९३०-३१ ई० मे काशी से 'हंस' नामक मासिक पत्र निकाला। प्रेमचंद जी मुख्यतः कथालेखक थे, अतः 'हंस' मुख्यतः तत्कालीन हिंदी कथा साहित्य का प्रतिनिधि पत्र हो गया किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि 'हंस' मे कविता, एकांकी, आलोचना और निबंध आदि साहित्य रूपो का अभाव था। साहित्य के विविध रूपो का सुंदर सामंजस्य 'हंस' मे रहता था। 'हंस' के द्वारा प्रेमचंद जी ने हिंदी कथा साहित्य को बहुत ऊँचे धरातल पर उठाया। दर्जनो कहानीलेखको को सँभाल, सँवारकर साहित्य क्षेत्र में उतारा। हिंदी के कथासाहित्य में आदर्श, यथार्थ और कला का सामंजस्य स्थापित किया। उन दिनो गुजराती कथासाहित्य मे श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की बड़ी प्रतिष्ठा थी। प्रेमचंद जी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। 'हंस' पर

इसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था। अतः मुंशी के आग्रह से लगभग १६३५ ई० में 'हंस' का प्रकाशन बंबई से होने लगा और उसे भारतीय साहित्य का प्रतिनिधि पत्र घोषित किया गया। इस काल में प्रेमचंद जी के साथ साथ मुंशी का नाम भी संपादक में छपता था। 'हंस' विविध भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं का प्रतिनिधि पत्र हो गया। १६३६ ई० में प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। स्वभावतः हंस' पर प्रगतिशील विचारधारा का प्रभाव पडा। इसके कुछ दिनो बाद प्रेमचंद जी का परलोकवास हो गया।

प्रेमचंद की मृत्यु के बाद 'हंस' का संपादन श्री शिवदान सिंह चौहान ने किया। चौहान कम्युनिस्ट थे। अतः 'हस' पर प्रत्यक्ष कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रभाव पड़ा। अब वह व्यवहारतः प्रगतिशील लेखक संघ का मुखपत्र हो गया। 'हंस' के द्वारा चौहान ने प्रगतिशील साहित्य का नेतृत्व किया। चौहान के बाद कुछ दिनो तक हंस' का संपादन श्री श्रीपतराय जी ने किया। इसके बाद श्री अमृतराय के हाथ में 'हस' आया। लगभग १६४६-४७ तक चलकर 'हंस' बंद हो गया।

प्रेमचंद के काल मे 'हंस' के कई साहित्यिक विशेषांक निकले। श्री शिवदान सिह चौहान और श्री अमृतराय के द्वारा 'हंस' ने हिंदी साहित्य की अच्छी सेवा की। आधुनिक हिंदी गद्य के निर्माण मे 'हंस' का विशिष्ट स्थान है।

भारत

इसी काल में प्रयाग के 'लीडर प्रेस' से 'भारत' नामक अर्ध साप्ताहिक पत्र निकला। इसके प्रथम संपादक पं० वेंकटेश नारायण तिवारी थे। उनके बाद पं० नंददुलारे वाजपेयी संपादक हुए। इन दोनो व्यक्तियो के संपादनकाल में 'भारत' का साहित्यिक महत्व भी था। इसमें उच्च कोटि के साहित्यिक लेख और टिप्पणियो का प्रकाशन होता था। साहित्य के सामयिक प्रसंगो पर विवाद भी चलता था, बाद में 'भारत' दैनिक हो गया। पं० बलभद्रप्रसाद मिश्र उसके संपादक हुए। दैनिक 'भारत' का प्रकाशन अब भी होता है। श्री शंकरदयाल श्रीवास्तव उसके संपादक हैं।

लगभग इसी समय पं० रामशंकर त्रिपाठी ने कलकत्ते से 'लोकमान्य' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। वह स्वयं ही इसके संपादक भी थे। कुछ दिनो बाद यह दैनिक हो गया। आगे चलकर यह कानपुर से भी निकलने लगा। इसे श्री सेठ जुगलकिशोर जी विड़ला का समर्थन प्राप्त था। इसपर हिंदू राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति का प्रभाव भी था। अब यह बंद हो गया।

गंगा

नवंबर १९३० ई० में सुलतानगंज (भागलपुर) से 'गंगा' नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इसके संस्थापक बनैली राज के कुमार कृष्णानंद सिंह थे। प्रधान संपादक पं० रामगोविंद त्रिवेदी और संपादक पं० गौरीनाथ झा तथा श्री शिवपूजन सहाय थे। प्रथम अंक मे इसका उद्देश्य स्पष्ट करते समय कहा गया है—'गंगा सदैव साहित्यवृक्ष का मूल सिंचन करेगी। काव्य, इतिहास, विज्ञान, भूगोल, खगोल···कलासंबंधी लेख, रंगीन चित्र···शिक्षाप्रद कहानियो···' आदि का प्रकाशन 'गंगा' में होता रहेगा'। इसके 'वेदांक', 'विज्ञानांक' और 'पुरातत्वांक' प्रसिद्ध हैं। पुरातत्वांक के संपादक श्री राहुल सांस्कृत्यायन थे।

१९३० ई० में हिंदी संसार की अवस्था में विशेषकर पत्र पत्रिकाओ के जीवन में कोई परिवर्तन लक्षित न हुआ। देश और समाज की अवस्थाओ की तरह ही पत्र पत्रिकाओ की अवस्था असंतोषजनक रही। कई पत्र पत्रिकाएँ बंद हुईं और कइयो ने संपादकीय लेख तथा टिप्पणी आदि लिखना बंद कर दिया। अस्थायी संधि के बीच ही में भंग हो जाने के कारण अवस्था और भी चिंतनीय हो गई। परंतु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर प्रत्येक खराबी में कोई न कोई अच्छाई निकलती ही है और इसी न्याय के अनुसार देश का राजनीतिक आंदोलन प्रकारांतर से हिंदी के प्रचार में विशेष सहायक होता रहा। लोक में राष्ट्रीयता के भावो की वृद्धि के साथ साथ राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम भी बराबर बढ़ता रहा और देश की राजनीतिक परिस्थिति जानने के कारण ही बहुत से ऐसे लोग भी हिंदी पत्र पत्रिकाएँ पढने लगे जो पहले कभी उन्हे छूते तक नहीं थे।

हिंदुस्तानी

१९३१ ई० में उत्तरप्रदेश में सर तेजबहादुर सपरू की अध्यक्षता में हिंदुस्तानी एकेडमी की स्थापना हुई। इसका प्रधान कार्यालय प्रयाग में था। इसका उद्देश्य हिंदी और उर्दू भाषा में भारतीय संस्कृति इतिहास, और साहित्य का शोध और उनका प्रकाशन कराना था। एकेडमी के प्रधान मंत्री डा० ताराचंद जी थे। उसकी ओर से 'हिंदुस्तानी' नामक एक त्रैमासिक शोध पत्रिका भी १९३१ ई० में प्रकाशित हुई। इसके संपादक मंडल मे थे—डा० ताराचंद, डा० बेनीप्रसाद, डा० धीरेंद्र वर्मा, श्रीकृष्ण बलदेव वर्मा और श्री रामचंद्र टंडन। टंडन जी ही इसके संपादक भी थे। इसमें उच्चकोटि के विद्वानो के लेख छपते थे।

१९३१ ई० में राजतीतिक आंदोलन में शिथिलता के रहते हुए भी साहित्य-निर्माण और पत्र पत्रिकाओ के सर्वागीण विकास की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। नवीन प्रेस एक्ट के बन जाने के कारण कितने ही पत्रों ने अग्रलेख

लिखना ही छोड़ दिया। विश्वव्यापी व्यापारिक तथा आर्थिक संकट एवं उथल पुथल के कारण लेखन कार्य में शिथिलता रही। प्रकाशकों के कार्य में मंदी रही। फिर भी कुछ नवीन प्रकाशक मैदान में उतरे।

इस वर्ष देश की राजनीतिक परिस्थिति भी बड़ी अशात और कठिन थी। १९३० ई० ने तो सत्याग्रह का आदोलन एकाएक छिड़ गया था, जिसके लिये अँगरेज तैयार नहीं थे, अतः १९३१ ई० में अँगरेजो ने गांधी जी से समझौता करके एक प्रकार से समय लिया। इस बीच उन्होने दमन की पूरी तैयारी की। १९३२ ई० का साल आते ही दमनकारी चार आर्डिनेंसो का उपहार देश को मिला और कांग्रेस का गैरकानूनी संस्था करार दिया गया। सब नेताओ को पकड़कर जेल में डाल दिया गया। सत्याग्रह करने या सरकार का विरोध करने पर सभी संपत्ति जब्त करने का फरमान निकालकर जनता के सार्वजनिक जीवन को सरकार ने कुचल कर धर दिया। ऐसी परिस्थिति में समाचारपत्रों का निकलना बहुत ही कठिन कार्य था। फिर भी कुछ समाचारपत्र निकले। ऐसे समाचार पत्रो में प्रमुख था—

जागरण

आलोचनाप्रधान, शुद्ध साहित्यिक और सचित्र पाक्षिक 'जागरण' फरवरी १९३२ ई० में काशी से निकला। इसके प्रकाशन की व्यवस्था श्री विनोदशंकर व्यास ने की थी। इसके संपादक थे श्री शिवपूजन सहाय। इसे उस समय के सभी साहित्यकारो का समर्थन और सहयोग प्राप्त था। श्री जयशंकर प्रसाद, श्री निराला, श्री सुमित्रानंदन पंत और श्रीमती महादेवी वर्मा की रचनाएँ इसमें बराबर निकलती थीं। 'प्रसाद' जी का 'तितली' नामक उपन्यास धारावाहिक रूप से 'जागरण' में निकलता था। इसमें बहुत ही उच्चकोटि की समालोचनाएँ भी निकलती थीं। सामयिक पत्र पत्रिकाओ की रचनाओं पर सारगर्भित टिप्पणियाँ रहती थीं। यह पत्र संपादन की दिशा में सर्वश्रेष्ठ था किंतु बहुत दिनो तक नहीं चल सका। कुछ दिनो बाद ही 'जागरण' प्रेमचंद जी का हो गया।

जागरण का स्वामित्व खरीदकर प्रेमचंद स्वयं उसका संपादन करने लगे। संपादक की प्रवृत्ति के अनुसार 'जागरण' की प्रवृत्ति बदल गई। अब 'जागरण' पाक्षिक से साप्ताहिक हो गया और साहित्यिक प्रधानता का स्थान राजनीतिक प्रधानता ने ले लिया। आचार्य नरेंद्रदेव और श्री संपूर्णानंद इसके प्रमुख लेखक हो गए। १९३४ ई० में तो श्री संपूर्णानंद ही 'जागरण' के संपादक भी हो गए। आगे चलकर यह पत्र बंद हो गया।

१९३२ ई० में जब गाधी जी जेल ही में थे तभी अंग्रेजो ने डा० अम्बेडकर को मिलाकर मुसलमानो की भाँति ही अछूतो को पृथक् मताधिकार देने की घोषणा

की। यह अंग्रेजो की ऐसी भयानक चाल थी जिससे हिंदू समाज सदा के लिये कमजोर हो जाता। गांधीजी ने जेल में ही इसका विरोध किया और आमरण अनशन भी शुरू कर दिया। जेल में ही उन्होंने अछूतो को हरिजन कहकर उनके उत्थान का व्रत लिया। गांधीजी की जागरूकता और उनके प्रयत्न से अँगरेजो की राजनीतिक चाल कमजोर पड गई। इसी आंदोलन के दौरान में फरवरी १६३३ ई० में गांधीजी ने 'हरिजन' नामक साप्ताहिक अखबार अँगरेजी में तथा 'हरिजन सेवक' हिंदी और गुजराती में निकाला। हिंदी 'हरिजन सेवक' का संपादनकार्य आरंभ में पं० हरिभाऊ उपाध्याय देखते थे, बाद में श्री वियोगी हरि ने उसका कार्यभार सँभाल लिया।

योगी

बिहार भूकंप के बाद २० जनवरी १६३४ ई० को योगी' नामक साप्ताहिक पत्र पटना से प्रकाशित हुआ। इसे सारन के बाबू नारायण प्रसाद सिंह के सहयोग और उन्हीं के संरक्षण में श्री ब्रजशंकर वर्मा ने निकाला। श्री ब्रजशंकर वर्मा ने कलकत्ते में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी से पत्रकार कला का अनुभव प्राप्त किया था। उन्हीं के परामर्श से कुछ दिनो तक 'योगी' का संपादन होता रहा। १६३५ ई० में श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने कुछ दिनों तक योगी का संपादन भार संभाला था। 'योगी' में साहित्यिक और राजनीतिक दोनो प्रवृत्तियो का सामंजस्य रहा। 'योगी' का अब अपना प्रेस हो गया है और श्री ब्रजशंकर वर्मा कुशलतापूर्वक उसका संचालन तथा संपादन कर रहे हैं।

नवशक्ति

अगस्त १६३४ ई० में श्री देवव्रत शास्त्री ने 'नवशक्ति' नामक साप्ताहिक पत्र पटने से निकाला। उन्हे श्री गणेशशकर विद्यार्थी के निकट रहकर संपादन-कला सीखने का सौभाग्य प्राप्त था। १६३७ ई० मे 'नवशक्ति' का दैनिक संस्करण भी निकलने लगा। उसके भी संपादक देवव्रत जी थे। किंतु आठ महीना निकलने के बाद दैनिक संस्करण को बंद कर देना पड़ा। आगे चलकर १६३६ ई० में 'नवशक्ति' से ही दैनिक 'राष्ट्रवाणी' निकली। इसके भी संपादक देवव्रत जी ही थे। आपसी मतभेद के कारण देवव्रतजी ने 'नवशक्ति' से अपना संबंध विच्छेद कर लिया।

संभवतः इसी के आसपास कलकत्ता से डा० हेमचंद जोशी ने 'विश्ववाणी' नामक पत्र प्रकाशित किया। यह अंतरराष्ट्रीय जगत् के विविध विषयों से विभूषित था। थोड़े ही दिनो तक चलने के बाद यह बंद हो गया।

सन् १६३५ ई० मे पटना के वर्मन कंपनी ने युनिवर्सिटी प्रेस से 'आलोक' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। इसके संपादक थे श्री ललित किशोर सिंह

'नटवर' ! इसमें सिनेमा संबंधी समाचारों और लेखों की प्रमुखता थी। यह थोड़े ही दिनों तक चलकर बंद हो गया।

१९३५ ई० के आसपास ही प्रयाग से श्री श्रीनाथसिंह ने दीदी' नामक मासिक पत्रिका निकाली। प्रत्यक्षतः तो यह महिलोपयोगी प्रतीत होती थी किंतु वस्तुतः इसमें साहित्यिक महत्व की सामग्रियाँ भी रहती थीं। आगे चलकर इसका अपना प्रेस भी हो गया। यह बहुत दिनों तक चलने के बाद बंद हुआ।

१९३६ ई० में युनिवर्सिटी प्रेस पटना से 'बिजली' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। इसके संपादक श्री प्रफुल्लचंद ओझा 'मुक्त' थे। बिहार तथा बिहार के बाहर के साहित्यकारों का भी सहयोग 'बिजली' को प्राप्त था। इसी वर्ष बिहार शरीफ से 'नालंदा' नामक सचित्र मासिक का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री रत्नचंद्र छत्रपति एम० ए० थे। बिहार के सभी साहित्यकारों का सहयोग इसे प्राप्त था किंतु पटना के ये दोनों साहित्यिक पत्र कुछ ही समय चलकर बंद हो गए।

साहित्य

१९३६ ई० में पटना से बिहार हिंदी साहित्य संमेलन का त्रैमासिक पत्र 'साहित्य' निकला। इसके संपादक थे श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु और श्री जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'। उस समय ये दोनों सज्जन हिंदी विद्यापीठ देवघर में थे। वहीं से 'साहित्य' का सपादन होता था। 'साहित्य' में उच्च कोटि के निबंध छपते थे। कुछ दिनों बाद उसका संपादन भार आचार्य बदरीनाथ वर्मा ने सम्हाला। अनेक वर्षों तक बंद रहने के बाद १९५० ई० में 'साहित्य' का पुनः प्रकाशन हुआ। इस समय उसके संपादक हुए आचार्य शिवपूजन सहाय और श्री नलिनविलोचन शर्मा। अब भी कभी कभी इसका प्रकाशन हो जाता है।

साहित्य संदेश

इसी काल से आसपास आगरा से श्री महेंद्र जी ने 'साहित्य संदेश' नामक नामक मासिक पत्र निकाला। साहित्यसंबंधी उच्च परीक्षाओं को ध्यान में रखकर इसका संपादन होता है। इसी लिये इसमें साहित्य के विविध रूपों की परीक्षोपयोगी आलोचनाएँ होती हैं।

रूपाभ

लगभग इसी काल में उत्तरप्रदेश के कालाकाँकर से 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। 'रूपाभ' के संपादक सुप्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रा-नंदन पंत थे। पंतजी को कालाकाँकार राज्य ने संमानपूर्वक अपने यहाँ रखा था। पंतजी ने अपने सांस्कृतिक और साहित्यिक विचारों के प्रचार और प्रसार के लिये 'रूपाभ' निकाला। 'रूपाभ' में उच्च कोटि की कविताएँ, आलोचनाएँ और निबंध

निकलते थे। पंत जी तथा उनसे प्रभावित कवियों को समझने के लिये 'रूपाभ' एक मुख्य साधन रहा। कुछ वर्ष तक चलने के बाद इसका प्रकाशन बंद हो गया।

सर्वोदय

इसी काल में वर्धा से गांधी जी के विचारों का प्रतिनिधि प्रचारक 'सर्वोदय' निकला। यह मासिक पत्र था और हाथ के कागज पर छपता था। इसके संपादक श्री काका साहब कालेलकर थे। इसका मुख्य कार्य गांधी जी के विचारों को दार्शनिक आधार देना था। लेख चिंतनपूर्ण निकलते थे।

विश्वभारती पत्रिका

इसी वर्ष शांतिनिकेतन (बोलपुर) से हिंदी में त्रैमासिक 'विश्वभारती पत्रिका' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसके संपादक पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी थे। इसका मुख्य कार्य हिंदी में रवींद्र साहित्य का प्रामाणिक प्रकाशन था। कुछ शोधपूर्ण मौलिक निबंध भी छपते थे।

संघर्ष

१९३७ ई० में लखनऊ से आचार्य नरेंद्रदेव जी ने 'संघर्ष' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। यह कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का मुखपत्र था। आचार्य नरेंद्रदेव और वी० पी० सिन्हा (विश्वेश्वर प्रसाद सिन्हा) बैरिस्टर, इसके संपादक थे। समाजवादी आंदोलन और किसान मजदूर संघर्ष का यह प्रबल समर्थक था।

जनता

इसी समय बिहार के समाजवादी नेताओं द्वारा स्थापित 'जन-साहित्य संघ' (पटना) की ओर से 'जनता' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी थे। इसने बिहार के किसान आंदोलन का बड़ा प्रबल समर्थन किया। इसकी तीव्र आलोचनाओं के कारण सरकार की दृष्टि इसपर पड़ी और संभवतः किसी सरकारी आघात के कारण इसे बंद कर देना पड़ा।

इसी समय के आसपास प्रयाग से 'देशदूत' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' थे। इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन मिलता था। लगभग इसी समय श्री प्रफुल्लचंद ओझा 'मुक्त' ने पटना से 'आरती' नामक साहित्यिक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। १९३८ ई० में आरा से 'अग्रदूत' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक श्री रामदयाल पांडेय थे। दिल्ली से 'नवयुग' नामक साप्ताहिक भी इसी काल में प्रकाशित हुआ। इसके संपादक श्री सत्यकाम विद्यालंकार थे।

'विशाल भारत' छोड़कर टीकमगढ़ जाने के बाद, लगभग इसी काल में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने हिंदी की बोलियो का प्रमुख मासिक पत्र 'मधुकर' निकाला। 'मधुकर' के द्वारा उन्होने जनपदीय साहित्य का आंदोलन किया। चतुर्वेदी जी को इस दिशा में भी पर्याप्त सफलता मिली।

लगभग इसी काल में सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री यशपाल ने जेल से निकलने के बाद 'विप्लव' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन लखनऊ से किया। 'विप्लव' का किसी राजनीतिक दलविशेष से संबंध तो नहीं था किंतु वह समाजवादी विचार-धारा का पोषक था। उसकी शैली साहित्यिक थी और कहानी के माध्यम से विचारों का प्रचार उसकी विशेषता थी।

१९३८ ई० में सभी हिंदी पत्र पत्रिकाएँ सुचारु रूप से निकलती रहीं। उसमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं हुई। कई नई पत्र पत्रिकाओ का प्रकाशन हुआ। ये सभी पत्र पत्रिकाएँ अंतरंग और बहिरंग दोनो दृष्टियो से अच्छी थीं किंतु जितनी उन्नति संख्या में थी उतनी योग्यता में नहीं। भाषा एवं शैली के प्रति उदासीनता बड़ी दुखद है। पत्र पत्रिकाओ की बढती में यह स्वाभाविक है अवश्य किंतु सतर्कता, सजगता तो चाहिए ही। इस वर्ष की पत्र पत्रिकाएँ हैं— 'अग्रगामी' (काशी), 'नव प्रगति' (पौढी), 'प्राची प्रकाश' (रंगून), 'विचार' (फलकत्ता), 'समाजसेवक' (कलकत्ता), 'सुदर्शन' (ऐटा), 'भारतीय समाचार' (दिल्ली). 'अखंड ज्योति' (आगरा), 'आदर्श' (हरिद्वार) 'मैथिल बंधु (अजमेर), 'वैदिक' (औंध), 'व्यावहारिक वेदान्त' (लखनऊ), 'सन्मार्ग' (काशी)।

१९३९ ई० में हिंदी पत्र पत्रिकाओ ने अपनी उदासीनता को त्यागकर हिंदी की चर्चा और हिंदी आदोलनों में बराबर योग दिया। कुछ दैनिक पत्रो की तत्परता बड़ी प्रशंसनीय रही। ये पत्र पत्रिकाएँ समय समय पर अपने लेखो और टिप्पणियो से कार्य को गति देती रही। ऐसा मालूम पड़ता था कि वे सभी उस राह की आवश्यकता समझती हैं। इस वर्ष पत्र पत्रिकाओ की छपाई और सफाई में बहुत कुछ ढीलापन देखा गया। कुछ नवीन पत्र पत्रिकाओ के दर्शन हुए। इनमें हिंदी की ठोस सेवा भावना मालूम पडी। इस वर्ष की पत्र-पत्रिकाएँ हैं—'राष्ट्र संदेश' (पूर्णिया), 'खादी सेवक' (मुजफ्फरपुर), 'ग्राम-सुधार' (इंदौर), 'अभिनय' (कलकत्ता), 'इस्लाम' (कानपुर), 'कहानी' (बनारस), 'केशरी' (गया), 'तूफान' (इलाहाबाद), 'दीपक' (अलवर), 'नोकझोंक' (आगरा), 'व्रज भारती' (मथुरा). 'भारतोदय' (ज्वालापुर), 'मनस्वी' (अमेठी), 'सबकी बोली' (वरधा), 'साधना' (आगरा), 'भारती विद्या' (बंबई), 'वीरबाला' (बनस्थली)।

हिंदी पत्रों के विकास और इतिहास का यहाँ संक्षिप्त क्रमबद्ध परिचय प्रस्तुत किया गया है। आलोच्य काल की बदलती और अग्रसर होती पत्रकारिता की महत्ता इस दृष्टि से है कि इसने अपनी शक्ति और संपन्नता के कारण हमारे विचार और साहित्य में अभिनव क्रांति का सृजन किया है।

टिप्पणियों के प्रणयन और विकास में हिंदी पत्रिकाओं का बड़ा हाथ रहा। इन पत्रिकाओं ने न केवल इनके विविध रंगरूप निखारे, प्रत्युत इनके द्वारा पत्रकारिता को बड़ा बल मिला। इस मानी में हिंदी पत्रिकाओं ने अपना स्तर तो ऊँचा उठाया ही, अपना विस्तार भी किया। पिछले दिनों जब मुश्किल से लोग पत्रकारिता की ओर आते थे आलोच्य काल में अधिकाधिक लोगों का ध्यान इस ओर गया। कितनों ने तो इसे अपनी जीविका और व्यवसाय की वस्तु के रूप में लिया। यह ठीक है कि इसमें अर्थप्राप्ति कम थी किंतु किसी भी अन्य व्यवसाय की तरह उसकी माँग सर्वश्रेष्ठ ही थी। उन्होंने अपनी योग्यता से जहाँ जन जन का संबंध दृढ़ किया, वहां अपने गुण और परिश्रम से हिंदी को सजा सँवारकर गौरव प्रदान किया।

हिंदी साहित्य के विविध अंगों के निर्माण में हिंदी पत्र पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योग रहा है। इन पत्र पत्रिकाओं ने हिंदी भाषा को भी खूब सँवारा और सजाया। यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि आज हिंदी को जो राष्ट्रभाषा का रूप मिला है, उसे जो शक्तिसंपन्नता और प्रौढ़ता मिली है, इसे लाने का श्रेय पत्र पत्रिकाओं को ही है। अंग्रेजी भाषा में तार या टेलीफोन द्वारा प्राप्त समाचार का हिंदी रूपांतर कर सर्वसाधारण के लिये सुलभ करने का काम समाचारपत्रों ने ही किया। उन्होंने जिस हिंदी का निर्माण किया वही प्रचलित हुई। यह समय संघर्ष का था। वह संघर्ष जिसमें हिंदी की नवीन शैली का निर्माण करना था। उसे भारत की राष्ट्रवाणी बनाकर देश के कोने कोने ले जाना था। हमें इस दिशा में जो सफलता मिली इसका श्रेय बहुलांश में पत्र पत्रिकाओं को ही है।

आलोच्यकाल की हमारी पत्र पत्रिकाओं का स्वर प्रधानतः राजनीतिक था। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में देश ने जो आंदोलन किया, सारा समाज उसके साथ था। यही कारण था कि गांधी जी और उनके साथियों की भाँति ही पत्र पत्रिकाओं को भी सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। गांधी आंदोलन को उनसे हवा और पानी मिलता था। देश के अन्य क्षेत्रों के समान ही इस क्षेत्र में भी गांधी जी का बड़ा दान है। गांधी जी ने इन पत्र पत्रिकाओं का स्वर बदल दिया। त्याग, बलिदान, संयम, अहिंसा और प्रेम आदि उदात्त भावों का आगमन गाधी जी के कारण हुआ।

हम आलोच्य काल के बहुत निकट हैं। इसी कारण उसका परीक्षण कठिन मालूम पड़ता है। हमारे जीवन के समस्त क्षेत्र में आलोच्य काल का ऐसा संमिश्रण है कि उसे पकड़ने में हम असमर्थ हैं। सर्वत्र एक भीषण क्रांति, अभिनव परिवर्तन एवं बहुमुखी आयोजन है। पुरानी दीवारें गिर चुकी हैं। पुराने स्वर बंद हो चुके हैं। हजार वर्षों की भारतीय सामाजिक और राजनीतिक प्रगति ने जो नया मोड़ लिया है, उसका श्रेय इस आलोच्य काल को है और वह हमारी पत्र पत्रिकाओं के पृष्ठों पर लिखा है। राष्ट्र के बहुमुखी परिवर्तन ने साहित्य को जिस रूप में प्रभावित किया है, उसकी पूरी कथा ही हमारी पत्र पत्रिकाओं का इतिहास है। भारत ने जिस सर्वतोमुखी क्रांति का सर्जन किया वह अभूतपूर्व है। स्त्रियों ने घरों से निकलकर आजादी की माँग की, अछूतों ने अधिकार की घोषणा की, किसान अपने खेतों में और मजदूर कारखानों में अपनी शक्ति को पहचानने लगे। शिक्षा, समाज, धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थ—सबमें नवीनता का प्रवेश हुआ। हमारी संस्कृति को अपने व्यावहारिक अहिंसा सिद्धांत के चार चाँद लगाकर महात्मा गांधी ने देश को वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ वह वरेण्य है, जहाँ से उसकी दिव्य ज्योति सकल विश्व पर छा रही है। संक्षेप में भारत की विशाल आबादी इन परिवर्तनों के कारण सकल संघर्षों को पारकर जीवित और महान् बन सकी।

यह हम कई बार कह चुके हैं कि राजनीति ही हमारी पत्र पत्रिकाओं का मुख्य लक्ष्य था। किंतु हम जिस राजनीति की बात कहते हैं उसमें हमारी सभी चीजें, राष्ट्र उत्थान की सभी बातें—साहित्य, समाजसुधार, धर्म, दर्शन, कला संनिहित हैं। यही कारण है कि उस काल में पत्रकारिता का क्षेत्र अत्यंत विशाल था। पत्र पत्रिकाएँ हमारी राष्ट्र की आकांक्षाओं, प्रेरणाओं और विचारों की वाहिकाएँ बनी रहीं। उनका स्थान हमारे नेताओं के साथ हो गया। चरित्र और ज्ञान, शिक्षा और आदर्श, पत्रकार के लिये प्रधान गुण थे। पत्रकारों ने ही हिंदी को राष्ट्रवाणी का रूप दिया। जनता को ज्ञानबल दिया एवं संस्कृति को प्रकाश, सभ्यता को नूतनता एवं साहित्य कला को जीवन दिया। इस काल में हिंदी ने एक नवीन रूप ग्रहण किया। इस समय का कोई आंदोलन ऐसा नहीं हुआ, जो पत्र पत्रिकाओं से अछूता रहा हो। हिंदी काव्य साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ पत्र पत्रिकाओं के ही माध्यम से देश के कोने कोने फैलीं। यह उन्हीं का प्रयत्न है कि हिंदी न केवल राष्ट्रवाणी बनी, प्रत्युत जनवाणी, मनवाणी और विश्ववाणी बन रही है।

हिंदी आलोचना का उदय

हिंदी में आलोचना का प्रारंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा हुआ और 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के मुखपृष्ठ पर पत्रिका में प्रकाशित होनेवाले विषयों की जो सूची दी

गई है, उसके अंत में '……और समालोचना संभूषिता' लिखकर समालोचनात्मक रचनाओं को स्थान दिया गया है। आलोचना के इस उदयकाल में आलोचना की पद्धति का कोई मापदंड नहीं था। किसी लेखक की रचना का रीतिपरंपरा के अनुकूल गुणदोष विवेचन या लेखक के बारे में इधर उधर के एक दो विचार लिख देना इतनी सी बातें आलोचना में दिखाई देती हैं। 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित 'हिंदी कविता' (१८७२) शीर्षक लेख में हिंदी के बिल्कुल आरंभिक काल की आलोचना पद्धति का रूप मिलता है—

हिंदी कविता

'इस काल में नाटक एक दो बने जिसमें एक हास्यार्णव था यद्यपि यह शुद्ध नाटक की चाल से नहीं है, तथापि कुछ नाटक की चाल छूकर बना है पर बहुत असभ्य शब्दों से भरा है, इसी से कवि ने उसमें अपना नाम नहीं रखा पर अनुमान होता है कि रघुनाथ कवि का ही नाटक सबसे पहले जो हिंदी भाषा में पुरानी ठीक नाटक की रीति से बना वह नहुष नाटक श्री गिरिधरदास कवि का है और इसके पीछे आजकल तो अनेक नाटक बने और अब तो भाषा के अनेक व्याकरण और प्रबंध पुस्तक बन गई। आधुनिक काल के कवियों में श्री गिरिधरदास महान् कवि हुए, क्योंकि व्याकरण, कोष और नाटक हिंदी में पहले इन्होंने बनाए। पजनेस, रघुनाथ इत्यादि अनेक कवि कुछ पहले हुए पर किसी ने नई बात नहीं की वही लीक पीटते चले गए।' (कविवचन सुधा, जि० ३, नं० १३, १० जनवरी १८७२, पृ० ७६)।'

उपर्युक्त अंश में आलोचना पद्धति का वर्णनात्मक रूप अधिक मिलता है और उसमें 'हिंदी कविता' पर लिखने की अपेक्षा नाटक पर ही अधिक लिखा गया है। 'कविवचन सुधा' के समान 'क्षत्रिय पत्रिका' और 'आनंद कादंबिनी' में भी आलोचनात्मक लेख मिलते हैं। इन लेखों में आलोचना का प्रारंभिक रूप मिलता है। इन पत्रिकाओं में प्राप्तिस्वीकार के लिये जो स्तंभ था उसमें 'अंधेर नगरी' नाटक, 'नीलदेवी' नाटक, 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक, 'नूतन ब्रह्मचारी' उपन्यास आदि साहित्यक रचनाओं तथा तत्कालीन प्रकाशित पत्र पत्रिकाओं की आलोचनाएँ रहती थीं। ये आलोचनात्मक लेख किसी विशेष लेखक द्वारा लिखाए नहीं जाते थे, पुस्तक या समाचारपत्र को स्वीकार करने पर कुछ आलोचनात्मक पंक्तियाँ लिखी जाती थीं। इस प्रकार की 'प्राप्तिस्वीकार या आलोचना' का उद्देश्य 'गुन गाना, दोष दिखाना और सीख सिखाना' तक ही सीमित था। सन् १८८१ ई० में 'क्षत्रिय पत्रिका' में प्रकाशित 'मालती और माधव' रचना पर इस प्रकार की आलोचना मिलती है—

'मालती और माधव हम धन्यवादपूर्वक इस पुस्तक को स्वीकार करते हैं। ग्रंथकर्त्ता ने इसे उपन्यास के रीति पर लिखा है परंतु बना नहीं। जो कुछ हो यह देखने योग्य है हम पहले इसके शुभचिंतकों के निकट यह निवेदन करते हैं कि एक वेर इसे आद्योपांत अवलोकन कर लें ताके उनको यह तो मालूम हो जाय कि उपन्यास क्या है और किसे कहते हैं यद्यपि इसके कर्ता ने मुद्रण के समय असावधानता की है परंतु विषय कुछ बुरा नहीं।' (क्षत्रिय पत्रिका, खंड १, संख्या ५, संवत् १९३८, पृ० १२३)'

इस लघु आलोचनात्मक टिप्पणी में ग्रंथ की 'प्राप्तिस्वीकार' का संकेत मिलता है। इसमें पाठकों के प्रति निवेदन मिलता है और साथ ही ग्रंथ पर एक प्रकार का निर्णय दिया गया है। इसी साल 'आनंद कादंबिनी' में भारतेंदु की 'नीलदेवी' रचना पर जो आलोचनात्मक टिप्पणी मिलती है उसमें 'ग्रंथपरीक्षण' का आरंभिक रूप इस प्रकार प्रकट हुआ है—

'नीलदेवी' हमारे प्रियवर श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र जी रचित, ऐतिहासिक दुखांत गीत रूपक। यह रूपक पंजाब के राजा सूरजदेव की रानी नील देवी का अपने पति के प्राण के बदले में स्वयं गायिका के वेष में दिल्ली के बादशाह के सेनापति 'अब्दुल शरीफ खाँ सूर' की सभा में जाकर उक्त पति-प्राण-हारक शत्रु का वध कर डालने के बीज पर लिखा गया है। यद्यपि इस रूपक के प्रबंध और रचना में कुछ दोष भी क्यों न आ गए हों, पर तो भी हम केवल गुणभाग का वर्णन करना उचित मानते हैं।'...(आनंद कादंबिनी, खंड १, संख्या ५, संवत् १९३८, पृ० १२३)'।

उपर्युक्त टिप्पणी में 'नीलदेवी' रचना के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। इसमें आलोचक 'रचना' के गुण दिखाना चाहता है। परंतु गुणदोष-विवेचन-पद्धति की समालोचनात्मक टिप्पणी सन् १८८२ में 'क्षत्रिय पत्रिका' में प्रकाशित 'अंधेर नगरी' रचना की आलोचनात्मक टिप्पणी में मिलती है और उसमें गुणों की प्रशंसा भी की गई है—

'अंधेरनगरी'

'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के 'अंधेर नगरी' नामक हास्य और उपदेशयुक्त रूपक के विषय में कुछ लिखा चाहता हूँ तो लेखनी मुँह फैला देती है। उनके संमुख वही कुछ लिख सकता है जो उन्हीं सा नवों रसों में निपुण और गद्य पद्य दोनों में परिपूर्ण हो। यद्यपि इसे एक खेल समझकर उक्त बाबू साहब ने एक ही दिन में लिख डाला है पर गद्य और पद्य दोनों में हास्य और उपदेश

दोनों को भलीभाँति निबाहा है। बस इसी का नाम 'खेल का खेल तमाशे का तमाशा है।' (क्षत्रिय पत्रिका', खंड ३, संख्या ११, संवत् १९३६, पृ० २४६),

प्राप्तिस्वीकार' के रूप में लिखी गई इस प्रकार की आलोचनात्मक टिप्पणियों में 'ग्रंथपरिचय' का प्रारंभिक स्वरूप दिखाई पड़ता है। जो नाटक या उपन्यास स्वीकार किए जाते थे उनपर कुछ न कुछ लिखना आवश्यक था, इसलिये पत्रिका के संपादक इस प्रकार की टिप्पणियो के लिये 'प्राप्तिस्वीकार या आलोचना' स्तंभ को अलग स्थान देते थे परंतु उसमे रचना या ग्रंथकार की स्तुति रहती थी और आलोचना को कम स्थान रहता था। यह परंपरा सन् १८८३ ई० तक मिलती है। 'पुस्तक परिचय' के रूप मे लिखे गए आलोचनात्मक लेखो में 'आनंद कादम्बिनी' मे प्रकाशित 'संयोगिता स्वयंबर' नाटक की आलोचना बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार की सर्वांगीण गुणो से युक्त आलोचना सन् १८८५ ई० तक नहीं मिलती है। इसमे कटूक्तियाँ भी हैं और आलोचना का गंभीर तथा विश्लेषणात्मक रूप भी। इसमे आलोचक का ध्यान स्वाभाविकता की ओर ही रहा और इसमें तात्कालीन आलोचना के बारे मे कई संकेत भी मिलते हैं—

संयोगिता का स्वयंबर नाटक

'यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचको की समालोचनाओ की समालोचना करने की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना बहुतेरे सहयोगी और मित्रो को करते देखते हैं, तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद न मानी जाय तो यह अनुमान हो कि न वे केवल नाट्यविद्या और पुराने कवियो के काव्य ही से अनभिज्ञ हैं, किंतु कदाचित् भाषा भी भलीभाँति नही जानते, क्योकि इस क्षुद्र ग्रंथ की रचना पर मोहित हो रचयिता को भाषा के वाल्मीकि, भाषा के कालिदास और भाषाचातुर्य कह डालते और श्री हरिश्चंद्र के तुल्य भारतेंदु के पद के योग्य ठहराते।' (आनंद कादंबिनी) माला २, मेघ १०-११-१२, संवत् १९४२, पृ० ७) ।'

उपर्युक्त समालोचनात्मक लेख के प्रारंभिक अंश की पंक्तियाँ पढ़ते ही इसमें समालोचनात्मक शैली का निखरा हुआ रूप मिलता है। इसमें समालोचक कुछ कहना चाहता है, वह केवल पुस्तक के गुणदोष का विवेचन करना नहीं चाहता, बल्कि तत्कालीन समालोचना के क्षेत्र में जो कुछ धाँधली मची थी उसकी ओर भी संकेत करता है। वास्तव में इस समालोचनात्मक लेख की बहुत प्रशंसा हुई होगी, क्योकि बाद में इसी पत्रिका में अपने उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' की आलोचना 'संयोगिता स्वयंबर' के ढंग पर करने के लिये शायद पं० बालकृष्ण भट्ट ने इस पत्रिका के संपादक को लिखा होगा। इस बात का संकेत भी संपादक ने 'नूतन ब्रह्मचारी' पर लिखी हुई आलोचनात्मक टिप्पणी में इस प्रकार किया है —

नूतन ब्रह्मचारी

'उपन्यास एक सहृदय के हृदय का विकास अर्थात् हमलोगो के सुयोग्य मित्र एम० ए० उपाधिधारी रचित, जिसको वे हमारे पास भेजकर 'संयोगिता स्वयंवर' की सी समालोचना लिखने को लिखते हैं।' (आनंद कादंबिनी' माला ३, मेघ १–२, संवत् १६४४, पृ० १६)

इस प्रकार की समालोचना का दर्शन तत्कालीन 'हिंदी प्रदीप', 'कवि व चित्रकार' आदि पत्र पत्रिकाओ मे मिलता है। पं० कुंदनलाल की 'कवि व चित्रकार' पत्रिका मे 'नवीन ग्रंथो की आलोचना' शीर्षक के अंतर्गत किताबो की, 'सुंदरी स्वप्न प्रकाश' तथा शालग्राम जी कृत 'मोरध्वज' नाटक की समालोचनाएँ एक ही ढग की हैं। 'मोरध्वज' पर इस प्रकार लिखा गया है—

'मोरध्वज नाटक'

'लाला शालग्राम जी का बनाया हुआ 'मोरध्वज' नाटक हमारे पास पहुँचा। इस उत्तम ग्रंथ को हमने आदि से अंत तक पढ़ा, इसमें करुण वीर शात आदि जितने रस हैं ग्रथकार ने बड़ी उत्तमता के साथ अभिनय दिखलाया है। राजा मोरध्वज की ही भक्ति उदारता और भगवान् श्री कृष्णचंद्र की भक्तवत्सलता और अर्जुन के साथ पूर्ण मित्रता से दिखलाई गई है, जिनसे ग्रंथकार की कवित्व शक्ति का पूर्ण रीति से (परिचय) मिल सकता है। स्थान स्थान पर प्राचीन कवियो के कवित्व दोहे आदि जो दिए हैं, वे मानो सुवर्णजटित रत्नो का अनुकरण कर रहे हैं—भाषा इस नाटक की अतीव सरल और मनोहर है इस ग्रंथ के पढने से मनुष्य मात्र की बुद्धि असत्कर्मों को छोड़ सन्मार्ग में प्रवृत्त हो सकती है भक्तो को इसके देखने से एक अलौकिक आनंद की प्राप्ति होगी उपसंहार में हम ग्रंथकर्ता को धन्यवाद देते हैं, जिन्होने ऐसे सुगम और मनोहर नाटक को बनाकर हमारी देश भाषा की उन्नति की। साधारण कवियो को चाहिए कि लाला शालग्राम की सी भाषा अपने बनाए हुए ग्रंथो मे रक्खा करे कि जिसे सर्वसाधारण सुगमता से समझ सके।' (कवि और चित्रकार' संवत् १६४० वि० ३१)।'

मोरध्वज की समालोचना में एक विशेषता दिखाई पड़ती है कि उसके अंत में आलोचक का नाम दिया गया है। इससे दो बातो के बारे में तर्क किया जा सकता है। अब समालोचना करने का कार्य संपादक के अलावा दूसरे लेखक भी करते थे। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक काल मे जिस प्रकार आलोचना करने के लिये भिन्न भिन्न लेखको के पास किताबें भेजी जाती हैं उसी प्रकार की पद्धति इस काल मे आरंभ हुई होगी। 'मोरध्वज' की समालोचना पढ़कर कोई भी पाठक यह कह सकता है कि समालोचना में कलात्मक तथा व्यवस्थित ढंग का

आविर्भाव हो रहा था। इसमें आलोचक ने नाटक की कथावस्तु तथा भाषा पर अलग अलग लिखा है और अंत में समालोचना का उपसंहार लिखकर नाटककार को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से धन्यवाद भी दिया है।

भारतेंदुकालीन 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका', 'हरिश्चंद्र मेगजिन' 'आनंद कादंबिनी'; 'हिंदी प्रदीप', 'कवि व चित्रकार' आदि पत्रिकाओ में आलोचनात्मक रचनाएँ थीं। मुद्रणकला का प्रचार होने के कारण पुस्तको का प्रकाशन सर्वसुलभ हुआ था, इसलिये समाचारपत्रों में विज्ञापन भी होता था। ग्रंथलेखक अपनी पुस्तकें पत्र पत्रिकाओ के पास भेजते थे और पुस्तक के 'प्राप्तिस्वीकार' के रूप में कुछ लिखा भी जाता था परंतु पाठकों का मन समालोचना की ओर बहुत आकृष्ट नहीं हुआ था अधिकतर लेखक किसी न किसी पत्रिका के संपादक थे, इसलिये उनकी पुस्तकों पर किसी दूसरी पत्रिका मे भी आलोचना छपती थी।

भारतेंदु युग रीति काल से प्रभावित था। इसलिये पांडित्यपूर्ण समालोचना पद्धति का प्रभाव कहीं नहीं दिखाई पड़ता है। इस काल के आलोचको ने कविता, नाटक, उपन्यास आदिपर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं परंतु आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। इसलिये इस काल की आलोचनात्मक सामग्री मे आलोचना की आरंभिक अवस्था मिलती है। इस काल के आलोचकों मे भारतेंदु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त आदि ही मुख्य माने जा सकते हैं। इन आलोचको में भट्ट जी का महत्व सबसे ज्यादा है, वे आधुनिक ढंग की आलोचना के जन्मदाता हैं। भट्ट जी ने अपने जीवन में जितनी आलोचनाएँ लिखीं वे परिमाण में अधिक नहीं हैं। आकार से उसका प्रकार ही अधिक महत्वपूर्ण है। भट्ट जी के के समक्ष आलोचना की कोई प्राचीन परंपरा प्रेरणा लेने या मार्गदर्शन के लिये नहीं थी। उन्हे तो परंपरा स्वयं स्थापित करनी थी। साहित्य के प्रत्येक अंग पर उन्होने कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। इस काल के साहित्यसेवियो में भारतेंदु के बाद भट्ट जी का व्यक्तित्व महान् था। किंतु भट्ट जी को इतना अवकाश न मिला कि वे किसी एक साहित्यिक विधा के शृंगार एवं विकास में अपने प्रयत्न केंद्रित करते। इसलिये जब हम उनके आलोचना साहित्य का अध्ययन करते हैं, ऐसा अनुभव होता है यदि भट्ट जी इस संबंध मे जितना अधिक लिखते उतना ही अच्छा था और यही विचार उनके उपन्यास नाटक आदि को पढ़कर बनता है। 'हिंदी प्रदीप' का प्रथम अंक १ सितंबर सन् १८७७ ई० को निकला था। भट्ट जी ने इसे निकाला था।

आज भी हिंदी पत्रकार कला का इतिहास बहुत पुराना नहीं है, फिर भट्टजी का युग तो उसके आरंभ का युग था। यह कहा जा सकता है कि 'हिंदी प्रदीप'

से पूर्व हिंदी पत्रकार कला का कोई उज्जवल इतिहास नहीं था। सच बात तो यह है कि पत्रकारिता तब जन्म ले रही थी। उसका पालन पोषणकर उसे युवा बनाने और सौंदर्य प्रदान करने का बहुत श्रेय 'हिंदी प्रदीप' को है। 'हिंदी प्रदीप' की संचिकाओं में वे निबंध जिनका स्वर आलोचनात्मक है अधोलिखित हैं—चंद्रहास तथा सबके गुरू गोवर्धनदास के अभिनय की आलोचना (हिंदी प्रदीप, अक्टूबर १८७७, पृ० १२-१३), लाला श्रीनिवास कृत रणधीर प्रेम मोहिनी नाटक (हिंदी प्रदीप, मार्च १८७८, पृ० १६), नाटकाभिनय (हिंदी प्रदीप, जनवरी १८८०, पृ० २–३), शमशाह सौशन नाटक (हिंदी प्रदीप, अप्रैल १८८०, पृ० १), नीलदेवी (हिंदी प्रदीप, फरवरी १८८२, पृ० १-३), परीक्षा गुरू (हिन्दी प्रदीप, दिसंबर १८८२, पृ० १२-१३), मुद्राराक्षस (हिदी प्रदीप, अप्रैल १८८३, पृ० ३), नेक सलाह (हिंदी प्रदीप, अगस्त १८८३, पृ० १८-१६) सच्ची समालोचना संयोगिता स्वयंबर की (हिंदी प्रदीप, अप्रैल १८८६ पृ० १७-२१, एकांतवासी योगी (हिंदी प्रदीप, मई १८८६, पृ० १४), वंग विजेता (हिंदी प्रदीप अगस्त १८८६, पृ० १७-२१), हिंदी कालिदास की आलोचना (हिंदी प्रदीप, अगस्त १८८६, पृ० १४), नैषध चरित चर्चा पर सुदर्शन दंश (हिंदी प्रदीप, सितंबर १६००, पृ० १८–२१), रामलीला नाटक मंडली, (हिंदी प्रदीप, जनवरी, फरवरी १६५०, पृ० २४-१५) आदि।

काव्यग्रंथो पर विस्तृत आलोचना लिखने की परिपाटी अत्यंत आधुनिक है। भारतेंदु काल में इस प्रकार की आलोचनाओं का प्रायः अभाव है। आलोचको का ध्यान जाता भी था तो सामयिक साहित्य की ओर। प्राचीन साहित्य की ओर उनकी दृष्टि अध्ययन या गवेषणा तक सीमित रहती थी, आलोचनात्मक नही होती थी। भट्टजी ने नियमित रूप से प्राचीन साहित्य पर आलोचनाएँ नहीं लिखी हैं किंतु फुटकर लेखो के रूप में उन्होने संस्कृत के विभिन्न कवियो पर प्रकाश डाला है। हिंदी प्रदीप की संचिकाओ में प्राचीन संस्कृत कवियो एवं साहित्य पर भट्टजी के निम्नांकित लेख उपलब्ध हैं—

वह, पंडितराज जगन्नाथ, महाकवि हर्ष, विल्हण कवि की उक्ति, हर्ष की उक्ति, महाकवि विल्हण, गोवर्धनाचार्य, सप्तशतीस्तोत्र और भगवद्गीता, महाकवि भवभूति, महाकवि क्षेमेंद्र, महाकवि हरिश्चंद्र, वराहमिहिर और वराह संहिता, महाकवि बाणभट्ट, महाकवि भारवि, त्रिविक्रम भट्ट, महाकवि दामोदर गुप्त, भट्टनारायण राजशेखर, प्राचीन ग्रंथकारो का संक्षिप्त इतिहास, मम्मट, आर्यभट्ट आदि, महाकवि जयदेव, आनंदवर्द्धनादि, भर्तृहरि, कालिदास और भवभूति, अमरसिंह, नागेश या नागेशजी भट्ट, गीतासार समुच्चय, महाकवि वागभट्ट, चंद्रोदय वर्णन, गीतासार समुच्चय, भट्ट आदि कवि भवभूति, वाल्मीकि,

व्यास आदि। भट्टजी आज के विकसित समालोचना साहित्य के मूल हैं। यदि मूल ही दोषयुक्त हो तो उसको आधार मानकर विकासाकांक्षी शाखाएँ अपने शैशव में ही मुरझा जाती हैं। हिंदी आलोचना की आज की सुखमय स्थिति के लिये भट्ट जी को उचित श्रेय दिया जाना चाहिए। हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पर भट्ट जी का बहुत ऋण है, अनेक स्थानो पर द्विवेदीजी के विचार भट्टजी से उधार लिए प्रतीत होते हैं। भट्ट जी कविता पर बंधनों के विरुद्ध थे और बनावटी या कृत्रिम कविता के भी वे प्रशंसक नहीं थे। भट्ट जी की एतद्विषयक शब्दावली देखिए—

'स्वाभाविक और बनावट में बड़ा अंतर होता है। हमारे मन में जो भावना जिस समय जैसी उठी कह डाला। यदि हमारे मन की उमंगें सच्ची हैं तो जो बातें हमारे चित्त से निकलेंगी सच्ची होगी और उनका असर भी सच्चा ही होगा। इसके विरुद्ध जब हम किसी नियम से जकड़ दिए गए तब उसके बाहर तो हम पैर रख ही नहीं सकते इसलिये सुसंस्कृत कविता (क्लासिक पोइट्री) अवश्यमेव कृत्रिमता दोषपूरित रहेगी।' (हिंदी प्रदीप, अक्टूबर १८८६, पृ० १४)

उपर्युक्त पंक्तियों को द्विवेदी जी की निम्नांकित पंक्तियों से मिलाइए तो भावसाम्य ही नहीं, भाषासाम्य तक उसमें दिखाई देगा —

'पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता हजारों वर्षों से कविता क्रम जारी है जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन कवि करते हैं उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नए कवि होते हैं वे उलट फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी दीख पड़े कवि को उसे वैसा ही वर्णन करना चाहिए उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कविता जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका असर लोगों पर पूरा पूरा पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है।' (रसज्ञ रंजन, पृ० ४६)

श्री बालमुकुंद गुप्त ने साहित्यिक जीवन के आदि से लेकर अंत तक हिंदी के प्रसिद्ध पत्रों का संपादन किया था। अतः इसी माध्यम से आपने आलोचना साहित्य के प्रचार एवं सृजन के पावन यज्ञ में बहुमूल्य आहुतियाँ अर्पित की थीं। उनकी आलोचना का क्षेत्र साहित्य और समाज दोनों ही थे। वे कला को उप-

योगिता की तुला पर तौलनेवाले साहित्यकार थे। भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा स्वातंत्र्य के समर्थक साहित्य के आविर्भावक थे। यदि उन्हें किसी रचना से भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर आघात होता हुआ प्रतीत होता था तो उनकी लौह-लेखनी शीघ्र लेखक के विरुद्ध उठ जाया करती थी। इस दृष्टि से उनकी आलोचना के दो क्षेत्र ठहरते हैं– एक शुद्ध साहित्यिक आलोचना का क्षेत्र, जिसके अंतर्गत समकालीन लेखको और साहित्यकारो की रचनाओ पर लिखी आलोचनाएँ आती हैं और दूसरा राजनीतिक क्षेत्र, जिसके अंतर्गत उनकी दृष्टि साहित्य से हटकर समाज और राष्ट्र पर पडती है। वे सचेष्ट और कुशल अनुसंधानकर्ता थे, विस्मृति के गर्त से प्राचीन साहित्यकारो का उद्धार करने मे उन्हें विशेष रुचि थी और चरितचर्चा की एक अभूतपूर्व शैली का उन्होने विकास किया था। 'प्रयाग समाचार' के जन्मदाता, पं० देवकीनंदन तिवारी, साहित्याचार्य पं० अंबिकादत्त व्यास, पं० देवी सहाय, पाडे प्रभुदयाल, बाबू रामदीन सिंह, प० गौरीदत्त, पं० माधव मिश्र, मुंशी देवीप्रसाद प्रभृति हिंदी के वे लेखक थे जिनके जीवनचरित गुप्तजी ने भारतमित्र मे प्रकाशित करके उनको पुनर्जीवित किया था। आलोचक गुप्तजी की सबलतम आलोचना का निदर्शन समकालीन लेखको पर लिखी गई आलोचनाएँ हैं। इस प्रकार की आलोचना में रचना का कलात्मक रूप गौण और रूप की लोकप्रियता प्रमुख है। इस विधा में आपका ध्यान विषयवस्तु के कलात्मक निरूपण की ओर अल्प और उसके समाजहितैषी पक्ष की ओर अधिक होता है। आलोचना उनके लिये साध्य न होकर साधनमात्र थी। इस साधन का उपयोग गुप्तजी ने लोकरुचिविधायक एवं लोककल्याणकारी रचनाओ के समर्थन में किया था। इस प्रकार की उनकी आलोचनाएँ हैं—'अश्रुमती' नाटक तथा 'तारा उपन्यास' पर लिखे लेख। इसके अतिरिक्त आलोचक गुप्तजी ने अपनी आलोचना द्वारा अतिशय शृंगारिकता के पुनरावर्तन का विरोध 'काम-शास्त्र' (भारतमित्र, ५ फरवरी, सन् १९०५ ई०) नामक पुस्तक तथा द्विवेदी जी की कविता 'प्रियंवदा' (सरस्वती, भाग ७, सं० १२ पृ० ४८६) की आलोचना द्वारा किया, कुरुचि उत्पादक भद्दी अनुकृति का प्रतिवाद सुशील कवि, पन्नलाल) की 'उजाड़गाँव', साधु तथा योगी' नामक रचनाओ की समीक्षा (भारतमित्र २१ अगस्त सन् १८९९ ई०) द्वारा और क्लिष्ट एवं दुर्बोध साहित्य का निरसन 'तुलसी सुधारक' (भारतमित्र, सन् १९०२ ई०) की आलोचना द्वारा किया है। समकालीन लेखको पर लिखीं आलोचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि गुप्त जी निर्भीक निष्पक्ष तथा आलोचकीय गौरव की रक्षा करनेवाले आलोचक थे। रचना के गुणदोष विवेचन की पद्धति का परित्याग करके जो आलोचक रचनाकार के गुण एवं दोषों की उद्भावना करने लग जाते हैं, गुप्तजी उनके अप वाद थे। हिंदी मे नवीन पत्रो के प्रकाशन और अभिनव साहित्य सृजन पर आप

हर्ष व्यक्त करते थे तथा ईर्ष्या अथवा व्यक्तिगत विद्वेषवश अच्छी रचनाओं को निकृष्ट बनानेवाले आलोचकों की वे खबर लेते थे। श्री बालमुकुंद गुप्त आचार्य द्विवेदी की भाषा और व्याकरण संबंधी मान्यताओं के कठोर आलोचक होते हुए भी 'सरस्वती' के प्रकाशन, सुंदर छपाई तथा 'गेटअप' आदि के प्रशंसक थे (भारतमित्र—सरस्वती की नाराजी, सन् १६०२ ई०)। गुप्तजी की अंतिम एवं युगांतरकारी विशेषता है तुलनात्मक समीक्षापद्धति का बीजारोपण। यद्यपि भारतेंदु युग में आलोचना का मूल रूप विकसित हो चुका था पर तुलनात्मक समीक्षा की ओर प्रयास न हो पाया था। गुप्त जी ने इस ओर अद्भुत प्रयास किया। पं० प्रतापनारायण मिश्र की प्रतिभा एवं काव्यशक्ति की समता भारतेंदु जी के साथ करते हुए आप ने लिखा था—'पंडित प्रतापनारायण मिश्र में बहुत बातें बाबू हरिश्चंद्र की सी थीं। कितनी ही बातों में वह उनके बराबर और कितनी ही में कम थे, पर एकाध में बढ़कर भी थे।'

भारतेंदुकालीन समालोचना के कार्य को देखकर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यह युग समालोचना की गंभीरता तथा प्रौढ़ता के लिये उपयुक्त नहीं था, क्योंकि हिंदी में अच्छी अच्छी किताबें नहीं लिखी गई थीं तथा उस समय किसी भी ग्रंथ की समीक्षा से परिचय प्राप्त करने के लिये पाठकों के पास कोई साधन नहीं थे। जो कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित होती थीं उनमें अधिकतर गुणदोष विवेचन ही रहता था और किसी वाद के घेरे में वह न जा सके। इसलिये इस काल की समालोचना में आलोचना पद्धति की प्रयोगावस्था के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। परंतु आलोचना की यह परंपरा एक नए युग की प्रतीक्षा कर रही थी सन् १८६७ ई० में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के कारण आलोचना को एक नई दिशा मिली और द्विवेदी युग के आलोचकों की प्रारंभिक रचनाएँ इस पत्रिका द्वारा पाठकों के सामने आने लगीं। इस तरह इस पत्रिका के प्रकाशन के साथ आलोचना के क्षेत्र में एक नए युग का प्रारंभ हुआ।

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रथम वर्ष में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना', बाबू जगन्नाथदास का 'समालोचनादर्श', पं० अंबिकादत्त व्यास का 'गद्यकाव्य मीमांसा' आदि लेख हिंदी समालोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। बाद में 'समालोचनादर्श' और 'गद्यकाव्य मीमांसा' पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। इन दोनों ग्रंथों में आलोचना के सिद्धांतों का विश्लेषण मिलता है। 'समालोचनादर्श' पोपकृत 'ऐसे आन क्रिटिसिज्म' का काव्यानुवाद है। हिंदी आलोचना की प्रारंभिक अवस्था में समीक्षा शास्त्र को पद्यबद्ध करना भारतेंदुयुगीन परंपरा का परिचय देना है। इसमें 'रत्नाकर' जी की प्रतिभा का दर्शन होता है। किसी भी लेखक में प्रतिभा का होना अत्यावश्यक है और इसका परिचय रत्नाकर जी ने इस प्रकार दिया है—

'विन प्रतिभा के लिखत तथा जाँचत बिबेक बिन,
अहंकार सों भरे फिरत फूले नित निसि दिन,
जोरि बरोरि कोऊ साहित्य ग्रंथ निर्मानै,
अर्थ सून्य, कहूँ निरोधी लच्छन ठानै।'

इससे पता लगता है कि कवियो का लक्ष्य भी आलोचना की ओर गया है। इन तीन रचनाओ को देखकर यह कहा जा सकता है कि इस समय समीक्षा संबंधी कार्य की कमी का अनुभव अग्निहोत्री, अंबिकादत्त व्यास जैसे विद्वानो को होता होगा और इसलिये उनके द्वारा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में कुछ कार्य हो सका।

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में इतिहास, साहित्य, भाषातत्व, पुरातत्व आदि के बारे में लेख प्रकाशित होने लगे और खोजसंबंधी सामग्री भी पाठको के सामने आने लगी। इसी काल की 'हिंदी प्रदीप', 'आनंद कादंबिनी' आदि भारतेंदुयुगीन पत्रिकाओ में भी समीक्षाप्रधान लेख प्रकाशित होते थे अर्थात् इन पत्रिकाओं का उद्देश्य पाठको के लिये सब प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करना था, इसलिये उनमें जो कुछ समालोचनात्मक लेख मिलते हैं वे प्रायः निबंध के रूप में ही हैं।

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हिंदी में महावीरप्रसाद द्विवेदी, माधवप्रसाद मिश्र, श्यामसुंदर दास, अंबिकादत्त व्यास और मिश्रबंधु जैसे धुरंधर लेखको की प्रतिभा को विकसित होने के लिये अवकाश मिला तथा द्विवेदी युग के गद्यलेखको की एक विशाल परंपरा निर्मित हुई। पत्रिका के जून सन् १८९८ ई० के अंक में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'नागरी! तेरी यह दशा', श्यामसुंदर दास कृत 'भारतवर्षीय भाषाओ की जाँच' जैसे महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। अतः पत्रिका के प्रारंभिक अंको में ही हिंदी साहित्य के विविध अंगों पर विचार होने लगा।

आधुनिक हिंदी आलोचना का सूत्रपात 'सुदर्शन' (१९००), 'सरस्वती' (१९००), 'समालोचक' (१९०२) आदि पत्रिकाओं के कारण हुआ। इन पत्रिकाओ में 'सरस्वती' और 'समालोचक' द्वारा आलोचना साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई। 'सरस्वती' के प्रथम अंक से ही आगत ग्रंथादिको की यथोचित समालोचना आरंभ हुई। भारतेंदुकालीन लेखको के जीवनचरित्र पर जितने लेख प्रकाशित हुए हैं उनमें उन उन लेखको की कृतियो की समालोचना भी की गई। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' के संपादक होने के बाद आलोचनात्मक साहित्य लिखने के लिये प्रोत्साहन मिलने लगा और प्रकाशित पुस्तको की समालोचना करने की दृष्टि से १९०४ ई० से 'सरस्वती' में पुस्तकपरीक्षा स्तंभ' आरंभ किया गया। इसी से द्विवेदीयुगीन समालोचना साहित्य का आरंभ माना जाता है। इस प्रकार की आलोचना का नमूना इस रूप में मिलता है —

'पुस्तक-परीक्षा'

'विघ्नदर्शन। इसका दूसरा नाम है 'राक्षसीमाया का परिचय'। टाइटिल पेज इस पर नहीं है। इसके कर्त्ता बरेली निवासी सुन्नीलाल शास्त्री हैं। इसमें 'सूत्र' हैं। जैसे संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों में सूत्र हैं वैसे ही इसमें भी हैं। उनका भाष्य भी है। वह भी हिंदी में है। नग्न रहनेवाले, भूत, प्रेत इत्यादि सिद्ध करने का यत्न करनेवाले तथा अघोरपंथी मत के अनुयायियों के प्रतिकूल बहुत सी बातें इसमें शास्त्री जी ने लिखी हैं। (सरस्वती, जनवरी १९०५, ई० पृ० ४०)

सन् १९०० ई० के आसपास पत्रपत्रिकाओं में आलोचना के बारे में चर्चा हो रही थी और उसके लिये हिंदी के विद्वानों की एक समिति बनवाई गई थी परंतु इससे कोई कार्य नहीं हो सका। पाठकों के मन में समालोचनात्मक साहित्य की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इस काल के निबंधकार भी अपने साहित्यिक निबंधों में समालोचनात्मक विचार प्रकट करने लगे। इस काल में अधिकतर समालोचनात्मक निबंध लिखे गए हैं। हिंदी उर्दू समस्या और अन्य तत्कालीन साहित्यिक समस्याओं का विवरण इन लेखों में मिलता है।

हिंदी साहित्य संमेलन के वार्षिक अधिवेशन में अनेक साहित्यिक निबंध पढ़े जाते थे और उनपर चर्चा होती थी। इन साहित्यिक निबंधों में तत्कालीन साहित्य की समस्याओं पर विचार किया जाता था और साहित्य की उन्नति करने के लिये नई नई योजनाओं पर विचार किया जाता था। इस प्रकार आलोचना का क्षेत्र बढ़ता ही गया। भिन्न भिन्न नगरों में साहित्यिक गोष्ठियों की आयोजना होती थी और उनमें भी साहित्य के किसी न किसी अंग पर चर्चा होती थी। इस प्रकार की चर्चा में वादों का निर्माण होता था और अनेक लेखकों द्वारा वादात्मक लेख लिखे गए। आलोचना का क्षेत्र इतना व्यापक होने लगा कि तत्कालीन समस्याओं का विश्लेषण करने की प्रवृत्ति आलोचना के रूप में दिखाई देने लगी। सन् १९०७ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'स्त्रीशिक्षा की आलोचना' शीर्षक निबंध में स्त्रीशिक्षा की आवश्यकता पर विचार किया गया है। आलोचना का क्षेत्र धीरे धीरे इतना विस्तृत होने लगा कि हिंदी के विद्वान् साहित्य की कृतियों के बारे में भी अपने विचार प्रकट करने लगे। सन् १९०६ ई० में सूर्यनारायण दीक्षित कृत 'शेक्सपियर का हेमलेट' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें आलोचना की विश्लेषणात्मकशैली का रूप इस प्रकार प्रकट हुआ है—

'शेक्सपियर की प्रतिभा इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि उसने हैमलेट के पागलपने को इतनी योग्यता के साथ दरसाया है कि आजकल भी बड़े बड़े समझदारों को भ्रम हो जाता है कि हैमलेट वास्तव में पागल था, वह बनावटी पागल न था। कोई कोई डाक्टर हैमलेट को पढ़कर अपनी सारी डाक्टरी उसी की खोज में खर्च

कर देते हैं कि हैमलेट वास्तव मे पागल था या थोड़े दिनो के लिये पागल बन गया था। कोई कहता है कि वह बनावटी पागल था। कोई कहता है नही, वास्तव मे पागल था। कोई कोई यह भी कहते हैं कि न तो वह सच्चा पागल था और न बनावटी ही।' (सरस्वती, जून १९०६, पृ० २४१)।

इसी काल मे जासूसी, तिलस्मी, ऐयारी आदि उपन्यासो का प्रचार जनता मे अधिक संख्या मे हो रहा था और समाचारपत्रो में उनकी चर्चा होती थी। इन पत्रिकाओ में उपन्यासो की प्रशंसा ही की जाती थी और साधारण से साधारण पुस्तक पर बहुत अच्छी आलोचना निकलती थी। इस प्रकार की आलोचना का विरोध माधवप्रसाद मिश्र ने इस प्रकार किया है —

'समालोचना करते करते अपने घर में उन्होने (समालोचको ने) कुछ नियम भी गढ़ लिए हैं और बात बात मे निजनिर्मित नियम और प्रथा की दुहाई देते हैं और साथ ही 'तिलिस्म' और ऐयारी नाम से उनके बदन में खाज उठने लगती है। उनसे कोई नही पूछता कि उपन्यासो के विषय में तुम जानते ही क्या हो? जिस उपन्यास को तुम ऐयारी तिलिस्म का पचड़ा कहते हो उस उपन्यास के बनने पहले तुमने कितने उपन्यास पढ़े हैं? और किस किस उपन्यास से कौन कौन गुण तुमने सीखे हैं और इस विषय मे समालोचक बनने की योग्यता कहाँ प्राप्त की है?'

हिंदी आलोचना के विकास युग के प्रारंभ मे पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदरदास, श्री मिश्रबंधु, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन जैसे समालोचकों की कृतियाँ मिलती हैं। हिंदी भाषा के संशोधन तथा आधुनिक समालोचना के पथ को प्रशस्त करने का कार्य 'सरस्वती' ने किया। भारतेंदु युग के लेखकों—पंडित प्रतापनारायण मिश्र, प० बालकृष्ण भट्ट आदि की गद्यलेखन की शैलियो में स्थानीय बोलियो का पुट सहज में ही आ जाता था। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा मे व्याकरण संबंधी अशुद्धियाँ भी यदा-कदा हो जाती थी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के द्वारा भाषा के परिमार्जन का कार्य प्रारंभ किया। इसमे तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि व्याकरण की शुद्धता और भाषा के परिमार्जन के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के संपादन काल में उनके पास समालोचनार्थ जो पुस्तकें आती थी उनकी व्याकरण संबंधी भूलो की द्विवेदी जी कड़ी आलोचना करते थे। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि लेखक सावधान हो गए। हिंदी गद्य को परिमार्जित एवं व्याकरण के अनुसार शुद्ध रूप देने मे सरस्वती का सबसे बडा हाथ है।

यद्यपि हिंदी में समालोचना का कार्य भारतेंदु युग से प्रारंभ हो गया था तथापि इस कार्य को भी व्यवस्थित करने का श्रेय द्विवेदीजी को ही है। कदाचित्

द्विवेदीजी की ही प्रेरणा से पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई संहार' शीर्षक के अंतर्गत विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत बिहारीसतसई की टीका की आलोचना लिखी थी। यह आलोचना धारावाहिक रूप से सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। इसमे शर्मा जी ने बिहारी के मूल्याकन में तुलनात्मक प्रणाली का प्रयोग किया था जो बाद में हिंदी में खूब चली।

हिंदी को सरस्वती की सबसे बडी देन यह है कि इसने देश के विभिन्न अंचलों के विद्वानो को हिंदी में लिखने के लिये प्रेरणा प्रदान की और इस प्रकार हिंदी को समृद्ध बनाने में योगदान किया। उस युग में अँगरेजी, संस्कृत तथा अन्य भाषाओ के ऐसे अनेक विद्वान् थे जो अपने को हिंदी लिखने मे असमर्थ बताते थे। द्विवेदी जी ऐसे विद्वानों से स्वयं मिलकर तथा उनसे पत्र व्यवहार करके हिंदी मे लिखने के लिये आग्रह करते थे। उन विद्वानो से प्राप्त लेखो की भाषा का परिमार्जन द्विवेदी जी स्वयं करते थे और इसके बाद इन लेखो को इन्हीं लेखको के नाम से 'सरस्वती' मे प्रकाशित कर देते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है द्विवेदी युग मे रचनाओ और रचनाकारो की तुलनात्मक समीक्षा भी आलोचना साहित्य की एक विशिष्टता है। द्विवेदी युग के तुलनात्मक आलोचना के लेखकों में पं० पद्मसिंह शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से अनेक आलोचनाएँ लिखीं—'भिन्न भिन्न भाषाओ में समानार्थवाची पद्य' (सरस्वती, भाग ८, पृ० २६४), 'संस्कृत और हिंदी कविता का बिंबप्रतिबिंब भाव' ('सरस्वती, १६ ८ ई०, पृ० ३१८ और ४०८ सरस्वती, १६११ ई०, पृ० ४३८ और ६१५ तथा 'सरस्वती' १६१२ पृ० ६७२)। द्विवेदी युग में टीका पद्धति पर तीन प्रकार की रचनाएँ हुई— अर्थ परिचय, रचना परिचय और रचनाकार परिचय के रूप में। टीका पद्धति के दूसरे प्रकार (रचनापरिचयात्मक आलोचना) के तीन रूप हैं। पहला रूप पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित सामयिक पुस्तको की परीक्षा है। इस क्षेत्र मे 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'समालोचक', 'मर्यादा', 'प्रभा' आदि ने पुस्तक-परीक्षा के लिये विशिष्ट खंड निर्धारित करके महत्वपूर्ण कार्य किया। इन परीक्षाओ मे प्रायः पुस्तक की छपाई सफाई के अतिरिक्त एक दो विशेषताओं का परिचय दे दिया गया है। द्विवेदी युग की आलोचना के विषय मे उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त कुछ और भी आलोचनीय है। शैली की दृष्टि से ये आलोचनाएँ तीन प्रकार की हैं—निर्णयात्मक, भावात्मक और चिंतनात्मक

आलोचनार्थ पुस्तक भेजनेवालों में सच्चे गुण-दोष-विवेचन के इच्छुक बहुत कम थे। अधिकांश लोग समालोचना के रूप में पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित कराकर आर्थिक लाभ अथवा उसकी प्रशंसा प्रकाशित कराकर अपनी यशोवृद्धि

करना चाहते थे। प्रतिकूल समीक्षा होने पर असंतुष्ट लोग कभी अपने नाम से, कभी बनावटी नाम से, कभी अपने मित्रो, मिलनेवालो या पार्षदो से प्रतिकूल समीक्षा के एक एक शब्द का प्रतिवाद उपस्थित करते या कराते थे। कुछ लोग तो पुस्तक की भूमिका में ही यह लिखा देते थे कि कटु आलोचना से लेखक का उत्साह भंग हो जायगा। (समालोचना का सत्कार, सरस्वती, १६१७ ई०, पृ० ३२७ के आधार पर)।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक होने के कारण तत्कालीन साहित्य की विविध धाराओ से परिचित थे। उन्होने अपनी प्रतिमा का उपयोग मौलिक साहित्य का निर्माण करने की अपेक्षा हिंदी साहित्य की उन्नति करने के लिये किया। उनके युग तक भारतेंदुकालीन समीक्षा के आदर्श का प्रभाव था और किसी पुस्तक की आलोचना उसके गुण-दोष-विवेचन के रूप में ही की जाती थी। परंतु द्विवेदी जी ने अपने आलोचनात्मक लेख केवल अपने पाठको तक सीमित नही रखे, बल्कि उनका प्रभाव उस समय के कवियो और कलाकारो पर भी पडा और इनके द्वारा साहित्यनिर्माण के लिये एक निश्चित दिशा निर्देशित होती गई। 'सरस्वती' द्वारा उन्होने कई आलोचनात्मक लेख हिंदी पाठको के सामने रखे तथा संस्कृत साहित्य के कवियो पर आलोचनात्मक लेख लिखकर देश, काल और परिस्थिति के आधार पर उनकी रचनाओ पर प्रकाश डाला। उनके 'नैषध चरितचर्चा, हिंदी कालिदास की आलोचना, विक्रमांकदेव चरित चर्चा, कालिदास की निरंकुशता' आदि आलोचनात्मक लेखो द्वारा संस्कृत साहित्यसंबधी कुछ ऐसी बातें उन्होने अपने काल के कवियो के सामने रखी जिनके कारण नव साहित्य के निर्माण के लिये एक विशेष प्रेरणा मिलती गई। हिंदी के साहित्य के निर्माण के बारे मे भी उनका कार्य महत्वपूर्ण है। तत्कालीन हिंदी साहित्य की कल्पना देनेवाले व्यंग्य चित्र प्रकाशित किए गए और हिंदी साहित्य के यथार्थ रूप को लोगो के सामने रखा गया। इस प्रकार के व्यंग्यात्मक चित्र पाठको मे एक प्रकार का क्षेत्र निर्माण करने में सहायक हुए। उस काल की हिंदी साहित्य की परिस्थिति का वास्तविक रूप सामने रखनेवाले ये चित्र हिंदी आलोचना के क्षेत्र मे अपनी स्थायी महत्व रखते हैं। इन व्यंग्य चित्रो द्वारा पाठको का मनोरंजन भी होता था। सन् १६०२ ई० मे प्रकाशित 'मराठी साहित्य, अँगरेजी साहित्य, बँगला साहित्य, प्राचीन कविता का अर्वाचीन अवतार तथा खडी बोली का पद्य' शीर्षक व्यंग्य चित्रो मे हिंदी साहित्य की सामयिक अवस्था का रूप पाठकों के सामने खडा किया गया है। इस प्रकार के व्यंग्य चित्र पाठकों को अच्छे नही लगे परतु द्विवेदी जी उनके द्वारा हिंदी साहित्य का कल्याण करना चाहते थे। सन् १६०२ ई० के नवम्बर मे प्रकाशित 'हिंदी उर्दू' शीर्षक चित्र द्वारा तत्कालीन हिंदी उर्दू झगडे

की ओर भी संकेत मिलता है। इस चित्र के नीचे 'उर्दू' और 'हिंदी' का संवाद इस रूप में रखा गया है—

हिंदी उर्दू

'उर्दू—अरी क्यों री चुड़ैल। तू मर कर भी नहीं मरती?

हिंदी—बेटी। तू जुग जुग जी, मुझे क्यों मारे डाले? मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है?

उर्दू—तेरे आछते मुझे राजगद्दी तो नहीं मिलती।

हिंदी—ठीक है बेटी। कलियुग न है। तुझे इसी दिन के लिये बड़े साध से जन्माया था। अच्छा तेरे जी में आवै सो कह, पर मेरी तो माता की आत्मा ठहरी, मैं तो आसीस ही दूँगी।' (सरस्वती, नवंबर १९०७, पृ० ४५६)।

द्विवेदी जी के समय में अँगरेजी साहित्य में विक्टोरियन युग की आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का प्रवेश हो चुका था जो आदर्श एवं प्रभाववादी था परंतु अँगरेजी समालोचना का प्रभाव द्विवेदीजी के काल में नहीं दिखाई पड़ता। द्विवेदी जी को संस्कृतसाहित्य के प्रति अपार श्रद्धा थी इसलिये उनकी आलोचनात्मक कृतियों में भारतीय रससिद्धांत को ही महत्वपूर्ण स्थान मिला है। उनकी अंतिम कृतियों में रोमांटिक भावधारा का भी कुछ प्रभाव लक्षित होता है। वे एक सनातनी हिंदू एवं पुरातन सिद्धांतवादी भी थे। अतः कवियों या कलाकारों के प्रति उनकी भावना ईश्वरवादी थी, अर्थात् वे कलाकार को साहित्य के क्षेत्र में ईश्वर का ही अवतार मानते थे। वे नवीनता के ग्राहक थे परंतु अपनी पुरानी परंपरा की रक्षा करके उन्होंने नवीनता का ग्रहण किया। शास्त्रीय संयम से युक्त स्वच्छंदतावादी परंपरा का स्वरूप उनकी आलोचनात्मक कृतियों में मिलता है। उनका 'उपन्यास रहस्य' नामक लेख उनकी आलोचना शैली और दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। इसमें आलोचना की भारतीय पद्धति का स्पष्ट रूप आचार्य द्विवेदीजी की प्रतिभा में दीप्त है—'जिनको मनुष्य के स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ है और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है, वे पश्चिमी पंडितों के तत्वनिरूपण का ज्ञान प्राप्त किए बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं'। (सरस्वती, 'उपन्यास रहस्य', अक्टूबर १९२२, भाग २३, खंड २ पृ० १९९)

एक बार 'भारती' पत्रिका की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—'इसके विविध विषयवाले स्तंभ की बातें बहुत ही सामान्य होती हैं। उदाहरणार्थ 'एक चोर की जेल में मृत्यु' का हाल आधे कालम में छपा है। मतलब यह कि संपादक महाशय ने नोटों और लेखों को उनकी उपयोगिता का विचार

किए बिना ही प्रकाशित कर दिया है'। (सरस्वती भाग ६, सं० ७, पृ० ३७२)। द्विवेदी जी ने इस प्रकार की कोरी आलोचना ही नहीं की वरन् हिंदी सपादकों के समक्ष आदर्श भी उपस्थित किया। उनके विविध विषय समाचारभाग नही होते थे। उनकी टिप्पणियों का उद्देश्य था 'सरस्वती' के पाठकों की बुद्धि का विकास करना। पाठकों के लाभार्थ उनमे साधारण अध्ययन की सामग्री भी रहती थी। वे प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, भूगोल, धर्म, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, पत्र पत्रिकाओं के सामयिक प्रसंग, हिंदी भाषा और उसके भाषियों की आवश्यकताएँ, महान पुरुषों के जीवन की रोचक और महत्वपूर्ण घटनाएँ, देश विदेश के ज्ञातव्य समाचार, गवर्नमेंट आदि में प्रकाशित सरकारी मंतव्य आदि विषयों का एक निश्चित दृष्टि से, अपनी शैली मे समीक्षात्मक उपस्थापन करते थे। कभी कभी तो रिपोर्ट और पुस्तकें उन्हें अपने मूल्य से मॅंगानी पड़ती थीं'। (सरस्वती, भाग १४, पृ० ४१५)।

उस समय एक ओर 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' द्वारा खोजपूर्ण तथा पांडित्यपूर्ण समीक्षात्मक लेख प्रकाशित हो रहे थे तथा दूसरी ओर 'सरस्वती' तथा 'समालोचक' मे गुणदोष पद्धति की समीक्षात्मक रचनाएँ प्रकाशित हो रही थी। मिश्रबंधुओं ने आलोचना की इन दो धाराओं के संमिश्रण से अपनी समीक्षा पद्धति का रूप पाठकों के सामने रखा।

इस युग का सामयिक साहित्य मुख्यतः नागरीप्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'इंदु', 'चॉद', 'प्रभा' और 'माधुरी' मे प्रकाशित हुआ। सरस्वती, की अग्रजा 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' १६०४ ई० मे त्रैमासिक थी, १६१५ ई० मे मासिक हुई और फिर १६२० वि० में त्रैमासिक हो गई। उसका उद्देश्य सामान्य पत्रिकाओं से भिन्न था। आरभ मे तो उसने कविता आदि विषयों को भी स्थान दिया था किंतु आगे चलकर केवल शोधसंबंधी पत्रिका रह गई। मर्यादा आदि अन्य पत्रिकाएँ 'सरस्वती' की अनुजा थीं। रूप और गुण सभी दृष्टियों से उन्होंने 'सरस्वती' का अनुकरण किया।

द्विवेदी युग के अधिकांश लेखक संपादक थे। काशी नागरीप्रचारिणी सभा मे रक्षित पत्रिकाओं की फाइलों से सिद्ध है कि श्यामसुंदरदास ('नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती'), राधाकृष्ण दास ('नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती'), भीमसेन शर्मा ब्राह्मण सर्वस्व), कृष्णकांत मालवीय (मर्यादा), रामचंद्र शुक्ल (नागरीप्रचारिणी पत्रिका), गौरीशंकर हीराचंद ओझा (नागरीप्रचारिणी पत्रिका), लाला भगवानदीन (लक्ष्मी), रूपनारायण पांडेय (नागरीप्रचारक , बालकृष्ण भट्ट (हिंदी प्रदीप), गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी (ब्रह्मचारी), पद्मसिंह शर्मा ('परोपकारी' और 'भारतोदय'), संतराम बी० ए० ('उषा' और

'भारती'), लाला सीताराम बी० ए० (विज्ञान), ज्वालादत्त शर्मा (प्रतिभा), गोपालराम गहमरी ('समालोचक' और 'जासूस'), माधव प्रसाद मिश्र (सुदर्शन), द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी (यादवेन्दु), यशोदानंदन अखौरी (देवनागरवत्सर), संपूर्णानद (मर्यादा), किशोरी लाल गोस्वामी (वैष्णव सर्वस्व), छविनाथ पांडेय (साहित्य), मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव (स्वार्थ), शिवपूजन सहाय (आदर्श) आदि सभी लेखक संपादक भी थे।

इसी प्रकार 'आनंदकादंबिनी' में प्रकाशित 'अपनी भाषा पर विचार' शीर्षक लेख में पं० रामचंद्र शुक्ल ने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार 'शब्द-विस्तार' और 'शब्दयोजना' पर जो विचार व्यक्त किए हैं उनमें नवीनता के के लक्षण दिखाई पडते हैं। भाषा और साहित्य के बारे में देखने का दृष्टिकोण शुक्ल जी की अन्य रचनाओं में भी मिलता है। उनकी तुलसी ग्रंथावली (१९२३), जायसी ग्रंथावली (१९२५), भ्रमरगीतसार (१९२६) आदि की भूमिकाओं में उनकी आलोचनात्मक शैली का परिष्कृत रूप मिलता है। शुक्लजी की समीक्षात्मक कृतियों ने हिंदी आलोचना को एक निश्चित दिशा में मोड़ दिया। उनकी आलोचनात्मक कृतियों में उनके व्यक्तिगत भावों तथा विचारों का प्रभाव सर्वत्र दिखाई देता है। नागरीप्रचारिणी सभा की एक विशेष भाषा नीति उसके पीछे थी और उसमें हिंदी साहित्य के महान् विद्वानों की रचनाओं को ही विशेष स्थान मिलता था। इसलिये साधारण लेखक की आलोचनात्मक कृतियों को स्थान देने का कार्य 'सरस्वती' ने किया। बाबू श्यामसुंदरदास की आलोचनात्मक कृतियाँ शुक्ल जी की रचनाओं के समकालीन हैं। शुक्ल जी की रचनाएँ द्विवेदी-कालीन परंपरा से प्रभावित हैं और उनकी समीक्षात्मक रचनाओं का प्रकाशन सन् १९०१ ई० से मिलता है और सन् १९०४ ई० में उनका साहित्य' शीर्षक लेख 'सरस्वती' में छपा है। इस लेख के द्वारा उन्होंने अपने साहित्यिक विचारों को पाठकों के सामने रखा और इसमें उन्होंने साहित्य की व्यवस्था इस प्रकार दी है—

'साहित्य केवल लेखनप्रणाली ही का नाम है, वाचालता का नहीं। भिन्नता उसकी प्रणाली में, उसके सर्वांगीण और दिगंतव्यापी होने में है। जो बात कही जाती है वह बोलनेवाले के पास से बहुत दूर नहीं जा सकती वायु में उसका नाश हो जाता है'। सारगर्भित और उन्नत भावों को प्रकट करने के लिये 'सरस्वती' के द्वारा विविध साहित्यप्रकार पाठकों के सामने रखे जाते थे। द्विवेदी जी ने अपने कई लेख 'सरस्वती' में प्रकाशितकर अपने साहित्यसंबंधी विचारों को प्रकट किया। 'सरस्वती' में कुछ ऐसी बातें प्रकाशित होती थीं जिनके कारण साहित्य क्षेत्र में एक प्रकार के तीव्र आंदोलन का वातावरण तैयार हो जाता था और उनपर विचार करने के लिये जो कुछ समालोचनात्मक लेख निकलते थे वे

अधिकतर वादात्मक रूप लेकर ही निकले हैं। इसलिये इस काल में कुछ ऐसे भी लेख मिलते हैं जिनका उद्देश्य किसी वादात्मक समस्या पर प्रकाश डालना है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर जो कुछ लेख लिखे गए थे वे इस प्रकार के वादात्मक समालोचना की कोटि मे आते हैं। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का उद्देश्य साहित्यिक अनुसंधान था इसलिये इसमें स्वच्छंद-तावादी व्यक्तिगत विचारों को स्थान नहीं मिला था।

संक्षेप में यही इस शताब्दी के आरंभिक २० वर्षों के साहित्य की साधारण रूपरेखा है। एक पीढी समाप्त हो रही थी और दूसरी का उदय हो रहा था। नए के आगमन का पूर्वाभास और पुराने की विदाई की विलंबित छाया कभी कभी कुछ वर्षों का समय घेर लेती है।

प्रथम विश्वयुद्ध ने हमें पश्चिमी समाज के संपर्क में ला रक्खा और हम साहित्य तथा अन्य साधनो से पश्चिम की अधिकाधिक जानकारी करने लगे। महायुद्ध की परिस्थितियों ने हमारी जातीयता की कट्टर भावना को बहुत कुछ शिथिल कर दिया और अब हम उस भूमिका पर आ गए जब जातीय और प्रादेशिक सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व की प्रगति को एक दृष्टि से देख सकें। भारतीय और विदेशी जीवनपद्धति और राष्ट्रीय गुणों को भी जानने समझने और तुलना करने का अवसर हमें मिलने लगा था। हमारी दृष्टि पुरानी धार्मिक रीतियों से हटकर जीवन के दार्शनिक आधारों पर जाने लगी थी। हम मोटे तथ्यों से ध्यान हटाकर उनके प्रेरक सूक्ष्म उपकरणों को देखना चाहते थे।

संक्षेप मे नई संस्कृति और नवीन जीवनदृष्टि के निर्माण की दिशा मे हम अग्रसर हो रहे थे। इसी अवसर पर गाधीजी के रूप मे एक महान् व्यक्तित्व भारतीय रगमच पर अवतरित हुआ और देश मे राजनीतिक चेतना की एक अभूतपूर्व लहर दौड़ गई। जलियाँवाला बाग का हत्याकाड और एक विराट जन आदोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उभर उठा। आहुतियाँ पडती गईं और आग भड़कती गई। गाधीजी और उनके सहकारियो के निरीक्षण मे स्वतंत्रता का यह महायज्ञ निरंतर चलता रहा। बीच बीच में व्यवधान आए, राजनीति की धारा नए मोड लेती रही, वह गुमसुम होकर चुपचाप भी बही। निराशा की रेखाएँ भी भारतीय क्षितिज पर दिखाई दीं, पर राजनीतिक उतार चढावों के होते हुए भी हमारी राष्ट्रीय चेतना अव्याहत ही रही। इस सर्वतोव्यापी सक्रिय राष्ट्रीयता का प्रभाव हमारे इस समय के साहित्य पर अनेक रूपों में अनेक प्रकार से पडा। हम तो यहाँ तक कहना चाहेंगे कि इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचल मे ही हमारा यह साहित्य पनपा और फूला-फला है। इस अभूतपूर्व जागृति केंद्र से पृथक् रखकर हम अपने इस साहित्य को परख ही नहीं सकेंगे। खेद और आश्चर्य की बात है

कि हमारे कतिपय समीक्षकों ने इस अत्यंत सीधी और सच्ची बात को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया कि हमारे इस युग के साहित्य की मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है तथा इससे भिन्न वह कुछ और हो भी नहीं सकती थी। राष्ट्रीयता ने हमारे समस्त सामाजिक जीवन को अनेक रूपों में आंदोलित कर रखा था और हमारे कवि तथा लेखक भी इस दुर्दमनीय प्रभाव से बच नहीं सकते थे। विशेषकर जिन्हें हम इस समय का प्रतिनिधि लेखक और कवि मानते हैं उनपर इसका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव तो पड़ना ही था। यह सोचना भी असंभव है कि जिस समय हमारे देश में राष्ट्रीय मुक्ति का जीवनमरण संग्राम चल रहा हो उस समय हमारे कल्पनाशील कवि और लेखक उससे कुछ भी प्रेरणा न ग्रहण करें बल्कि उसके प्रति विमुख और अन्यमनस्क होकर रहें। वस्तुतः हम देखते हैं कि इस युग के आरंभ से ही एक नई चेतना साहित्य में प्रवेश कर रही थी। शुक्ल जी के समय में ही सन् १९३७ ई० के लगभग द्वितीय महायुद्ध के आसन्न संकट, युद्धोद्भूत फासिज्म के संस्कृतिविरोधी दृष्टिकोण, असहयोग आंदोलन की असफलता और जनता का विक्षोभ, छायावाद की कविता में नए प्राणसंचार का अभाव, महादेवी और बच्चन के गीतों के निराशावादी उद्गार और जीवन की व्यापक समस्याओं के प्रति हिंदी आलोचना की उदासीनता, इन सबने मिलकर जहाँ राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में गतिरोध और वैषम्य पैदा कर दिया वहाँ प्रबुद्ध विचारकों में इस गतिरोध को तोड़कर नया मार्ग निकालने के लिये एक नई चेतना भी जगाई।

'सरस्वती', 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', हिंदी प्रदीप', 'इंदु' आदि का कार्यकाल कब का समाप्त हो चुका था। अतः इस काल में इनकी चर्चा अप्रासंगिक है।

प्रेमचंद ने भी कई पत्र पत्रिकाओं द्वारा अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। 'हंस' में बराबर उनकी कुछ न कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियाँ, पुस्तकपरिचय आदि छपते ही थे। माधुरी, भाग ', खंड १, पृ० ३७४ में प्रकाशित अपने 'उपन्यास रचना' शीर्षक लेख में प्रेमचंद ने पाश्चात्य आलोचकों के मतानुसार उपन्यास के तत्वों और साधनों का वर्णनात्मक शैली में निरूपण किया। प्रेमचंद की ऐसी रचनाएँ अमृतराय द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'विविध प्रसंग' में संकलित हैं। यह लगभग सोलह सौ पृष्ठों की सामग्री है जो 'विविध प्रसंग' के तीन खंडों में प्रकाशित हुई है। पहले खंड में १९०३ ई० से लेकर १९२० ई० तक के लेख और समीक्षाएँ काल अनुक्रम से हैं। दूसरे और तीसरे खंड में १९२१ ई० से लेकर १९३६ ई० तक के लेख, टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ हैं। छोटी टिप्पणियाँ और बड़े लेख दोनों में काफी गहरा असर है जो देखने में चाहे जितनी छोटी हो पर घाव गहरा करती हैं। अपने उस छोटे से कलेवर में भी उनका वक्तव्य स्पष्ट और

महत्वपूर्ण है। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'विविध प्रसंग' के पहले खंड में अधिकांश लेख उर्दू के प्रसिद्ध पत्र 'जमाना' से लिए गए हैं जिससे मुंशीजी का आजीवन बहुत आत्मीय संबंध रहा। इस अवधि में मुंशीजी ने 'जमाना' के अलावा और भी अनेक उर्दू पत्रों में जैसे मौलाना मुहम्मद अली के 'हमदर्द' और इम्तानाज अली 'ताज' के 'कहकुशा', 'जमाना' और चकबस्त के मासिक पत्र 'सुबहे उम्मीद' में काफी नियमित रूप से लिखा। 'जमाना' में तो बहुत अर्से तक लिखा लेकिन बदकिस्मती से उसपर मुंशीजी का नाम नहीं जाता था और कब से कब तक यह स्तंभ उनके हाथ में रहा, इसका भी कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। विविध प्रसंग के दूसरे और तीसरे खंड में मूल हिंदी सामग्री है। कुछ फुटकर लेख और टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ माधुरी, चाँद, मर्यादा, स्वदेश आदि पत्रों से ली गई हैं (जिसका संकेत भी लेख के अंत में दे दिया गया है), लेकिन अधिकांश सामग्री 'हंस' और 'जागरण' से संकलित है। मासिक पत्र होने के नाते, हंस से ली गई सामग्री के अंत में केवल महीना और सन् मिलेगा, 'जागरण' साप्ताहिक था, अतः उसमें तारीख भी मौजूद है। इन पत्रों से प्रेमचंद का तेजस्वी पत्रकार रूप हिंदी संसार के सामने स्पष्ट हो जाता है।

प्रेमचंद के जीवनकाल में ही राजनीतिक, सांस्कृतिक गतिरोध और विघटन की एक और समाजोन्मुखी आशामूलक प्रतिक्रिया हिंदी आलोचना में 'प्रगतिवाद' की मानवतावादी विचारधारा के रूप में प्रतिफलित हुई। 'हंस' और अन्य मासिक पत्रों के द्वारा यह आंदोलन अधिक बढ़ा। पहले शिवदान सिंह चौहान ने अपने आलोचनात्मक निबंधों में प्रगतिवाद की व्याख्या की, फिर प्रकाशचंद्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, नरेंद्र शर्मा, नेमिचंद जैन, अमृतराय, शमशेर बहादुर सिंह आदि 'प्रगतिवाद' के और अनेक आलोचक आगे आए। प्रगतिवाद ने आलोचना की शास्त्रीय पद्धति को न अपनाकर हिंदी आलोचना के संमुख साहित्य और समाज के संबंध या प्रश्न उठाकर साहित्य के प्रयोजन और साहित्यकार के सामाजिक दायित्व का प्रश्न उठाया। छायावाद की नई दृष्टि से व्याख्या करके छायावादी काव्य में मार्मिकता से व्यक्त हुए प्रतिवाद और असंतोष के स्वर को पहचाना और सामाजिक जीवन से साहित्य और साहित्यकार के विलगाव का कारण स्पष्ट करके प्रगतिशील आंदोलन द्वारा साहित्य को जीवन के निकट आने की प्रेरणा दी। इस समय प्रेमचंद, पंत, निराला आदि हिंदी के शीर्ष स्थानीय लेखक प्रगतिशील आंदोलन में समिलित हुए और पंत, निराला ने नए दृष्टिकोण से काव्यरचना शुरू की। ऐसा लगा कि छायावाद की भूमिका समाप्त होने से रचनात्मक साहित्य की धारा अभावग्रस्त न हो जायगी किंतु कुछ वर्षों के अंदर ही प्रगतिवादी आलोचना कुछ दिनों के लिये संकीर्ण मतवाद की दिशा में पथभ्रष्ट हो गई।

अब फिर प्रगतिवादी आलोचना अपने मूल सिद्धांतों की ओर लौट रही है और अपने व्यापक सांस्कृतिक दायित्व को सँभालने की ओर कदम बढ़ा रही है। प्रगतिवाद की विचारधारा का हिंदी आलोचना और आलोचकों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है और सामान्यतः यह स्वीकार किया जाने लगा है कि रसानुभूति कराने के साथ-साथ साहित्य का व्यापक सामाजिक प्रयोजन भी होता है और साहित्य का कार्य जीवन के वस्तुसत्य को कलात्मक अभिव्यक्ति देना है। अनेक स्वतंत्रचेता आलोचक गंभीर चिंतन मनन के द्वारा मन के शंकासंदेहों से लड़ते हुए इस वस्तून्मुखी दृष्टिकोण की ओर बढ़ भी रहे हैं।

इस युग में मासिक पत्रों में कुछ महत्वपूर्ण वादविवाद चले जिनसे आलोचना साहित्य के विकास में सहायता मिली। पश्चिमी साहित्य की जानकारी रखनेवाले लेखक अपने साथ नए विचार लाए। उनके वादात्मक लेखों में साहित्य के उद्देश्य, उसकी शैली और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर विचार हुआ जिससे हिंदी लेखकों को नई प्रेरणाएँ मिली। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के संपादन-काल में 'विशाल भारत', श्री सुमित्रानंदन पंत के 'रूपाभ' और 'हंस' ने ऐसे साहित्यिक विवाद में भाग लिया। युग के साथ साहित्य की प्रगति बनाए रखने में इन पत्रों ने प्रशंसनीय कार्य किया। मासिक पत्रों के उन्नत स्तर की एक यह भी कसौटी होती है।

कहना नहीं होगा कि इस काल में पत्र पत्रिकाओं की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस उन्नति के पीछे हिंदी जनता की जागृति थी। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना और दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना तथा राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के कारण पत्रपत्रिकाएँ हिंदी में बढ़ती ही गईं। कांग्रेस के आलोचकों ने जनता में यह जागृति पैदा की थी। दिन प्रतिदिन जनता में देशभक्ति की भावना प्रबल होती गई। अपने धर्म, अपनी जाति, अपनी संस्कृति, सभ्यता, अपनी भाषा, आदि के प्रति हिंदीवाले अपने कर्तव्यों का अनुभव करने लगे। इतिहास के प्रेमी जानते हैं कि उस समय आए दिन हड़तालें होती थीं। असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और असेंबलियों के चुनाव, व्यक्तिगत सत्याग्रह, आदि ने देश के प्रत्येक अंग पर अपना प्रभाव डाला था। उस समय केवल आलोचनासंबंधी पत्रों में 'साहित्यसंदेश' का ही नाम उल्लेखनीय है। यों और भी बहुत से साहित्यसंबंधी पत्रों का प्रकाशन हो रहा था जिनके द्वारा हिंदी आलोचना के उदय में पर्याप्त सहयोग मिल रहा था। इन पत्र-पत्रिकाओं ने बहुत से काम किए हैं जैसे नवीन लेखकों को प्रकाश में लाना, हिंदी आलोचना के प्रचार प्रसार के कार्य में सहयोग देना, समय समय पर उठनेवाले प्रश्नों पर विचारविनिमय का आयोजन, सत्साहित्य की व्याख्या और प्रचार

(रिव्यू) आदि । इस युग में पत्रों की समालोचनाओं मे गंभीरता का उदय हुआ । हिंदी साहित्य के प्रचार प्रसार से इस युग मे प्रकाशन को भी काफी बल मिला और पत्र पत्रिकाओं में टीका और व्याख्या की तरह की चीजें भी निकलीं । इन पत्रों मे सदैव एक दो साहित्यविषयक लेख और निबंध का प्रकाशन अनिवार्य समझा जाने लगा । ऐसे निबंध 'सरस्वती', 'सुधा', 'त्यागभूमि', 'हंस', 'माधुरी', 'विशाल भारत', 'प्रताप' आदि की संचिकाओं मे भरे पड़े हैं । हिंदी समालोचना के मूल्यांकन मे इन निबंधों का बड़ा महत्व है । दुर्भाग्यवश इनमें से अधिकांश निबंध आज तक किसी संकलन मे भी नहीं आ पाए हैं । कालेजों और स्कूलों में हिंदी साहित्य की पढ़ाई को विस्तार एवं प्रसार मिलने पर हिंदी समालोचना स्वतः विकसित होती चली गई । इस दृष्टि से भी बहुत सी पत्र पत्रिकाएँ महत्वपूर्ण हो गईं । अहिंदी प्रांतों मे भी हिंदी का प्रचार होने के कारण विद्यार्थियों की संख्या बढने लगी और परीक्षोपयोगी आलोचनात्मक लेख एवं पुस्तकें लिखी गईं । हिंदी मे पाश्चात्य समालोचनापद्धति का प्रवेश होने के कारण 'कला के आदर्श' के बारे मे व्याख्या होने लगी और साहित्यिक विद्वान् और लेखकों की प्रतिभा में एक प्रकार का अंतर्द्वंद्व दिखाई देने लगा । राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित साहित्य मे जब मनोविश्लेषणवादी विचारधारा का प्रवेश होने लगा तब साहित्यदर्शन की प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन दिखाई देने लगा । अब साहित्य में मनुष्य की मनोवृत्तियों का विश्लेषण होने लगा और आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों के अनुसार साहित्य की व्याख्याएँ होने लगीं । अतः कलाकृतियों की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व की समीक्षा भी आरंभ हुई और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का आरंभ हुआ । आधुनिक आलोचना पर विचार करने से ऐसी धारणा होती है कि पिछले कुछ वर्षों मे गवेषणा और उसके निष्कर्षों को प्रस्तुत करनेवाले लेखों का प्रचलन बहुत बढ गया है जिसके प्रकाशन तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में होते रहे हैं । बीसवीं सदी की अँगरेजी आलोचना और आधुनिक हिंदी आलोचना मे कुछ बातों में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है । वर्तमान सदी की अँगरेजी आलोचना मुख्यतः दो कोटि की है । अधिकतर आलोचक या तो विश्वविद्यालयों मे पढानेवाले प्राध्यापक हैं अथवा पत्र पत्रिकाओं मे लिखनेवाले आलोचक या समीक्षक । यदि हम टी० एस० इलियट, आई० ए० रिचर्ड्स, मिडल्टन मरी प्रभृति दो चार मौलिक विचारकों को छोड दें तो अधिकतर अँगरेजी आलोचना या तो विश्वविद्यालयीय है अथवा पत्र पत्रिकाओं मे छपनेवाली है । इसी प्रकार हिंदी में पं० रामचंद्र शुक्ल, प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेंद्र, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा आदि को छोड दे तो अधिकतर समीक्षा पत्र पत्रिकाओं में छपनेवाली हैं । बहुत से प्राध्यापक तो केवल तथ्यों और

अब फिर प्रगतिवादी आलोचना अपने मूल सिद्धातो की ओर लौट रही है और अपने व्यापक सास्कृतिक दायित्व को सँभालने की ओर कदम बढा रही है। प्रगतिवाद की विचारधारा का हिदी आलोचना और आलोचको पर व्यापक प्रभाव पडा है और सामान्यतः यह स्वीकार किया जाने लगा है कि रसानुभूति कराने से साथ-साथ साहित्य का व्यापक सामाजिक प्रयोजन भी होता है और साहित्य का कार्य जीवन के वस्तुसत्य को कलात्मक अभिव्यक्ति देना है। अनेक स्वतत्रचेता आलोचक गंभीर चितन मनन के द्वारा मन के शंकासंदेहो से लड़ते हुए इस वस्तून्मुखी दृष्टिकोण की ओर बढ़ भी रहे हैं।

इस युग में मासिक पत्रो में कुछ महत्वपूर्ण वादविवाद चले जिनसे आलोचना साहित्य के विकास में सहायता मिली। पश्चिमी साहित्य की जानकारी रखनेवाले लेखक अपने साथ नए विचार लाए। उनके वादात्मक लेखो में साहित्य के उद्देश्य, उसकी शैली और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर विचार हुआ जिससे हिंदी लेखको को नई प्रेरणाएँ मिली। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के सपादन-काल में 'विशाल भारत', श्री सुमित्रानंदन पंत के 'रूपाभ' और 'हंस' ने ऐसे साहित्यिक विवाद में भाग लिया। युग के साथ साहित्य की प्रगति बनाए रखने में इन पत्रो ने प्रशंसनीय कार्य किया। मासिक पत्रो के उन्नत स्तर की एक यह भी कसौटी होती है।

कहना नहीं होगा कि इस काल मे पत्र पत्रिकाओ की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस उन्नति के पीछे हिंदी जनता की जागृति थी। सास्कृतिक पुनरुत्थान की भावना और दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना तथा राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति के कारण पत्रपत्रिकाएँ हिंदी में बढती ही गईं। काग्रेस के आलोचको ने जनता में यह जागृति पैदा की थी। दिन प्रतिदिन जनता में देशभक्ति की भावना प्रबल होती गई। अपने धर्म, अपनी जाति, अपनी संस्कृति, सभ्यता, अपनी भाषा, आदि के प्रति हिंदीवाले अपने कर्तव्यो का अनुभव करने लगे। इतिहास के प्रेमी जानते हैं कि उस समय आए दिन हडतालें होती थीं। असहयोग आदोलन, सविनय अवज्ञा आदोलन और असेंबलियो के चुनाव, व्यक्तिगत सत्याग्रह, आदि ने देश के प्रत्येक अंग पर अपना प्रभाव डाला था। उस समय केवल आलोचनासंबंधी पत्रो में 'साहित्यसंदेश' का ही नाम उल्लेखनीय है। यो और भी बहुत से साहित्यसंबधी पत्रो का प्रकाशन हो रहा था जिनके द्वारा हिंदी आलोचना के उदय मे पर्याप्त सहयोग मिल रहा था। इन पत्र-पत्रिकाओ ने बहुत से काम किए हैं जैसे नवीन लेखकों को प्रकाश में लाना, हिंदी आलोचना के प्रचार प्रसार के कार्य में सहयोग देना, समय समय पर उठनेवाले प्रश्नों पर विचारविनिमय का आयोजन, सत्साहित्य की व्याख्या और प्रचार

तिथियों को एकत्र करते रहते हैं किंतु उनमें जो विशिष्ट प्रतिभासंपन्न लोग हैं उनके कथन में सदा चमत्कार दिखाई देता है। तथ्यों से वे नवीन निष्कर्ष निकालते हैं और अपनी सारग्राहिणी प्रज्ञा द्वारा काव्य की अंतरात्मा को पहचान लेते हैं। समाचारपत्रों में छपनेवाली समीक्षाएँ अधिकांश ऐसी होती हैं जिनका महत्व अल्पकालीन होता है किंतु उच्चकोटि की साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाले अनेक लेखों का स्थायी महत्व रहता है। अँगरेजी आलोचना उन्नीसवीं सदी के आरंभ से ही पत्रिकाओं के सहारे विकसित हुई है और बड़े से बड़े आलोचकों ने अपने लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के लिये लिखे हैं। आलोच्य काल में आलोचना के उदय का यही एक सिंहावलोकन है।

चतुर्थ खंड

समालोचना साहित्य का विकास

लेखक

डा० शंभुनाथ सिंह

प्रथम अध्याय

भारतेंदुयुगीन आलोचना

आधुनिक विचारों की दृष्टि से भारत में आधुनिक युग का प्रारंभ सन् १८५० ई० के बाद से मानना चाहिए। भारत के लिये यह विविध प्रकार की हलचलों का युग था। इस युग में धार्मिक सुधार, सामाजिक परिवर्तन, वैज्ञानिक विकास, नवीन शिक्षा का विकास, सास्कृतिक पुनरुत्थान, राजनीतिक संगठन और राष्ट्रीय जागृति के संबंध में जितनी भी क्रियाशीलता दिखलाई पड़ती है उन सबका एकमात्र और मूलभूत कारण आर्थिक संघर्ष है। इस युग का इतिहास पूँजीवादी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शोषण की क्रिया प्रतिक्रिया का इतिहास है। अँगरेजों की इसी नीति के फलस्वरूप एक ओर सामंतवाद और पुराणपंथी संस्कृति का ह्रास हो रहा था और दूसरी तरफ मध्यवर्गीय बौद्धिक, वैज्ञानिक और राष्ट्रीय संस्कृति का विकास हो रहा था। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ इस युग में साथ साथ चलती हुई दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध दो संस्कृतियों के संपर्क तथा भारत पर विदेशी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व का काल है। इस कारण इस युग में एक ओर तो सामंतवादी तथा पुराणपंथी लोग सांस्कृतिक यथास्थिति बनाए रखने के लिये प्रयत्नशील थे और दूसरी ओर ऐसे मध्यवर्ग का उदय हो रहा था जो वैज्ञानिक आविष्कारों तथा पाश्चात्य शिक्षा से लाभ उठाकर एक नई पूँजीवादी संस्कृति का विकास करना चाहता था। अपने इस प्रयत्न में उसे सामंतवाद और साथ ही साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिये विवश होना पड़ा। यह संक्रांति धर्म, राजनीति और दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं, साहित्य और कला के क्षेत्र में भी दिखलाई पडती है।

पाश्चात्य साहित्य और विचारधारा के संपर्क के कारण इस युग में जिस प्रकार की समीक्षा का प्रारंभ हुआ वह भारतीय साहित्य शास्त्र की सैद्धांतिक समीक्षा से बहुत भिन्न है। भारतीय साहित्यशास्त्र में किसी एक रचनाकार अथवा किसी एक ही रचना पर अलग से विचार करने की प्रणाली नहीं थी। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिंदी आलोचना के क्षेत्र में जिस समीक्षापद्धति का उदय हुआ वह बहुत कुछ पाश्चात्य समीक्षा की व्यावहारिक पद्धति से प्रभावित है जिसमें किसी एक लेखक अथवा किसी एक कृति पर अलग से विचार किया जाता है। इस युग में आकर हिंदी साहित्य में गद्य की विधा का भी उद्भव और विकास हुआ जिससे हिंदी समीक्षा को विशेष बल मिला।

उन्नीसवी शताब्दी में, भारतीजन जनजीवन में जिस प्रकार नई विचारधारा के उद्भव के साथ पुरानी सामंतवादी संस्कृति भी जीती रही, उसी प्रकार हिंदी साहित्य में पाश्चात्य साहित्य की व्यावहारिक समालोचना के आविर्भाव के साथ-साथ रीतिसाहित्य की शास्त्रीय परंपरा भी चलती रही और कुछ ऐसे लेखक हुए जिन्होने रीतिसाहित्य के विभिन्न संप्रदायों पर अनेक ग्रंथो की रचना की इनमें लछिराम के 'रामचंद्रभूषण' (१८६० ई०), 'रावणेश्वर कल्पतरु' (१८६० ई०); कविराज मुरारिदान के 'जसवंतभूषण' (१८९३ ई०), प्रतापनारायण सिंह के 'रस कुसुमाकर' (१८९४ ई०) आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथो के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतेंदु युग में भी रीतिसाहित्य संबंधी कुछ ग्रंथो की रचना अवश्य हुई परंतु उनके द्वारा काव्य शास्त्र को कोई मौलिक देन नहीं दी गई। इन ग्रंथकारो ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन और निरूपण का अनुकरण मात्र किया, कोई नई उद्भावना नही की।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है भारतेंदु युग साहित्य की अन्य विधाओ की तरह समीक्षा के भी आविर्भाव का काल है। भारतेंदु ने इस क्षेत्र में यद्यपि बहुत कम काम किया फिर भी उनके कुछ निबंधो और पत्रिकाओ में प्रकाशित टिप्पणियो का स्वर समीक्षात्मक है। उन्होने समीक्षा के रूप में जो कुछ भी दिया उसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। आधुनिक हिंदी साहित्य के भीतर वास्तविक समीक्षा का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा हुआ। इनके द्वारा की गई लाला श्रीनिवासदास प्रणीत 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा ही आधुनिक समीक्षा का प्रारंभिक रूप है। यद्यपि यह समीक्षा भी पुस्तक परिचय प्रणाली में हुई है फिर भी इसमे समीक्षा के तत्व अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। हिंदी साहित्य का इतिहास लिखनेवाले लगभग सभी विद्वानो ने हिंदी आलोचना का सूत्रपात प्रेमघन की 'संयोगिता स्वयंवर की आलोचना' से ही माना है। भारतेंदु युग के समीक्षको में बालकृष्ण भट्ट का भी महत्वपूर्ण स्थान है। 'हिंदी प्रदीप' में प्रकाशित उनके कुछ निबंधो और टिप्पणियो का हिंदी समीक्षा के विकास में अपना अलग महत्व है। उनके कुछ लेखों में तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति भी दिखलाई पड़ती है। इनके अतिरिक्त गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, बालमुकुंद गुप्त और अंबिकादत्त 'व्यास' का भी तत्कालीन समीक्षको में विशेष महत्व रहा है।

इस युग की समीक्षा को देखने से यह पता चलता है कि वह पुस्तक और लेखक परिचय तक ही सीमित थी। किसी ग्रंथ की समीक्षा करते समय समीक्षको ने ग्रंथकर्ता की अंतःप्रवृत्तियो का विवेचन एवं विश्लेषण नहीं किया। इस युग में आधुनिक समालोचना के समुचित रूप से विकसित न होने का प्रधान कारण यह है कि यह काल भारतीय इतिहास में संक्रमण का काल है। हिंदी गद्यसाहित्य का

निर्माण अभी हो रहा था। उस समय रचनात्मक साहित्य की सर्वप्रथम आवश्यकता थी। रचनात्मक साहित्य के अनुरूप ही समीक्षा का निर्माण होता है। पहले लक्ष्य ग्रंथ बनते हैं तभी लक्षण ग्रंथ बनते हैं तभी लक्षण ग्रंथ भी प्रस्तुत किए जाते हैं। यही कारण है कि भारतेंदुमंडल के लेखकों ने जितना ध्यान रचनात्मक साहित्य की ओर दिया उतना समीक्षा की ओर नहीं। फिर भी हिंदी समालोचना के प्रारंभ और रूपनिर्माण में उनकी देन महत्वपूर्ण है। इस युग के समीक्षक पाश्चात्य साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा से अत्यधिक प्रभावित थे और धीरे धीरे हिंदी में भी उसी के रूप का विकास करना चाहते थे। भारतीय साहित्य शास्त्र की सैद्धांतिक समीक्षा की ओर उनका ध्यान नहीं था, यद्यपि उन्होंने भारतीय साहित्य शास्त्र के सिद्धांतों को एकदम ही नहीं भुला दिया। भारतेंदु के 'नाटक' शीर्षक निबंध में भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य सिद्धांतों की दृष्टि से विचार किया गया है। इस काल में यद्यपि समीक्षा का कोई आदर्श प्रतिमान नहीं उपस्थित किया जा सका फिर भी आधुनिक युग में समीक्षा का जो स्वरूप दिखाई पड़ता है, उसका बीज इसी काल में पड़ा था।

द्विवेदीयुगीन आलोचना

भारतेंदु युग में हिंदी-समीक्षा की जो स्थिति थी द्विवेदी युग में आकर उसमें बहुत कुछ परिवर्तन एवं विकास हुआ। यद्यपि द्विवेदी युग में हिंदी समीक्षा को वह प्रौढता और व्यापकता नहीं मिल सकी जो उसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समय में मिली, फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि इस युग ने उसके लिये एक सुदृढ पृष्ठभूमि तैयार की। इस युग की समीक्षा में जितनी प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उनमें से लगभग सभी आचार्य शुक्ल और उनके बाद की समीक्षा में कुछ परिवर्तित, कुछ विकसित एवं कुछ परिष्कृत रूप में दिखलाई पड़ती हैं। इस युग में संस्कृत कवियों के साथ हिंदी के सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, भूषण, मतिराम आदि कवियों के काव्यसौंदर्य पर बड़े ही प्रभावपूर्ण एवं तुलनात्मक ढंग से विचार किया गया। इस प्रकार के समीक्षकों में प्रमुख हैं— महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन।

द्विवेदी युग में तुलनात्मक समीक्षा का भी सूत्रपात हुआ जिसका बहुत कुछ श्रेय पद्मसिंह शर्मा को है। शर्मा जी ने बिहारी पर पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिंदी के अन्य कवियों के मिलते जुलते पद्यों को बिहारी के पद्यों के परिपार्श्व में रखकर उनकी तुलना की और साथ ही देव के समर्थकों द्वारा बिहारी पर किए गए आक्षेपों का उत्तर देते हुए बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध किया। उनकी इस आलोचना

का परिणाम यह हुआ कि हिंदीसमीक्षा के क्षेत्र में देव और बिहारी को लेकर एक अच्छा खासा विवाद खड़ा हो गया। सन् १६२० के आसपास कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक तथा लाला भगवानदीन के 'बिहारी और देव' से संबंधित लेख इसी के परिणामस्वरूप प्रकाशित हुए। इस विवाद में समीक्षकों का ध्यान इन कवियों के काव्य के मार्मिक पक्ष के उद्घाटन की ओर कम और अपने दृष्टिकोण के अनुरूप एक दूसरे को बढ़ाचढ़ाकर श्रेष्ठ सिद्ध करने की ओर अधिक था। अगर इस युग के समीक्षकों ने तुलनात्मक समीक्षा की इस पद्धति को सही दिशा की ओर मोड़ा होता तो निश्चय ही यह हिंदी समीक्षा के लिए बड़े महत्व की बात हुई होती। इस युग के कुछ विद्वानों द्वारा की गई हिंदी के प्राचीन कवियों के ग्रंथों की टीकाएँ और उनकी भूमिकाएँ भी इस युग की समीक्षा का महत्वपूर्ण अंग हैं। जिन कवियों की टीकाएँ की गईं उनमें तुलसी, सूर, केशव, बिहारी, भूषण और मतिराम प्रमुख हैं। इन टीका ग्रंथों की की अपनी एक पद्धति होती थी जिसके अनुकूल ये प्रस्तुत किए जाते थे। उनमें टीकाकार जिस कवि की टीका करने बैठते उसको श्रेष्ठ सिद्ध करना उनका प्रमुख लक्ष्य होता और इसके लिये वे हर संभव साहित्यिक उपाय करते। इन टीका ग्रंथों की भूमिकाएँ हिंदी समीक्षा के विकास में महत्वपूर्ण योग देती हैं।

इस युग की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं तथा पत्रिकाओं ने हिंदी साहित्य के कुछ प्राचीन कवियों के संबंध में जो शोधपूर्ण कार्य किए उनसे भी इस युग की समीक्षा को विशेष शक्ति मिली। इस क्षेत्र में काशी की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था नागरीप्रचारिणी सभा और उसकी नागरीप्रचारिणी पत्रिका का कार्य महत्वपूर्ण एवं स्थायी है। सन् १६१३ ई० में निकलनेवाला मिश्रबंधुओं का 'मिश्रबंधु विनोद' भी इसी शोधप्रणाली के अंतर्गत आता है। यद्यपि यह ग्रंथ शुक्ल जी के शब्दों मे केवल 'कवि-वृत्त-संग्रह' मात्र है और इसके काल-विभाजन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, फिर भी इसमें पहली बार साहित्य का इतिहास लिखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। अतः इसके ऐतिहासिक महत्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

समीक्षा के इस व्यावहारिक पक्ष के साथ साथ इसके सैद्धांतिक पक्ष पर भी द्विवेदी युग में थोड़ा बहुत विचार होता रहा। भारतेंदु युग में लिखे गए काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में प्राचीन परंपरा का ही अनुकरण किया गया है, परंतु द्विवेदी युग में संस्कृत की पांडित्यपूर्ण शैली के अतिरिक्त आधुनिक युग की व्याख्यात्मक पद्धति का भी आश्रय लिया गया है। समीक्षा के इस पक्ष पर विचार करनेवालों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, लाला भगवानदीन, कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुनदास केडिया आदि प्रमुख हैं। यद्यपि इन लोगों

ने भी काव्यशास्त्र पर विचार करते समय संस्कृत के अलंकार ग्रंथों का ही विशेष आधार लिया है लेकिन उनके विवेचन में कहीं कहीं समन्वयवादी दृष्टिकोण की झलक भी मिल जाती है। इस युग की सैद्धांतिक समीक्षा में एक विशेष बात यह है कि इसमें नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध और समालोचना आदि गद्य की नवीन विधाओं पर भी विचार किया गया है।

द्विवेदी युग की समीक्षा को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस युग की समीक्षा में उतनी प्रौढ़ता और परिपक्वता नहीं आ सकी थी। उस युग के समीक्षकों ने किसी एक ही कवि और उसके काव्य को लेकर समीक्षा करने का प्रयास तो अवश्य किया परंतु अपने इस समीक्षण में वे निष्पक्ष दृष्टिकोण नहीं अपना सके। उनमें प्रभावाभिव्यंजकता और पूर्वग्रह की मात्रा अधिक है, काव्य-विषयक मार्मिक पक्षों के उद्‌घाटन का प्रयत्न कम। किन्हीं दो कवियों की तुलना करते समय अपने पक्ष के कवि के दोषों की ओर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। समीक्षा के अंतर्गत गुण और दोष दोनों के देखने की जो एक निष्पक्ष और संतुलित दृष्टि होती है उसका इस युग की समीक्षा में अभाव है। फिर भी हिंदी समीक्षा के विकास में द्विवेदीयुगीन समीक्षा का महत्वपूर्ण योग है। द्विवेदी युग के उत्तरार्ध में ही आचार्य श्यामसुंदर दास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे समर्थ आलोचकों की समालोचनाओं का भी आरंभ हो जाता है जिनसे आगे चलकर हिंदी समीक्षा विशेष शक्तिशाली और समर्थ हो सकी।

———

द्वितीय अध्याय

आधुनिक आलोचना का उदय

आधुनिक हिंदी आलोचना की पूर्व पीठिका के रूप में अबतक परंपराप्राप्त भारतीय काव्यशास्त्र तथा हिंदी रीतिशास्त्र के विवेचन के साथ आधुनिक काल के भारतेंदु और द्विवेदी युगो में हिंदी आलोचना की प्रगति का विवेचन किया गया है। इस विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक आलोचना का सूत्रपात तो द्विवेदी युग में हो गया था पर अभी तक उसमें आधुनिकता की समस्त प्रवृत्तियो का समावेश नहीं हो सका था। वस्तुतः द्विवेदी युग तक की हिंदी आलोचना मुख्यतः रूढ़िवादी (कॉनवेंशनल) ही थी। आधुनिक सैद्धांतिक आलोचना का तो अभी प्रारंभ ही नहीं हुआ था, कवियो और लेखकों की विशेषताओ और युगीन प्रवृत्तियो का अन्वेषण और विवेचन करनेवाली गंभीर आलोचना का भी अब तक अभाव ही था। यह कार्य द्विवेदी युग के बाद के बीस वर्षों में हुआ। काव्य की दृष्टि से इसे छायावाद युग, आलोचना की दृष्टि से शुक्ल युग और कथा साहित्य की दृष्टि से प्रेमचंद युग कहा जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे हिंदी साहित्य के इतिहास का तृतीय उत्थान काल (सं० १९७५ से सं० १९९५) कहा है। यही हमारा प्रकृत आलोच्य काल है। आधुनिक आलोचना का उदय और विकास इसी काल में क्यो हुआ, इसके पहले क्यो नहीं हुआ, इस संबंध में यहाँ थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

(क) सामाजिक परिपार्श्व

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस तृतीय उत्थान के सामान्य परिचय में इस बात पर बड़ी खीझ प्रकट कि है कि इस काल में हिंदी साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का अनपेक्षित प्रभाव पड़ा और पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियों और दृष्टिकोण का अंध अनुकरण भी हुआ[1]। प्रभाव ग्रहण करना और अनुकरण करना भी तभी संभव होता है जब सामाजिक परिस्थितियाँ उसके अनुकूल रहती हैं। पाश्चात्य देशों से भारत का व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध तो बहुत पहले से

[1] रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास—पृ० ४८६, ४९० ग्यारहवाँ संस्करण।

चला आ रहा था पर प्राचीन काल मे तो पाश्चात्यो ने ही भारतीय कथा साहित्य, दर्शन आदि की बहुत सी बाते ग्रहण की थी, भारतीयो ने उनसे बहुत कम लिया था। वस्तुतः जातीय संस्कृतियो के उत्थानपतन के कारण सास्कृतिक और कलात्मक प्रयत्नो का भी विकास और ह्रास होता रहता है और प्रगतिशील और विकासमान संस्कृतियाँ रूढिवादी तथा ह्रासशील संस्कृतियो को सदा प्रभावित करती रहती हैं। यूरोपीय देशो ने उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक विज्ञान और उद्योग में ही नहीं, साहित्य और कला मे भी अत्यधिक उन्नति कर ली थी। इसके विपरीत अँगरेजी राज्य में भारत के उद्योगधंधो के साथ साथ उत्तरोत्तर उसका सास्कृतिक ह्रास भी होता गया। सोलहवीं शताब्दी तक भारतीय उद्योगधंधे अपनी उन्नति के चरम शिखर पर थे पर अँगरेजो ने अपना राज्य स्थापित करने के साथ उन्हें भी नष्ट करना प्रारंभ किया। इस तरह उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक भारत एक निर्धन देश हो गया। साथ ही उसका सास्कृतिक और साहित्यिक विकास भी अवरुद्ध हो गया। आर्थिक और राजनीतिक ह्रास का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भारत की धार्मिक और सास्कृतिक शक्ति विघटित हो गई, रूढि-वादिता बढ गई, यहाँ तक कि प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य के उदार, उदात्त और गतिशील स्वरूप को भी भारतीय जनता ने बहुत कुछ विस्मृत कर दिया।

इस राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक पतन का प्रतिफलन भारतीय लोकभाषाओ के सतरहवी और अठारहवीं शताब्दी के साहित्य में रीतिबद्धता, शृंगारिकता और चाटुकारिता की प्रवृत्तियो के रूप में दिखाई पड़ता है। अँगरेजो ने अपने देश में तो औद्योगिक क्राति करके सामंतवाद को नष्ट किया किंतु भारत में उन्होने उसे प्रश्रय दिया। इस काल के राजा और सामंत भी ह्रासोन्मुख और प्रतिगामी प्रवृत्तियो के पोषक थे और वे ही साहित्य और कला के आश्रयदाता भी थे। मुगलकाल का विकासमान मध्यवर्ग अँगरेजी राज्य की नीति के फलस्वरूप समाप्तप्राय हो गया था। अतः साहित्य और कला का मध्यवर्ग से हटकर सामंतो के आश्रय में चला जाना स्वाभाविक ही था। परिणामस्वरूप इस काल के साहित्य और कला में ह्रासोन्मुख सामत वर्ग की सभी प्रवृत्तियाँ दिखाई पडती हैं किंतु यह स्थिति बहुत दिनो तक नहीं रह सकी। सन् १८५७ ई० की राजनीतिक क्राति, विक्टोरिया की सन् १८५८ ई० की घोषणा, भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना तथा विभिन्न सामाजिक और धार्मिक सुधार के आदोलनो के कारण उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक देश में एक नई चेतना की लहर दौड़ने लगी। इन राजनीतिक और सामाजिक हलचलो के मूल में भी आर्थिक कारण ही वर्तमान थे। अँगरेजों ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से अपने

लाभ के लिये ही सही, देश में उद्योगधंधों का प्रारंभ कर दिया था जिससे नए औद्योगिक नगरो, नवीन श्रमजीवी वर्ग और व्यापारी मध्यवर्ग का उदय और विकास हुआ। दूसरी ओर अँगरेजो की आर्थिक शोषण की गति भी तीव्रतर होती गई। फलतः उनके ऊपर से भारतीयो का विश्वास उठने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी में जो तरह तरह की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक हलचलें दिखाई पड़ती हैं वे अँगरेजो के प्रति भारतीयों के इसी असंतोष और विद्रोह की भावना को व्यक्त करती हैं। भारतीय साहित्य के आधुनिक काल का प्रारंभ इन्हीं परिस्थितियो में हुआ।

हिंदी साहित्य का आधुनिक युग उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से प्रारभ होता है। इस युग के प्रारंभ के पचास वर्षों का काल संक्राति का काल था जिसमें एक ओर तो सामंती रूढ़िवादी विचारधारा पूर्ववत् पर मंद गति मे बहती जा रही थी; दूसरी ओर नई मध्यवर्गीय राष्ट्रीय और आधुनिकतापरक विचार-धारा भी प्रारंभ हो गई थी। आधुनिक विचारो के प्रारंभ का कारण देश की परिस्थितियो के ज्ञान के साथ पाश्चात्य साहित्य, राजनीति और विज्ञान आदि विषयो का परिचय और अध्ययन भी था। यह युग दो विरोधी विचारधाराओ के संघर्ष तथा दो विजातीय और असमान संस्कृतियो के संपर्क का काल था। इसका परिणाम यह हुआ कि पुराने विचारो का स्थान धीरे धीरे नए विचार ग्रहण करने लगे अथवा पुराना ही नया बनाकर उपस्थित किया जाने लगा। देश के पुनरुत्थान की भावना का जन्म इसी काल में हुआ था जो बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशको में अधिक स्पष्ट और शक्तिशाली रूप में सामने आई। अतः इन दो दशको को जिन्हें हिंदी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग कहा गया है, पुनरुत्थान युग भी कह सकते हैं।

आचार विचार संक्रामक होते हैं। विजेता जाति की संस्कृति का विजित जाति अनुकरण भी करती है पर अनुकरण को संस्कृति का सहज विकास नहीं कहा जा सकता। सहज विकास का कारण तो भौतिक परिस्थितियाँ होती हैं। किसी जाति की संस्कृति को दूसरी जाति तभी ग्रहण कर सकती है जब उनकी भौतिक परिस्थितियों में समानता हो। पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण भारत में पर्याप्त मात्रा में हुआ पर वह उन्नीसवीं शताब्दी में नैतिक पतन का कारण बना, सांस्कृतिक विकास का नहीं। जब इस पतन का ज्ञान हुआ तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति भी बढ़ी किंतु अतीत का पुनरावर्तन न तो संभव है और न श्रेयस्कर। वह तो एक झूठा आदर्शवाद है जो समाज की प्रगति में बाधा उत्पन्न करनेवाला होता है। इसी कारण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत में पुनरावर्तन की प्रवृत्ति

के साथ साथ पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियो के सामंजस्य की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है। संक्राति युग के भारतेंदु तथा अन्य कवि पाश्चात्य कला, शिक्षा और उद्योगधंधो के अपनाने के पक्षपाती थे। साहित्य में भी उन्होने पश्चिम की बहुत सी शैलियो को अपनाया। निबंध, उपन्यास, पत्रकारिता, जीवनी, लघुकथा आदि का प्रारंभ उसी सामंजस्य बुद्धि का परिणाम था। यह प्रवृत्ति पुनरुत्थान युग (द्विवेदी युग) में और भी बढी क्योकि जिन परिस्थितियो के बीच पाश्चात्य साहित्य का विकास हुआ था या हो रहा था वे भारत में भी उत्पन्न हो रही थीं। भारतेंदु युग मे साहित्य की जिन जिन प्रवृत्तियो का उदय हुआ था, द्विवेदी युग मे उन सबका और भी विकास एवं परिष्कार हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे औद्योगिक विकास उतना नही हुआ था, अतः संक्राति काल में हिंदी की रीतिकालीन कविता के विरुद्ध जो विद्रोह दिखाई पड़ा वह बहुत कुछ सीमित था।

इस संबंध में एक बात और उल्लेखनीय है जिसका प्रभाव पुनरूत्थान युग की कविता पर तो कम, लेकिन छायावाद युग की कविता पर अधिक पड़ा है। औद्योगिक विकास के साथ ही उद्योगधंधो का विकेंद्रीकरण होता गया और अँगरेजी सरकार की नीति के कारण नगर ही ग्रामो की आवश्यकता पूर्ति के केंद्र बनते गए। शहरो की आबादी बढती गई और साथ ही वहाँ मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद भी बढ़ता गया। दूसरी तरफ गाँवो के सामूहिक जीवन का ह्रास भी जारी रहा। गाँवो मे शादी ब्याह, जन्म मरण, उत्सव त्यौहार सब में सामूहिक क्रियाशीलता दिखाई पडती है। नगरो में घने बसे मुहल्लो में भी सभी लोग अलग अलग जीवन यापन करते हैं, जैसे सबका जीवन एक दूसरे से असंबद्ध हो। पारस्परिक प्रतियोगिता और एकाकीपन ही पूँजीवादी नागरिकता की विशेषता है। उसमें एक ओर तो सामंतवादी बंधनो को तोड़ने के लिये व्यक्तिवाद आवश्यक है, परंतु दूसरी ओर वह सामान्य मानव को पूँजी का गुलाम बना देने का एक अस्त्र भी है। यही पूँजीवाद का अंतर्विरोध है। सन् १६०० ई० के बाद भारत मे भी नागरिक जीवन और व्यक्तिवाद की वृद्धि हुई। ऐसी परिस्थिति में यूरोपीय साहित्य का, जिसमें औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप व्यक्तिवाद का प्राधान्य था, भारतीय साहित्य पर प्रभाव पडना जरूरी था। भारत के जिन भागो में अँगरेज पहले आए वहाँ औद्योगिक विकास पहले हुआ और पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव भी उन्हीं प्रांतो के साहित्य पर पहले दिखाई पडा। हिंदी पर यह प्रभाव कुछ तो सीधे अँगरेजी, किंतु अधिकतर बँगला और मराठी के माध्यम से पड़ा।

पूँजीवादी वर्ग सामंतवाद को मिटाने के लिये क्रातिकारी रूप में सामने आता है और समाज को प्रगतिशील बनाता है। उसी तरह पूँजीवादी साहित्य

भी प्रारंभ में क्रांतिकारी होता है अर्थात् वह सामंती साहित्य के विरुद्ध विद्रोह करता है। हिंदी की रीतिकालीन कविता के विरुद्ध उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे जो सीमित विद्रोह दिखलाई पड़ा उसका कारण भी यही था कि वह एक सीमा तक औद्योगिक विकास के कारण उत्पन्न नए मध्यम वर्ग का साहित्य था। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ मे औद्योगिक विकास कुछ अधिक हुआ। इसलिये इस काल मे सामंती साहित्य के विरुद्ध होनेवाला विद्रोह भी अधिक दिखाई पड़ता है। भारत मे आधुनिक साहित्य का विकास उस तरह सीधे ढंग से नहीं हुआ जैसे यूरोप मे हुआ था। यूरोप मे आधुनिक साहित्य का प्रारंभ पंद्रहवीं शताब्दी मे हुआ पर अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के बाद ही वह अपने क्रांतिकारी रूप को प्राप्त कर सका। पुनरुत्थान के बाद से यूरोप मे जो सांस्कृतिक परिवर्तन हुए उनके मूल मे वहाँ होनेवाले आर्थिक परिवर्तन थे। हमारे देश मे ठीक इसकी उलटी बात हुई। भक्तिकाल मे पुनरुत्थान की जो लहर उठी थी वह तत्कालीन आर्थिक स्थिति की सुदृढता और सांस्कृतिक अंतरावलंबन के कारण थी। बाद में अँगरेजो के साम्राज्यवादी और आर्थिक आक्रमण के कारण पुनरुत्थान की प्रवृत्ति दब गई और ह्रासोन्मुख सामंतवादी संस्कृति का प्रभाव कविता पर पड़ा। सन् १८५७ ई० के बाद फिर नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई जिनके कारण राष्ट्रीयता और पुनरुत्थान का नए ढंग से प्रारंभ हुआ। यहीं से साहित्य मे आधुनिकता की प्रवृत्ति दिखलाई पडने लगी जो उत्तरोत्तर बढ़ती गई। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक यह प्रवृत्ति पुनरावर्तन और समझौते की प्रवृत्तियो से मिलीजुली थी। किंतु महायुद्ध के बीच और उसके बाद भारत की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियो मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिनके कारण आधुनिक हिंदी साहित्य संक्रांति और पुनरुत्थान युगो के बाद अपने विकास की तीसरी मंजिल पर पहुँचकर पूरा विद्रोही हो गया। साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध यह उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग का संमिलित विद्रोह था जो साहित्य मे भी विविध रूपो मे दिखलाई पड़ा। इस प्रकार सन् १९०० ई० के बाद भारतीय समाज की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ प्रायः वैसी ही थीं जैसी इंग्लैंड मे अठारहवीं शताब्दी के अंत मे स्वच्छंदतावादी नवजागरण (रोमांटिक रिवाइवल) के समय थी। अतः हिंदी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओ के साहित्य मे इस काल मे स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियो की लहर दिखलाई पड़ती है।

पहले कहा जा चुका है कि औद्योगीकरण के कारण भारत मे एक नवीन मध्यवर्ग का उदय हुआ जिसमे विद्रोह की भावना अधिक थी। अँगरेजो ने भारत में अपने राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिये अँगरेजी शिक्षापद्धति का प्रारंभ किया था तथा इस तरह शिक्षित भारतीयो को नौकरियाँ देकर उन्हे

सदा के लिये गुलाम बना देना चाहते थे। किंतु इसका उलटा परिणाम यह हुआ कि इन्हीं शिक्षित लोगों में से एक ऐसे मध्यवर्ग का उदय हुआ जो अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता का प्रेमी था। अँगरेजी शिक्षा का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि देश में पाश्चात्य साहित्य, विज्ञान एवं संस्कृति के संपर्क के कारण एक नवीन वैज्ञानिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण का प्रसार हुआ। फलतः देश में अंधविश्वासों और रूढियों के विरुद्ध विद्रोह के साथ साथ जीवन के सभी क्षेत्रों में लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का प्रचार हुआ जिसके आधार थे। बंधुत्व, समानता और स्वतंत्रता। राजनीति में यह विचारधारा गांधीवाद के रूप में तथा साहित्य में स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के रूप में दिखलाई पड़ी। धर्म का स्थान इस युग में अध्यात्मवाद और आदर्शवाद ने ले लिया और पुनरुत्थान और सुधारवाद की प्रवृत्तियों ने सामंजस्यवाद का रूप ग्रहण किया। प्रथम महायुद्ध ने भी भारतीय मानस को अनेक रूपों में प्रभावित किया। १९१४ ई० के पहले भारत की संसार के अन्य देशों के बारे उतनी अधिक जानकारी नहीं थी। यूरोप में एक नवीन वैज्ञानिक और यांत्रिक सभ्यता का चरम विकास हो रहा है यह तो भारतीय जान गए थे, किंतु उसका परिणाम कैसा होगा इसका परिचय उन्हें महायुद्ध से ही मिला। इसके पहले ही १९०४ ई० के रूस-जापान-युद्ध में जापान की विजय से एशिया की हीनता की मनोवृत्ति समाप्त हो चली थी और उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा था। पश्चिम के अनुकरण से जापान ने यह शक्ति अर्जित की थी, यह बात भी स्पष्ट हो गई थी। किंतु पश्चिम की सभ्यता की बाह्य चकाचौंध के भीतर क्या छिपा हुआ है, यह बात भी इस महायुद्ध ने ही स्पष्ट की। युद्ध में भारतीय सैनिक काफी संख्या में विदेश भेजे गए थे, समाचारपत्रों में युद्ध के समाचार भरे रहते थे, अनेक युद्धों में भारतीय सैनिकों ने विजय प्राप्तकर यूरोपीय सैन्यशक्ति पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित की थी। इन सब बातों से भारतीय जनता का दृष्टिकोण बहुत व्यापक, उनकी अंतर्राष्ट्रीय भावना अधिक विस्तृत और राष्ट्रीय गौरव की भावना अधिक तीव्र हो गई। इस युद्ध ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आज के इस वैज्ञानिक युग में जब कि जहाज, रेल, वायुयान, रेडियो आदि ने देशों की भौगोलिक दूरी कम करके उनकी सीमाएँ तोड़ दी हैं, भारत भी इस विशाल विश्व का एक अंग बन गया है और संसार की प्रत्येक घटना का उसके लिये भी उसी तरह का महत्व है जैसे अन्य देशों के लिये। इस युद्धकाल के भीतर ही रूस में समाजवादी क्रांति हुई। इसका प्रभाव भी भारतीय बुद्धिजीवियों पर पड़ा और देश में साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीय आंदोलन के साथ साथ समाजवादी विचारधारा का भी तीव्र गति से प्रचार होने लगा। चीन में भी सनयातसेन ने रूस की सहायता से क्रांति कर दी थी, उधर विश्वभर के समाजवादियों का संघटन 'तृतीय अंतर्राष्ट्रीय संघ' सभी देशों में श्रमजीवी क्रांति करने के लिये प्रयत्नशील था जिससे हर देश में पूँजीपतियों और

श्रमजीवियो के बीच संघर्ष होने लगे। इन सब विश्वव्यापी घटनाओं और हलचलो का व्यक्त अव्यक्त प्रभाव भारत पर भी पड रहा था; फलतः भारतीय जनता संसार के विविध आदोलनो के परिचय के कारण अधिक साहस और आत्मविश्वास से युक्त हो गई।

(ख) हिंदी साहित्य की तत्कालीन अंतर्धाराएँ

उपर्युक्त सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियो के कारण द्वितीय महायुद्ध के बाद हिंदी साहित्य में अनेक प्रकार की नवीन प्रवृत्तियो और नवीन साहित्यिक विधाओ का जन्म हुआ। हिंदी गद्य का प्रारंभ तो भारतेंदु युग में ही हो गया था पर उसका प्रतिमानीकरण और उसमें नवीन शैलियो की उद्भावना इसी काल में हुई। कविता के क्षेत्र में भी इस काल में ऐसी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ी जो हिंदी साहित्य के लिये बिलकुल नई थीं। साहित्य की इन नवीन प्रवृत्तियो को देखकर ही आलोचकों और विचारको ने इस युग को नया युग और आधुनिक साहित्य को नवयुग का साहित्य या नया साहित्य कहना शुरू कर दिया।[1] इस नवीनता या आधुनिकता की पहली शर्त थी प्राचीन गतानुगतिक रूढ़ियो और नए युग के लिये अनुपयुक्त सिद्धांतो का निर्मम विरोध और त्याग। इस निषेधात्मक प्रवृत्ति के साथ साथ उसकी दूसरी विधेयात्मक या रचनात्मक प्रवृत्ति थी समस्त विश्व की उपयोगी चिंतनधाराओ का स्वीकरण और उनके साथ भारतीय चिंतनधारा का सामंजस्य। इन दोनो परस्परपूरक प्रवृत्तियों का परिणाम यह हुआ कि हिंदी साहित्य एक नवीन उत्साह और विकास की तीव्र आकांक्षा और आवेग से भर उठा। प्राचीन सामंती आदर्शों तथा शास्त्रीय नियमो से आबद्ध साहित्यिक रूपों की चिराचरित को छोड़कर सहसा हमारा साहित्य विश्व साहित्य के साथ

१ (क) 'बहुत कम दिन पहले ही हमारे साहित्यिकों को नवयुग की हवा लगी है। जिस दिन कवि ने परिपाटीविहीन रसज्ञता और रूढ़िसमर्थित काव्यकला को साथ ही चुनौती दी थी, उस दिन को साहित्यिक क्रांति का दिन समझना चाहिए।'—हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० १३२।

(ख) 'छायावाद की इस धारा के आने के साथ ही साथ अनेक लेखक नवयुग के प्रतिनिधि बनकर योरप के साहित्य क्षेत्र में प्रवर्तित काव्य और कला संबंधी अनेक नए पुराने सिद्धांत सामने लाने लगे।'—रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०१।

(ग) 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आधुनिक साहित्य संबधी मेरे अध्ययन की पाँचवी पुस्तक है।'—नंददुलारे वाजपेयी—नया साहित्य : नये प्रश्न, निकष, पृ० १, सन् १९५५।

कदम से कदम मिलाकर चलने लगा। प्राचीन परंपरावादी विचारवाले लोगों को यह पश्चिम का अंधानुकरण मालूम पड़ा पर विवेकशील भारतीयों ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। रवींद्रनाथ ठाकुर ने जो स्वयं इस सामंजस्यवादी विचारधारा के प्रवर्तक थे, इस संबंध मे लिखा है—'यूरोपीय साहित्य और दर्शन मन को सहलाते नही, उसपर आघात करते हैं। यूरोपीय सभ्यता को अमृत, विष या मदिरा चाहे जो समझा जाय, उसका धर्म ही उत्तेजित करना, मन को स्थिर न रहने देना है। इस अँगरेजी सभ्यता के संपर्क से ही हमारे देश के सभी व्यक्ति किसी एक दिशा मे चलने और औरो को भी उसी पर अग्रसर करने के लिये छटपटा उठे हैं।' इसमे स्पष्ट है कि हिंदी साहित्य मे बीसवीं शताब्दी के आरंभिक पच्चीस वर्षों में जो गतिशीलता दिखाई पड़ी वह अँगरेजी शिक्षा अथवा यूरोपीय साहित्य और संस्कृति के संपर्क के कारण ही उत्पन्न हुई, पर साथ ही यह भी स्मरणीय है कि देश की तत्कालीन आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो ने ही उस गतिशीलता के लिये भूमिका प्रस्तुत की थी। किसी जीवित जाति के संस्पर्श मे आने से ही कुछ नही होता, ग्रहण करनेवाली जाति मे ग्रहण करने की क्षमता और आकांक्षा भी होनी चाहिए। तत्कालीन परिस्थितियो ने देश के लोगो में बाह्य प्रभाव ग्रहण करने की शक्ति और आकांक्षा उत्पन्न कर दी थी।

यदि तत्कालीन साहित्य की सभी विधाओं में पाई जानेवाली कुछ सामान्य प्रवृत्तियो की खोज की जाय तो उनमे सर्वप्रमुख दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं—स्वतंत्रता की भावना और विद्रोह की प्रवृत्ति। ये ही प्रवृत्तियाँ छायावाद युग या विद्रोह युग के समूचे साहित्य में अनेक रूपो में भी अभिव्यक्ति हुई हैं। उन्होने कही तो स्वच्छंदतावाद का रूप ग्रहण किया है, कहीं यथार्थवाद का, कभी वे मानवतावाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद (रहस्यवाद) के रूप में दिखाई पड़ती हैं तो कभी राष्ट्रीयता, देशभक्ति और सांस्कृतिक समन्वय संबंधी विचारो और आंदोलनो के रूप मे अभिव्यक्त होती है, कहीं उसका माध्यम व्यक्तिवाद है तो कहीं समाजवाद या वर्गवाद। स्वतंत्रता की भावना सर्वप्रथम सामंती और दरबारी संस्कृति के बंधनो से मुक्ति के प्रयत्नो मे दिखाई पड़ती है। भाषा, छंद, काव्य-विषय, कल्पना, सब मे प्राचीन लकीरो को छोड़कर नए रास्ते अपनाए गए। रीतिकालीन प्रवृत्तियो के विरोध मे पुनरुत्थान युग मे जो स्थूल नीतिमत्ता से थोथी उपदेशात्मकता और नीरस वर्णनात्मकता का विधान हुआ था, उससे नए साहित्यकार के उन्मुक्त मन को संतोष नही हुआ। वह स्थूल शृंगार के बंधनो को तोड़कर उनकी जगह मर्यादावाद और बुद्धिवाद के नवीन बंधनो को स्वीकार करने को तैयार नही था क्योकि उससे उसकी उन्मुक्त कल्पना और इच्छापूर्ति की स्वतंत्र प्रवृत्ति के पंख बँध

जाते थे। इसने स्थूल बाह्य बंधनों से विद्रोह करके सूक्ष्म मनोलोक में अपने नीड की रचना की। इस तरह साहित्य में अतिशय बौद्धिक नीरसता की जगह भावुकता और आतंरिकता की, भौतिक जीवनदृष्टि की जगह आध्यात्मिक जीवनदृष्टि की, स्थूल ऐंद्रिय प्रेम अथवा उसके बहिष्कार की जगह आदर्शवादी प्रेम (प्लेटानिक लव) तथा स्वाभाविक प्रेम की प्रतिष्ठा हुई। यही नहीं देश, जाति, विश्व मानव तथा मानवेतर प्रकृति के प्रति भी मानवीय प्रेम की भावना का प्रसार हुआ। आध्यात्मिक आदर्शवाद ही कविता में रहस्यवाद और प्रकृति के प्रति तादात्म्य की भावना के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

इस युग का यह नवीन आध्यात्मिक आदर्शवाद भक्तियुगीन आध्यात्मिक आदर्शवाद से भिन्न कोटि का था। भक्तिकाल के आध्यात्मिक उत्थान में सामाजिकता का भी बहुत अधिक योग था और साथ ही वह विभिन्न धार्मिक संप्रदायों और साधना मार्गों के सिद्धांतों और प्रयोगों से पुष्ट था किंतु इस युग की आध्यात्मिकता कम से कम हिंदी कविता में प्रधानतया एक दृष्टिकोण के रूप में थी जिसमें साधना और धार्मिक आस्था का न तो योग था, न वह सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति में सहायक ही थी। वह तो धार्मिक रूढ़िवादिता और स्थूल सुधारवाद दोनों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में आई थी। उसका लक्ष्य व्यक्ति को स्थूल सामाजिक और धार्मिक नियंत्रण से मुक्त करना था। इस तरह वस्तुतः सामाजिक संबंधों की विषमता से छुटकारा पाने के लिये ही कवि ने अध्यात्म का सहारा लिया। अध्यात्म के क्षेत्र में अद्वैतवाद का ही स्वर प्रधान था जो प्राणिमात्र की आत्मा को जड़ जगत् से स्वतंत्र और समान मानता है। इसी लिये लोकतंत्र की स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की माँग को अध्यात्मवाद आदर्श रूप में पूरा करता था। यूरोप के दार्शनिक कांट हीगेल, बर्गसाँ आदि ने भी इसी पूँजीवादी और अध्यात्मवादी आदर्शवाद का प्रचार किया था। यूरोप के रोमांटिक साहित्य, विशेषकर जर्मनी के साहित्य में जिस तरह आध्यात्मिकता का रंग बहुत गहरा था, उसी तरह हिंदी की छायावादी कविता में भी रहस्यवाद के रूप में आध्यात्मिक प्रवृत्ति वर्तमान थी। इस काल में भारत में आध्यात्मिकता भी विद्रोह का एक प्रतीक बन गई थी। स्वामी विवेकानंद, योगी अरविंद, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गाँधी सब ने अपने जीवन में आध्यात्मिकता और राष्ट्रीयता का समन्वय किया था। वस्तुतः व्यक्तिवाद के विकास के साथ साथ अध्यात्मिकता का विकास भी स्वाभाविक है। आध्यात्मिक क्षेत्र में व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के प्रसार का पूरा अवसर हाथ लगता है और उसके विद्रोही अहम् की तृप्ति भी होती है। छायावादी कवियों में भी अधिकांश ने इस आध्यात्मिकता के माध्यम से ही अपने विद्रोह का स्वर ऊँचा किया है।

यह आदर्शवाद केवल रहस्यवाद तक ही सीमित नहीं था। सौंदर्यकल्पना और राजीतिक विचारो के क्षेत्र में भी इस आदर्शवाद का प्रसार दिखाई पड़ता है। छायावादी काव्य मे यथार्थ से कल्पना को विच्छिन्न करके एक आदर्श स्वप्न लोक की रचना की गई जहाँ जगत् की विषमताएँ और आत्मा की स्वतंत्रता के मार्ग की बाधाएँ नही हैं। प्रकृति और अध्यात्म के क्षेत्रो के अतिरिक्त प्रेम, विश्वबंधुत्व अतीतगौरव आदि क्षेत्रो से भी अपने स्वप्नलोक के निर्माण के लिये छायावादी कवियो ने उपादन ग्रहण किए हैं। वस्तुतः वर्तमान जीवन से असंतुष्ट होकर ही इन कवियो ने स्वतंत्र स्वप्नलोक का निर्माण किया और इसी लिये छायावादी कविता मे जगत् के विषम कोलाहल से दूर भागकर उससे मुक्ति पाने की प्रबल कामना दिखाई पड़ती है। फिर भी इस प्रवृत्ति को प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता क्योकि तत्कालीन परिस्थितियो में यह भी सामाजिक वैषम्य से विद्रोह की भावना को ही अभिव्यक्त करनेवाली थी। इसी से वास्तविक जीवन के असौंदर्य और अभाव की क्षतिपूर्ति काव्य मे कलात्मक सौष्ठव की प्रतिष्ठा और कल्पना निर्बंध प्रयोग द्वारा की गई। मानवीकरण, ध्वन्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिक प्रयोगो के चमत्कार आदि द्वारा वस्तु के सूक्ष्म और आतर सौदर्य का चित्रण किया गया। भाषा के संबंध में भी नए सौदर्यबोध से ही काम लिया गया। पुराने घिसेपिटे शब्दो को छोडकर नए, अप्रचलित अथवा नवनिर्मित शब्दो का निर्बाध प्रयोग किया गया जिनके द्वारा नवीन सूक्ष्म भावो की सफल अभिव्यक्ति हो सकी। कवियों ने छंदो के चुनाव मे भी स्वतत्रता की प्रवृत्ति दिखलाई। लोकगीतो मे प्रयुक्त छंदो और मुक्त छद का साहस के साथ प्रयोग किया गया तथा नाद और लय के सौंदर्य पर विशेष ध्यान दिया गया, तुक और अनुप्रास पर नही।

इस युग के समूचे साहित्य मे अभिव्यक्त राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा मे भी किसी न किसी आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। उस युग के काव्य, नाटक और कथा साहित्य सबमे यह आदर्शवाद विभिन्न रूपो मे दिखाई पडता है। तत्कालीन राजनीति के क्षेत्र मे दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख थी—हिंसात्मक और अराजकतामूलक क्रांति की तथा अहिंसात्मक और नैतिकतामूलक सघर्ष की। प्रथम प्रवृत्ति के पोषक भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद आदि क्रांतिवादी थे और द्वितीय के महात्मा गांधी तथा उनके अनुयायी। इन दोनो में आदर्शवाद ही प्रेरक शक्ति था। पहले प्रकार की अराजकतावादी प्रवृत्ति बँगला के नजरूल इस्लाम की कविताओ से प्रभावित उन कविताओ मे दिखाई पड़ती है जिनमे महानाश, क्राति, ध्वस, अग्निवीणा आदि शब्दो की आवृत्ति द्वारा क्रांति का आवाहन किया गया तथा उसे निर्बंध, लक्ष्यहीन और अनियंत्रित बताया गया। इन कविताओ में वर्गसंघर्ष और नवीन समाज की रचना का कोई आदर्श नहीं है।

क्रांतिवादियों की भाँति अराजकतावादी कवि भी डान क्विक्जाट की तरह सारी दुनियाँ से अकेले ही लड़ने को तैयार दिखाई पड़ता है। जैनेंद्र और यशपाल के प्रारंभिक उपन्यासों तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्त नाटकों में भी इसी व्यक्तिवादी आदर्शवाद और वैयक्तिक वीर भावना (इनडिविडुवल हीरोइज्म) की अभिव्यक्ति हुई। इन उपन्यासों और नाटकों के पात्र राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं से अकेले ही लड़ते हुए चरित्र की आदर्श उच्चता प्राप्त करते हैं। उनकी शक्ति अपने निजी त्याग, बलिदान, साहस और वीरता की शक्ति है जिसके पीछे गंभीर सामाजिक दायित्व और जन आंदोलनों का कोई योग नहीं दिखलाई पड़ता। दूसरे प्रकार की आदर्शवादी विचारधारा का आधार वह मानवतावाद है जो उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य दार्शनिकों और विचारकों के सिद्धांतों तथा प्राचीन भारतीय आदर्शवादी विचारों का समन्वय है। राजनीति में महात्मा गाधी और साहित्य में रवींद्रनाथ, शरत्चंद्र और प्रेमचंद इस मानवतावाद के उन्नायक हैं। मानवतावादी आदर्शवाद कहीं यथार्थोन्मुख आदर्शवाद के रूप में और कहीं आध्यात्मिक मानवतावाद के रूप में दिखलाई पड़ता है। इन सभी सिद्धांतों में यथार्थवाद और आदर्शवाद को समान्वित करके उसे मानवता के सर्वांगीण हित में नियोजित करना ही प्रमुख लक्ष्य है। गांधीजी के समान प्रेमचंद भी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी थे। प्रेमचंद के शब्दों में 'यथार्थवाद यदि आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।' इस तरह प्रेमचंद जी का यथार्थवादी चित्रण उनके आदर्शों को मूर्त करने का साधन मात्र है। मानवतावादी आदर्शवाद का मूल स्वर टालस्टाय के सिद्धांतों के अनुरूप नैतिकतामूलक और उपयोगितावादी है। इसी कारण प्रेमचंद के उपन्यासों की आधारभूमि यथार्थ जीवन होते हुए भी उनके चरित्रों का विकास तथा घटनाक्रम का अंत अस्वाभाविक और उपदेशात्मक प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह कि प्रेमचंद का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद गाधी जी के मानवतावादी आदर्शवाद का ही साहित्यिक रूपांतर है।

मानवतावादी आदर्शवाद का दूसरा रूप रवींद्रनाथ, शरत्चंद, जयशंकर प्रसाद और निराला आदि के साहित्यों में दिखलाई पड़ता है जिन्होंने यथार्थ जीवन का आधार ग्रहण करते हुए भी मानव की आंतरिक शक्ति को उदात्तीकृत रूप मे उपस्थित किया है। इन लेखकों के प्रेरणास्रोत यूरोपीय राजनीतिक और दार्शनिक विचारक उतने अधिक नहीं थे जितने यूरोपीय रोमांटिक साहित्य के उन्नायक कवि और लेखक तथा प्राचीन भारतीय दार्शनिक सिद्धांत। इन लेखकों का लक्ष्य मानव को शक्ति, सौंदर्य और आनंद की उपलब्धि द्वारा 'शुद्ध मानव'

बनाना है। अतः इनके साहित्य का स्वर मानवतावादी होते हुए भी उपयोगितावादी और स्थूल नैतिकतावादी नहीं है। इन लेखकों का यथार्थबोध स्थूल वस्तु-चित्रण या नैतिकतामूलक चरित्रविधान में नहीं, मानव के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक और सौंदर्यबोधात्मक प्रयत्नों के चित्रण के रूप में दिखलाई पड़ता है। कहना न होगा कि शुद्ध साहित्य की दृष्टि से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का यही रूप अधिक उचित और उपयुक्त है। मानवतावादी आदर्शवाद का दूसरा रूप यथार्थोन्मुख आदर्शवाद है जिसमें मुख्य लक्ष्य तो यथार्थ जीवन की विषमताओं और व्याधियों को दूर करके भौतिक दृष्टि से सुखी और संपन्न मानवसमाज की स्थापना करना है, पर उसमें आध्यात्मिक और नैतिक आदर्शों को उक्त लक्ष्य की पूर्ति का साधन स्वीकार किया गया है। इसे राजनीतिक शब्दावली में समन्वयात्मक समाजवाद कह सकते हैं। भारतीय राजनीति में कुछ ऐसे विचारक थे और अब भी हैं जो गांधीवाद और समाजवाद का समन्वय आवश्यक मानते हैं, ठीक उसी तरह साहित्य में सुमित्रानंद पंत, भगवतीचरण वर्मा आदि लेखकों ने इस समन्वयात्मक सिद्धांत के आधार पर साहित्यरचना की। इन लोगोंने अपना विचारक्षेत्र गांधीवाद और समाजवाद तक ही सीमित रखा किंतु जयशंकर प्रसाद ने बहुत व्यापक क्षेत्र में अपनी समन्वयात्मक दृष्टि का प्रसार किया। उनके काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानियों में यद्यपि आदर्शवादी स्वर प्रधान है पर उनका लक्ष्य मानव के भौतिक जीवन की चरम उन्नति है। वस्तुत. उन्होंने भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों का भेद मिटाकर दोनों में एकरूपता मान ली है। उनके अनुसार भौतिक उन्नति के बिना आध्यात्मिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति के बिना भौतिक उन्नति नहीं हो सकती। कामायनी में उन्होंने आध्यात्मिक आदर्श को यथार्थ और दैनंदिन जीवन में अवतरित करने का जो विशाल समायोजन किया है वही विविध रूपों में उनके 'कामना' और 'एक घूँट' नाटकों तथा 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों में दिखलाई पड़ता है। आदर्शवादी मानवतावाद का तीसरा रूप वह आध्यात्मिक मानवतावाद है जो योगी अरविंद के अतिमानस संबंधी नवरहस्यवादी सिद्धांतों से अनुप्रेरित है। हिंदी में यह विचारधारा मुख्यतः सुमित्रानंदन पंत और नरेंद्र शर्मा की परवर्ती कविताओं में दिखलाई पड़ती है।

इस युग का यह अध्यात्मवादी भ्रम अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। प्रथम महायुद्ध के बाद की विश्वव्यापी निराशा और आर्थिक मंदी का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। अतः मध्यवर्गीय साहित्यकार ने अनियंत्रित स्वतंत्रता की जो कल्पना की थी वह टूट गई और जीवन उसे और भी विकराल और बंधनग्रस्त मालूम पड़ने लगा। फलतः मध्यवर्गीय साहित्यकार उत्तरोत्तर अहंवादी, भाग्यवादी और निराशावादी बनता गया। फलस्वरूप १६३० ई० के बाद के साहित्य में

निराशा, भ्रम, मृत्युपूजा, छूछी रोमास, काल्पनिक अस्वस्थ ऐंद्रियता और सामाजिक अनुत्तरदायित्व की भावनाएँ दिखलाई पड़ने लगीं, किंतु साथ ही साहित्यकारो का एक वर्ग ऐसा भी उत्पन्न हुआ जो यथार्थ जीवन का सम्यक् विश्लेषणकर उसकी बाह्य और आतरिक अस्वस्थता तथा अभावो को दूर करना चाहता था। इस प्रकार हमारे आलोच्य काल के उत्तरार्ध में यथार्थवादी प्रवृत्तियो का उदय हुआ। यह यथार्थवाद तत्कालीन हिंदी साहित्य में चार रूपो मे दिखलाई पड़ता है—व्यक्तिवादी यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, सामाजिक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, छायावाद का आदर्शवादी भ्रम टूटने के बाद हिंदी कविता में निराशा, अस्वस्थ ऐंद्रियता और वैयक्तिक जीवन की दैनंदिन घटनाओं का चित्रण होने लगा। यथार्थ जीवन की असंगतियो और उनके कारणो का विश्लेषण करने की जगह ये कवि अपने वैयक्तिक दुःखो को भुलाने तथा कठिनाइयो से मुक्ति पाने के लिये हाला, प्याला, मधुशाला आदि की शरण लेने लगे अथवा सस्ते रोमास और असफल प्रेम की रागिनी गाने लगे। सन् १६३० ई० के बाद की छायावादी कविता में इस तरह की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का एक प्रमुख स्वर सुनाई पड़ता है। यद्यपि इस प्रवृत्ति ने छायावाद की अतिशय निर्वैयक्तिकता और कल्पनातिरेक से हिंदी कविता को मुक्त करने का प्रयास किया किंतु प्रतिक्रियात्मक होने के कारण उसमें काव्यगत गाभीर्य और उदात्तता का अभाव था। इसी कारण गंभीर और चिंतनशील पाठको के लिये यह कविता उपयुक्त नही थी।

सौभाग्यवश साहित्य की अन्य विधाओं में यह प्रवृत्ति नही पनपने पाई। कथा साहित्य में अवश्य यह और भी छिछली और असामाजिक होकर एक ऐसे वर्ग द्वारा स्वीकृत की गई जिसके रोमानी और बाजारू साहित्य को गंभीर साहित्य के अंतर्गत स्वीकार ही नहीं किया गया। यथार्थवाद का दूसरा रूप मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद' मुख्य रूप से प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य में दिखलाई पड़ता है। यो तो चरित्रचित्रण प्रधान कहानियो और उपन्यासो में मनोवैज्ञानिक दृष्टि अनिवार्य होती है, किंतु इस युग में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव तथा मनोविज्ञान के अध्ययन से ऐसे उपन्यासो, कहानियो और नाटको की रचना होने लगी जिनमें मानसिक प्रक्रियाओं, वृत्तियो और चिंतनधाराओं का विवृत विवेचन किया गया। इस प्रकार की कृतियो मे मनोविज्ञान चरित्रचित्रण का साधन न होकर साध्य बन गया, अर्थात् चरित्रचित्रण का उद्देश्य व्यक्ति के मन का विश्लेषण और अध्ययन हो गया। यह मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद दो रूपो में दिखलाई पड़ता है—(१) सामान्य मनोवैज्ञानिक और (२) मनोविश्लेषणात्मक। सामान्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में चरित्रचित्रण का व्यावहारिक रूप प्रत्यक्ष और सैद्धातिक रूप अप्रत्यक्ष रहता

है, अर्थात् जिन मनोवैज्ञानिक सिद्धातो के आधार पर चरित्र निर्मित होते हैं उनकी व्याख्या नही होती, साथ ही उनमे यह चित्रित किया जाता है कि व्यक्ति के चरित्र और जीवनचर्या के मूल मे मनोवैज्ञानिक कारण ही प्रमुख होते हैं, धार्मिक, नैतिक या राजनीतिक नही। जैनेंद्रकुमार के कथासाहित्य को इसके उदाहरण के रूप मे उपस्थित किया जा सकता है।

मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद, मनोविज्ञान की नवविकसित शाखा मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धातो पर आधारित है जिसके प्रमुख आचार्य सिगमंड फ्रायड, एडलर और युंग थे। इन तीनो मनोविश्लेषणशास्त्रियो के सिद्धातो मे थोडा बहुत अंतर है और उन तीनो के ही सिद्धातो के आधार पर अलग अलग साहित्यिक प्रवृत्तियो का प्रचलन यूरोपीय देशो मे हुआ। फ्रायड उपचेतन मन मे दमित काम इच्छाओ को ही समस्त साहित्य का मूल कारण मानता है। उसके अनुसार साहित्यसर्जना की प्रक्रिया स्वप्न की प्रक्रिया से मिलती जुलती है। स्वप्न के समान साहित्य भी प्रतीकात्मक होता है। काम की दमित इच्छाएँ चेतन मन द्वारा उपचेतन मन में ढकेल दी जाती हैं, पर वे स्वप्न, दिवास्वप्न और साहित्यरचना के क्षणो मे चेतन मन के अनजान मे अपना रूप बदलकर प्रतीको का रूप धारण करके अभिव्यक्त होती है। इस कारण मन पर पडे दबाव का रेचन हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो व्यक्ति स्नायविक बीमारियो का शिकार हो जाय या पागल हो जाय। यदि ऐसे रोगियो का मानसिक विश्लेषण और उनके जीवन वृत्त का अध्ययन किया जाय तो उनकी बीमारी के मूल में दमित काम वृत्तियाँ ही मिलेंगी। फ्रायड के इस सिद्धात के आधार पर ही यूरोप में कई 'वादों'—प्रयोगवाद, अतियथार्थवाद आदि का प्रचलन हुआ। इन साहित्यिक वादों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी पडा। आलोच्य युग में इलाचंद जोशी और अज्ञेय के उपन्यासो में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का आश्रय लिया गया है। इस प्रवृत्ति के साहित्य मे पात्रो की मानसिक प्रक्रियाओ का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से किया गया है किंतु हिंदी उपन्यासो में अतियथार्थवाद की वह चेतनाप्रवाह और खंडित बिंबोवाली पद्धति जो अँगरेजी मे जेम्स ज्वायस के उपन्यासो मे प्रयुक्त हुई है, नहीं मिलती। उसमे डी० एच० लारेंस के उपन्यासों की तरह काम की उन्मुक्त तृप्ति का चित्रण ही अधिक मिलता है। हिंदी की प्रयोगवादी कविता मे भी जिसका प्रारंभ इस युग के अंत मे हो गया था, उपचेतन की दमित कामवासना की अभिव्यक्ति अभिधात्मक पद्धति मे ही हुई है, चेतनाप्रवाह वाली प्रतीकात्मक पद्धति में नहीं। अतः कहा जा सकता है कि तत्कालीन हिंदी साहित्य मे मनोविश्लेषण शास्त्र का बहुत ही सतही प्रभाव पडा था।

फ्रायड ने काम इच्छाओ के दमन से उत्पन्न कुछ ग्रंथियो की भी कल्पना की है जो व्यक्ति के चरित्रनिर्माण का कारण होती हैं। इस कल्पना को एडलर

ने अधिक बड़े पैमाने पर विकसित किया। एडलर के अनुसार बचपन से ही व्यक्ति अपने परिवेश से बहुत कुछ प्राप्त करना चाहता है पर शारीरिक अशक्ति और अभावों के कारण उसकी सभी इच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं। अतः अपने अभावों और दमित इच्छाओं की पूर्ति वह कल्पना, दिवास्वप्न, इच्छापूर्तिविधि (विशफुलमेंट) आदि द्वारा करता और बड़ा होने पर साहित्य, राजनीति, धर्म आदि के क्षेत्रों में नेतृत्व करके वह अपनी क्षतियों की पूर्ति करता है। इस तरह उसने साहित्य को दमित वासनाओं का प्रतीकात्मक रेचन न मानकर उनकी क्षतिपूर्ति माना है। वह शारीरिक हीनता की ग्रंथि को ही व्यक्ति मन की सभी कुंठाओं का मूल मानता है। उसके अनुसार सामाजिक अपराधों का मूल कारण अपराधियों के मन की हीनता-ग्रंथि-जन्य तरह तरह की कुंठाएँ ही हैं। फ्रायड के समकालीन युंग ने सामूहिक चेतना का सिद्धांत प्रतिपादित किया। व्यक्तिमन एक ऐसा विराट् कोश है जिसमें आदिकाल से लेकर अबतक के मानवीय कार्यों के मूल मे निहित प्रवृत्तियाँ, जीवन की अनुभूतियाँ तथा बाह्य वस्तुज्ञान संस्कार-रूप में संचित रहते हैं। फलतः आज के मानव की समस्त सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों के बाद भी आदिम मानव की पशु वृत्तियाँ उसके सामूहिक अचेतन मन में वर्तमान हैं जो नाना प्रकार के असामाजिक कार्यों और अपराधों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। साथ आदिमयुगीन मानव के पारिपार्श्विक बिंब (आर्चीटाइपल इमेज) भी, जो आदिम पशुवृत्तियों की तरह ही सामूहिक अचेतन मन में संस्कार रूप में संचित है, चेतन मन में व्यक्त हुआ करते हैं। फ्रायड के सिद्धांतों के समान एडलर और युंग के सिद्धांतों ने भी यूरोपीय साहित्य को प्रभावित किया है, यद्यपि यह प्रभाव फ्रायड के प्रभाव जैसा व्यापक नहीं है। हीनता की ग्रंथि और क्षतिपूर्ति के सिद्धांतों को प्रायः सभी परवर्ती मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अपना लिया गया और डास्टेवस्की के उपन्यासों को इसके लिये आदर्श मान लिया गया। युंग के सिद्धांतों को कथा साहित्य में उतना नहीं अपनाया गया जितना काव्य मे। अँगरेजी में डाइलन टामस द्वारा प्रवर्तित आदिम बिंबवादी एपोक्लिप्टिक काव्यधारा में इस सिद्धांत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हिंदी में इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों पर उपर्युक्त सिद्धांतों का गहरा प्रभाव पड़ा है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के प्रारंभिक नाटकों में भी उनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। बुद्धिवाद की ओट में वस्तुतः उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद का ही पल्ला पकड़ा है। भुवनेश्वर के एकांकी नाटकों में मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धांत अधिक निखरे और अमिश्रित रूप में मिलते हैं। इन परवर्ती मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रभाव प्रयोगवाद के बाद की 'नई कविता' पर विशेष रूप से पड़ा पर वह हमारे आलोच्य काल के बाद का विकास चरण है।

यथार्थवाद के अन्य दो रूप सामाजिक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद हैं। सामाजिक यथार्थवाद का प्रारंभ तो यूरोप मे रोमांटिक साहित्य की प्रतिक्रिया में उन्नीसवीं शताब्दी मे ही शुरू हो गया था जो उपन्यास साहित्य विशेषकर फ्रांसीसी उपन्यासो मे, प्रकृतवाद के रूप मे प्रचलित हुआ था। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो के आविष्कारो, विशेषकर प्राणिशास्त्र में डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत के परिणामस्वरूप प्रकृतवाद का प्रारंभ हुआ था। इन आविष्कारो और सिद्धांतो ने सभी प्रकार की अतिप्राकृत शक्तियो मे मानव की आस्था को समाप्तकर उसे पूर्णतः भौतिकतावादी बना दिया। अब मानव परंपरागत धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताओ तथा वर्जनाओ को अस्वीकारकर अपने यथार्थ स्वरूप को जानने पहचानने लगा। विकासवाद ने उसे यह मंत्र दिया कि तत्वतः उसमें तथा अन्य जीवो मे कोई तात्विक अंतर नहीं है, अमीबा और जेरी मछली से लेकर वनमानुष और मानव तक सभी एक ही प्रकार की जैविक परंपरा की देन हैं। इस मान्यता के कारण साहित्य मे अतिशय कल्पनाशीलता और आदर्शवादिता का प्रभाव बहुत कम हो गया और साहित्यकार इन नवोपलब्ध जीवन सत्यो को यथातथ्य अभिव्यक्त करने लगा। अब साहित्यकार जीवन के उन सभी पक्षो का नग्न चित्रण करने लगा जो अबतक धार्मिक और नैतिक वर्जनाओ के कारण साहित्य मे अग्राह्य माने जाते थे। फ्रांस मे एमिलीजोला, मोपासाँ और फ्लावेयर आदि उपन्यासकारो ने प्रकृतवाद को एक साहित्यिक आदोलन के रूप में परिवर्तित किया। उनके अनुसार साहित्य मे कुछ भी घृणित, अश्लील, गंदा और गोपनीय नहीं है। साहित्य का कथ्य केवल दो प्रकार का हो सकता है— सत्य और असत्य। साहित्यकार को केवल जीवन के सत्यों का, चाहे वे गंदे और अश्लील हो, चाहे सुरुचिपूर्ण और सुंदर, यथातथ्य चित्रण करना चाहिए। इसके विपरीत आदर्शों और कल्पना का आश्रय ग्रहण करके साहित्यरचना करना सबसे बडा साहित्यिक झूठ है। मनुष्य पशु कोटि का एक जीव है अतः उसके सभी गोपनीय या अश्लील समझे जानेवाले कार्य स्वाभाविक या प्राकृतिक हैं। इसी धारणा के कारण इस साहित्यधारा का नाम प्रकृतवाद पड़ा। वस्तुतः आधुनिक युग के वैज्ञानिक यथार्थवाद का सर्वप्रथम रूप प्रकृतवाद ही है। प्रकृतवाद का उद्देश्य सामाजिक यथार्थ के प्रामाणिक और विवृत वर्णन द्वारा मानवसमाज को ऊँचा उठाना तथा प्रकृति पर विजय करते हुए मनुष्यता की उच्च भूमि पर पहुँचाना था। पाश्चात्य प्रकृतवादी साहित्य का प्रभाव हिंदी साहित्य पर १९२० ई० के बाद ही पडने लगा था। उग्र, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन आदि लेखको के तत्कालीन कथासाहित्य मे सामाजिक बुराइयो और भ्रष्टाचारो का नग्न चित्रण प्रकृतवादी ही माना जायगा। उग्र के घासलेटी कहे जानेवाले साहित्य मे उद्देश्य की पवित्रता को देखकर ही महात्मा गांधी ने उसकी प्रशंसा की थी। काव्य के

क्षेत्र में प्रेमाभिव्यंजना के यथार्थ चित्रण में चुंबन, आलिंगन आदि शब्दों की आवृत्ति भी प्रकृतवाद के प्रभाव को ही व्यक्त करती है। अंचल की प्रारंभिक कविताओं में, जिनकी नंददुलारे वाजपेयी ने क्रांतिकारी कहकर प्रशंसा की थी, प्रकृतवादी विचारधारा ही दिखलाई पड़ती है।

किंतु सामाजिक यथार्थवाद केवल प्रकृतवाद तक ही सीमित नहीं है। सामाजिक विषमता, राजनीतिक दासत्व, धार्मिक पाखंड और अत्याचार आदि का चित्रण तथा उनके विरोध में होनेवाले प्रयत्नों का वर्णन भी आधुनिक युग के साहित्य में सर्वत्र दिखलाई पड़ता है और वस्तुतः यही सामाजिक यथार्थवाद का प्रकृत रूप है। यहीं नहीं, साहित्य को जीवन के अधिक निकट लाना, यथार्थ चरित्रों और स्वाभाविक घटनाओं की योजना, लोक जीवन की प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं का उद्घाटन, व्यावहारिक भाषा की स्वीकृति आदि बातें भी यथार्थवाद की ही प्रवृत्ति का द्योतन करती हैं। वस्तुतः सामाजिक यथार्थवाद की दृष्टि वस्तुगत होती है। वह वस्तु के सामान्य और विशिष्ट दोनों रूपों को ऐंद्रियबोध के मानदंड से तौलती है। ऐंद्रियबोध पर आधारित वास्तविक जीवनानुभव ही यथार्थवादी साहित्य के उपादान हैं। यद्यपि सभी देशों के प्रत्येक काल के साहित्य में यथार्थवादी दृष्टि किसी न किसी रूप में वर्तमान रही है, किंतु आधुनिक वैज्ञानिक और लोकतांत्रिक युग में उसने विभिन्न आंदोलनों के मार्ग से होकर साहित्य में भी प्रवेश किया। इसी कारण आधुनिक हिंदी साहित्य का उदय ही भारतेंदु युग में यथार्थवाद को लेकर हुआ। हमारे आलोच्य युग में प्रेमचंद द्वारा यथार्थवादी कथा साहित्य का सूत्रपात हुआ। यद्यपि उन्होंने आदर्श और यथार्थ दोनों का समन्वय किया है पर वस्तुचित्रण की दृष्टि से वे पूर्णतः यथार्थवादी हैं। उन्होंने देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक गतिविधियों का बहुत ही सूक्ष्मता से निरीक्षण और चित्रण किया है। उनके समकालीन और परवर्ती उपन्यासकारों में से कौशिक, सुदर्शन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि ने भी सामाजिक यथार्थ का चित्रण इसी रूप में किया है। सेठ गोविंददास, उग्र, गोविंदवल्लभ पंत आदि लेखकों के नाटकों में भी यथार्थवाद का यही रूप दिखलाई पड़ता है। हिंदी कविता में सन् १९२० ई० के बाद सत्याग्रह आंदोलन, राष्ट्रीय भावना और समाजसुधार संबंधी विविध आंदोलनों से संबद्ध जो कविताएँ लिखी गईं वे सामाजिक यथार्थवाद की ही कोटि में आती हैं।

समाजवादी यथार्थवाद वस्तुतः मार्क्स के प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धांत द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का साहित्यिक रूपांतर है। समाजवादी क्रांति के बाद रूस में शिक्षा और संस्कृति के सभी विषयों की व्याख्या इसी सिद्धांत के आधार पर की जाने लगी। साहित्य के संबंध में समाजवादियों ने मार्क्स और एंगिल्स के ग्रंथों के आधार

पर यह सिद्धांत स्थिर किया कि पूर्ववर्ती सभी युगो का साहित्य उच्च शासक वर्ग का साहित्य था जो उसका उपयोग अपने स्वार्थ की सिद्धि की दृष्टि से करते थे। उनके अनुसार सभ्यता और संस्कृति का मूल आधार अर्थ है। इसी आधार पर साहित्य, कला, धर्म, राजनीति आदि का महल खड़ा होता है। प्रत्येक युग में समाज में शोषकों और शोषितो के बीच संघर्ष चलता रहा है और इस संघर्ष मे साहित्य शोषक वर्ग के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। सामंत युग और पूँजीवाद युग का साहित्य इसका उदाहरण है। अतः वर्तमान समय मे श्रमिक वर्ग और पूँजीपतियो के बीच जो संघर्ष चल रहा है उसमें साहित्य को श्रमिक वर्ग का साथ देना चाहिए। साहित्यकारो का यह कर्तव्य है कि वे निम्न, शोषित वर्ग के पक्ष में साहित्य को एक अस्त्र के रूप में प्रयुक्त करें। इस विचारधारा का प्रारंभ यूरोपीय देशो में सन् १६३० ई० के पहले ही हो गया था और उसे प्रगतिशील आंदोलन (प्राग्रेसिव मूवमेंट) का नाम दिया गया था। भारत में इस आदोलन का प्रारंभ सन् १६३६ ई० में प्रेमचंद के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के साथ हुआ। हिंदी में सुमित्रानदन पंत ने सर्वप्रथम इस विचारधारा के अनुसार काव्यरचना प्रारभ की। आलोचना में शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा और प्रकाशचंद गुप्त तथा कथा साहित्य में यशपाल, राहुल सांकृत्यायन आदि ने इसे अपनाया। इस नवीन साहित्यिक विचारधारा को प्रगतिवाद कहा जाने लगा। सन् १६४० ई० तक इसका प्रारंभिक स्वरूपनिर्माण ही हो सका था। प्रगतिवाद की विशेषता यह थी कि इसके आलोचनात्मक सिद्धांतशास्त्र की रचना पहले हुई और इसके आधार पर रचनात्मक साहित्य बाद मे लिखा जाने लगा। प्रगतिवाद के आदोलन में प्रारंभ में ऐसे लोग भी संमिलित थे जो कि न तो विचारो मे पूर्णतः मार्क्सवादी थे और न समाजवादी दल के सक्रिय सदस्य ही थे। इस तरह तत्कालीन प्रगतिशील लेखक संघ एक संयुक्त मोर्चा था जिसमे सामाजिक परिवर्तन के इच्छुक सभी साहित्यकार बिना किसी राजनीतिक पक्षपात के संमिलित थे। सन् १६५० ई० के बाद इसका रूप उत्तरोत्तर संकीर्ण होता गया और अंत मे यह 'वाद' विशुद्ध रूप से कम्युनिस्ट पार्टी का साहित्यिक मंच बनकर रह गया।

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियो की प्रेरणा से १६१८ ई० से लेकर १६३६-४० ई० तक हिंदी साहित्य के विविध रूपो और विधाओ का बहुत तीव्र गति से विकास हुआ। काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबंध सभी मे इस काल में प्रौढ़ता और दृढता आई और बहुत व्यापक पैमाने पर साहित्य की रचना होने लगी। आलोचना का विकास साहित्यरचना के उपरांत ही होता है अतः यह काल आलोचना के पूर्ण विकास का काल है। उपर्युक्त साहित्यिक अंतर्धाराओ के अनुसार आलोचना के क्षेत्र में भी अनेक सिद्धात प्रचलित हुए जो अधिकतर पाश्चात्य सिद्धांतो पर ही

आधारित थे किंतु संस्कृत साहित्यशास्त्र का प्रभाव भी किसी न किसी रूप में वर्तमान था।

(ग) तत्कालीन आलोचना पर हिंदीतर आलोचना का प्रभाव—

द्विवेदीयुगीन आलोचना के पर्यवेक्षण में बतलाया जा चुका है कि उस काल में हिंदी आलोचना पर बाह्य प्रभाव पड़ना आरंभ हो गया था, फिर भी वह मुख्यतः परंपराविहित ही थी। आलोच्य काल में उसपर पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि उसका स्वरूप बिलकुल परिवर्तित हो गया। यह पाश्चात्य प्रभाव बाह्यारोपित और मात्र अनुकरणात्मक नहीं था। हिंदी में रचनात्मक साहित्य में भी पाश्चात्य प्रभावो तथा परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियो के दबाव के कारण इतने प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ी कि उनका आकलन करने के प्रयत्न में हिंदी आलोचना अपने आप पूर्ववर्ती मार्गों को छोड़कर नए मार्गों पर चल पड़ी। इस काल की आलोचना के प्रकाशस्तंभ आचार्य रामचंद्र शुक्ल थे जो विचारो की दृष्टि से परंपरावादी नही, समन्वयवादी थे। समन्वय का अर्थ ही है विरोधी, विपरीत या भिन्नजातीय तत्वो का इस प्रकार सामंजस्य कि नवनिर्मित तत्व मूल आवयविक तत्वो से बिलकुल भिन्न और नवीन हो जायें। अतः शुक्ल जी तथा अन्य समन्वयवादी आलोचको की समालोचना की समन्वयात्मक उपलब्धियो के भीतर भी, अन्वेषण करने पर, प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र तथा पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र की विभिन्न प्रवृत्तियाँ, मूल आवयविक तत्व के रूप मे देखी जा सकती हैं। इस काल में कुछ आलोचक ऐसे भी थे जिन्होने पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए स्थूल समन्वय या समिश्रण का मार्ग निकाला। उच्च कक्षाओ में अध्ययन के लिये लिखी गई आलोचना पुस्तको में इसी 'जोड़बटोर' वाली शैली का प्राधान्य था। प्राचीन परंपरा के कुछ आलोचको ने भारतीय शास्त्रीय आलोचना के परंपराविहित मार्ग को ज्यों का त्यों अपनाए रखा। अलंकार ग्रंथों, टीकाओ तथा कवियो की समीक्षाओं में यही रूढ़िवादी शास्त्रीय पद्धति दिखलाई पड़ती है। पर इसे प्रभाव नही, अनुकरण या रूढ़िपालन मात्र समझना चाहिए। इसी तरह कुछ आलोचकों ने भारतीय परिस्थितियो तथा हिंदी साहित्य की रचनात्मक उपलब्धियो के मेल में रखे बिना ही पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांतों को ज्यो का त्यो उद्धृत कर दिया। ऐसी आलोचना भी निश्चय ही अनुकरणात्मक है। आधुनिक भारतीय भाषाओ में से कुछ में उस समय तक रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य का हिंदी की तुलना मे अधिक विकास हो चुका था, अतः उनकी आलोचना पद्धतियों तथा सिद्धातो का भी थोड़ा बहुत प्रभाव हिंदी आलोचना पर अवश्य पड़ा है। इन सब प्रभावों का संक्षिप्त आकलन कर लेना यहाँ आवश्यक है।

पूर्वपीठिका में संस्कृत साहित्यशास्त्र के विभिन्न मतवादों का विवेचन किया जा चुका है और बताया जा चुका है कि हिंदी साहित्य को प्रारंभ से लेकर अबतक किस प्रकार इन मतवादो ने प्रभावित किया है और अब भी कर रहे हैं। जिस प्रकार हिंदी साहित्य का मूल प्राचीन भारतीय साहित्य, विशेषकर संस्कृत साहित्य में निहित है, उसी प्रकार हिंदी आलोचना का मूलस्रोत भी संस्कृत साहित्यशास्त्र ही है। आलोच्य युग के प्रारंभ में द्विवेदीयुगीन समालोचक पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, श्यामसुंदरदास आदि ने जो आलोचना लिखी वह मुख्यतः संस्कृत साहित्यशास्त्र पर ही आधारित थी। जैसा द्विवेदी युग की आलोचना के संबंध में कहा जा चुका है, पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक समीक्षा रस, अलंकार, नायकनायिका भेद, ध्वनि और वक्रोक्ति के प्राचीन मार्गों पर ही चलनेवाली थी। इस प्रकार की समीक्षा का एक अन्य रूप परंपराविहित शास्त्रीय समीक्षा है जो लाला भगवानदीन तथा उनके शिष्यो द्वारा अपनाई गई थी। लाला जी अलंकारवादी थे। इसी कारण केशव की कविप्रिया और रामचंद्रिका की टीकाओ मे उनकी रुचि अधिक रमी है। उच्च कक्षाओ के लिये पाठ्य ग्रंथ तैयार करने के उद्देश्य से इस काल मे श्यामसुंदरदास, लाला भगवानदीन, गुलाबराय, रामदहिन मिश्र तथा विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे कतिपय शास्त्रीय परंपरा के विद्वानो ने नाट्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र तथा ध्वनिशास्त्र संबंधी ग्रंथ लिखे जिनमे प्राचीन शास्त्रीय सिद्धातो और लक्षणो की विवेकपूर्ण व्याख्या की गई थी। उच्च कक्षाओ में अध्ययन के लिये ही लिखी गई कुछ पुस्तको मे भारतीय साहित्यशास्त्र के सिद्धातो का निरूपण पाश्चात्य आलोचनात्मक सिद्धातो के साथ साथ तुलनात्मक रूप मे किया गया है। श्यामसुंदरदास के साहित्यालोचन को इस आलोचना परंपरा का आदिग्रंथ कहा जा सकता है। बाद मे व्यावहारिक आलोचना में भी इस पद्धति का प्रयोग बहुत हुआ।

किंतु यह सब संस्कृत साहित्यशास्त्र का स्थूल स्वीकरण या अनुकरण मात्र था, प्रभाव नहीं। प्रभाव सूक्ष्म होता है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार का हो सकता है। इस दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि आलोच्य युग की हिंदी आलोचना संस्कृत साहित्यशास्त्र से पूर्णतः प्रभावित और अनुप्रेरित है। शुक्ल जी जैसे समन्वयवादी आलोचक तो रस सिद्धात के नव्य व्याख्याता और प्रबल उद्घोषक हैं ही, पाश्चात्य आलोचना से प्रेरणा ग्रहण करने वाले परवर्ती कई मूर्धन्य आलोचक भी रस, ध्वनि और वक्रोक्ति के सिद्धातो के इतने अधिक पक्षपाती हैं कि उन्हें भी शुक्ल जी की आलोचना परंपरा मे ही रखना आवश्यक हो जाता है। नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों मे 'एक प्रकार से यह शुक्ल जी के समीक्षा कार्य को ही आगे बढ़ाने का उपक्रम था। कतिपय अनुशीलनकर्ताओ ने इस नवीन समीक्षाधारा को

स्वच्छंदतावादी, सौष्ठववादी या सांस्कृतिक समीक्षाधारा भी कहा है।...'इन अध्येताओं को भारतीय साहित्यिक परंपरा का भी यथेष्ट परिचय है' वाजपेयी जी ने रामकुमार वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, सुधांशु तथा अपनी भी गणना इसी श्रेणी में की है[1]। विशुद्ध आलोचकों के अतिरिक्त कवि आलोचकों में से भी कुछ ने भारतीय आलोचनासिद्धांतों को प्रमुखता दी है। ऐसे कवियों में जयशंकर प्रसाद प्रमुख हैं जिन्होंने 'काव्य कला तथा अन्य निबंध' नामक ग्रंथ में रस, ध्वनि और वक्रोक्ति के शास्त्रीय सिद्धांतों को छायावादी काव्य का प्रमुख मानदंड माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य-युग में हिंदी आलोचना पर प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा का प्रभाव बहुत ही गहरा और व्यापक था। यह प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में पड़ा है। प्रत्यक्ष प्रभाव का प्रमाण तो स्कूल, कालेजों में पढ़ाई जानेवाली वह आलोचना है जो रस, अलंकार, गुण, रीति, शब्द-शक्तियों आदि के सैद्धांतिक और व्यावहारिक अध्ययन, अध्यापन के रूप में आज तक प्रचलित है। प्रत्यक्ष प्रभाव का दूसरा प्रमाण शुक्लजी तथा परवर्ती प्रमुख आलोचकों—नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि के वे निबंध हैं जिनमें वे नवीन साहित्यिक मतवादों की आलोचना करते समय सदैव भारतीयता और भारतीय परंपरा की दुहाई देते दिखाई पड़ते हैं। अप्रत्यक्ष प्रभाव तत्कालीन हिंदी आलोचना के समन्वयात्मक स्वरूप तथा पूर्ववर्ती रूढ़िवादी और पक्षपातपूर्ण आलोचना की तुलना में अधिक उदार तथा व्यापक दृष्टि में दिखाई पड़ता है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में से बँगला और मराठी में आधुनिक साहित्य का प्रारंभ हिंदी से पहले ही हो गया था और इसी कारण बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में बँगला और मराठी साहित्य का अनुवाद बहुत अधिक होता रहा। बँगला से यों तो बंकिमचंद्र, द्विजेंद्रलाल राय, माइकेल मधुसूदन दत्त आदि के ग्रंथों का हिंदी अनुवाद पहले ही हो गया था, पर इस युग में रवींद्रनाथ और शरत्चंद्र की कृतियों के हिंदी अनुवाद से हिंदी काव्य और कथासाहित्य में जो नवीन चेतना उत्पन्न हुई उसने हिंदी के रचनात्मक साहित्य को काफी दूर तक प्रभावित किया। बँगला में आलोचनात्मक साहित्य अधिक समृद्ध नहीं था, अतः उसके रचनात्मक साहित्य द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी आलोचना कुछ न कुछ अवश्य प्रभावित हुई। हिंदी के जो आलोचक बँगला साहित्य और साहित्यकारों के अधिक संपर्क में रहनेवाले थे उनकी आलोचना पर बँगला

१ नंददुलारे वाजपेयी—नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० २७—प्रथम संस्करण।

आलोचना, विशेषकर रवींद्रनाथ की आलोचनात्मक कृतियों का, प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाई पड़ता है। छायावाद युग में अनेक हिंदी कवियों ने रवींद्रनाथ ठाकुर की काव्यशैली से ही नहीं, उनकी आलोचनाशैली से भी बहुत अधिक प्रभाव ग्रहण किया है। रवींद्रनाथ की आलोचना में कथ्य चाहे जो हो, शैली प्रायः काव्यात्मक और भावावेगपूर्ण है। इस शैली का प्रभाव हिंदी में पंत, निराला, रामकुमार वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी और महादेवी वर्मा की आलोचनात्मक कृतियों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यह नवीन काव्यात्मक आलोचनाशैली हिंदी में इसके पूर्व नहीं थी। अँगरेजी में भी आलोचना के क्षेत्र में काव्यात्मकता बहुत कम दिखलाई पड़ती है, अतः हिंदी में काव्यात्मक आलोचना शैली का प्रादुर्भाव निश्चित रूप से रवींद्रनाथ की काव्यात्मक आलोचना के प्रभाव के कारण ही मानना चाहिए। रवींद्रनाथ की गीतांजलि के समान उनके आलोचनात्मक निबंधों का भी अनुवाद और प्रचार इस युग में अधिक हुआ। अतः उनकी कविता की तरह उनकी काव्यात्मक आलोचना शैली का भी हिंदी में ग्रहण किया जाना स्वाभाविक ही था। रवींद्र नाथ की आलोचना की शैली ही नहीं, भावभूमि और विचारधारा का प्रभाव भी पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, निराला और हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचनात्मक कृतियों में दिखलाई पड़ता है। विचारों की दृष्टि से रवींद्रनाथ मानवतावाद, आध्यात्मिक आदर्शवाद और सौंदर्यवाद के पोषक थे। उनके आध्यात्मिक आदर्शवादी विचारों को हिंदी में छायावाद और रहस्यवाद के समर्थक आलोचकों ने प्रभूत मात्रा में स्वीकार किया है। उनके सौंदर्यवादी विचार तो छायावाद के समर्थक प्रायः सभी आलोचकों द्वारा अपनाए गए हैं। किंतु रवींद्रनाथ की आलोचना का, विशेषरूप से उनकी मानवतावादी विचारधारा का, सर्वाधिक प्रभाव हजारीप्रसाद द्विवेदी पर पड़ा है। उनके साहित्यिक निबंधों और व्याख्यानों में यह प्रभाव साफ दिखलाई पड़ता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने केवल रवींद्रनाथ का ही नहीं, बँगला के कई आलोचकों और विद्वानों से अनेक रूपों में प्रभाव ग्रहण किया है। शांतिनिकेतन में काफी दिनों तक रहने के कारण उनकी विचार धारा पर रवींद्रनाथ के अतिरिक्त क्षितिमोहन सेन, विधुशेखर शास्त्री आदि विद्वानों के विचारों और शोधपूर्ण निष्कर्षों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि उनकी आलोचनापद्धति हिंदी के लिये एक नवीन वस्तु बन गई है। हिंदी में इनके पूर्व सांस्कृतिक अथवा मानवतावादी आलोचना की परंपरा वर्तमान नहीं थी। बँगला के प्रभाव के कारण ही हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा इसका सूत्रपात हुआ।

सन् १९१८ से १९४० ई० तक के हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और अंतर्धाराओं के विवेचन में बताया जा चुका है कि पाश्चात्य साहित्य के

संपर्क के कारण इस काल में अनेक नई साहित्यिक प्रवृत्तियों का उदय हुआ। रचनात्मक साहित्य में इन प्रवृत्तियों के ग्रहण किए जाने पर आलोचना में भी उनको स्वभावतः ग्रहण कर लिया गया। छायावादी कविता में स्वच्छंदता और रहस्यात्मकता की भावना अँगरेजी की रोमांटिक कविता से किसी न किसी रूप में प्रभावित थी। उसी तरह छायावाद की शैली और काव्यरूपों पर भी अँगरेजी रोमांटिक कविता का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभाव था। अतः छायावादी कविता के आलोचकों के लिये अँगरेजी के रोमांटिक आलोचकों के मतों का अध्ययन करना तथा उनका समर्थन या विरोध करना आवश्यक हो गया। छायावाद का प्रारंभ होने पर प्राचीन परंपरा के आलोचकों का एक बहुत बड़ा दल उसके विरोध में खड़ा हुआ जो छायावाद को निरा बकवास और पाश्चात्य काव्य का अंधानुकरण मानता था किंतु रामचंद्र शुक्ल तथा उन्हीं जैसे दो एक और आलोचकों ने छायावाद को कुछ सहानुभूति दी। उन्होंने अँगरेजी की रोमांटिक आलोचना का अध्ययन करके उसकी अनेक बातों को स्वीकृत भी किया। रोमांटिक आलोचक कालरिज, चार्ल्स लैंब, हेजलिट् आदि ने रूसो के प्रकृतिवादी दर्शन से प्रेरणा ग्रहणकर यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि प्रकृति के साथ मनुष्य का आध्यात्मिक संबंध है, सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के कारण मनुष्य ने अपनी मनुष्यता बहुत कुछ खो दी है। अतः मनुष्य को पूर्ण मनुष्य बनने के लिये प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहिए। रोमांटिक आलोचकों के इस प्राकृतिक जीवन-दर्शन को रामचंद्र शुक्ल ने अपनी आलोचना में पूर्णतः आत्मसात् कर लिया है। रोमांटिक आलोचकों की भाँति उन्होंने भी प्रकृति के सुंदर असुंदर, लघु और विराट्, सभी रूपों से रागात्मक संबंध स्थापित करने की सलाह कवियों को दी है। केवल सुंदर रूपों के प्रति आकर्षण को वे विकृत रुचि मानते थे। किंतु शुक्ल जी ने अँगरेजी की रोमांटिक आलोचनापद्धति की सभी बातों को स्वीकृत नहीं किया। यह कार्य छायावादी कविता के समर्थक आलोचकों—नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि ने किया। रोमांटिक आलोचना के प्रभाव से ही इन आलोचकों ने काव्य में अलौकिक प्रेरणा तथा कल्पना की सहज उड़ान को आवश्यक माना है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को भावनाओं का सहज उच्छ्वास कहा था। हिंदी के स्वच्छंदतावादी आलोचक भी इसी सिद्धांत को मानते हैं। वे छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह मानते हैं। यह सिद्धांत वस्तुतः अँगरेजी की, क्लासिसिज्म के विरुद्ध रोमांटिक विद्रोह (रोमांटिक रेवल्ट), इस शब्दावली का रूपांतर मात्र है। इस प्रकार छायावाद का समर्थन करनेवाली स्वच्छंदतावादी आलोचना पर ही अँगरेजी की रोमांटिक आलोचना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, इस युग की आलोचना के प्रकाशस्तंभ

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं जिन्होने ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक आलोचना की नई पद्धति चलाई। उन्होने हिंदी साहित्य के इतिहास में प्राचीन कवियो की आलोचना तथा नए साहित्य के आकलन मे सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियो की विवेचना के साथ साथ आलोच्य साहित्य और साहित्यकार की प्रवृत्तियो और अंतर्वृत्तियो की बौद्धिक व्याख्या की है। आलोचना की यह पद्धति उन्होंने पाश्चात्य दार्शनिको और आलोचको के विचारो और आलोचना के प्रभाव से ही विकसित की। उनके इतिहास पर अँगरेजी साहित्य के इतिहास ग्रंथो, विशेषकर ऐमली लैगोइस और लुई कजामियाँ के इतिहास तथा कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिट्रेचर के कालविभाजन और उपस्थापन पद्धति का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। प्रत्येक काल की साहित्यिक धाराओ का विभाजन करके साहित्यकारो को उनके भीतर रखकर विवेचना करने की पद्धति भी उन्होने वही से ली। शुक्लजी की विचारधारा पर रोमाटिक आलोचको के प्रभाव की बात पहले बतलाई जा चुकी है किंतु उससे भी बड़ा प्रभाव उनपर मैथ्यू आर्नाल्ड के बुद्धिवादी आलोचना सिद्धातां तथा आइ० ए० रिचार्डस् की मनोवैज्ञानिक आलोचनापद्धति का पड़ा है। मैथ्यू आर्नाल्ड साहित्य में बुद्धिप्रतिपादित सौदर्य की सत्ता स्वीकार करता है। उसने साहित्य को जीवन की आलोचना मानकर उसे बुद्धिप्रतिपादित सौदर्य के मानदंड से परखा है। उसी तरह शुक्लजी भी साहित्य को जीवन से अविच्छिन्न मानकर तथा सौदर्य को लौकिक और बुद्धिगम्य मानकर अपने सिद्धातो का प्रतिपादन तथा साहित्यिक कृतियो का मूल्याकन करते हैं। आई० ए० रिचार्ड्स की प्रसिद्ध आलोचना कृति 'साहित्यिक आलोचना के सिद्धात' (प्रिंसिपल ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म) का प्रभाव तो उनपर और भी स्पष्ट है। आई० ए० रिचार्ड्स ने मनोवैज्ञानिक उपलब्धियो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कला और साहित्य की रचना और प्रेषणीयता का आधार मानसिक वृत्तियाँ और जीवनानुभूतियाँ हैं, इसलिये साहित्य का मूल्य जीवन के मूल्यो से भिन्न नहीं होता और न साहित्यिक अनुभूतियाँ ही वास्तविक जीवनानुभूतियो से विशिष्ट होती हैं। इसी तरह शुक्लजी भी काव्य के अंतिम लक्ष्य आनंद को लौकिक आनंद से भिन्न कोटि की वस्तु नहीं मानते और न कलात्मक सौदर्य को आध्यात्मिक प्रेरणा या किसी अलौकिक शक्ति की देन समझते हैं। उन्होने रस और उसके अवयवो की विवेचना मे भी रिचार्ड्स की मनोवैज्ञानिक पद्धति का पूरा उपयोग किया है।

छायावादी कविता के समर्थक आलोचक जो शुक्लजी के बौद्धिक मर्यादावाद के विरोधी थे, साहित्य का किसी धार्मिक, नैतिक या आध्यात्मिक मानदंड से परीक्षण करना अनुचित समझते थे। उनके अनुसार साहित्य का मूल धर्म

सौंदर्य है जिसको अपनी स्थिति के लिये किसी साहित्येतर लक्ष्य की आवश्यकता नहीं है। साहित्य का सौंदर्य ही साहित्य का लक्ष्य है। स्पष्ट ही यह विचारधारा छायावादी कविता की अतिशय कल्पनाशील और सौंदर्यवादी चेतना की देन थी, किंतु उसको यूरोप में प्रचलित क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा स्पिंगार्न और ब्रेडले के कलावादी सिद्धांत से भी पर्याप्त प्रेरणा मिली थी। हिंदी में इसी नवोदित विचारधारावाली आलोचना को ध्यान में रखकर ही रामचंद्र शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद और सौंदर्यवाद का इतना अधिक विरोध किया था। हिंदी की सौंदर्यवादी आलोचना क्रोचे के अभिव्यंजनावाद या 'कला कला के लिये' के सिद्धांत को ज्यो का त्यो नहीं स्वीकार करती और न तो छायावादी कविता मे ही अभिव्यंजनावाद को किसी आंदोलन या वादविशेष के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। फिर भी रामचंद्र शुक्ल ने मानो आतंकित होकर अभिव्यंजनावाद और कलावाद के विरोध मे बहुत अधिक लिखा है। शुक्लजी की यह दूरदर्शी दृष्टि ही थी जो बाद में आनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियो को पहले ही से देख लेती थी। तभी तो उन्होने प्रतीकवाद, बिंबवाद, अभिव्यंजनावाद आदि अनेक ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियो का विवेचन और विरोध किया है जिनका उदय प्रायः छायावाद युग की समाप्ति के बाद हुआ। छायावादी कविता मे उनका कहीं पता नहीं था। यूरोपीय साहित्य मे उस समय ये प्रवृत्तियाँ अवश्य प्रचलित थीं। संभवतः उन्ही को देखकर और छायावादी कविता मे उनका अनुमानकर शुक्लजी को उनके विरुद्ध कलम उठानी पड़ी थी। शुक्लजी के बाद तो काव्य में अभिव्यंजनावाद हिंदी आलोचना का एक विवादग्रस्त विषय बन गया और उसके विरोध या समर्थन मे पर्याप्त आलोचनाएँ लिखी गईं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि क्रोचे का सौंदर्य सिद्धांत, जिसे अभिव्यंजनावाद कहा जाता है, साहित्यिक आलोचना का नहीं बल्कि साहित्य और कला की रचनाप्रक्रिया का सिद्धांत है जो वस्तुतः दर्शन और सौंदर्यशास्त्र का विषय है। यूरोप में क्रोचे को साहित्यिक आलोचक के रूप में कोई नहीं स्वीकार करता। दर्शन के क्षेत्र मे अवश्य उसका बहुत ऊँचा स्थान है। क्रोचे कला के निर्माण का मूल कारण या 'हेतु' प्रातिभज्ञान (इंटयुटिव नालेज) को मानता है। उसके अनुसार बाह्यगोचर जगत् की सभी वस्तुएँ द्रव्य की तरह हैं जो आत्मा के विभिन्न सौंदर्य साँचों (फार्म्स) में ढलकर प्रातिभज्ञान द्वारा मूर्तरूप में साहित्य या कला का रूप धारणकर व्यक्त होती हैं। इस प्रकार कला मे आत्मिक साँचा ही सब कुछ है, उसमे ढलनेवाला द्रव्य या बाहरी वस्तु कुछ भी नहीं। उस साँचे में ढलने की क्रिया का नाम ही कल्पना है। प्रातिभज्ञान या कल्पना द्वारा ही अलग-अलग वस्तुओ के रूप ढलते हैं। ये आत्मा के भीतर ढले हुए रूप ही अभिव्यंजना हैं। इस प्रकार अभिव्यंजना बाह्य नहीं आंतरिक वस्तु है। वह प्रातिभज्ञान से अभिन्न है। इस तरह क्रोचे कविता या कला को प्रातिभज्ञान की मानसिक

अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही मानता। जब तक यह अभिव्यक्ति कलाकार की आत्मा के भीतर रहती है तभी तक वह कला है। काव्य, चित्र, मूर्ति आदि के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति हो जाने पर कला कला नहीं रह जाती, वह केवल अनुकरण होती है। क्रोचे के उपर्युक्त सिद्धात का छायावादी कविता पर कोई प्रभाव नही है। हॉ, छायावादी कविता के सौदर्यविवेचन में अवश्य इस सिद्धात से सहायता मिल सकती है। इसी कारण लक्ष्मीनारायण सुधाशु, नगेंद्र, नंददुलारे वाजपेयी आदि शुक्लोत्तर आलोचको ने छायावादी काव्य की विवेचना के प्रसंग में कुंतक के वक्रोक्तिवाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन किया है।

क्रोचे के इस सौंदर्यशास्त्रीय अभिव्यंजनावाद का प्रभाव कुछ यूरोपीय सौंदर्यवादी आलोचको पर भी अवश्य पडा था। ये 'कला कला के लिये' के सिद्धात माननेवाले प्रभाववादी आलोचक थे। इंगलैड के हट्शिनलर, वाल्टर प्रेटर, स्पिगार्न क्लाइव बेल, ब्रैडले और आस्कर वाइल्ड इस कलावादी या प्रभाववादी आलोचना के प्रमुख व्याख्याता थे। इनके अनुसार कला का लक्ष्य स्वयं कला ही है। ये साहित्य और कला को धर्म, नैतिकता, राजनीति आदि किसी भी बाह्य मानदंड से परखना अनुचित समझते हैं। यदि साहित्य का लक्ष्य साहित्य ही है तो उसका नैतिक, आध्यात्मिक या सामाजिक जीवन के मूल्यो से क्या संबंध है? अतः स्पिगार्न के अनुसार साहित्य नैतिक या अनैतिक नही होता। आस्कर वाइल्ड भी यही कहता है कि कोई भी साहित्यिक ग्रंथ नैतिक या अनैतिक नहीं, केवल सुंदर या असुंदर होता है। ब्रैडले के अनुसार काव्य न तो जीवन है और न जीवन का अनुकरण वह स्वयं में पूर्ण एक स्वतंत्र सत्ता है। अतः काव्य का आतरिक सौदर्यात्मक मूल्य ही उसका वास्तविक मूल्य है। उसमें संस्कृति, धर्म और नैतिकता से संबंधित अन्य बाहरी उपयोगितावादी मूल्य भी हो सकते हैं, किंतु उनके कारण काव्य के निजी आतरिक मूल्य मे कोई अतर नहीं पडता। काव्यगत मूल्यो के अतिरिक्त काव्य के शिल्प और रूप के संबंध में भी इन आलोचको के सिद्धात क्रोचे के सिद्धात के अनुरूप ही हैं। क्रोचे का अनुसरण करते हुए स्पिगार्न ने कहा है कि सच्चा कवि काव्य संबंधी कोई नियम मानकर नहीं चल सकता। प्रत्येक कविता या कलात्मक रचना अपने ही विशिष्ट नियम से अनुशासित होती है। अतः किसी बाहरी सिद्धात अथवा नियम के आधार पर उसकी परीक्षा नही होनी चाहिए। साहित्य में क्लासिकल, रोमांटिक, गीत काव्य और प्रबंध काव्य, उपन्यास और नाटक आदि भेद और उनके अलग नियम नही हो सकते। साहित्यकार कविता, कहानी आदि नहीं लिखता। वह तो केवल अपने को अभिव्यक्त करता है। अतः साहित्य के उतने ही भेद हो सकते हैं जितने साहित्यकार हैं। इसी तरह काव्य

की अभिव्यंजना में भी शैली अलंकार, गुण आदि भेदो का भी कोई स्थान नहीं है क्योंकि काव्य मात्र अभिव्यंजना है, वह अपने में ही पूर्ण है। अतः सफल अभिव्यक्ति ही काव्य का सौंदर्य है। इस सिद्धात का प्रभाव भी हिंदी आलोचना पर बहुत अधिक नहीं पड़ा। हिंदी का शायद कोई भी आलोचक 'कला कला के लिये' के सिद्धात का पूर्णतः समर्थन नही करता। रामचंद्र शुक्ल ने तो लोकहित को काव्य का साध्य मानने के कारण सर्वत्र इस सिद्धात का खंडन ही किया है। पर शुक्ल युग के छायावाद के समर्थक आलोचको को इस सिद्धांत ने, आशिक रूप मे ही सही, अवश्य प्रभावित किया है। ये स्वच्छंदतावादी या सौदर्यवादी आलोचक के 'कला कला के लिये' के सिद्धात का इतना अंश तो स्वीकार करते हैं कि साहित्य पर नैतिकता, धर्म आदि किसी बाह्य मूल्य का नियंत्रण नहीं होना चाहिए पर साहित्य का लक्ष्य स्वयं साहित्य को नहीं मानते। इनके अनुसार साहित्य का लक्ष्य सौंदर्यजन्य आनंद है। इस आनद को उन्होने भारतीय साहित्यशास्त्र के रससिद्धात द्वारा अनुमोदित काव्यानंद के मेल मे रखकर देखा है। इसी कारण प्रसाद, नददुलारे वाजपेयी, शातिप्रिय द्विवेदी, नगेंद्र तथा रवींद्रनाथ से प्रभावित कुछ अन्य आलोचको ने अपनी समीक्षाओ मे कलावाद और रसवाद का समन्वय करने का प्रयास किया है।

देश की परिस्थितियो के दबाव तथा गाँधी जी के नैतिक और आदर्शवादी सिद्धातो के प्रभाव के कारण द्विवेदी युग मे ही सोद्देश्य और उपयोगितावादी साहित्य की रचना पर बल दिया जाने लगा था। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य के उपयोगितावादी लक्ष्य के सिद्धात के समर्थक थे। गाँधीजी भी साहित्य को नैतिक और आध्यात्मिक उद्देश्य की सिद्धि का साधन मानते थे। अतः गांधी जी के प्रभाव में आनेवाले छायावादयुगीन सहित्यिको पर भी साहित्य के इस उपयोगितावादी सिद्धात का प्रभाव पड़ा था। इसी दृष्टि से 'साहित्य किसके लिये' तथा कस्मै देवाय हविषा विधेम' शीर्षक लेख लिखे गए और वादविवाद खड़ा किया गया। रामचद्र शुक्ल स्वयं साहित्य के उपयोगितावादी सिद्धात से अंशतः प्रभावित थे। वे साहित्य का लक्ष्य लोकहित साधन और लोकचित्त का परिष्कार मानते थे। प्रेमचंद ने 'कुछ विचार' शीर्षक अपने आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह मे इस सिद्धात का जोरदार समर्थन किया है। वस्तुत. यह सिद्धात यूरोपीय दार्शनिको और विचारको की देन है। प्लेटो से लेकर रस्किन और टालस्टाय तक यूरोपीय विचारक विभिन्न रूपो मे इस सिद्धात का व्याख्यान करते आए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में हेनरी मिल, आस्टिन आदि व्यक्तिवादी दार्शनिको ने राजशास्त्र और अर्थशास्त्र के प्रसंग में इस सिद्धात का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार सभी प्रकार के मानवीय प्रयत्नो का उद्देश्य 'अधिकतम व्यक्तियो का

अधिकतम हित' होना चाहिए। साहित्य मे भी टाल्सटाय, रस्किन आदि ने इसे एक आलोचनात्मक सिद्धात का रूप दे दिया। टाल्सटाय साहित्य का मूल लक्षण प्रेषणीयता तथा उसके माध्यम से मानव मात्र मे एकता और भ्रातृत्व की भावना स्थापित करना ही उसका प्रधान लक्ष्य मानता है। रस्किन ने भी टाल्सटाय के समान लोकादर्श की स्थापना को ही साहित्य का लक्ष्य माना है। इन्ही विचारको का प्रभाव गॉधी जी के जीवन पर पड़ा था। गॉधीजी की विचारधारा तथा टाल्सटाय के उपन्यासो एवं आलोचनात्मक विचारो से प्रभावित होकर ही हिंदी आलोचना में साहित्य का उपयोगितावादी सिद्धात प्रचलित हुआ था।

यद्यपि उपयोगितावाद का सिद्धांत व्यक्तिवादी दार्शनिको द्वारा प्रारंभ किया गया था किंतु आगे चलकर मार्क्स और एँजिल्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के प्रभाव के कारण वह सामाजिक अथवा समाजवादी उपयोगिता के सिद्धात के रूप मे परिवर्तित हो गया। जैसा पहले कहा जा चुका है, रूस मे समाजवादी क्राति के बाद समाजवादी आलोचकों ने साहित्य का उद्देश्य आधुनिक युग में पूँजीवाद की समाप्ति, समाजवादी क्राति और श्रमिक वर्ग के अधिनायक तंत्र की स्थापना मे योग देना माना। इस तरह वे साहित्य का सोद्देश्य होना तथा वर्गसंघर्ष में शोषित वर्ग के अस्त्र के रूप मे प्रयुक्त होने के योग्य होना आवश्यक मानते हैं। ऐसा साहित्य ही प्रगतिशील साहित्य होता है। जिस साहित्य में ये बाते नही होती वह या तो पूँजीवाद से प्रभावित व्यक्तिवादी या ह्रासशील होता है अथवा सामाजिक प्रगति का विरोधी और प्रतिक्रियावादी। इस प्रगतिवादी आलोचना का आधार मार्क्स और एँजिल्स के दार्शनिक सिद्धात तथा लेनिन द्वारा की गई उनकी व्याख्याएँ हैं। यूरोप में १९३० ई० के आसपास इस विचारधारा ने काफी जोर पकडा और संसार के बहुत से प्रसिद्ध लेखक इस मत के अनुयायी हो गए। इंग्लैंड मे अनेक नवयुवक कवियो और लेखकों ने, जिनमे से स्पेंडर, लुई मैकनीस, काडवेल आदि प्रमुख थे, प्रगतिवाद का आंदोलन ही प्रारंभ कर दिया। इनमें से काडवेलने, जो स्पेन के गृहयुद्ध मे सोशलिस्ट ब्रिगेड की ओर से लड़ता हुआ मारा गया था, 'इल्यूजन एंड रियालिटी' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें इस सिद्धात का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन किया गया है। काडवेल ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार ही साहित्य को राजनीति, धर्म, संस्कृति आदि की तरह एक ऊपरी सस्थान माना है जिसकी आधार शिला अर्थ है। मानव जाति के इतिहास के विभिन्न युगो मे आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप ही धर्म, संस्कृति, साहित्य आदि का रूप गठन हुआ। आदिम युग मे जब कि मानव समाज मे प्रारंभिक समाजवादी व्यवस्था थी और श्रमविभाजन नहीं हुआ था, मनुष्य की भावनाएँ सामूहिक रूप में व्यक्त होती थी। श्रमविभाजन, वैयक्तिक संपत्ति और व्यक्तिवाद का विकास होने पर सामूहिक भावनाओ

की जगह वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होने लगी। तभी से साहित्य और कला का उपयोग शासक और शोषक वर्ग द्वारा अपने हित के लिये किया जाने लगा। औद्योगिक क्रांति और पूँजीवाद के प्रारंभ के साथ साहित्य में जो रोमांटिक आंदोलन प्रारंभ हुआ वह सामंतवाद के विरुद्ध मध्यवर्गीय विद्रोह की भावना की ही अभिव्यक्ति था। इस तरह प्रत्येक युग में साहित्य वर्गसंघर्ष में किसी न किसी पक्ष का समर्थन करता है अर्थात् साहित्य पक्षधर होता है। इस विवेचना द्वारा काडवेल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान समय में साहित्य को व्यक्तिवादी भावनाओं का पोषण नहीं करना चाहिए बल्कि उसे समाज को बदलने, शोषक वर्ग का नाश करने और क्रांतिकारी श्रमिक वर्ग का अधिनायक तंत्र स्थापित करने में अधिक से अधिक योग देना चाहिए। इस प्रकार काडवेल ने समाजशास्त्रीय अथवा मार्क्सवादी आलोचना का प्रारंभ किया। इस आलोचना सिद्धांत का प्रभाव हिंदी साहित्य पर १९३५ ई० के बाद बड़ी तेजी से पड़ा। इस देश की सभी भाषाओं में १९३५ ई० के बाद प्रगतिशील लेखक संघों की स्थापना की गई और बड़ी धूमधाम से इस सिद्धांत के अनुसार साहित्यरचना और उससे भी अधिक आलोचना होने लगी। हमारे आलोच्य युग में यह मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचनापद्धति अभी अपनी शैशवावस्था में थी, केवल शिवदान सिंह चौहान और सुमित्रानंदन पंत ने १९४०-४१ ई० तक कुछ लेख लिखे थे। अतएव आगे यथास्थान इस संबंध में विशेष रूप से विचार किया जायगा।

मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धांतों से प्रभावित कथा साहित्य और काव्य की रचना तो छायावाद युग का अंत होते होते प्रारंभ हो गई थी, पर इस मतवाद से प्रभावित आलोचना का उस समय तक एक भिन्न समीक्षापद्धति के रूप में प्रारंभ नहीं हुआ था। इस सिद्धांत की उपपत्तियों का परिचय तत्कालीन साहित्य की अंतर्धाराओं के प्रसंग में दिया जा चुका है। हिंदी आलोचना पर मनोविश्लेषण शास्त्र का प्रभाव १९४० ई० के बाद पड़ना प्रारंभ हुआ जब कि हिंदी में प्रयोगवादी कविता एक आंदोलन के रूप में शुरू हुई और अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और नलिनविलोचन शर्मा ने इस दिशा में पथप्रदर्शन का काम किया। इनके पूर्व नरोत्तमप्रसाद नागर ने कुछ उपन्यासों को लेकर इस पद्धति से कुछ लेख लिखे थे। यूरोपीय देशों में प्रयोगशील साहित्य और अतियथार्थवादी काव्य की विवेचना में इस आलोचनापद्धति का पर्याप्त उपयोग किया जा रहा था। अँगरेजी में टी० एस० इलियट, आडेन, डाइलन टामस आदि कवियों तथा जेम्स ज्वायस, फिलिप टायन्बी आदि के उपन्यासों के संबंध में जो आलोचनाएँ लिखी गई उनमें भी इस पद्धति का प्रयोग मिलता है।

———

तृतीय अध्याय

सैद्धांतिक आलोचना

आलोचना के दो पक्ष होते हैं, सैद्धातिक और व्यावहारिक। ये दोनो एक दूसरे के पूरक होते हैं। एक के बिना दूसरे पक्ष के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। यह दूसरी बात है कि कहीं पहला पक्ष दुर्बल और दूसरा सशक्त होता है, कही दूसरा दुर्बल और पहला सशक्त होता है और कही दोनों की शक्ति समान होती है। प्राचीन भारतीय समीक्षा में सिद्धात पक्ष ही अधिक व्यापक और सुदृढ़ था, व्यवहार पक्ष केवल लक्षणो के उदाहरण तक ही सीमित था। किसी कवि या उसके समस्त काव्यसाहित्य के संबंध मे स्वतंत्र रूप से गुण-दोष-विवेचन करने या उसकी विशेषताओ, मूल प्रवृत्तियो और प्रेरणाओ का अन्वेषण और उद्घाटन करने की पद्धति यहाँ नही प्रचलित थी। हिंदी मे व्यावहारिक समीक्षा का व्यापक प्रचार पाश्चात्य समीक्षा के प्रभाव से हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि परपरापर गत भारतीय साहित्यशास्त्र का सैद्धातिक पक्ष इतना सुदृढ़ होते हुए भी हिंदी मे आधुनिक आलोचना का प्रारंभ सैद्धातिक आलोचना से नही, व्यावहारिक आलोचना से हुआ। द्विवेदी युग तक जो व्यावहारिक समीक्षा लिखी जाती रही उसका सैद्धातिक आधार प्राचीन भारतीय या पाश्चात्य साहित्यशास्त्र था, हिंदी का कोई अपना आधुनिक साहित्यशास्त्र अभी तक नहीं निर्मित हो सका था। किंतु दोनो ही समीक्षा पद्धतियों से संबंधित कोई स्वतंत्र और व्याख्यात्मक सिद्धात ग्रंथ भी अभी तक नहीं निर्मित हो पाया था। संस्कृत साहित्यशास्त्र के ग्रंथो की छायानुकृति तो पहले ही से होती आ रही थी। इस युग मे अनुवाद तथा उनके आधार पर नए ग्रंथो के निर्माण का कार्य भी हुआ। इस तरह द्विवेदी युग मे आधुनिक ढंग की सैद्धातिक समीक्षा का विकास नही हो पाया था। आधुनिक सैद्धातिक समीक्षा का वास्तविक रूप द्विवेदी युग के बाद के युग में ही विकसित हुआ। इस नए युग को आलोचना की दृष्टि से शुक्ल युग कहा जाता है। शुक्ल युग की सैद्धांतिक आलोचना का परीक्षण यहा निम्नलिखित वर्गों मे रखकर किया जायगा—१. शास्त्रीय आलोचना, २ समन्वयात्मक आलोचना, ३. स्वच्छंदतावादी और अभिव्यंजनावादी आलोचना, ४. उपयोगितावादी आलोचना, ५. मनोविश्लेषणात्मक आलोचना और ६. समाजशास्त्रीय आलोचना।

(क) शास्त्रीय आलोचना

शास्त्रीय आलोचना से हमारा तात्पर्य उस सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा से है जिसका आधार पूर्णतः प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र है। भारतेंदु युग में यह पद्धति केवल रीति ग्रंथों की रचना के रूप में वर्तमान थी पर द्विवेदी युग में वह व्यावहारिक समीक्षा के अंतर्गत तुलनात्मक पद्धति लेकर उपस्थित हुई। शुक्ल युग (छायावाद युग) में भी शास्त्रीय समीक्षा की वह पद्धति चलती रही। इस काल में इस पद्धति के प्रमुख आचार्य लाला भगवान दीन, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, अर्जुनदास केडिया, और कन्हैयालाल पोद्दार थे। इन लोगों ने या तो संस्कृत साहित्यशास्त्र के ग्रंथों के आधार पर हिंदी गद्य में नए अलंकार ग्रंथ लिखे, या हिंदी के प्राचीन कवियों और आलंकारिकों के ग्रंथों की शास्त्रीय विवेचना करते हुए टीकाएँ लिखीं, अथवा शास्त्रीय आधार पर कवियों की व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखी जो तुलनात्मक और व्याख्यात्मक दोनों ही शैलियों में थीं। लाला भगवान दीन द्विवेदी युग के प्रख्यात शास्त्रीय आलोचकों में से थे और इस युग में भी वे टीकाओं और भूमिकाओं के अतिरिक्त तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखते रहे। केशवदास की कविप्रिया और रामचंद्रिका की टीकाएँ इसी युग में लिखी गईं। देव और बिहारी को लेकर खड़े विवाद में उन्होंने भी भाग लिया था और सन् १९२६ ई० में उनका बिहारी और देव ग्रंथ प्रकाशित हुआ था जिसमें उनकी तुलनात्मक शैली की समीक्षा का निखरा रूप दिखाई पड़ता है। भूमिकाओं में दीनजी ने व्याख्यात्मक पद्धति भी अपनाई है पर आलोचना का आधार शास्त्रीय ही है। हरिऔधजी का रसकलस (सन् १९३१ ई०) रस सिद्धांत का ग्रंथ है जिसमें प्रारंभ में एक काफी लंबी भूमिका देकर रस मत की विवेचना की गई है। मूल ग्रंथ में प्राचीन लक्षण-उदाहरणवाली पद्धति ही अपनाई गई है पर विशेषता यह है कि लक्षण गद्य में और उदाहरण ब्रजभाषा पद्य में और कवि के अपने रचे हैं। कुछ रसों तथा नायिकाओं के वर्गीकरण में हरिऔधजी ने युगानुरूप नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। अर्जुनदास केडिया का 'काव्य कल्पद्रुम' (सन् १९२३ ई०) परंपरागत भारतीय साहित्यशास्त्र का व्याख्यात्मक ग्रंथ है जिसमें वर्गीकरण की पद्धति और लक्षण आदि पुराने ही रखे गए हैं, यद्यपि लक्षण गद्य में और उदाहरण ब्रजभाषा पद्य में हैं। अर्जुनदास केडिया के 'भारतीभूषण' (सन् १९३० ई०) में केवल अलंकारों का वर्गीकरण और लक्षण उदाहरण उपस्थित किया गया है। इनके अतिरिक्त इस युग में रमाशंकर शुक्ल रसाल ने अलंकारपीयूष, बिहारीलाल भट्ट ने साहित्यसागर और शुकदेवबिहारी मिश्र तथा प्रतापनारायण मिश्र ने साहित्यपारिजात नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना की।

इनमें से रसाल जी का अलंकारपीयूष मुख्यतः लक्षण उदाहरण का ग्रंथ न होकर अलंकारशास्त्र का आलोचनात्मक ग्रंथ है जिसमे अलंकारशास्त्र का इतिहास, और अलंकारों का वर्गीकरण तथा उनके भेदोपभेदो की विवेचना की गई है इस दृष्टि से यह अलंकारशास्त्र के क्षेत्र मे सर्वथा नवीन प्रयास है। शास्त्रीयपद्धति की व्यावहारिक आलोचना भी इस युग मे लिखी जाती रही जिसका विवेचन बाद मे यथास्थान किया जायगा।

(ख) समन्वयात्मक आलोचना

परपरा का पूर्ण परित्याग किसी भी देश के लिये न तो श्रेयस्कर होता ह न आवश्यक। जातियो का विकास सास्कृतिक परंपराओ के पुनर्नवीकरण तथा नवीन परपराओ की स्थापना द्वारा ही होता है। जो जाति अपनी प्राचीन रूढियो से चिपकी अथवा प्राचीन जातीय गौरव के मोह मे फँसी रहती है वह अन्य जातियो के साथ विकास की प्रतियोगिता मे पिछडकर आत्महनन करती है। अतः यदि द्विवेदी युग के बाद की हिंदी आलोचना रूढिबद्ध शास्त्रीय पद्धति को छोड कर सास्कृतिक अतरावलंबन पर आधारित नवीन समन्वयात्मक पथो पर बढने लगी तो वह हिंदी साहित्य ही नहीं, भारतीय जाति के भी विकास और अभिवृद्धि की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था। विश्वविद्यालयो की उच्च कक्षाओ म हिंदी साहित्य के अध्यापन का प्रारंभ होने के साथ ही यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि हिंदी का पाठ्यक्रम भी प्राचीन भाषाओ तथा अँगरेजी साहित्य के पाठ्यक्रम के समान होना चाहिए। इसके लिये हिदी भाषा और साहित्य के इतिहास भाषाविज्ञान तथा भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के ग्रथो की आवश्यकता हुई इसके साथ ही हिदी का भाडार भरने को दृष्टि से भी विद्वानो ने इन विषयों से सबधित ग्रंथ लिखने की आवश्यकता समझी। विश्वविद्यालयो से हिंदी मे एम ए. की परीक्षा उत्तीर्णकर निकलनेवाले व्युत्पन्न और मेधावी नवयुवकों ने भी उत्साहपूर्वक आलोचनात्मक ग्रंथ लिखने की दिशा मे कदम बढाया। इस प्रकार प्रारभ मे जो आलोचनात्मक साहित्य निर्मित हुआ वह बहुत कुछ समन्वयात्मक ही था किंतु बाद मे समन्वय की धारा अधिकाधिक स्वच्छंदता और नवीनता की ओर मुड़ती गई। इस युग के सर्वश्रेष्ठ दो आलोचक डा॰ श्यामसुंदर दास और रामचद्र शुक्ल समन्वयात्मक समीक्षा के प्रवर्तक और नियामक थे। यह समन्वय दो रूपो मे दिखाई पडता है; पहला भारतीय और पाश्चात्य साहित्यसिद्धातो के सकलन, समिश्रण और तुलना के रूप मे और दूसरा दोनो के सिद्धातो का सम्यक् अध्ययन करके उनके आधार पर एक नवीन सश्लिष्ट और समन्वित समीक्षापद्धति की उद्भावना के रूप मे। इन दोनो को क्रमशः समिश्रणात्मक समन्वय पद्धति और संश्लेषणात्मक समन्वय पद्धति कहा जा सकता है।

संमिश्रणात्मक समन्वयपद्धति

इस आलोचनापद्धति के प्रवर्तक डा० श्यामसुंदर दास थे। व्यावहारिक आलोचना में जो तुलनात्मक पद्धति महावीरप्रसाद द्विवेदी और पद्मसिंह शर्मा ने चलाई थी यह उसी का सैद्धांतिक आलोचना में रूपांतर प्रतीत होता है। व्यावहारिक तुलनात्मक समीक्षा में एक भाषा या भिन्न भिन्न भाषाओं के दो कवियों के काव्य की तुलना और उनके गुण दोषों का निर्णयात्मक ढंग से विवेचन किया जाता था पर इस संमिश्रणात्मक समन्वय पद्धति की सैद्धांतिक आलोचना में दो भाषाओं या दो सांस्कृतिक परंपराओं में प्रचलित साहित्य सिद्धांतों की तुलना और समीकरण किया जाता है। श्यामसुंदर दास ने एम. ए. कक्षा में आलोचना पढ़ाने के लिये अँगरेजी के आलोचनात्मक ग्रंथों तथा संस्कृत के अलंकार ग्रंथों का सार इकट्ठा करके साहित्यालोचन (सन् १९२२) नामक अपने जिस प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की उसमें संकलन और संमिश्रण की यही पद्धति अपनाई गई है। श्यामसुंदर दास ने इस ग्रंथ में मौलिकता का दावा नहीं किया है। उसके प्रथम संस्करण की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि अपने ग्रंथ की सामग्री उन्होंने अँगरेजी और संस्कृत के ग्रंथों से ली है पर विषयप्रतिपादन का दृष्टिकोण उनका अपना है। वस्तुत: यह ग्रंथ अन्य ग्रंथों का निचोड़ और सारसंकलन ही है। साहित्यालोचन के विषयविभाजन शीर्षकों के नामकरण तथा उपस्थापन विधि के साथ साथ उसकी विचारवस्तु के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्रारंभ, कलाओं का विभाजन और विवेचन वर्सफील्ड की पुस्तक जजमेंट इन लिटरेचर' के आधार पर किया गया है। बहुत से लोग तो साहित्यालोचन को विलियम हेनरी हडसन की पुस्तक 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी, आफ लिटरेचर' की छाया मात्र मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि साहित्यालोचन के काव्य, साहित्य, शैली, उपन्यास, कहानी और आलोचनावाले अंशों का बहुलांश हडसन की पुस्तक का अनुवाद मात्र है। उसी तरह भारतीय सिद्धांतों विशेषकर दृश्यकाव्य और रस के विवेचन में विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण और भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का पूर्णतः अनुसरण किया गया है। ग्रंथ के दूसरे संस्करण में बहुत सी नई सामग्री जोड़ी गई है और लेखक ने कुछ अपने विचार भी दिए हैं पर साथ ही रसनिष्पत्ति के संबंध में चार मतों की चर्चा करते हुए केशवप्रसाद मिश्र का एक लेख 'मधुमती भूमिका' भी पूरा का पूरा उद्धृत कर दिया गया है। उसी तरह परिशिष्ट में पद्मनारायण आचार्य द्वारा लिखित "शब्दशक्तियों से संबंधित 'एक निबंध भी संमिलित कर लिया गया है। इस तरह साहित्यालोचन में संकलन वृत्ति की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है।

साहित्यालोचन की संमिश्रणात्मक समन्वय की पद्धति आगे चलकर

केवल संकलनात्मक न रहकर विवेचनात्मक और निर्णयात्मक हो गई। गुलाबराय ने सन् १९२८ ई० में 'नव रस' नामक एक रससिद्धात का ग्रंथ लिखा जिसमे रसविचार के साथ साथ भावो का मनोवैज्ञानिक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रंथ का उद्देश्य साहित्यालोचन से भिन्न था। साहित्यालोचन साहित्यशास्त्र के विद्यार्थियों और अध्येताओ के लिये लिखा था पर नवरस का उद्देश्य रस-सिद्धातो में मान्य भावो का मनोविज्ञान समझाना है। इसलिये लेखक ने रसो का वर्गीकरण करके उनके संबंध मे यथास्थान मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया है। उनका उद्देश्य तो शुभ है पर विवेचनापद्धति संश्लेषणात्मक न होने से रसविवेचन और मनोवैज्ञानिक विवेचन अलग अलग दिखाई पडते हैं। नवरस की पद्धति संकलनात्मक तो नही है लेकिन संश्लेषणात्मक भी नहीं है। उसे हम विवेचनात्मक और तुलनात्मक समन्वय की पद्धति कह सकते हैं। यह पद्धति अपने विकसित और सुष्ठु रूप में सन् १९०४ ई० के बाद विश्वविद्यालयो के विद्वत्तापूर्ण वातावरण में शैक्षणिक आलोचना (एकेडमिक क्रिटिसिज्म) के रूप में परिणत हुई। शुक्ल युग मे डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने व्यावहारिक समीक्षा मे तथा शुक्लोत्तर युग मे डा० नगेंद्र ने अपने सैद्धातिक तथा व्यावहारिक समीक्षासंबंधी ग्रंथो मे इसी पद्धति को अपनाया है। इन आलोचको ने भी श्यामसुंदर दास की तरह ही भारतीय और पाश्चात्य आलोचना सिद्धातो को साथ साथ रखा है पर उनसे आगे बढकर इन्होने उनका तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। डा० नगेंद्र को परवर्ती आलोचना साहित्य के रीतिवादी या शास्त्रीय हो जाने का कारण उनके द्वारा स्वच्छंदतावादी आलोचनापद्धति को छोडकर इस संमिश्रणात्मक समन्वय की विवेचात्मक पद्धति का अपनाया जाना ही है। उन्होने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के ग्रंथों और मतवादो का गहन अध्ययन करके उनकी जो विवेचना की है अथवा उनके जो अनुवाद किए हैं उनसे उपर्युक्त कथन प्रमाणित हो जाता है।

'साहित्यालोचन' की पद्धति अपनाकर रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी सन् १९३३ ई० मे 'आलोचनादर्श' लिखा जो साहित्यसिद्धात का ग्रंथ न होकर आलोचना सिद्धात का ग्रंथ है। इस दृष्टि से यह हिंदी मे अपने ढंग का पहला ग्रथ था जिसमें आलोचना की परिभाषा, उसके ऐतिहासिक विकास तथा हिंदी आलोचना की प्रगति आदि का विवरण उपस्थित किया गया है। एक तरह से यह हिंदी आलोचना का आलोचनात्मक इतिहास है। आलोचना के रूप प्रकारो के वर्गीकरण में लेखक ने पाश्चात्य समीक्षापद्धतियों का हवाला देते हुए भी उनका गंभीर सैद्धातिक विवेचन नही किया है जिससे यह पुस्तक सामान्य परिचयात्मक कोटि की हो गई है।

संश्लेषणात्मक समन्वय पद्धति

समन्वयात्मक समीक्षा का दूसरा रूप वह है जिसमे पाश्चात्य और भारतीय साहित्य सिद्धांतों को पूर्णतः आत्मसात् करके गंभीर मनन और निरीक्षण द्वारा हिंदी का अपना निजी समीक्षाशास्त्र निर्मित करने का प्रयत्न किया गया है। यह नवीन समन्वयवादी समीक्षा न तो भारतीय साहित्यशास्त्र की उद्धरणी है न पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अनुकरण। इसके प्रवर्तक आचार्य रामचंद्र शुक्ल थे जिन्होने अपनी अकाट्य तर्कना शक्ति, सूक्ष्म और तलस्पर्शिनी दृष्टि और मौलिक उद्भावना की क्षमता द्वारा पाश्चात्य और भारतीय साहित्य के महान् आचार्यों की श्रेणी में अपना स्थान बना लिया। उनकी समीक्षा का दृष्टिकोण है तो मूलतः भारतीय ही, उसमे संकीर्णता और गतानुगतिकता के लिये कोई स्थान नही है। परंपरागत शास्त्रीय सिद्धांतो को उन्होने ज्ञान-विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों की कसौटी पर कसकर ही स्वीकृत किया है। इस परीक्षण की प्रक्रिया मे प्राचीन भारतीय सिद्धातो की उन्होने जो व्याख्या की है वह बहुत कुछ प्राचीन आचार्यों की व्याख्या से भिन्न है। इस कारण उन्हे परंपरावादी आलोचक नहीं कहा जा सकता। भारतीय साहित्यशास्त्र के जो पारिभाषिक शब्द रूढ़िबद्ध होकर अर्थहीन हो गए थे, अपनी व्याख्याओ द्वारा उन्होने उनमे नई अर्थवत्ता भरकर प्राचीन भारतीय सिद्धांतो को नवीन मूल्य प्रदान किया। ये नए साहित्यिक मूल्य समाजशास्त्रीय, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पीठिका पर आधारित हैं। मैथ्यू आर्नल्ड और आइ०ए० रिचार्ड्स की भाँति शुक्ल जी भी साहित्यिक अनुभूतियो को जीवनानुभूतियो से अभिन्न मानते हैं। इस कारण एक ओर तो उन्होने भारतीय रससिद्धांत की अलौकिकतापरक व्याख्या को अस्वीकृत करके उसे सर्वथा लौकिक सिद्ध किया और दूसरी ओर पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित, जीवन से असंपृक्त, अनेक नए नए और फैशनेबुल समीक्षा सिद्धांतो या वादो का तर्कपूर्ण ढंग से खंडन किया। शुक्लजी बुद्धिवादी थे और इसी लिये उन्होने साहित्य की बुद्धिपरक व्याख्या की है। अपने विवेक की कसौटी पर कसे बिना वे किसी भी पाश्चात्य या भारतीय सिद्धांत को स्वीकृत या अस्वीकृत नहीं करते। इस तरह भारतीय सांस्कृतिक चेतना और पाश्चात्य वैज्ञानिक और बुद्धिवादी दृष्टिकोण का समन्वयकर उन्होने हिंदी मे एक नवीन विश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धति का प्रारंभ किया। जीवन को साहित्य का आधार मानने के कारण एक ओर तो उन्होंने साहित्य को युगीन राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा है, दूसरी ओर उसके मूल प्रेरणास्रोतो और उद्देश्यों का परीक्षण यथार्थ जीवन के मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक धरातल पर रखकर किया है किंतु जीवन के प्रति उनकी दृष्टि आदर्शवादी और मर्यादा

वादी थी जो भारतीय जीवनादर्शों के बिलकुल अनुरूप थी। पाश्चात्य देशों की यथार्थवादी जीवनदृष्टि को उन्होने केवल साधन के रूप में स्वीकृत किया। इसी से आदर्शवादी होते हुए भी वे यथार्थवाद के विरोधी नही हैं। उन्होने भारतीय आदर्शवाद और पाश्चात्य यथार्थवाद का सुंदर सामंजस्य उपस्थित करके अपनी नवीन और मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। यही नहीं, सैद्धातिक और व्यावहारिक समीक्षा के अलग अलग कटघरो को तोड़कर उन्होने दोनो को समन्वित इसी कारण किया है कि वे युगीन परिस्थितियो और नवोपलब्ध ज्ञान विज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। युगीन परिस्थितियो ने उन्हे साहित्य को समाज के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का बोध दिया। बीसवीं शताब्दी में सामंती जीवन के मूल्यो के ध्वस्त हो जाने पर सामंती युगो में निर्मित अलंकारग्रंथो में निर्दिष्ट संकीर्ण मार्गों का अवलंबन करना रामचंद्र शुक्ल जैसे बुद्धिवादी आलोचक के लिये संभव नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी में ही भारत में जिस मध्यवर्गीय चेतना का विकास होने लगा था और आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, देवसमाज, प्रार्थनासमाज आदि के सुधारवादी आदोलन जिसकी सामाजिक परिणति थे, वह बीसवी शताब्दी में और भी बलवती हो गई। उसी मध्यवर्गीय चेतना ने इस युग में मानवतावाद, लोकहितवाद, उपयोगितावाद आदि विचारो को जन्म दिया जिनके प्रतीकपुरुष महात्मा गाँधी थे। साहित्य मे भी उन विचारो की अभिव्यक्ति स्वाभाविक थी। अतः शुक्लजी की आलोचना में भी लोकहितवाद मानदंड के रूप में स्थापित दिखाई पड़ता है। उन्होने काव्य का मुख्य उद्देश्य लोकचित्त का परिष्कार माना है। लोकचित्त के परिष्कार के बिना लोकहित संभव नहीं है। साथ ही लोकहित का स्वरूपनिर्धारण लोकजीवन के साथ गहरे संपर्क तथा उसकी स्थिति के सम्यक् ज्ञान से ही हो सकता है। इसलिये शुक्ल जी ने लोकजीवन के साथ साहित्यकार के घनिष्ठ संपर्क पर बहुत अधिक बल दिया है। लोकमानस और लोकजीवन को शुक्ल जी व्यक्तिमानस और व्यक्तिजीवन से अभिन्न मानते है, फलतः वे पाश्चात्य ढंग के व्यक्तिवैचित्र्यवाद अथवा व्यक्तिवादी जीवनदर्शन के विरोधी हैं।

इस प्रकार रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य को परखने का एक नवीन आदर्शवादी प्रतिमान स्थिर किया जो पाश्चात्य उपयोगितावादी मूल्यांकन का भारतीयकरण था। साधारणतः यह समझा जाता है कि रामचंद्र शुक्ल आइ० ए० रिचार्ड्स के आलोचना सिद्धात से प्रभावित हुए हैं, पर यह धारणा नितांत भ्रममूलक है। रिचार्ड्स ने साहित्य के मनोवैज्ञानिक मूल्य को ही उसका प्रतिमान माना है। उसका सिद्धात सभी कलाओ के लिये है और साहित्य को भी उसने एक कला ही माना है। इसके विपरीत शुक्ल जी साहित्य या काव्य को कला माननेवालो के

घोर विरोधी हैं। उनकी समीक्षा शुद्ध साहित्यिक समीक्षा है। रिचार्ड्स ने काव्य की रचनाप्रक्रिया पर भी पर्याप्त विचार किया है और कवि के अचेतन मन को काव्य का मूल उत्स माना है; पर शुक्ल जी ने इस संबंध में अधिक विचार नहीं किया है। रिचार्ड्स ने जीवनमूल्यों की विवेचना मनोविज्ञान के आधार पर की है और अपने मत की पुष्टि के लिये उसने नृतत्वशास्त्र, समाजशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र का सहारा लिया है पर शुक्ल जी की समीक्षा का आधार मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र (एथिक्स) है। इस तरह रिचार्ड्स और रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा-पद्धतियों में बहुत अधिक असमानता है। पर उनमें कुछ समानता भी है जिसके आधार पर शुक्लजी को रिचार्ड्स से प्रभावित मान लिया गया है। शुक्लजी की समीक्षा का मूलाधार भी मनोविज्ञान ही है। इस दृष्टि से चिंतामणि के लोभ और प्रीति, क्रोध, उत्साह, श्रद्धाभक्ति आदि मनोवैज्ञानिक निबंध उनके समीक्षात्मक साहित्य के ही अंतर्गत आते हैं। इनके अतिरिक्त अपने आलोचनात्मक निबंधों और ग्रंथों में भी उन्होंने प्रतिभा, मन, बुद्धि, स्मृति, कल्पना, भावना, प्रेरणा आदि मनोवैज्ञानिक विषयों पर कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से विचार किया है। रिचार्ड्स ने भी अपने 'साहित्यसमीक्षा के सिद्धांत, (प्रिंसिपुल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म) नामक पुस्तक में आनंद, (प्लेज़र), भावना (इमोशन), स्मृति (मेमरी), दृष्टिकोण (ऐटिच्यूड) और कल्पना (इमैजिनेशन) जैसे मनोविज्ञान के विषयों पर अलग अलग अध्याय लिखे हैं तथा शेष पुस्तक में भी सर्वत्र उनकी वैचारिक भूमि मुख्यतः मनोवैज्ञानिक ही है किंतु दोनों का यह साम्य केवल विषयगत ही है। शुक्लजी ने मनोवैज्ञानिक विषयों का विवेचन शास्त्रीय आधार पर नहीं किया है, उसमें उनकी पकड़ सर्वथा मौलिक है और इसीलिये कहीं कहीं मनःशास्त्र के सिद्धांतों से वे पूर्णतः समत भी नहीं है। पर रिचार्ड्स की स्थापनाएँ मनोविज्ञान के मान्य सिद्धांतों पर आधारित होने से पूर्णतः वैज्ञानिक हैं। दूसरी बात यह है कि शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक विषयों की विवेचना मुख्यतः रससिद्धांत की व्याख्या के लिये की है और इस तरह रससिद्धांत को प्रथम बार एक पुष्ट वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। पर रिचार्ड्स ने मनोविज्ञान के आधार पर 'मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद' का अपना मौलिक साहित्य-सिद्धांत उद्भावित किया है। शुक्लजी ने रससिद्धांत के अंतर्गत साधारणीकरण की व्याख्या में रिचार्ड्स के प्रेषणीयता के सिद्धांत से अपने मत की जो पुष्टि की है उसे भी शुक्लजी पर रिचार्ड्स का प्रभाव नहीं कहा जा सकता है।

इस तरह रिचार्ड्स और रामचंद्र शुक्ल दोनों की आलोचना का आधार मुख्यतः मनोविज्ञान है पर दोनों में अंतर यह है कि रिचार्ड्स ने साहित्य का मूल्य मनोविज्ञान की दृष्टि से आँका है और शुक्लजी ने साहित्य की दृष्टि से। रसमीमांसा में

भावों की व्याख्या और उनके वर्गीकरण में उनकी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की यह साहित्यिक पद्धति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। साहित्यिक दृष्टि प्रधान न होने के कारण कहीं कहीं तो उन्होंने मनोवैज्ञानिकों से अपना मतभेद भी प्रकट किया है। भाव के विवेचन में उन्होंने भाव की तीन दशाएँ—भावदशा, स्थायीदशा और शीलदशा—बताते हुए लिखा है 'मनोविज्ञानियों ने 'स्थायी दशा' और 'शील दशा' के भेद की ओर ध्यान न देकर दोनों प्रकार की मानसिक दशाओं को एक ही में गिना दिया है। उन्होंने रति, बैर, धनतृष्णा, इंद्रियपरायणता, अभिमान इत्यादि सबको स्थायी भावों की कोटि में डाल दिया है। पर मैंने जिस आधार पर भेद करना आवश्यक समझा है उसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है[1]।' इससे मनोविज्ञान में उनकी गहरी पैठ का पता चलता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि शुक्ल जी मनोविज्ञान के आचार्य थे। वस्तुतः उन्होंने साहित्य की ओर से मनोविज्ञान में प्रवेश किया था, मनोविज्ञान की दिशा से साहित्य में नहीं आए थे। फलतः उनकी दृष्टि मौलिक और स्वतंत्र थी। उदाहरणार्थ उन्होंने 'भाव की जो परिभाषा दी है उसकी शब्दावली साहित्य की है, मनोविज्ञान की नहीं; जैसे—'मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं कह सकते, मन का वही वेग 'भाव' कहला सकता है जिसमें चेतना के भीतर आलंबन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित होंगे[2]।' शुक्ल जी ने साहित्य सिद्धांतों की विवेचना में मनोवैज्ञानिकों से उतनी ही सहायता ली है जितनी उन्हें अपेक्षित थी। इसी कारण मनोविज्ञान के अन्य आचार्यों के ग्रंथों का हवाला न देकर उन्होंने शैंड के 'शील के आधार' (फाउंडेशन आफ कैरेक्टर) नामक ग्रंथ का ही सबसे अधिक उल्लेख किया है। यद्यपि उन्होंने मनोविश्लेषण शास्त्र के चेतन मन और अचेतन मन के सिद्धांत को भी स्वीकार किया है[3] तथा सहजात वृत्ति (इंस्टींक्टस), संवेग (इम्पुलसेज), संवेदना, (सेन्सेशन), प्रत्यय (कासेप्ट), अनुभूति (इक्सपीरियंस), बुद्धि (इंटलेक्ट), इच्छा (डिजायर), स्मृति (मेमोरी), कल्पना (ओमेन्सीमेशन), स्वयंप्रभ ज्ञान (इंटुटन) आदि से संबंधित मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को यथावत् स्वीकृत कर लिया है, पर उनकी व्याख्या में दूर तक नहीं गए हैं।

१ रसमीमांसा—रामचंद्र शुक्ल—प्रथम संस्करण—पृ० १८७।

२ वही, पृ० १८६।

३ 'भावों की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भाव मंडल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाश में कान्रास में रहता है और कुछ अंतस्संज्ञा के क्षेत्र में छिपा रहता है।—वही, पृ० ६५।

साहित्य का मानवचरित्र से घनिष्ट संबंध होने के कारण उन्होने शैंड के सिद्धांतों और परिभाषाओं अधिक ग्रहण किया है[1]। उनका भावविवेचन तो मुख्यतः शैंड की पुस्तक पर ही आधारित है।

साहित्य का मूल्य और रामचंद्र शुक्ल

पहले कहा जा चुका है कि रामचंद्र शुक्ल का दृष्टिकोण मर्यादावादी और नैतिक था। अतः उनकी दृष्टि में साहित्य का मूल्यनिर्धारक भी लोकमर्यादा या नीति ही है। लोकहित, लोकमंगल, लोकधर्म, शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंध, लोकचित्त का परिष्कार, आनंदमगल की साधनावस्था आदि अनेक नामो और प्रसंगो द्वारा उन्होने मूलतः उसी सामाजिक या मर्यादावादी नैतिकता के प्रश्न को बार बार उठाया है। प्राचीन भारतीय आलंकारिको ने साहित्य का मूल्य आनंद को माना था, चाहे वह रसनिष्पत्ति द्वारा उपलब्ध आनंद हो चाहे अलंकार, रीति या वक्रोक्ति के चमत्कार द्वारा। शुक्लजी ने उस आनंद की परिभाषा बदल दी है और आनंद की दो अवस्थाएँ—साधनावस्था और सिद्धावस्था—बताकर प्रथम अवस्था का बीज भाव 'करुणा' और द्वितीय का बीज भाव 'प्रेम' माना है। करुणा द्वारा लोक की रक्षा होती है और प्रेम द्वारा इसका रंजन। करुणा और प्रेम दोनो ही लोकमंगलजनक भाव हैं। शुक्ल जी के शब्दो में 'भावो की छानबीन करने पर मंगल का विधान करनेवाले दो भाव ठहरते हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है[2]।' इस तरह शुक्ल जी ने रस से निष्पन्न आनंद को साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनो में ही मंगलमय बताया है और यह सिद्ध किया है कि रस लोकमंगलकारी होता है क्योंकि वह लोकधर्म का साधक होता है। यही शुक्लजी की रस की नवीन उपयोगितावादी व्याख्या है जिसका आधार सामाजिक नैतिकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित साहित्य का यह उपयोगितावादी मूल्य पाश्चात्य उपयोगितावाद का भारतीयकरण है। यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में बैन्थम, आस्टिन, मिल आदि दार्शनिको ने राजनीति और समाजव्यवस्था में उपयोगितावादी (युटिलिटैरियन) दृष्टि का होना आवश्यक बताया और 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम हित' का सिद्धात प्रतिपादित किया। साहित्य में उपयोगितावाद 'शिक्षा-वाद' या उपदेशवाद (डाइरेक्टिसिज्म) के रूप में प्लेटो और होरेस के समय से ही चला आ रहा था पर उन्नीसवीं शताब्दी में रस्किन और टाल्सटाय ने

१ रसमीमांसा—पृ० १७८, १८४, १९४, १९५, १९८, २१२।
२ वही, पृ० ९७।

उसको धर्म के साथ संबद्ध कर दिया। उनके अनुसार कला का मुख्य उद्देश्य मानव की धर्मभावना को विकसित और पुष्ट करना तथा उसकी नैतिक चेतना को पूर्ण और परिष्कृत करना है; आनंद तो उसका गौण प्रयोजन या उपसंतति (बाइ प्राडक्ट) मात्र है। भारतीय आलंकारिकों ने भी काव्य का लक्ष्य चतुर्वर्गफल की प्राप्ति माना था। कभी कभी अधिक स्पष्टता लाने के लिये यश, अर्थ, सद्यःमुक्ति, व्यवहारज्ञान, कातासंमित उपदेश को भी काव्य का प्रयोजन बताया गया, पर ये सभी चतुर्वर्गफल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के भीतर आ जाते हैं। इस तरह भारतीय दृष्टि से धर्म और मोक्ष साहित्य के लक्ष्य के रूप में पहले से मान्य चले आ रहे थे और इसी कारण समस्त भारतीय साहित्य उद्देश्य की दृष्टि से आदर्शवादी दिखाई पड़ता है। पर साथ ही आलंकारिकों ने शात रस को नहीं, शृंगार रस को ही रसराज कहा है और संस्कृत साहित्य में लौकिकता की ही प्रमुखता है, धार्मिकता की नहीं।

भारतीय साहित्य और साहित्यशास्त्र में उद्देश्य और व्यवहारसंबंधी यह परस्परविरोधी बात क्यों दिखाई पड़ती है, इस प्रश्न का समाधान खोजना द्विवेदी युग के नैतिकतावादी साहित्यिकों और आलोचकों के लिये आवश्यक हो गया था। रामचंद्र शुक्ल ने पाश्चात्य उपयोगितावादी सिद्धांत के सहारे उसका उत्तर ढूँढ लिया। उनका उत्तर यह था कि काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष एक ही जीवन-प्रक्रिया की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ हैं और एक दूसरे से अविच्छिन्न हैं; अतः प्रवृत्ति-मूलक जीवन का हित इन चारों के समन्वय में है। मोक्ष जीवन का लक्ष्य है, धर्म उसका साधक है और अर्थ और काम धर्म के साधक हैं। इसी लिये शुक्लजी कहते हैं - 'धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्वस्थिति में मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमंडल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में और समष्टिरूप में अखिल विश्व की शाश्वत स्थिति में सत् की इ ी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।······ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति की अर्थात् धर्म की ऊँची नीची कई भूमियाँ लक्षित होती है, जैसे—गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से संबंध रखनेवाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है'[1]। आगे उन्होंने लिखा है—'अतः मोक्ष

[1] चिंतामणि—भाग १—पृ० २०७-२०८।

का—किसी ढंग के मोक्ष का—मार्ग धर्ममार्ग से बिलकुल अलग अलग नहीं जा सकता। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है[1]।' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी ने धर्म का बहुत ही व्यापक अर्थ लिया है और उनकी यह परिभाषा धर्म की प्राचीन स्थूल मान्यताओ से भिन्न है। वस्तुतः धर्म से उनका तात्पर्य सामाजिक नैतिकता या मानवीयता से है जिसका उद्देश्य अधिकतम लोगो का कल्याण करना है। इस तरह उनका लोकहितवाद रस्किन और टाल्सटाय के धार्मिक उपयोगितावाद का भारतीय संस्कृति के अनुरूप नवीन रूपातर है। उसके द्वारा एक ओर तो पाश्चात्य उपयोगितावादी दार्शनिको के सामाजिक उपयोगितावाद के सिद्धात का तथा रस्किन और टाल्सटाय के नैतिक आदर्शवाद समर्थन होता है, दूसरी ओर भारतीय संस्कृति और साहित्य में मान्य चतुर्वर्गफल के सिद्धात की व्याख्या भी हो जाती है और साथ ही भारतीय साहित्य और साहित्यशास्त्र में प्रयोजनसंबंधी जो अंतर्विरोध प्रतीत होता है उसका भी समाधान हो जाता है।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि शुक्लजी ने रस्किन और टाल्सटाय का अंधभाव से अनुकरण नही किया है। साहित्य पर ऊपर से आरोपित धार्मिक, नैतिक या राजनीतिक उद्देश्यो का उन्होने स्पष्ट शब्दो में विरोध किया है। उनके अनुसार 'सुंदर और कुरूप काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला बुरा, शुभ अशुभ पाप-पुण्य, मंगल अमंगल, उपयोगी अनुपयोगी ये सब शब्द काव्य के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्यक्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है, न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बाते केवल दो रूपो में दिखाई जाती हैं—सुंदर और असुंदर[2]। शुक्लजी का यह कथन बाह्यतः कलावादियो के 'कला कला के लिये' के सिद्धात जैसा प्रतीत होता है और लगता है कि वे यहाँ अपने नैतिक दृष्टिकोण को छोडकर काव्य के सौंदर्य को ही उसका प्रतिमान मानते हैं। इस कथन में रस्किन और टाल्सटाय का, जो साहित्य को साधक और धर्म को साध्य मानते थे अथवा मिल आदि उपयोगितावादी दार्शनिको का, जो समाज के सर्वाधिक हित के निमित्त साहित्य आदि का उपयोग करना चाहते थे, स्पष्ट विरोध दिखाई पड़ता है। पर इसमे शुक्ल जी के लोकमंगल के सिद्धात का विरोध नहीं है क्योंकि वे साहित्य मे सुंदर पक्ष

१ चिंतामणि—भाग १—पृ २०६।

२ वही; पृ० १६७।

उसी को मानते हैं जो लोकहितकारी या लोकानुरंजनकारी है। साहित्य का यह सुंदर पक्ष यदि धार्मिक का शुभ या मंगल और अर्थशास्त्री का उपयोगी तत्व भी है तो शुक्लजी को इसमे कोई आपत्ति नही है। इस तरह वे साहित्य के सौंदर्य मार्ग से उसी लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं जहाँ धार्मिक शुभ मार्ग या नीति मार्ग से पहुँचता है। अंतर केवल दृष्टि की है।[1] रस्किन और टाल्सटाय की दृष्टि मुख्यतः धार्मिक है और शुक्लजी की शुद्ध साहित्यिक।

टाल्सटाय के मत का खंडन उन्होने इसी आधार पर किया है। टाल्सटाय ने साहित्य का मुख्य लक्ष्य मानव मात्र मे भ्रातृभावना का प्रसार बताया है। शुक्लजी टाल्सटाय के इस मत को शुद्ध साहित्यिक न मानकर सांप्रदायिक मानते हैं। क्योंकि टाल्सटाय के अनुसार कला का मूल्यांकन युगविशेष की धार्मिक चेतना के अनुसार होता है; यह धार्मिक चेतना ही जीवन का उच्चतर मूल्य है जो मानव को अन्य मानवों तथा ईश्वर से मिलती है। इस कैथलिक भावना का विरोध करते हुए शुक्लजी ने लिखा है—टाल्सटाय के अनुयायी प्रयत्न-पक्ष को लेते अवश्य हैं, पर केवल पीड़ितो की सेवाशुश्रूषा की दौड़धूप, आततायियो पर प्रभाव डालने के लिये साधुता के लोकोत्तर प्रदर्शन, त्याग, कष्टसहिष्णुता इत्यादि मे ही उसका सौंदर्य स्वीकार करते हैं। साधुता की इस मृदुल गति को वे आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं, पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति—मनुष्य की अंतःप्रकृति की सात्विक विभूति मानते हैं।··· अध्यात्म शब्द की, मेरी समझ मे काव्य या कला के क्षेत्र मे कहीं कोई जरूरत नही है।[2] इस तरह वे कर्मसौंदर्य या प्रयत्नपक्ष के सौंदर्य में केवल करुणा और प्रेम की भावना को ही नहीं, उत्साह, क्रोध, घृणा, आदि परुप भावो का होना आवश्यक मानते हैं। इसी लिये टाल्सटाय और महात्मा गाँधी के अहिंसा मार्ग के वे पूर्णतः समर्थक नही थे, क्योंकि वे हृदयपरिवर्तन के साथ साथ अत्याचारियो के हिंसात्मक नाश में भी विश्वास करते थे। साहित्य के नव रसो मे वीर रौद्र और वीभत्स रसो के समावेश के कारण शुक्लजी की इस नैतिक दृष्टि को बल मिला था और इसी दृष्टि के कारण वे अवतारों में कृष्ण से अधिक राम को आदर देते थे। उनकी नैतिकता में

[1] 'जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौंदर्य पक्ष पर आप ही मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुंदर कहता है।'—चिंतामणि, भा० १, पृ० १६७।

[2] रसमीमांसा, पृ० ७१।

नीति और सौंदर्य का, कोमलता और परुषता का, लौकिकता और आध्यात्मिकता का अद्भुत समन्वय हुआ है।

कलावादी या 'कला कला के लिये' का सिद्धांत माननेवाले भी नैतिकता, धर्म, राजनीति आदि का कला से कोई संबंध नहीं मानते। वाल्टर पेटर, ब्रैडले, स्प्रिंगार्न आदि आलोचकों के अनुसार साहित्य कला का मूल्य वह सौंदर्य है जो कृति में स्वतंत्र रूप से स्थित है, उसकी स्थिति का कारण नीति, धर्म आदि साहित्येतर विषय नहीं हैं। इसलिये साहित्य और कला की सौंदर्यानुभूति को ही उनका मूल्य समझना चाहिए। शुक्लजी का इस संबंध में जो कथन पहले उद्धृत किया गया है उसमें भी काव्य के सुंदर और असुंदर ये दो ही पक्ष माने गए हैं और नीति धर्म आदि काव्यक्षेत्र के बाहर के शब्द माने गए हैं। पर शुक्लजी ने काव्य के सौंदर्य की जो व्याख्या की है वह कलावादियों की सौंदर्य की परिभाषा से बिलकुल भिन्न है। कलावादी सौंदर्यानुभूति को वास्तविक जीवनानुभूतियों से भिन्न और स्वतंत्र मानते हैं। प्रसिद्ध कलावादी आलोचक ब्रैडले का कहना है कि 'काव्य की सौंदर्यानुभूति स्वयं अपना साध्य है और उसका मूल्य उसी के भीतर निहित है, कहीं बाहर नहीं; उसी मूल्य के आधार पर उसका परीक्षण और स्वीकरण होना चाहिए, अतः केवल सौंदर्यानुभूतिगत मूल्य ही काव्य या कला का मूल्य है। किसी अन्य काव्येतर उद्देश्य की दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन करना काव्य के मूल को घटा देना है, क्योंकि ऐसा करते समय उस मूल्य को उसके अपने परिवेश से हटा देना पड़ता है जिससे काव्य की प्रकृति ही बदल जा सकती है। काव्य प्रकृत्या न तो वास्तविक जगत् का अंग है न उसका अनुकरण, इसके विपरीत वह अपने आप में पूर्ण, स्वतंत्र और स्वशासित एक अलग लोक ही है।'[1] पर रामचंद्र शुक्ल काव्यानुभूति के सौंदर्य को वास्तविक जीवन की अनुभूतियों के सौंदर्य से अभिन्न मानते हैं। इसी लिये उनकी सौंदर्यपरिभाषा कला-

१ फर्स्ट दिस इक्सपीरिएन्स इज एन ऐंड इटसेल्फ, इज वर्थ हैविंग आन इट्स ओन एकाउन्ट, हैज ऐन इंट्रिंजिक वैल्यू। नेक्स्ट इट्स पोइटिक वैल्यू इज दिस इंट्रिंजिक वर्थ एलोन।... द कंसीडरेसन ऑव अल्टेरियर एन्ड्स गैदर बाई द पोएट इन द एक्ट ऑव कंपोजीसन ऑर बाई द रीडर इन द एक्ट ऑव इक्सपीरिएंसिंग, टेन्स टू लोअर पोइटिक वैल्यू। इट इज सो बिकाज इट टेन्ड्स टू चेंज द नेचर ऑव पोइट्री बाई टेकिंग इट आउट ऑव इट्स ओन एटमोसफेयर। फॉर इट्स नेचर इज टू बी नाट ए पार्ट, नार येट ए कापी ऑव द रीयल वर्ल्ड (ऐज वी कामनली अंडरस्टैंड दैट फ्रेज) बट टू बी ए वर्ल्ड बाइ इटसेल्फ इनडिपेंडेंट, कंप्लीट, ऑटोनामस।'—ए० सी० ब्रैडले—ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोइट्री, पेज ५।

वादियों की सौंदर्यपरिभाषा से मेल नहीं खाती। यहाँ वे आइ० ए० रिचार्ड्स के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।···शुद्ध काव्य की सिद्धि के लिये वस्तु काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।'[1] ठीक इसी तरह रिचार्ड्स भी कहता है—'काव्य जगत् किसी भी दृष्टि से यथार्थ जगत् से भिन्न अस्तित्व नहीं रखता, न तो उसके नियम कानून भिन्न हैं, न उसमें अलौकिक विशेषताएँ ही हैं'।[2] इस तरह रामचंद्र शुक्ल सौंदर्य की सत्ता वास्तविक जगत् की अनुभूतियों में भी मानते हैं। उनके अनुसार वहीं से वह सौंदर्य काव्य में भी गृहीत होता है।

सौंदर्य क्या है, इस प्रश्न का उत्तर शुक्लजी स्पष्ट शब्दों में यह देते हैं कि जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं वैसे ही सुंदर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। उनके अनुसार वस्तु के सौंदर्य की अनुभूति उसी को होती है जो उस वस्तु की भावना में अपनी स्वतंत्र या पृथक् सत्ता को लीन कर देता है—'हमारी अंतस्सत्ता की यही तदाकारपरिणति सौंदर्य की अनुभूति है।··· जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकारपरिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिये सुंदर कही जायगी'।[3] इस संबंध में पहले तो वे कहते हैं कि 'सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है।' फिर तुरंत बाद ही सौंदर्य की सत्ता वस्तु से अभिन्न मानते हैं और अंत में कहते हैं—'इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है, वही बाहर है'।[4] ये तीनों बातें बाह्यतः परस्परविरोधी प्रतीत होती हुई भी अविरोधी हैं, क्योंकि सौंदर्यानुभूति के लिये दो की सत्ता आवश्यक है, सुंदर वस्तु की और उसका अनुभव करनेवाले व्यक्ति की। दोनों में से किसी एक के अभाव में सौंदर्यानुभूति नहीं हो सकती। यदि वस्तु न होगी तो सौंदर्य की स्थिति नहीं होगी और यदि व्यक्ति का मन नहीं होगा तो उस सौंदर्य की अनुभूति कैसे होगी? और ये दोनों सत्ताएँ असंपृक्त रहेंगी तो सौंदर्यानुभूति नहीं हो सकती। वस्तु के साथ व्यक्तिमन का तादात्म्य भाव स्थापित होने पर ही सौंदर्यानुभूति उत्पन्न होगी। इस तरह सौंदर्य वस्तुगत भी है और आत्मगत भी। यहाँ शुक्लजी ने कलावादियों के इस मत का खंडन किया है कि सौंदर्य वस्तुगत नहीं आत्म-

[1] रसमीमांसा, पृष्ठ, २७५।
[2] प्रिंसीपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० ७८।
[3] चिंतामणि, प्रथम भाग, पृ० १६५।
[4] वही, पृ० १६५।

गत होता है। क्रोचे तो वस्तु को द्रव्यमात्र मानता है और सौंदर्य का साँचा व्यक्ति के मन के भीतर निहित बताता है। इस तरह उसके अनुसार सौंदर्य व्यक्ति-मन के स्वयंप्रभज्ञान या प्रमा की देन है, वस्तु से उसका कार्यकारण संबंध मात्र है। हीगेल भी उसे आध्यात्मिक वस्तु मानता है। शुक्लजी ने इन दोनो मतो का खंडन किया है। उनकी सौंदर्यपरिभाषा भाववादियो और वस्तुवादियो दोनो की परिभाषाओ के बीच की है। इसी लिये वे काव्य की सौंदर्यानुभूति को जगत् की सौंदर्यानुभूति से अभिन्न मानते हैं।

सौंदर्यसंबंधी इसी मान्यता पर शुक्लजी की आलोचना का विशाल भवन खड़ा हुआ है। वे सौंदर्य को बाह्य और आभ्यंतर दोनो मानकर उसके तीन भेद करते हैं—रूपसौंदर्य, भावसौंदर्य और कर्मसौंदर्य। रूपसौंदर्य से भावसौंदर्य और भावसौंदर्य से कर्मसौंदर्य अधिक उत्कृष्ट हैं क्योंकि उनमें क्रमशः एक से दूसरे में नैतिक चेतना का योग उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जहाँ इन तीनो का सामंजस्य दिखाई पड़े, शुक्लजी के अनुसार वहाँ सौंदर्य चरम कोटि का होता है। राम में इन तीनो का सामंजस्य दिखाई पड़ता है; इसी कारण वे शुक्लजी की दृष्टि में लोकहृदय के प्रेम के सर्वोत्तम आलंबन हैं। इस प्रकार यद्यपि शुक्लजी धार्मिक, नैतिक, व्यावहारिक और अर्थशास्त्रीय उद्देश्यो को काव्यक्षेत्र से बहिष्कृत करने की सलाह देते हैं, पर जिस सौंदर्य को वे काव्य का शाश्वत मूल्य स्थिर करते हैं, अंततोगत्वा वह एक ऐसी उच्चस्तरीय नैतिकता से युक्त दिखाई पड़ता है जिसमें धर्मनीति, व्यवहारनीति समाजनीति, राजनीति और अर्थनीति सबका समाहार हो गया है। इस तरह उनके सौंदर्य-मूल्य और लोकहितवाद दोनो अंत में मिलकर एक हो जाते हैं। इस प्रकार के समाहार और समन्वय की शक्ति भारतीय और पाश्चात्य आलोचको में से किसी में नहीं दिखाई पड़ती।

शुक्लजी की समीक्षा की सीमाएँ

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की प्रतिभा, समन्वयात्मक बुद्धि और मौलिक तथा सुचिंतित सिद्धातो की इस विवेचना से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि वे हिंदी में आधुनिक आलोचना के प्रथम मौलिक कल्पक और प्रतिष्ठापक थे। उन्होने न केवल सही अर्थ में आधुनिक आलोचनापद्धति का प्रारंभ किया, बल्कि उसे इस ऊँचाई तक तक पहुँचा दिया कि भारतीय भाषाओ के साहित्य में हिंदी आलोचना उच्चतम पद प्राप्त कर सकी। अपनी अद्भुत तर्कशक्ति द्वारा उन्होने प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के उन सभी मतो का प्रबल विरोध किया जो उनके मत से नहीं मिलते थे। उनके इस विरोध में उनका पूर्वग्रह इतना प्रबल है कि वे विरोधी मतो के सत्पक्षो

किए जाते हैं तो आलोच्य कृतियों के साथ अन्याय होने लगता है। ऐसे स्थलों पर शुक्लजी साहित्यिक मूल्यांकन की पद्धति छोड़कर साहित्येतर उद्देश्यों के मूल्यों की छानबीन करने लगते हैं। रसात्मकता को साहित्य का मूल्य मानकर चलने पर जब कोई काव्यकृति मूल्यवान् प्रतीत होने लगती है तो वे नैतिकता और लोकहित की दुहाई देकर उसका मूल्य कम सिद्ध करना चाहते हैं और जहाँ ये दोनों बातें मिल जाती हैं वहाँ निर्गुण सगुण और भारतीय अभारतीय का प्रश्न उठाकर तथा आलोच्य कृति को फारस या पश्चिम का अनुकरण बताकर उसपर प्रहार करने लगते हैं। इस तरह उनमें उस तटस्थता या निष्पक्षता की कमी मालूम पड़ती है जिसके द्वारा साहित्य के सिद्धातों की वैज्ञानिक छानबीन और रचनात्मक साहित्य के आंतरिक मूल्यों का सही ढंग से उद्घाटन संभव होता है। पूर्वग्रहयुक्त दृष्टि के कारण कहीं कहीं तो उनकी समीक्षा के सैद्धातिक और व्यावहारिक पक्षों में भी विरोध दिखाई पड़ता है। एक ओर तो वे लोकहित की बात करते हैं दूसरी ओर लोकमर्यादा की दुहाई देकर कबीर जैसे लोकहितवादी कवि की निंदा भी करते हैं। उनके मूल्यांकन के तटस्थ और वैज्ञानिक होने में उनकी वैयक्तिक अभिरुचि भी कम बाधक नहीं हुई है। प्रसाद की कामायनी में लोकहित का जो विश्वजनीन और उदात्त रूप है उसकी ओर ध्यान न देकर शुक्लजी ने उसकी मधुचर्या की अधिकता पर ही अधिक ध्यान दिया है। कामायनी एक रसात्मक काव्य है, इसे कोई अस्वीकृत नहीं करेगा, पर उसमें छायावादी अभिव्यंजना, लाक्षणिकता, व्यंजकता, प्रतीकात्मकता और सांकेतिकता की प्रवृत्ति की अधिकता देखकर शुक्लजी उसकी वैसी प्रशंसा न कर सके जैसी उन्होंने रामचरित मानस या पद्मावत की है।

लोकधर्म और लोकहित के सिद्धांत को व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित करते हुए भी शुक्लजी ने इसे आधुनिक युग के साहित्य विशेषकर उपन्यास और नाटक साहित्य पर घटित करने का अधिक प्रयत्न नहीं किया है। आधुनिक पूँजीवादी युग के वर्गवैषम्य, सामाजिक अन्याय और निम्नवर्ग के सीमाहीन दुःखों का निवारण भी उनके लोकहित की सीमा में आ सकता था पर अपने सिद्धांत के अनुरूप उन्होंने इस दिशा में साहित्यिकों को प्रेरणा देने की आवश्यकता नहीं समझी। रावण के अत्याचारों के विरुद्ध शस्त्र उठानेवाले राम के कर्मसौंदर्य पर वे जितना मुग्ध होते हैं, विदेशी शासकों तथा राजाओं और जमींदारों के अत्याचारों के विरुद्ध आंदोलन करनेवाले देशप्रेमियों के कर्मसौंदर्य के प्रति उतना नहीं आकृष्ट होते। मानस के पात्रों के शीलसौंदर्य पर रीझनेवाले शुक्लजी प्रसाद के नाटकों और प्रेमचंद के उपन्यासों के चरित्रों पर उतना नहीं रीझते,

क्योंकि ये चरित्र उत्थान पतन तथा ह्रास और विकास के स्वाभाविक मार्ग पर चलनेवाले यथार्थ पर आदर्शोन्मुख चरित्र हैं। शुक्लजी की कसौटी पर शुद्ध आदर्शवादी चरित्र ही खरे उतरते हैं। इस तरह उनका लोकहितवाद केवल मध्यकालीन आदर्शों और सामाजिक मर्यादाओं की पुनः प्रतिष्ठा के लिये खड़ा किया गया प्रतीत होता है। इसी कारण शुक्लजी का मन अतीत में जितना रमता है, उतना वर्तमान में नहीं। वे कहते हैं—'हृदय के लिये अतीत एक मुक्ति लोक है जहाँ वह अनेक प्रकार के बंधनो से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप में विचरता है। वर्तमान हमें अंधा बनाए रहता है, अतीत बीच बीच मे हमारी आँखें खोलता रहता है। मै तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखानेवाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है, आगे तो बराबर खिसकता हुआ दुर्भेद्य परदा रहता है। बीती बिसारने वाले 'आगे की सुध' रखने का दावा किया करें, परिणाम अशाति के अतिरिक्त और कुछ नही। वर्तमान के सँभालने और आगे की सुध रखने का डंका पीटनेवाले संसार मे जितने अधिक होते जाते हैं, संघ शक्ति के प्रभाव से जीवन की उलझने उतनी ही बढ़ती जाती है।'[1] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी का लोकहित का प्रतिमान अतीत पर ही लागू होता है, वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों पर वे उसे लागू करना अनावश्यक समझते हैं। लोकहित का कोई प्रयत्न जब अतीत के वीर और आदर्श चरित्रो के जीवन मे दिखाई पड़ता है तो शुक्लजी उसपर मुग्ध हो उठते हैं, पर वही प्रयत्न जब वर्तमान समाज में संघो और सभाओ द्वारा सघटित रूप से किया जाता है तो वे उसे अशाति और उलझन का कारण मानते हैं। यह उनकी मध्यकालीन मर्यादावादी दृष्टि का ही परिणाम था जो सामाजिक व्यवस्था को यथास्थित देखना ही पसंद करती थी, किंतु शुक्लजी की यह दृष्टि अतिम दिनो में बदलने लगी थी। सन् १६३० ई० के बाद देश में जो अनेक प्रकार के राजनीतिक और आर्थिक आदोलन प्रारंभ हुए और साहित्य में उनकी जैसी अभिव्यक्ति होने लगी उन सबके प्रभाव से वे अछूते नही रह सके। इसी लिये अपने हिंदी साहित्य के इतिहास के परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण मे उन्होने पंत के 'युगांत' और 'युगवाणी' पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—'अब वह दुःख, पीडा, अन्याय अत्याचार के अंधकार को फाड़कर मंगलज्योति फूटती देखना चाहता है—मंगल का अमंगल के साथ वह संघर्ष देखना चाहता है जो गत्यात्मक जगत् का कर्मसौंदर्य है. ''इस प्रकार कवि की वाणी में लोकमंगल की आशा और आकाक्षा

१ चिंतामणि, प्रथम भाग।

के साथ घोर 'परिवर्तनवाद' का स्वर भी भर रहा है[1]।' यद्यपि शुक्लजी ने अंत में सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव कर लिया था पर वे उसे एक 'वाद' के रूप मे नहीं देखना चाहते थे क्योंकि 'वादो' को वे साहित्य के लिये अहितकर मानते थे। उनका कहना है कि 'जीवन के कई क्षेत्रो में जब एक साथ परिवर्तन के लिये पुकार सुनाई पड़ती है तब परिवर्तन एक 'वाद' का व्यापक रूप धारण करता है और बहुतो के लिये सब क्षेत्रो में स्वतः एक साध्य बन जाता है।'[2]

वस्तुतः शुक्लजी को आधुनिक युग में साहित्य, समाज और राजनीति के क्षेत्रो में विविध प्रकार के सैद्धांतिक वादो का प्रचलन बहुत पसंद नही था। साहित्य और कला के क्षेत्र में जल्दी जल्दी बदलनेवाले 'वादो' को तो वे चमत्कार-वादी लोगो की फैशन की प्रवृत्ति मात्र मानते थे। उनके अनुसार 'काव्यक्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे धीरे उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनो मे लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं'।[3] इस कथन का स्पष्ट अर्थ यही है कि 'वादो' या आदोलनो से साहित्य का विकास नही, ह्रास होता है। पर यूरोपीय देशो के साहित्य पर दृष्टिपात करने पर बात इसके बिलकुल विपरीत दिखाई पड़ती है। किसी साहित्य में नए आंदोलनो और सिद्धातो का होना उसके विकासमान, गत्यात्मक और जीवंत होने का प्रमाण है। यूरोप मे अधिकतर वादो का जन्म फ्रास में हुआ, पर वहीं का साहित्य यूरोप में सर्वाधिक समृद्ध और उन्नत माना जाता है। वादो का जन्म अनायास केवल फैशन के रूप में नहीं होता। उनके पीछे कोई न कोई दार्शनिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक या सौदर्यशास्त्रीय सिद्धांत कारणरूप मे अवश्य होता है। जिस देश में विचारको, चिंतको और दार्शनिको की अधिकता होती है वही 'वादो' का प्रचलन भी अधिक होता है। सामाजिक क्षेत्र में उथलपुथल, परिवर्तन और औद्योगिक विकास के कारण लोगो के मानसक्षितिज का विस्तार और बौद्धिक विकास भी तेजी से होता है। ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवी वर्ग किसी भी प्रकार की 'यथास्थिति' से संतुष्ट नही रहता, उसकी साहित्यिक और कलात्मक अभिरुचि बदलती रहती है, पूर्ववर्ती कलाप्रवृत्तियाँ असंतोषप्रद, अपूर्ण और दोषपूर्ण प्रतीत होने लगती हैं, फलस्वरूप नई कलात्मक प्रवृत्तियो का उदय होता है जिन्हें विभिन्न

१ हिंदी साहित्य का इतिहास—परिवर्धित संस्करण, पृ० ६५४—पृ० ६५५।

२ वही, पृ० ५६५।

३ चिंतामणि—प्रथम भाग, पृ० २३७।

'वादों' का नाम दे दिया जाता है। इस तरह नए वाद आधुनिकता के अनिवार्य अंग हैं। शुक्लजी की प्रवृत्ति इतनी अधिक आधुनिक नहीं थी कि वे नए साहित्यिक 'वादों' को सहानुभूति प्रदान करते। इसी लिये उन्होंने नवोदित छायावादी कविता की नवीनता को देखकर उसे पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद, कलावाद आदि का अनुकरण सिद्ध करने का प्रयास किया। यही नहीं, लगे हाथों उन्होंने अंग्रेजी कविता के बिंबवादी (इमेजिस्ट), प्रतीकवादी (सिंबोलिस्ट) अभिव्यंजनावादी (इक्सप्रेसेनिस्ट), संवेदनावादी (इंप्रेशनिस्ट) और नवीन मर्यादावादी (निओ क्लासिकलिस्ट) आंदोलनों की भी आलोचना कर डाली जिनका हिंदी कविता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। छायावाद को समझने में भी उन्हें इसी प्रकार की भ्रांति हुई। उन्होंने छायावाद को अभिव्यंजना की एक शैली मात्र माना है। उनके अनुसार वह नवीन सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों के कारण क्रांतिकारी रूप लेकर नहीं उत्पन्न हुआ था, बल्कि केवल शैली की नवीन प्रणाली को लक्ष्य मानकर सामने आया था[1]। आधुनिक कवियों की रहस्यवादी कविताओं को भी वे नवीन आध्यात्मिक चेतना और दार्शनिक प्रेरणा का परिणाम न मानकर पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी कवियों और रवींद्रनाथ ठाकुर का अनुकरण मात्र समझते थे। इससे आगे बढकर उन्होंने रहस्यवाद को आध्यात्मिक परदे में छिपा प्रणय वासना का उद्गार मान लिया।[2] इस तरह हिंदी साहित्य की समकालीन नवीन प्रवृत्तियों को शुक्लजी निष्पक्ष दृष्टि से नहीं देख सके। अपने पूर्वग्रहयुक्त दृष्टिकोण के कारण ही वे हिंदी की नवीन प्रवृत्तियों का सही मूल्यांकन करने में पूरे सफल नहीं रहे।

इन सीमाओं के होते हुए भी शुक्लजी का हिंदी आलोचना के क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है। उनकी प्रखर प्रतिभा का प्रकाश जहाँ भी पड़ा है, सत्य का उद्घाटन किसी न किसी अंश तक अवश्य हुआ है। इसका प्रमाण उनके समूचे आलोचना साहित्य में भरा पड़ा है। वैसे तो शास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में कोई भी सिद्धांत या अन्वेषण अंतिम नहीं होता सभी मान्यताएँ कालक्रम से परिवर्तित, विकसित अथवा तिरोहित होती रहती हैं, पर शुक्लजी की बहुत सी मान्तताएँ ऐसी नहीं हैं जो सहज ही भुला दी जायँ, हिंदी आलोचना आज भी बहुत कुछ उन्हीं के पथ पर चलती जा रही है।

१ तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था। —हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० ७८४।

२ वही—पृ० ६०१।

कुछ आलोचक तो उन्हीं के मतों की उद्धरणी करते हैं और कुछ उनके सूत्रों की व्याख्याएँ करके उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को प्रशस्त बनाने का उपक्रम करते दिखाई पड़ते है। आधुनिकता की बढती हुई प्रवृत्तियों के कारण उनके कुछ सिद्धांत आज अन्याय भी हो गए हैं। पर आश्चर्य की बात यह है कि उनके कुछ सिद्धात सूत्र आधुनिकतावादी दृष्टि से और आधुनिक साहित्य के लिये जितने सही प्रतीत होते हैं, शायद पूर्ववर्ती साहित्य के लिये उतने उपयुक्त नहीं थे। वे सूत्र तो अपने आप में वैज्ञानिक हैं, पर उनकी शुक्लजी ने जो व्याख्या की है, वह आज की दृष्टि से स्वीकार्य नही हो सकती। उदाहरण के लिये केवल एक सूत्र लेकर देखा जा सकता है—'काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नही चलता, बिंबग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिंबग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है'।[1] इस सूत्र को शुक्लजी ने अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से समझाया है। उनकी सभी व्याख्याओं का तात्पर्य यही है कि काव्य में विभाव ही प्रमुख होते हैं; अतः उनका ऐसा संश्लिष्ट चित्रण होना चाहिए कि पाठक का आलंबन के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित हो सके। उन्ही के शब्दों में—'विभाववस्तु चित्रमय होता है, अतः जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलंबन होती है वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने मे समर्थ हो सकता है[2]।' इस व्याख्या में शुक्लजी ने बिंबचित्रण का अर्थ वर्ण्य वस्तु का यथावत् और सश्लिष्ट चित्रण लिया है। काव्य में बिंबों की आवश्यकता पर आज के आधुनिकतावादी कवि और आलोचक भी बहुत जोर देते हैं। पर बिंबचित्रण से उनका तात्पर्य बाह्य वस्तुओं का स्थूल और यथावत् चित्रण नही है। बिंबचित्रण की क्रिया को वे कवि के चेतन मन की क्रिया नहीं मानते। उनके अनुसार बिंबों का मूल उत्स कवि का अचेतन मन है। अचेतन मे अज्ञात रूप से पड़ी हुई दमित और वर्जित वासनाएँ प्रतीकात्मक बिंबों का रूप धारणकर काव्य में अभिव्यक्त होती हैं अथवा कवि का अर्धचेतन मन (प्रीकांसस माइंड) अनजाने ही मुक्त आसंग पद्धति द्वारा असंबद्ध वस्तुओं के बिंब उपस्थित करता है। इस तरह आधुनिक मनोविश्लेषणशास्त्रीय दृष्टि से काव्य में बिंबयोजना तो अनिवार्यतः होती है, पर वे बिंब यथार्थ और संश्लिष्ट नही, विश्लिष्ट, असबद्ध, खंडित और प्रतीकात्मक होते हैं। शुक्लजी के अनुसार पाठक विभावगत बिंबों को ग्रहण करके उनसे रागात्मक संबंध स्थापित करता है। इस तरह साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा रसनिष्पत्ति होती है। आधुनिकतावादी आलोचक साधारणी-

१ चिंतामणि, प्रथम भाग, पृ० १४५।

२ रसमीमांसा—पृ० ११९।

करण का सिद्धात नहीं मानता, उसके अनुसार वे बिंब पाठक में विचारानुबंधन (एसोसिएशन आव आइडियाज) की पद्धति द्वारा उसके अवचेतन मे संचित अनुभवों को जाग्रत (इवोक) करते तथा ऐंद्रिय उत्तेजना द्वारा उनमें आवेग उत्पन्न करके उसको अपनी ओर आकृष्ट करते अथवा उसमें एक तटस्थ मानसिक तृप्ति की स्थिति उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः शुक्लजी की बिंबग्रहण की व्याख्या प्राचीन साहित्य के लिये विशेष रूप से प्राचीन भारतीय साहित्य के लिये तो सही है, पर आधुनिक साहित्य पर वह पूर्णतः लागू नहीं होती। हाँ, उनका मूल सूत्र अवश्य आधुनिक साहित्य के लिये भी पूर्णतया समीचीन प्रतीत होता है। उनके अन्य कई सिद्धातसूत्रो के संबंध मे भी यही बात कही जा सकती है।

अन्य समन्वयवादी आलोचक

शुक्लजी के समसामयिक समालोचकों मे बहुत कम ऐसे थे जिनमे समन्वय की शुक्लजी जैसी प्रतिभा वर्तमान थी। पुदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख ऐसे ही आलोचक हैं जिनमें शुक्लजी जैसी तर्कशक्ति और विश्लेषणबुद्धि तो नहीं है पर भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओ के समन्वय द्वारा संश्लिष्ट विचार उपस्थित करने की प्रवृत्ति है। बख्शीजी में शुक्लजी जैसी विश्वासो की दृढता और अन्विति नहीं है, न तो शास्त्रीय पांडित्य और तार्किक शुष्कता ही है। इसके विपरीत उनमे रवींद्रनाथ ठाकुर जैसी भाव-प्रवणता और प्रवाहमयता है। शुक्लजी के समान वे भारतीय साहित्यशास्त्र के किसी एक मत से बँधे नहीं हैं, उनकी आलोचनाओ में उनका उन्मुक्त मन और स्वतंत्र विवेक सर्वत्र दिखाई पड़ता है। उन्होने पाश्चात्य आलोचकों, दार्शनिकों और विचारकों के मतो को स्वतंत्रतापूर्वक ग्रहणकर उनकी परीक्षा और व्याख्या की है और उनके संबंध में भारतीय दृष्टि से अपना मत व्यक्त किया है। भारतीय और विदेशी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन उनकी समीक्षा का प्रमुख अंग है। उनके ग्रंथ 'विश्व साहित्य' में इसी प्रकार के निबंध संकलित हैं। इन्होने पश्चिमी दार्शनिकों की भाँति काव्य को भी कला के अंतर्गत ही माना है और कला का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध बताया है। उसी तरह इन्होने पाश्चात्य आलोचकों और विचारकों की पद्धति का अनुसरण करके समाज और साहित्य के संबंध का विश्लेषण करके समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक आलोचना का भी प्रारंभ किया जो बाद मे हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा प्रगतिवादी आलोचकों द्वारा विशेष रूप से विकसित की गई। 'विश्व साहित्य' के दो निबंध—साहित्य का विकास और साहित्य का समिलन-समाजशास्त्रीय पद्धति को अपनाकर ही लिखे गए हैं पर अन्य निबंधो मे उन्होने तुलनात्मक समन्वय की पद्धति अपनाई है। यद्यपि विश्व-

साहित्य में बख्शीजी के मौलिक विचार कम ही दिखाई पड़ते हैं, पर व्याख्या और चिंतन की शक्ति उनमें है, जिसके द्वारा दूसरे विचारकों और आलोचकों की मान्यताओं को भी उन्होंने अपना बनाकर अपने ढंग से उपस्थित किया है। फिर भी उनके अधिकांश निबंध परिचयात्मक और भाषणात्मक (रेटारिकल) ही हैं।

बख्शीजी के दूसरे आलोचनात्मक ग्रंथ 'हिंदी साहित्य विमर्श' में उनके विचारों में और भी अधिक प्रौढता और गंभीरता आ गई है। इस ग्रंथ के प्रारंभिक चार निबंधोंमें उन्होंने ऐसे प्रगतिशील और तत्वपूर्ण विचारों की अभिव्यक्ति की है कि आश्चर्य होता है। उस पुनरुत्थान के युग में ऐसे विचारों का आदर होना संभव न था पर १९३० ई० के बाद हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हीं की शैली का अनुसरण करके मानवतावादी विचारों की अभिव्यक्ति की।

शिलीमुख भी शुक्लजी के समसामयिक आलोचक हैं। यद्यपि इन्होंने शुक्ल युग में प्रेमचंद और प्रसाद के साहित्य के संबंध में व्यावहारिक आलोचना ही लिखीं, पर इनकी समीक्षा की विशेषता यह है कि व्यावहारिक आलोचनाओं में भी प्रारंभ से प्रतिमान स्थिर करने के लिये सिद्धांतों का विवेचन कर लेते हैं। इसी दृष्टि से इन्हें शुक्ल युग के सैद्धांतिक आलोचकों की श्रेणी में भी गिना जाता है। इनकी आलोचनापद्धति भी समन्वयात्मक ही है। इन्होंने आलोचना के सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक पक्ष के समन्वय पर विशेष ध्यान दिया है। साथ ही साहित्य-सिद्धांतों के विवेचन में भी इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों को समन्वित करके एक नवीन विचारसरणि निर्मित की है। इनमें मौलिकता बहुत अधिक थी, पर उसका जैसा विकास होना चाहिए वैसा न हो सका जिसके कारण हिंदी आलोचना में ये अपना स्थान ऊँचा न बना सके। इनकी प्रारंभिक आलोचना पुस्तकें 'प्रसाद की नाट्यकला, सुकवि समीक्षा, आलोचना समुच्चय' आदि हैं। इनके १९४० ई० के पूर्व के लिखे गए निबंधों का संकलन बाद में प्रकाशित हुआ है। इन ग्रंथों के संबंध में व्यावहारिक आलोचना के प्रसंग में विचार किया जायगा।

रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदर दास की बौद्धिक छाया में रहकर जिन छात्रों ने हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य का अध्ययन किया उनमें से कुछ आगे चलकर अत्यंत प्रभावशाली आलोचक हुए। सन् १९४० ई० के पूर्व तो उनका आलोचनात्मक व्यक्तित्व उभर ही रहा था, पर उनकी प्रवृत्तियों और दृष्टिकोण का निर्माण उसी समय होने लगा था जो उनकी तत्कालीन आलोचनात्मक कृतियों में देखा जा सकता है। ऐसे आलोचकों में विश्वनाथप्रसाद मिश्र जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, कृष्णशंकर-

शुक्ल, लक्ष्मीनारायण सुधाशु और जनार्दन प्रसाद झा द्विज, प्रमुख हैं। इनमे से नददुलारे वाजपेयी पर शुक्लजी की समीक्षापद्धति और मान्यताओ का उतना प्रभाव नहीं था जितना प्रसाद, निराला आदि छायावादी कवियो की विचारधारा का। साथ ही उनकी प्रवृत्ति इतनी स्वतंत्र थी कि वे शुक्लजी की मर्यादावादी मान्यताओ को स्वीकार नही कर सकते थे। शेप व्यक्तियो में से कुछ ने तो श्याम-सुदर दास की पद्धति अपनाकर शैक्षणिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया, कुछ ने शुक्लजी और श्यामसुंदरदास की शोधवृत्ति को अपनाया, कुछ ने शुक्लजी के पदचिह्नो पर सच्चे शिष्य की भाँति चलने का व्रत लिया और कुछ उनकी समन्वयात्मक समीक्षापद्धति की सीमा में रहकर भी उनकी विचारभूमि से हटकर स्वतंत्र मार्ग पर चलते रहे। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की शैक्षणिक समन्वयपद्धति की बात पहले कही जा चुकी है। डा० बड़थ्वाल शोधवृत्तिवाले आलोचक थे, अतः सैद्धातिक विवेचना उन्होने बहुत कम की है, ग्रंथसंपादन और काव्य-प्रवृत्तियो के मूल स्रोतो का अन्वेपण ही उन्होने अधिक किया है। साहित्यिक सिद्धातो की जगह दार्शनिक सिद्धातो के विवेचन मे उनकी वृत्ति अधिक रमी है। कृष्णशंकर शुक्ल, जनार्दन प्रसाद झा द्विज और केसरीनारायण शुक्ल ने शुक्लजी की पद्धति पर ही व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखी, विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र पर लाला भगवानदीन और रामचंद्र शुक्ल का समान प्रभाव था। इस कारण उनमें एक ओर तो लालाजी की भाँति साहित्यशास्त्र के परिचयात्मक ग्रंथ और टीकाएँ लिखने तथा रीतिकालीन कवियो के ग्रंथो का सपादन करने की प्रवृत्ति थी, दूसरी ओर शुक्ल जी की तरह शास्त्रीय और पाश्चात्य मनो-वैज्ञानिक पद्धतियो का समन्वय करके व्यावहारिक आलोचना लिखने की ओर भी रुचि थी। इनकी इन दोनो प्रवृत्तियो का समुचित विकास शुक्लोत्तर युग मे हुआ है। इस तरह इन लोगो में से केवल लक्ष्मीनारायण सुधाशु ही ऐसे आलो-चक हैं जिन्होने शुक्ल युग में ही शुक्लजी के संश्लेपणात्मक समन्वय की पद्धति को अपनाकर, पर उनके विचारो से अपने को यथासंभव स्वतंत्र रखते हुए सैद्धातिक समीक्षा लिखी।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

शुक्ल युग में सैद्धातिक आलोचना लिखनेवालो में शुक्लजी के बाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान सुधाशुजी का ही है। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (सन् १९३६ ई०) उनकी प्रथम आलोचनात्मक कृति है जिसकी रचना डा० श्यामसुंदरदास की प्रेरणा से हुई थी। उस समय तक रामचंद्र शुक्ल के ग्रंथ 'काव्य में रहस्यवाद' और 'हिंदी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हो चुके थे जिनमें उन्होने अभिव्यंजना की कटु आलोचना की थी। अभिव्यंजनावाद के संबंध में

शुक्लजी का यह स्पष्ट मत था कि 'अभिव्यंजनावाद वस्तु या प्रभाव का विचार छोड़कर केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़कर चला है, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गंभीर वृत्तियों से कोई संबंध नहीं।'[1] साथ ही उनकी यह भी धारणा थी कि 'योरप का अभिव्यंजनावाद हमारे यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद—वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्—का ही नया रूप या विलायती उत्थान है।'[2] वे यह भी मानते थे कि 'छायावाद' समझकर जो कविताएँ हिंदी मे लिखी जाती हैं उनमें से अधिकाश का छायावाद से या रहस्यवाद से कोई संबंध नहीं होता। उनमें से कुछ तो विलायती अभिव्यंजनावाद' के आदेश पर रची हुई बँगला कविताओं की नक्ल पर और कुछ अँग्रेजी कविताओं के लाक्षणिक चमत्कारपूर्ण वाक्य शब्द प्रतिशब्द उठाकर जोड़े जाते हैं।'[3] शुक्लजी के इन्हीं मतो का खंडन करने अथवा उनका परीक्षण करने की दृष्टि से ही संभवतः इस ग्रंथ का निर्माण हुआ था। इसकी भूमिका में ही सुधांशुजी ने हिंदी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव को 'स्वास्थ्यवर्धक' बताकर शुक्लजी की अनुकरणवाली धारणा का विरोध किया है, यद्यपि अंशतः उस बात को उन्होंने भी स्वीकृत किया है कि 'हिंदी काव्य में जब अनुकरणप्रियता बढ़ने लगी तब कविगण भाषा की शक्ति से कभी कभी अधिक काम लेने लगे।'[4]

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में लेखक का मुख्य उद्देश्य क्रोचे के सौंदर्य शास्त्रीय सिद्धांतो अथवा अँगरेजी की प्रभाववादी आलोचना की व्याख्या करना नहीं बल्कि अभिव्यंजना संबंधी भारतीय सिद्धातो का क्रोचे के सिद्धातो के साथ समन्वय करना है। इस कारण भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'क्रोचे के सिद्धातो में जो बाते भारतीयता के निकट प्रतीत हुईं उनपर मैने अधिक ध्यान रखने की कोशिश की है; किंतु अपनी भाषा तथा विचार की सांस्कृतिक विभिन्नता के सिद्धांत की चर्चा करने की जहाँ गुँजाइश न थी वहाँ मैंने उसे छोड़ दिया है।' इस तरह यह पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद की परिचयात्मक व्याख्या करनेवाला ग्रंथ नहीं है; इसके विपरीत इसमें काव्य में अभिव्यंजना के स्वरूप की भारतीय और पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी दोनो दृष्टियों से व्याख्या की गई है। ग्रंथ के प्रारंभ में ही उन्होंने काव्य के संबंध में यह स्थापना की है कि काव्य का मुख्य साधक तत्व कल्पना है, बुद्धि नही और कल्पना सहजज्ञान (सहजानुभूति) ही है,

१ काव्य में रहस्यवाद—चिंतामणि, भाग २—पृ० १०५।
२ वही, पृ० १०७।
३ वही, पृ० १०८।
४ काव्य में अभिव्यंजनावाद—प्रथम संस्करण की भूमिका।

इस कारण 'काव्य के लियेसहजानुभूति (इंट्यूशन) ही सर्वस्व है, उसमें बुद्धि का व्यायाम हो जाने पर वह काव्यकार और पाठक दोनो के लिये समस्या उपस्थित कर देता है।' उनके अनुसार सहजानुभूति कल्पना का वह रूप है जो कवि की आत्मा में काव्य वस्तु का बिंब अनायास उपस्थित कर देता है। बुद्धि द्वारा रचित काव्य विचारप्रधान और सहजानुभूतिवाला काव्य बिंबप्रधान होता है। इस कारण रससंचार करने की शक्ति सहजानुभूतिजन्य काव्य में ही होती है। इस प्रकार सुधांशुजी ने अपनी स्थापना में ही क्रोचे के सहजानुभूति के सिद्धात और शुक्लजी के बिंबग्रहण द्वारा साधारणीकरण या रसनिष्पत्ति के सिद्धातों का इस तरह समन्वय कर दिया है कि दोनो में कोई तात्विक विरोध नहीं रह जाता।

रामचंद्र शुक्ल ने क्रोचे के सिद्धात का खंडन मुख्यत: इस धारणा के आधार पर किया है कि वह कलाकृति के रूपाकार (फार्म) को ही सब कुछ मानता है भाव या वस्तु को बिलकुल महत्व नही देता[1]। शुक्लजी की यह धारणा इतनी प्रचलित हो गई थी कि अधिकतर आलोचक क्रोचे के मूल ग्रंथ का अध्ययन किए बिना ही आँख मूँदकर शुक्लजी की बात दुहराने लगे थे। सुधांशुजी ने वास्तविकता को प्रकटकर हिंदी आलोचना के क्षेत्र मे बहुत महत्व का कार्य किया है उन्होने प्रमाणित किया है कि काव्य मे विचार और सहजानुभूति मिले रहते हैं, क्रोचे ने सहजानुभूति के आध्यात्मिक व्यापार में वस्तु के महत्व को स्वीकार किया है। यद्यपि उसने रूपाकार को सर्वाधिक महत्व दिया है, पर साथ ही यह भी माना है कि बिना वस्तु के सहजानुभूतिजन्य बिंबो या रूपाकारों का निर्माण हो ही नही सकता। शुक्लजी कहते हैं कि 'क्रोचे ने भावों या मनोविकारो तक को काव्य की उक्ति का विधायक तत्व नहीं माना है' पर सुधांशुजी ने बताया है कि क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति या सहजोपलब्ध ज्ञान व्यक्ति की अंतर्वृत्तियो पर निर्भर करता है। वस्तुतः शुक्लजी मुख्य रूप से अभिधावादी थे, वे वस्तु के संश्लिष्ट चित्रण को ही काव्य मानते थे चाहे उसमें कल्पना का योग हो या न हो। उन्होने अनेक स्थलों पर यह मत प्रतिपादित किया है कि यह प्रत्यक्ष वस्तु जगत् भी काव्य ही है, अतः इस बाह्य जगत् को आलंबन बनाकर जब उसका संश्लिष्ट बिंब, जैसा का तैसा

१ 'इटली निवासी क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद के निरूपण में बडे कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति को ज्ञान या बोधस्वरूप ही माना है। उन्होंने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (इंट्यूशन), प्रत्यक्ष ज्ञान तथा बुद्धिव्यवसायसिद्ध या विचारप्रसूत ज्ञान से भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तुव्यापारयोजना का ज्ञानमात्र माना है। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचारप्रसूत ज्ञान दोनों से भिन्न मानते है।'—साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद—चिंतामणि, भाग १, पृ० २३९—४०।

उपस्थित कर दिया जाय तो वह काव्य हो जायगा। इसके विपरीत क्रोचे अभिव्यंजनावादी या भारतीय साहित्यशास्त्र की शब्दावली में 'व्यंजनावादी' था। उसके अनुसार काव्य या कला की आत्मा मे जो अभिव्यक्ति होती है उसमे बाह्य वस्तु या मन पर पड़े उसके प्रभाव केवल द्रव्य रूप मे होते हैं, आत्मा के भीतर जो प्रातिभ कलात्मक साँचा है उसी में ढलकर वस्तु और भाव कलारूप धारण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि क्रोचे बाह्य वस्तुजगत् तथा मन के भावो को का य की सामग्री तो मानता है, पर स्वय उन्हें ही काव्य नही मानता। इसी दृष्टिभेद तथा अपने मत के कठोर आग्रह के कारण शुक्लजी ने क्रोचे के मतो को तोड़-मरोड़ कर उपस्थित किया है अथवा मनमाने ढंग से उनकी व्याख्या की है ताकि मनोनुकूल उनका खंडन कर सके। 'काव्यवस्तु का तिरस्कार करना अभिव्यंजनावाद का कदापि लक्ष्य नही है। जिस रूप मे अभिव्यंना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला मे अनावश्यक है।...यदि सहजानुभूति हो तो अभिव्यंजनावादी भावव्यंजना और वस्तुव्यंजना दोनो मे काव्यत्व मानते हैं[१]।'

शुक्लजी रसवादी होने के कारण भाव और विभाव (वस्तु पक्ष) पर बहुत अधिक बल देते हैं और अभिव्यंजना की शैली को उतना महत्त्व नहीं देते। इसका कारण यह है कि वे काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष को अलग अलग करके देखते हैं। पर अभिव्यंजनावाद के अनुसार दोनो पक्ष-अनुभूति और अभिव्यंजना-अभिन्न हैं। अनुभूति (वस्तु या भाव) द्रव्य है और उसी को विशिष्ट रूपाकार मे सहजानुभूति आत्मा में अभिव्यक्त करती है। यह आतरिक अभिव्यक्ति ही कला है। बाह्याभिव्यंजन तो उस आतरिक अभिव्यक्तिकी अनुकृति मात्र है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सुधांशुजी लिखते हैं—'ये दोनो वस्तुतः दो नहीं, एक ही हैं—एक अंतस् है, दूसरा बाह्य। एक से दूसरे का विरोध नही होता, प्रत्युत् अंतस् बाह्य के साथ तादात्म्य ही होना चाहता है। वस्तु या भाव को जब इच्छित आकृति प्राप्त हो जाती है तब वह स्वतः अभिव्यंजित हो जाती है।'[२]

शुक्लजी काव्य में वस्तु या वास्तविक जीवन को इतना महत्त्व देते थे कि वे वस्तु के यथातथ्य चित्रण को भी काव्य मानने को तैयार थे। उनके अनुसार जिस मर्मस्पर्शिणी वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञानेंद्रियो द्वारा या कल्पना के सहारे हमने साक्षात्कार किया हो उसे अपना प्रभाव उत्पन्न करने के लिये औरो

१ काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ४७—४८।

२ वही, पृ० १७।

तक ठीक ठीक पहुँचाकर यदि हम अलग हो जायँ तो कविकर्म कर चुके।[१] सुधांशुजी शुक्लजी के इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार वस्तु का यथातथ्य चित्रण अर्थात् अभिधात्मक वर्णन काव्य नहीं हो सकता। वे कहते हैं, 'जो दृश्य या तथ्य जैसा है उसको ठीक वैसा ही व्यक्त करना काव्य नहीं है।··· प्रकृति मे जो प्रत्यक्ष है वही काव्य मे परोक्ष हो जाता है, अतएव इस परोक्ष को फिर से प्रत्यक्ष बनाने के लिये सामान्य अनुकृति से काम नहीं चल सकता। जो अपना भाव है उसे दूसरो का भाव बनाने के लिये साधारण ढंग से कृतकार्यता नहीं हो सकती।'[२] अतः वे यह मानते हैं कि 'बाह्य जगत् के दृश्यो को देखकर हमारे चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है उससे प्रभावित होकर हम अपने अंतर्जगत् में कल्पना की सहायता से उसको व्यंजित करते हैं।···काव्य में हम अपनी कल्पना और भावना के उत्कर्ष के लिये सत्य को अविकल रूप में ग्रहण नहीं कर सकते।'[३] इसी तरह अन्य स्थलो पर भी सुधांशुजी ने शुक्लजी की मान्यताओ से अपनी असहमति प्रकट की है। शुक्लजी की मान्यता थी कि अभिव्यंजनावाद केवल वाग्वैचित्र्य को लेकर चलता है, सुधांशुजी ने इस भ्रम का निराकरण करते हुए बताया है कि अभिव्यंजना का अर्थ केवल इतना ही है कि मूल वस्तु में काव्यत्व नहीं रहता, उसकी सच्ची व्यंजना में काव्यत्व मानना चाहिए।' इस तरह उन्होंने सिद्ध किया है कि अभिव्यंजनावाद वाग्वैचित्र्यवाद नहीं है। इसके विपरीत भारतीय साहित्यशास्त्र में मान्य व्यंजना वृत्ति के सिद्धांत से उसकी तुलना की जा सकती है जिसमे 'अभिधा द्वारा सीधे कथन में काव्यत्व न मानकर व्यंजक वाक्य में उसकी अवस्थिति मानी जाती है।'[४] वाग्वैचित्र्य से शुक्लजी का तात्पर्य वक्रोक्ति या वाग्भंगी-भणिति से था और इसी लिये वे अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का 'विलायती उत्थान' मानते थे। सुधांशुजी ने इस धारणा को भी भ्रमपूर्ण बताया है और कहा है कि 'वक्रोक्तिवाद' की प्रकृति अलंकार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है, लेकिन अभिव्यंजनावाद का बाह्य रूप से अलंकार के साथ कोई संबंध नहीं है। अलंकार अनुगामी होकर अभिव्यंजना के पीछे चल सकता है,···जिस उक्ति से किसी दृश्य का मनोरम बिंबग्रहण हो वह वक्रताहीन रहने पर भी अभिव्यंजनावाद की चीज है। वक्रोक्तिवाद में स्वभावोक्ति को स्थान नहीं दिया गया है।'[५] इस

१ काव्य में रहस्यवाद—चिंतामणि, भाग २— पृ० १११।
२ काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ३२।
३ वही, पृ० २८।
४ वही, पृ० ५०।
५ वही, पृ० ५०।

तरह सुधांशुजी ने शुक्लजी के बिंबग्रहण के सिद्धांत और अभिव्यंजनावाद की सहजानुभूति की बिंबात्मक अभिव्यक्ति मे कोई तात्विक अंतर नहीं माना है। शुक्लजी ने स्वयं यह बात बार बार कही है कि काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नही। एक स्थान पर उन्होने अपने इस मत की पुष्टि क्रोचे के सिद्धांत का उल्लेख करके इस प्रकार की है—'अनेक व्यक्तियों के रूप गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातो को लेकर कोई सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है, कल्पना में बिंब (इमेज) या मूर्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (कंसेप्ट) लाना नही। बिंब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।'[१] यह पूरी मान्यता क्रोचे की ही है। शुक्लजी ने इस बात को छिपाया भी नही है, बल्कि पादटिप्पणी मे क्रोचे के कला के बोध पक्ष और तर्क के बोध पक्षवाले विभाजन का उल्लेख कर दिया है। संभवतः बिंबग्रहण का सिद्धांत शुक्लजी को अभिव्यंजनावाद से ही मिला था जिसे उन्होने रसविवेचन में साधारणीकरण के भारतीय सिद्धांत के अंतर्गत समेट लिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सुधांशुजी ने अत्यंत निष्पक्ष और तटस्थ भाव से अभिव्यंजनावाद की व्याख्या की है और उसका पर्याप्त समर्थन भी किया है। पर कही कही उन्होने शुक्लजी के स्वर में स्वर मिलाकर उसकी आलोचना भी की है। अभिव्यंजनावाद के नाम पर वाग्वैचित्र्य का जाल फैलानेवालों की निंदा करते हुए उन्होंने लिखा है—'अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य को जितना स्थान मिला है उससे अधिक कलाकारों ने उसके नाम पर वाग्विस्तार किया है। वाग्वैचित्र्य हृदय की गंभीर वृत्तियों से वस्तुतः संबंध नही रखता।'[२] इसी तरह अभिव्यंजनावाद से ही उद्भूत प्रभाववादी आलोचना की भी निंदा की है। ब्रैडले के 'कला कला के लिये' के सिद्धांत का विरोध करते हुए उन्होने कला का सोद्देश्य होना आवश्यक बताया है। शुक्लजी की भाँति वे भी कला का उद्देश्य लोकहित मानते तथा उसे ही समीक्षा का मानदंड बताते हैं। इस मान्यता के कारण वे कला का जीवन से अविच्छिन्न संबंध मानते हैं।[3] उनके अनुसार स्वांतःसुखाय काव्यरचना करनेवाले भी जनसमाज को ध्यान में रखते हैं क्योंकि

१ रसमीमांसा, पृ० ३१०।
२ काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ५०।
3 वही, पृ० ३७।

काव्य को दूसरो तक संप्रेषित करना होता है। शुक्लजी ने रवींद्रनाथ ठाकुर को भी कलावादी ही माना है, पर सुधांशुजी ने इस मत का खंडन करते हुए यह सिद्ध किया है कि रवि बाबू कलावादी नही, जीवन सौंदर्यवादी थे और कला को सोद्देश्य मानते थे।

कई और बातो के संबंध में भी सुधांशुजी शुक्लजी का पूर्ण समर्थन करते हैं। अभिव्यंजनावाद का समर्थन करते हुए भी वे मूलतः शुक्लजी की तरह रस-वादी ही हैं। अपने ग्रंथ के तीसरे अध्याय में रसानुभूति के तत्वो की व्याख्या करते हुए उन्होने साधारणीकरण, सामाजिक नैतिकता, आलंबन धर्म, तादात्म्य और शीलदर्शन, धर्म और पाप, रसानुभूति के स्वरूप, प्रस्तुत विधान आदि की विवेचना शुक्लजी के अनुसार ही की है। शुक्लजी के समान सुधांशु जी भी काव्य के दो पक्ष-भाव पक्ष और कला पक्ष मानकर चले हैं और ऐसे अलंकारों का विरोध किया है जो भाव का उत्कर्ष नही बढाते, बल्कि केवल चमत्कार उत्पन्न करते हैं। उन्होने अलंकारो की अधिकता के कारणो की भी बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से विवेचना की है और छायावादी कवियो की कविताओं से उदाहरण देकर स्वाभाविक और भावोत्कर्षक अलंकारो के प्रयोग का महत्व प्रतिपादित किया है। इस प्रसंग में उन्होने भी शुक्लजी की भाँति अप्रस्तुत योजना में कल्पना की अतिशयता की निंदा की है और उसका अनुभूति की वशवर्तिनी होना आवश्यक माना है। उनके अनुसार 'हृदय की अनुभूति गंभीर होती है, अतः गंभीर भावो से लदे हुए अलंकारो में जो गंभीरता होगी वह हवाई जहाज की तरह उड़नेवाली आधारहीन कल्पना के बल पर निर्मित अलंकारो मे संभव नहीं।'[1] शुक्ल जी के समान उन्होने भी माना है कि कल्पना का उपयोग केवल अप्रस्तुत विधान में ही नहीं, प्रस्तुत के चित्रण में भी होना चाहिए।

किंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सुधांशुजी सभी बातो में शुक्लजी के अनुयायी हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, अभिव्यंजनावाद के संबंध में उन्होने शुक्लजी धारणाओ का खंडन किया है। प्रतीकविधान तथा अमूर्त के मूर्तविधान की व्याख्या उन्होने बहुत कुछ स्वतंत्र ढंग से की है। यद्यपि शुक्लजी ने भी 'काव्य में रहस्यवाद' में प्रतीकयोजना पर विचार किया है, पर सुधांशुजी ने प्रतीक-योजना का विचार छायावादी कविता को आधार बनाकर किया है और इस प्रकार की कविताओं का समर्थन किया है। उसी तरह अमूर्त के मूर्तविधान के संबंध में विचार करते समय भी उन्होने छायावादी कविता को लाक्षणिकता और व्यंजकता

[1] काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० १६३।

पर पर्याप्त विचार किया है। इस समस्त विवेचना में उनकी सूक्ष्म दृष्टि, गहरी पैठ और मौलिक उद्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं। काव्य की रचनाप्रक्रिया, काव्य में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति तथा सौंदर्यानुभूति और काव्यानुभूति की एकता के संबंध में उनके विचार सर्वथा मौलिक हैं। रचनाप्रक्रिया के संबंध में शुक्लजी ने कहीं विस्तार से विवेचना नहीं की है और जो कुछ उस संबंध मे कहा है उसका आशय यही है कि कवि सचेतावस्था मे सोच समझकर काव्यरचना करता है। पर सुधांशुजी यह मानते हैं कि 'कलानिर्माण के लिये न तो पूर्ण चेतनता आपेक्षित है और न अचेतनता। वह एक ऐसी अवस्था है जिसमें कलाकार की समस्त शक्ति, प्रवृत्ति, मनोवेग एक ही दिशा में काम करते हैं।'[1] यह सिद्धात रचनाप्रक्रिया से संबंधित मनोविश्लेषणशास्त्रीय और रीतिवादी (क्लासिकल) दोनो मान्यताओ से भिन्न है। मनोविश्लेषणशास्त्र के अनुसार काव्यरचना अचेतन मन का व्यापार है और रीतिवादियो के अनुसार चेतन मन का सचेत व्यापार। वस्तुत यहाँ सुधाशुजी ने पाश्चात्य स्वच्छंदतावादी कवियो की भाँति तन्मयता का सिद्धात प्रतिपादित किया है। रचनाप्रक्रिया की इस मनोदशा को आधुनिक आलोचक पूर्वचेतन मन (प्री काशिअस माइंड) का व्यापार कहते हैं जो चेतन और अचेतन मन के बीच की असाधारण मनोदशा है।

इस प्रकार सुधाशुजी सच्चे अर्थ में संश्लेषणात्मक समन्वयवादी आलोचक हैं। उन्होने आधुनिक काव्य को ध्यान मे रखकर तथा पूर्वग्रहरहित होकर पाश्चात्य और भारतीय काव्यसिद्धातो के ग्राह्य तत्वो को अपनाया तथा उनके संश्लेषण और सामंजस्य द्वारा शुक्लजी की समीक्षापद्धति को आगे बढाया है। उनकी दूसरी आलोचनात्मक कृति 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धात' में, जिसका प्रकाशन हमारे आलोच्य काल के बाद हुआ, उनके परिपक्व और विकसित आलोचनात्मक व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। यदि राजनीति ने उनके जीवन पर अनपेक्षित अधिकार न कर लिया होता तो निश्चय ही सैद्धातिक आलोचना के क्षेत्र मे आज उनका अद्वितीय स्थान होता। उनके प्रथम आलोचनात्मक ग्रंथ मे ही उक्त संभावना के बीज वर्तमान थे।

(ग) स्वच्छंदतावादी आलोचना

छायावादी कवि आलोचक—छायावाद युग मे जिस प्रकार काव्य कला संबंधी धारणाएँ और प्रतिमान बदल गए और काव्यशास्त्र तथा परंपरागत मान्य-

[1] काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ४१।

ताओं के बंधन को तोड़कर आत्मानुभूति की स्वच्छंद अभिव्यक्ति को लेकर कविता आगे बढ़ी, उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में भी काव्यशास्त्रसंमत अथवा पूर्वमान्य आलोचनात्मक प्रतिमानों को आधुनिक साहित्यिक चेतना के मूल्यांकन में असमर्थ समझकर स्वच्छंद चिंतनप्रधान आलोचना का प्रारंभ और विकास हुआ। इस प्रकार की आलोचना का प्रारंभ मुख्यतः छायावादी कवियों द्वारा अपनी काव्यकृतियों की भूमिकाओं में व्यक्त किए गए काव्य-कला-संबंधी विचारों से हुआ। इन कवियों को छायावाद की नई काव्यचेतना के विरोधी आलोचकों को उत्तर देने के लिये और साथ ही अपनी रचनाओं की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिये ये भूमिकाएँ लिखनी पड़ीं। इन भूमिकाओं में काव्यसौंदर्य तथा भाषाशिल्प संबंधी नए प्रतिमानों की स्थापना के साथ साथ काव्यबोध और प्रेषणीयता के नए स्तरों की ओर पहली बार इन कवियों ने ध्यान आकृष्ट किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि सौंदर्य बोध और कलात्मक रुचि संबंधी ये नवीन धारणाएँ इन कवियों की स्वतंत्र रचनात्मक प्रतिभा और काव्य की रचनात्मक प्रक्रिया पर आधारित थीं, अतः इनमें किसी भी प्रकार के शास्त्रीय बंधन और रूढ़ि का आग्रह न होकर स्वोपलब्ध विचारों की प्रधानता थी। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार की स्वच्छंद आलोचनापद्धति छायावादी कवियों की बिलकुल मौलिक देन थी। वस्तुतः साहित्य में जहाँ और जब भी स्वच्छंदतावादी काव्यप्रवृत्ति आई है, आलोचना की स्वानुभूतिपूर्ण स्वच्छंद पद्धति का प्रारंभ हुआ है। अँगरेजी के स्वच्छंदतावादी कवियों द्वारा व्यक्त किए गए काव्यसंबंधी विचारों को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। हिंदी में भी स्वच्छंदतावादी आलोचना के विकास का यही कारण है। हिंदी के छायावादी कवियों द्वारा लिखी गई आलोचनाओं के स्वच्छंद होने का केवल इतना ही अर्थ है कि इनमें किसी शास्त्र, नियम, परंपरा या निर्दिष्ट सिद्धांत को आधार नहीं बनाया गया है। आलोचकों की स्वच्छंद पद्धति का यह भी अर्थ नहीं है कि काव्यसंबंधी भारतीय अथवा पाश्चात्य शास्त्रीय सिद्धांतों और पूर्व मान्यताओं की बिलकुल उपेक्षा कर दी जाय। इसके विपरीत ये मान्यताएँ सामूहिक उपलब्धि के रूप में आवश्यकता के अनुसार विवेचन विश्लेषण की प्रक्रिया में सहायक होती या हो सकती हैं और आलोचक के स्वतंत्र समीक्षात्मक दृष्टिकोण को संश्लिष्ट रूप में प्रभावित कर सकती हैं।

सुमित्रानंदन पंत—ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना की इस स्वच्छंद पद्धति का प्रारंभ सुमित्रानंदन पंत द्वारा १९२६ ई० में लिखी गई 'पल्लव' की समीक्षात्मक भूमिका से होता है। इस भूमिका में पंतजी ने मुख्य रूप से काव्यशिल्प के संबंध में ही विचार किया है, किंतु रीतिकालीन काव्य और रीतिबद्ध समीक्षा सिद्धांतों के संबंध में जो धारणाएँ उन्होंने व्यक्त की हैं, उनसे काव्य

के आतरिक मूल्यो के संबंध में भी अप्रत्यक्ष रूप से उनके विचार मालूम हो जाते हैं। 'एक ही के भीतर बीस डिब्बेवाले खिलौनो की तरह एक ही के अंदर सहस्र नायिकाओ के स्वरूप' दिखलानेवाली रूढ़िबद्ध रीतिकालीन कविता की संकीर्णता और उसके प्रशंसको की नवीन सौदर्यबोध को ग्रहण कर सकने में असमर्थ संसारगत विकृत काव्यरुचि का उद्घाटन करके पंतजी ने काव्य के आंतरिक सौंदर्य के मूल्यांकन के लिये निर्दिष्ट सिद्धातो को छोड़कर स्वतंत्र रूप से नवीन समीक्षापद्धति की आवश्यकता की ओर आलोचको का ध्यान आकृष्ट किया। सत्साहित्य की रचना के लिये युगानुरूप आलोचना की नवीन पद्धति को आवश्यक बतलाते हुए उन्होने लिखा है कि 'जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपांतर न हो, वह विश्वभारती के आधुनिक, विकसित तथा परिष्कृत स्वरो मे न अनुवादित हो जाय, तब तक हिंदी में सत्साहित्य की सृष्टि भी नही हो सकती'।

इस आवश्यता को ही ध्यान मे रखकर उन्होने काव्यशिल्प के संबंध मे हिंदी में पहली बार स्वतंत्र रूप से विस्तार के साथ विचार किया। काव्य में भाव और अभिव्यंजना के सामंजस्य को पहली बार इतने वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया गया। कवि होने के कारण पंतजी ने काव्य की रचनाप्रक्रिया के आधार पर काव्य के शिल्पविधान के संबंध मे विचार किया, इसलिये भाषा, छंद, लय आदि को लेकर काव्यशिल्प की अंतरात्मा का जितनी गहराई और सूक्ष्मता से सोदाहरण विवेचन इस भूमिका मे प्रस्तुत किया गया, वैसा अन्य कोई शुद्ध आलोचक नही कर सका—और कर सकता था, इसमे भी संदेह है। इस सबंध मे पंत जी की प्रमुख स्थापनाएँ हैं—

(१) कविता की भाषा चित्रात्मक होनी चाहिए, अर्थात् काव्य में भावो के अनुरूप चित्रो और रागों की योजना होनी चाहिए।

(२) कविता मे शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतंत्र सत्ता नही रहती, वे दोनो भाव की अभिव्यक्ति मे डूब जाते हैं।

(३) हिंदी का संगीत केवल मात्रिक छंदो ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्हीं के द्वारा उसमे सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है।

(४) काव्यसंगीत के मूल तंतु स्वर हैं, न कि व्यंजन।

(५) भाव तथा भाषा का सामंजस्य मुक्त छंद में अधिक पूर्णता के साथ निभाया जा सकता है। मुक्त छंद मे लिखी गई कविता मे अंगो के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है।

(६ , छंद का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, इसलिये दोनो में स्वरैक्य होना चाहिए।

इस प्रकार अपनी सूक्ष्म विश्लेषणात्मक प्रतिभा द्वारा पंतजी ने काव्य के शिल्पविधान पर विचार करने की नवीन पद्धति का ही प्रारंभ नही किया, बल्कि उनके शिल्पी कवि आलोचक ने कविता की रचनाप्रक्रिया को ध्यान में रखकर आधुनिक कविता के आलोचको को कलात्मक मूल्यो के आकलन के लिये अनेक स्वानुभूत मौलिक और महत्वपूर्ण सूत्र दिए। पंतजी की काव्यकला के विवेचन में तो आलोचको ने इन सूत्रो को ग्रहण किया ही, अन्य छायावादी कविताओ के विवेचन के लिये भी इनका पर्याप्त उपयोग किया गया।

जयशंकर प्रसाद

पंतजी के बाद अपेक्षाकृत अधिक सुव्यस्थित और तर्कपूर्ण आलोचनात्मक प्रतिभा सादजी में दिखलाई पडती है। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य का प्रसादजी ने गहन अध्ययन किया था; अतः उनकी आलोचना मे भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र और दर्शन की महत्वपूर्ण उपलब्धियो को अपने मतो और सिद्धातो की पुष्टि के लिये आवश्यकतानुसार प्रमाण रूप में प्रायः उपस्थित किया गया है। साहित्यशास्त्र और दार्शनिक विचार परंपरा के प्रायः उल्लेख और उद्धरण से यह भ्रम हो सकता है कि प्रसादजी किसी न किसी रूप में आलोचना की शास्त्रीय परंपरा के ही समर्थक थे। किंतु आलोचना की शास्त्रीय पद्धति और इस पद्धति में मौलिक अंतर यह है कि इसमें साहित्यशास्त्र को कसौटी न मानकर साहित्यिक मूल्याकन के व्यापक प्रतिमान को स्थिर करने और काव्यकला संबंधी नवीन मान्यताओ को परंपरा के संदर्भ में देखने के महत्वपूर्ण साधन के रूप में ग्रहण किया गया है। इस विशेषता के कारण प्रसादजी एक ओर जहाँ शास्त्रीय या समन्वयवादी आलोचको से अलग खडे दिखलाई पड़ते हैं वहीं दूसरी ओर उनकी आलोचना अन्य छायावादी कवि आलोचको से भी भिन्न स्तर की है। यद्यपि प्रसादजी के आलोचनात्मक प्रतिमान मूलतः स्वच्छंदतावादी ही माने जायँगे, किंतु आलोचना की यह स्वच्छंद पद्धति शुद्ध स्वानुभूतिमूलक नही, बल्कि शास्त्रज्ञानयुक्त स्वतंत्र चिंतन पर आधारित है।

'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' इस काल की प्रसादजी की महत्व-पूर्ण आलोचनात्मक कृति है। इस पुस्तक में उन्होंने काव्य और कला, रहस्यवाद, रस, नाटको में रस का प्रयोग, नाटको का प्रारंभ, रंगमंच, आरंभिक पाठ्यकाव्य तथा यथार्थवाद और छायावाद के संबंध मे पाडित्यपूर्ण ढंग से विचार किया है। इनमें काव्य और कला शीर्षक निबंध हिंदी की सैद्धातिक आलोचना को प्रसादजी की एक महत्वपूर्ण देन है। उस समय काव्य को कला के अंतर्गत

रखकर कला के मूर्त अमूर्त भेदो के आधार पर विभिन्न ललित कलाओ की श्रेष्ठता और महत्व बतलाने का फैशन सा चल गया था। प्रसादजी ने मूर्त और अमूर्त के आधार पर साहित्यकला के महत्व प्रतिपादन को भ्रातिपूर्ण बतलाया। उनके अनुसार अन्य विशेषताओ से युक्त न होकर केवल मूर्त रूप के कारण कोई कला श्रेष्ठ नही हो जाती और सामान्य कोटि की मूर्त कलात्मक कृतियो से उच्च कोटि की अमूर्त कलाकृति केवल इसलिये कम महत्वपूर्ण नही है कि वह अमूर्त है। इसलिये अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओ का निदर्शन न करके केवल मूर्त और अमूर्त के भेद से साहित्यकला की महत्ता नही स्थापित की जा सकती। इस संबंध मे प्रसादजी की ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण स्थापना यह है कि 'सौदर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौदर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिये, उनका प्रतीक बनाने के लिये बाध्य हैं।' क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की उस समय बहुत चर्चा थी, शुक्लजी ने रहस्यवादी छायावादी कविताओ को अभिव्यंजनावाद से प्रभावित बतलाया था। यद्यपि काव्य-कला के स्वरूप और सौंदर्यबोध के संबंध में प्रसादजी की मान्यताएँ और निष्कर्ष बहुत कुछ उनकी स्वतंत्र दार्शनिक प्रतिभा से उद्भूत हैं, जिसमें शैवागम दर्शन से विशेष रूप से प्रेरणा ली गई है, किंतु अभिव्यंजनावादी काव्यसिद्धातो को भी किन्हीं अंशो तक प्रसादजी ने अपना समर्थन दिया है, यह उनके कई सूत्रो से स्पष्ट पता चलता है। प्रसादजी की काव्यकला के संबंध मे निम्नलिखित स्थापनाएँ कई दृष्टियो से विशेष महत्वपूर्ण हैं—

(१) काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।

(२) व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है, क्योकि सुंदर अनुभूति का विकास सौंदर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम मे हम अभिव्यक्त देखते हैं।

संकल्पात्मक मूल अनुभूति को स्पष्ट करते हुए प्रसादजी ने लिखा है—'आत्मा की मननशक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य मे संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'

अभिव्यजनावादी भी कला को आत्मा की क्रिया मानता है। वह ज्ञान की दो कोटियाँ सहज ज्ञान (इंटीव्यू नालेज) और तर्क ज्ञान मानकर कला को सहज ज्ञान का परिणाम मानता है। तर्क ज्ञान का संबंध शास्त्र और विज्ञान से है। क्रोचे के अनुसार सहज ज्ञान बिंब के रूप में उपस्थित होता है। प्रसादजी भी

कलासंबंधी संकल्पात्मक अनुभूति को 'रचनात्मक ज्ञानधारा' मानते हैं। साथ ही सौंदर्यबोध के मूर्तरूप ग्रहण की अनिवार्यता को भी स्वीकार करते हैं। अतः क्रोचे की तरह ही प्रसादजी भी अनुभूति और अभिव्यक्ति या वस्तु और कला का भेद उचित नहीं समझते, वे दोनो को अन्योन्याश्रित और अभिन्न मानते हैं। जैसा कि उनकी दूसरी स्थापना से स्पष्ट है वे व्यंजना को अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयंपरिणाम मानते हैं। इस कथन की व्याख्या करते हुए उन्होने यह मत व्यक्त किया है कि 'अनुभूति और अभिव्यक्ति के अंतरालवर्ती संबंध को जोड़ने के लिये हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए, किंतु मेरा मत है कि यह समय समय की मान्यता और धारणाएँ हैं। प्रतिभा का किसी कौशलविशेष पर कभी झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा सी चल पड़ी है।' अभिव्यंजनावादी भी कलासंबंधी इन बाह्य भेदो को अनावश्यक समझता है और वह भी कला को मूल अभिव्यंजना का बाह्य रूप मानता है।

इस प्रकार प्रसादजी ने अभिव्यंजनावाद की मूल स्थापनाओ को अपने ढंग से मान्यता प्रदान की है, किंतु उन्होने उसको 'कलावाद' नहीं माना है। वस्तुतः क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की ही प्रसादजी ने अपनी व्याख्या दी है और इस मत का खंडन किया है कि अभिव्यंजनावाद आत्मानुभूति के स्थान पर उक्ति-वैचित्र्य को प्रधानता देता है। क्रोचे ने कहीं भी वस्तु की उपेक्षा नहीं की है, इसके विपरीत आत्मा में निर्मित होनेवाले रूपाकारो का आधार वह बाह्य वस्तुओ को ही मानता है जो रूपायित होकर बाहर व्यक्त होते हैं। अतः प्रसादजी अनुभूति की अप्रधानता की बात ही निराधार समझते हैं, क्योंकि 'रूप के आवरण में जो वस्तु संनिहित है, वही तो प्रधान होगी।'

जैसा कि पहले संकेत किया गया, प्रसादजी की ये रचनाएँ पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी सिद्धांतो और शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के समन्वित प्रभाव का परिणाम हैं। बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि इस दर्शन के आलोक में अभिव्यंजनावाद को अपेक्षाकृत अधिक सास्कृतिक और भारतीय व्याख्या देकर प्रसादजी ने इसका विशदीकरण किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी सत्य का ज्ञान अतींद्रिय और प्रातिभ माना गया है किंतु प्रातिभ विवेक का अर्थ मन और बुद्धि का त्याग नहीं है। उनके त्याग से तो ज्ञान की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। अतः विवेक का अर्थ सब भावो को शुद्ध बनाना है। इस ज्ञान दशा में विकल्पात्मक अनुभूति संकुचित हो जाती है और निश्चयात्मक या संकल्पात्मक बुद्धि प्रकाशित होती है। यही जीवन्मुक्ति या चिदानंदलाभ की

स्थिति है, क्योंकि इसमें आत्मस्वरूप शिवत्व का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी की 'आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति' का मूल स्रोत यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन ही है, क्योंकि इस अनुभूति को उन्होंने आत्मा की मनन शक्ति की उस असाधारण अवस्था का परिणाम कहा है जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार प्रसादजी के अनुसार काव्य वह अनुभूति है जो आत्मा की मनन शक्ति की असाधारण अवस्था से संबंध रखती है और जिसमें श्रेय (शिव), सत्य और चारुत्व (सौंदर्य) तीनो का 'सहसा ग्रहण' होता है अर्थात् इनका अतींद्रिय या प्रातिभ ज्ञान होता है। प्रसादजी द्वारा दी गई असाधारण अवस्था तथा सत्य और श्रेय ज्ञान की व्याख्या को ध्यान में रखने पर बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी। असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियों में अंतर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केंद्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। यही कारण है कि प्रसादजी मानते हैं कि 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसादजी इस निबंध में सौंदर्यबोधात्मक रुचि तथा काव्य के स्वरूप और उसकी रचनाप्रक्रिया के विवेचन विश्लेषण में बहुत गहराई तक गए हैं और काव्यानुभूति के विशिष्ट क्षणो की उनकी व्याख्या न केवल उस काल की स्वच्छंदतावादी कविताओं की रचना की आंतरिक प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि काव्यरचना के मूल स्वरूप को समझने के लिये भी अनेक महत्वपूर्ण सूत्र प्रदान करती है जिसपर आज भी गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

प्रसादजी के अन्य निबंध मुख्यतः शोधात्मक हैं। इन निबंधो से पता चलता है कि उन्होने भारतीय साहित्य और दर्शन का गहरा अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसे पूरो तरह आत्मसात् कर लिया था। उनका रंगमंच शीर्षक निबंध रंगमंच संबंधी पारिभाषिक शास्त्रीय शब्दों के मूल अर्थ और नाट्यशालाओ के प्राचीन रूप को समझने के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। रहस्यवाद शीर्षक निबंध भी शोधात्मक ही माना जायगा, क्योंकि इसमें रहस्यवाद को विजातीय और विदेशी माननेवालो के मत का खंडन करने के लिये रहस्यवाद की अत्यंत प्राचीन भारतीय परंपरा की खोज की गई है। वस्तुतः शुक्लजी के रहस्यवाद का उत्तर देने के लिये प्रसादजो ने यह निबंध लिखा था। रहस्यवाद की दार्शनिक परंपरा के अध्ययन की दृष्टि से यह निबंध निश्चित रूप से बहुत महत्वपूर्ण है, किंतु आधुनिक रहस्यवाद को शुद्ध भारतीय परंपरा की देन सिद्ध करने के लिये लिखे गए

दार्शनिक शोधपूर्ण निबंध के पीछे शुक्लजी के मत के खंडन का उद्देश्य और भारतीयता का आग्रह स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। स्वच्छंद सैद्धांतिक विवेचन की दृष्टि से 'यथार्थवाद और छायावाद' निबंध विशेष महत्वपूर्ण है। प्रसाद-जी द्वारा की गई यथार्थवाद और छायावाद की परिभाषा बहुत कुछ आज भी उसी रूप में मान्य हो सकती है, किंतु छायावाद को प्राचीन साहित्य में ढूँढ़ने का प्रयत्न यहाँ भी उनके 'भारतीयता के अत्यधिक आग्रह को प्रकट करता है।' प्रसाद-जी का भारतीयता और भारतीय संस्कृति के प्रति अत्यंत निष्ठावान् कवि आलोचक छायावाद को जिसमें उनका कृतित्व भी आता था, किसी भी रूप में पाश्चात्य साहित्य का अनुकरण या प्रभाव नहीं मान सकता था, अतः उन्होंने ध्वनि और वक्रोक्ति के भीतर छायावाद का प्राचीन रूप भी ढूँढ़ निकाला। किंतु थोड़ा अतिरेक होते हुए भी छायावाद और रहस्यवाद के संबंध में प्रसादजी द्वारा दी गई इस पूर्वपरंपरा के ज्ञान की महत्वपूर्ण उपलब्धि इस बात में है कि इन दोनों काव्यप्रवृत्तियों को भारतीय परंपरा से अलग शुद्ध अनुकरण समझने की भ्रांति बहुत कुछ दूर हुई।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रसादजी की इन समीक्षाओं के पीछे 'आनंदवाद' का सुचिंतित जीवनदर्शन है। यही कारण है कि उनकी समीक्षाओं, विचारों की एकसूत्रता दिखलाई पड़ती है। संपूर्ण भारतीय साहित्य को इसी आधार पर उन्होंने आनंदवादी और विवेकवादी इन दो कोटियों में रखा है। भारतीय रससिद्धांत को उन्होंने आगमों की आनंदवादी परंपरा की देन और आनंदवादी जीवनदर्शन की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना है। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति उनके विचार से विवेकवादियों द्वारा रसवाद के विरोध में खड़े किए गए। रससिद्धांत काव्य की उस लोकधारा में निर्मित हुआ जो आनंद-साधना में आस्था रखती थी। आनंदवाद या रसवाद आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति से संबंध रखता है और रीति, वक्रोक्ति आदि को प्रधानता देनेवाले आलंकारिकों का संप्रदाय विकल्पात्मक मननधारा की उपज है जिनके आधार पर आलोचनाशास्त्र का निर्माण हुआ। प्रसादजी के अनुसार संकल्पात्मक अनुभूति की वस्तु रस का प्रलोभन इन आलंकारिकों को अभिनव गुप्त से मिला। आनंद वर्धन ने अपने ध्वनि सिद्धांत में 'आगमानुयायी आनंद सिद्धांत के रस को तार्किक अलंकार मत से संबद्ध किया। किंतु माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हीं की व्याख्या करते हुए अभेदमय आनंदपथवाले शैवाद्वैत के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की। इसी तरह रहस्यवाद को भी प्रसादजी आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति और आनंदवादी काव्य की प्रमुख धारा मानते हैं। भारतीय रहस्यवादी दर्शन की इस आनंदवादी धारा की पूर्वपरंपरा देते हुए उन्होंने

आधुनिक रहस्यवाद को इस आनंदवादी रहस्यवाद का ही साहित्य में स्वाभाविक प्रतिफलन या विकास माना है। उनके अनुसार 'वर्तमान हिंदी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहम् का इदम् से समन्वय करने का सुंदर प्रयत्न है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तमान रहस्यवाद को आनंदवादी दार्शनिक रहस्यवाद का साहित्यिक प्रतिफलन न माननेवाले आलोचक भी रहस्यवाद की इस निर्भ्रांत और स्पष्ट परिभाषा से असहमत नहीं हो सकते। एक वाक्य में रहस्यवाद की इतनी पूर्ण परिभाषा कदाचित् ही अन्यत्र कहीं देखने को मिले।

जैसा कि प्रारंभ में कहा गया प्रसादजी के आलोचनात्मक प्रतिमान और उनके आधार पर साहित्य का विवेचन और मूल्यांकन उनकी मौलिक प्रतिभा की देन हैं जिसमें शास्त्र-ज्ञान-मुक्त स्वतंत्र चिंतन प्रधान रूप से दिखलाई पड़ता है। साहित्यदर्शन के सैद्धांतिक और ऐतिहासिक दोनो पक्षों की यह आध्यात्मिक आनंदवादी व्याख्या हिंदी समीक्षा को प्रसादजी की मौलिक देन है। भारतीय रहस्यवाद और रसवाद इस व्याख्या के अनुसार आध्यात्मिक आनंदवाद की मूल धाराएँ हैं और प्रसादजी के विवेचन से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि इस धारा का साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य है। यद्यपि हिंदी आलोचना में प्रसादजी का यह साहित्यदर्शन ग्रहण नहीं किया गया, किंतु इस विवेचन के प्रसंग में आनुषंगिक रूप से व्यक्त किए गए बहुत से विचारों को उस काल के आलोचकों ने अपनी समीक्षाओं में अंतर्भुक्त कर लिया। इस प्रकार प्रसादजी की बहुमुखी प्रतिभा ने आधुनिक हिंदी को न केवल उच्चकोटि का रचनात्मक साहित्य दिया, बल्कि इस युग की काव्यचेतना को समझने और भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के संदर्भ में उसे देखने और समझने के लिये विचारोत्तेजक सामग्री दी।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

निराला ने यद्यपि आलोचनाएँ बहुत अधिक लिखी हैं किंतु उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा विश्लेषणात्मक अधिक है। साहित्यिक रचनाओं के विश्लेषण विवेचन मे उनकी रुचि जितनी दिखलाई पड़ती है, उतनी सिद्धांत विवेचन में नहीं। साथ ही प्रसाद की तरह किसी विषय के विवेचन में निरालाजी दूर तक नहीं गए हैं। कई आलोचनाएँ समसामयिक साहित्यिक विवादों को लेकर लिखी गई हैं जिनमें अपने काव्य या व्यक्तित्व के संबंध में किए गए आक्षेपों—प्रायः कटु, व्यक्तिगत और अमर्यादित आक्षेपों—के उत्तर के रूप में लिखी हैं, इसलिये संयम रखने का प्रयत्न करने पर भी निराला की आलोचना अनेक स्थलों पर व्यक्तिगत हो गई है। किंतु इन व्यावहारिक विश्लेषणात्मक

समीक्षाओं में प्रायः ऐसे मौलिक विचारसूत्र मिलते हैं जिनके आधार पर उनके काव्यगत मान्यताओ को समझा जा सकता है। इनमे से कुछ सूत्र अपनी व्याख्या मे काव्य-कला-संबंधी महत्वपूर्ण सिद्धातों को जन्म देने की क्षमता रखते हैं। उदाहरण के लिये 'विद्यापति और 'चडिदास' शीर्षक निबंध मे इन कवियो के काव्य सौंदर्य का विवेचन करते हुए निराला ने लिखा है कि 'कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक् रखकर उसका विश्लेषण भी करे, और फिर इच्छानुसार उससे मिलकर एक भी हो जाय।' लेखक की वैयक्तिक निर्वैयक्तिकता (पर्सनल इमपर्सनलिज्म) का आजकल बहुत उल्लेख किया जाता है। निराला ने जो बात सूत्र रूप में कही है, वही टी० एस० इलियट जैसे आलोचक द्वारा कही जाने पर वर्तमान युग मे कलाविवेचन का प्रमुख सिद्धांत बन गई है। कला की पूर्णता और कलाकार की शक्ति वहीं दिखलाई पड़ती है जहाँ वह वस्तु का भोग करते हुए भी उससे निर्लिप्त और निर्लिप्त होते हुए भी उसका भोग करता है। इसी तरह कला शिल्प और भाषा के संबंध में निराला ने कई महत्वपूर्ण सूत्र दिए हैं। 'काव्य मे रूप और अरूप' के संबंध मे विचार करते हुए निराला ने 'अप्रतिहत मूर्तिप्रेम' को ही कला की जन्मदात्री माना है। उनके अनुसार 'जो भावनापूर्ण सर्वांगसुंदर मूर्ति खींचने मे जितना कृतिविज्ञ है, वह उतना बड़ा कलाकार है।' इन सूत्रों में 'अप्रतिहत' और 'भावनापूर्ण सर्वांगसुंदर' शब्द विशेष महत्व के हैं। खंडित बिंब को निराला कला की अपूर्णता मानते हैं। 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबंध में इन सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या भी निराला ने की है। कलात्मक सौंदर्य के संबंध मे निराला का महत्वपूर्ण सिद्धांत सूत्र है 'कला केवल वर्ण, शब्द, छंद, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुंदरता नहीं, किंतु इन सभी से संबद्ध सौंदर्य की पूर्ण सीमा है।' अतः किसी रचना का कलासौंदर्य उसके संपूर्ण रूप में निहित रहता है, उसके किसी एक अंश में नहीं। उस समय हिंदी के आलोचक प्रायः किसी रचना का सौंदर्य टुकड़ो मे देखा करते थे और उसी पर वाह वाह करते थे। निराला ने ऐसे ही आलोचको का भ्रम दूर करने के लिये कला के संबंध में सव्याख्या इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया और बतलाया कि उनकी रचनाओ मे खंडसौंदर्य ढूँढनेवाले ऐसी ही कला के आदी आलोचको को उनकी रचनाओ मे कला का अभाव दिखलाई पड़ता है। कारण यह है कि 'इनकी कला संपूर्ण रूप मे है, खंड में नहीं।' निराला ने विवेचन करके बतलाया भी कि 'खंडार्थ में पंतजी की कला बहुत ही बन पड़ी है, और पंत के प्रशंसको की दृष्टि इन्हीं खडरूपो मे बँध गई है। पंत में, सब जगह एक एक उपमा, रूपक या उत्प्रेक्षा काव्य को कला मे परिणत करने के लिये है और इसे ही उनके आलोचकों ने अपूर्व कला समझ लिया है।' कारण यह था कि ये आलोचक 'कला को संपूर्ण रूप मे देखने के आदी न थे।'

काव्यशिल्प की दृष्टि से मुक्त छंद और हिंदी के व्यंजन संगीत के संबंध में निरालाजी द्वारा व्यक्त किए गए विचार आधुनिक हिंदी समीक्षा को उनकी महत्व-पूर्ण देन हैं। मुक्त छंद को उन्होंने भावों की स्वतंत्र और मुक्त अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक माना है क्योंकि 'भावों की मुक्ति छंद की भी मुक्ति चाहती है'। छाया-वादी कवियों में निरालाजी काव्य में भाव और छंद दोनों की स्वच्छंदता और मौलि-कता के प्रमुख समर्थक हैं। निराला द्वारा दी गई मुक्त छंद की परिभाषा से ही उनकी तत्वनिरूपिणी समीक्षात्मक प्रतिभा का पता चल जाता है। 'मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि में रहकर मुक्त है तथा जिसकी विषम गति में भी एक ही साम्य का अपार सौंदर्य झलकता है।' एक वाक्य में मुक्त छंद की इतनी पूर्ण परिभाषा आज भी अन्यत्र शायद ही मिले। वर्ण संगीत के संबंध में निराला का मत है कि संस्कृत का वर्ण संगीत हिंदी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। श, ण व और स, म, व के वर्ण संगीत के तुलनात्मक विवेचन द्वारा उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'संस्कृत का श, ण, व ब्रजभाषा के जीवन के अनुरूप नहीं, खड़ी बोली के जीवन में भी उनका स्थान विशेष महत्वपूर्ण नहीं'

इस प्रकार निराला ने मुख्यतः काव्य के कला पक्ष पर ही विचार किया है और ये विचार भी उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में बिखरे हुए हैं। सामान्यतया काव्य के संबंध में निराला ने प्रसाद के विचारों का ही समर्थन किया है। प्रसाद की तरह निराला भी 'रहस्यवाद को ही सर्वोच्च साहित्य' मानते हैं और उनकी धारणा है कि 'आर्य संस्कृति इसी रहस्यवाद पर प्रतिष्ठित है।'

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा ने अपनी काव्य पुस्तकों की भूमिकाओं में काव्यकला तथा तत्कालीन काव्यप्रवृत्तियों के संबंध में विस्तार के साथ अपने विचार व्यक्त किए हैं। गंगाप्रसाद पांडेय ने इन भूमिकाओं तथा कुछ अन्य निबंधों को लेकर 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' नामक पुस्तक में विषयानुक्रम से उनके समीक्षात्मक विचारों को एकत्र कर दिया है। यद्यपि यह पुस्तक अप्रैल १९५४ ई० में प्रकाशित हुई है, किंतु इसके अधिकांश निबंध १९४० के पूर्व लिखे गए थे। ये निबंध इस बात के प्रमाण हैं कि महादेवी में रचनात्मक प्रतिभा भी उच्चकोटि की है। इन निबंधों में व्यक्त किए गए विचार न तो शास्त्रबद्ध है और न शास्त्रसिद्ध। चिंतन के क्षणों में साहित्य-रचना के अनुभवों के आधार पर स्वानुभूत और स्वोपलब्ध विचारों को ही महा-देवी ने अपने समीक्षात्मक सिद्धांतों और प्रतिमानों का आधार बनाया है। यही कारण है कि इनकी समीक्षाओं में विचारों की तार्किक अन्विति (लॉजिकल यूनिट) इतनी नहीं मिलती जितनी गहरे अनुभूतिजन्य चिंतन की भावात्मक परिणति।

परिणामस्वरूप उनकी आलोचना अन्य छायावादी कवि आलोचकों की अपेक्षा अधिक काव्यात्मक और भावात्मक प्रसार से युक्त तथा शैली अलंकृत और चित्रात्मक हो गई है। कहीं कहीं तो उनकी चिंताधारा इतनी काव्यात्मक और भावपूर्ण हो गई है कि विचारसूत्र बिखर गए हैं और उन्हे अन्वित करने का कार्य पाठक को करना पड़ता है। किंतु अनुभूति और चिंतन का परिणाम होने के कारण महादेवी के इन विचारों ने हिंदी में आलोचना की स्वच्छंद पद्धति के विकास में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया।

महादेवी ने अपने युग की काव्यप्रवृत्तियों तथा विभिन्न साहित्यिक मतवादों पर विचार करने के साथ ही अपने समीक्षात्मक मानों को स्पष्ट करने के लिये काव्यकला के संबंध में अपने सैद्धातिक पक्ष को भी उपस्थित किया है। उपर्युक्त पुस्तक के काव्यकला शीर्षक निबंध में उन्होने कला की उत्पत्ति, काव्य का स्वरूप और उद्देश्य आदि के संबध में मौलिक ढंग से विचार किया है। उनके अनुसार 'बहिर्जगत् से अंतर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भाव क्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिये माध्यम खोजते खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार कर लिया होगा।'[1] किंतु ज्ञानोपलब्ध सत्य की नहीं, बल्कि अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति कला का साध्य होता है। महादेवी ने काव्य को सर्वश्रेष्ठ कला माना है जिसका उद्देश्य उनके अनुसार अनुभूत सत्य को सौंदर्यपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करना है। अतः काव्यकला द्वारा जिस सत्य की अभिव्यक्ति होती है वह 'जीवन की परिधि में सौंदर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखंड सत्य' होता है। इस अखंड सत्य की अनुभूति विशिष्ट क्षणों में होती है; 'वास्तव में जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण ही होते हैं, वर्ष नहीं'। इस प्रकार महादेवी द्वारा दिए गए सूत्रों के अनुसार काव्य का उद्देश्य विशिष्ट क्षण में उपलब्ध अनुभूतिजन्य सत्य की सौंदर्यपूर्ण अभिव्यक्ति है। सौदर्यपूर्ण अभिव्यक्ति से महादेवी का अभिप्राय उन काव्य-गुणों से है जिनके कारण कवि के अनुभूत सत्य संवेदनीय हो सके और वह कवि की व्यक्तिगत अनुभूति न रहकर पाठक की भी अनुभूति बन जाय। स्पष्ट है कि महादेवी काव्य मे अनुभूति पर विशेष बल देती हैं और उसे शुद्ध हृदय का व्यापार मानती हैं। बुद्धि का योग इसमें हो सकता है किंतु वह हृदय का अनुशासन स्वीकार करके ही काव्य में स्थान पा सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि महादेवी के ये विचार छायावादी कविता, विशेष रूप

[1] महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—पृ० ५।

से गीति काव्य के सृजनात्मक अनुभव से प्राप्त हुए हैं और इस प्रकार की वैयक्तिक अनुभूतियो तथा विशिष्ट क्षणो को स्वच्छंदतावादी कविता में ही विशेष महत्व दिया गया है।

सैद्धातिक समीक्षा की दृष्टि से दूसरा उल्लेखनीय निबंध है 'यथार्थ और आदर्श'। इस निबंध में महादेवी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि काव्य में यथार्थ और आदर्श एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। भारतीय साहित्य से उदाहरण देकर उन्होने अपने इस मत की पुष्टि भी की है। उनके अनुसार जिन युगो में हमारी यथार्थ दृष्टि को स्वप्न सृष्टि से आकार मिला है और स्वप्न दृष्टि को यथार्थ सृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों में हमारा सृजनात्मक विकास संभव हो सका है।' वस्तुतः महादेवी उसी यथार्थ को काव्य में ग्राह्य समझती हैं जो जीवन की आदर्शात्मक परिकल्पना से मुक्त होकर काव्य में आता है। अतः कलाकार के लिये 'यथार्थ का ज्ञान ही नहीं, संभाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श का भावना की आवश्यक' होता है।

'छायावाद' और 'रहस्यवाद' में महादेवी ने प्रसाद की विचारपरंपरा को ही आगे बढ़ाया है। छायावाद और रहस्यवाद के स्वरूप और उसकी विशेषताओ का परिचय देने के लिये महादेवी ने भारतीय साहित्य और दर्शन की परंपरागत उपलब्धियो का प्रसाद जी से अधिक व्यापक पैमाने पर, अनेक उदाहरण देकर समझाने का प्रयास किया है। आधुनिक काव्यगत प्रवृत्तियों तथा काव्यरूपो के संबंध में भी महादेवी ने काव्यात्मक ढंग से ही विचार किया है, इसलिये उसमें अन्विति के स्थान पर स्फीति अधिक है। किंतु इस भावात्मक विवेचन की विशेषता यह है कि इसमें भावनाओ के प्रवाह के बीच बीच में विचारोत्तेजक सूत्र प्रायः मिल जाते हैं। निराला की तरह लेखिका के ये बिखरे हुए विचारसूत्र ही उनकी हिंदी की स्वच्छंदतावादी समीक्षा को देन माने जायँगे।

(२) स्वच्छंदतावादी आलोचक

आत्मानुभूति की स्वच्छंद अभिव्यक्ति करनेवाले छायावादी कवियों ने अपने रचनात्मक कृतित्व को आलोचनात्मक भूमिकाओ और निबंधो द्वारा समाज में मान्यता दिलाने के जो प्रयत्न किए उनके समानांतर कुछ आलोचको ने भी छायावादी काव्यधारा की मूलवर्तिनी प्रवृत्तियों और प्रेरणाओ के अध्ययन के आधार पर स्वच्छंद समीक्षापद्धति का विकास किया। ये आलोचक केवल छायावादी कविता के मर्मोद्घाटक ही नहीं थे। इन्होने परंपरागत भारतीय साहित्यशास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा के विभिन्न सिद्धांतो का गंभीर अध्ययन करके निर्मम भाव से युगीन साहित्य के लिये अनुपयुक्त साहित्यिक प्रतिमानों

का परित्याग किया और ग्राह्य प्रतिमानो और मूल्यो को स्वीकृतकर उनके आधार पर नवीन साहित्यिक प्रतिमानो और मूल्यो की प्रतिष्ठा की। पुराने खेवे के कुछ आलोचकों—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गुलाब राय, मिश्रबंधु आदि ने भी छायावादी कवियो के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की थी, पर वह कोरी सहानुभूति ही थी। उन्होने छायावादी कविता का गंभीर विवेचन कर उसका समर्थन नहीं किया था। यह कार्य सन् १९३० ई० के बाद नंददुलारे वाजपेयी, रामनाथलाल सुमन, शांतिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेंद्र आदि नवोदित आलोचको ने किया जो नए युग की नवीन प्रवृत्तियो के पोषक और उद्घोषक बनकर आलोचना के क्षेत्र में उतरे थे।

छायावादयुगीन साहित्य विशेष रूप से छायावादी काव्य तथा नवीन व्यक्तिवादी गद्य साहित्य और इस नई स्वच्छंदतावादी तथा सौदर्यवादी आलोचना में बिंबप्रतिबिंब संबंध दिखाई पड़ता है। युग की नवीन प्रवृत्तियो का प्रतिफलन पहले रचनात्मक साहित्य में होता है और फिर उस साहित्य को आधार बनाकर उन प्रवृत्तियो को विश्लेषण तथा उस साहित्य का मूल्यांकन आलोचनात्मक साहित्य में किया जाता है। यही आलोचना का स्वाभाविक मार्ग है। छायावाद युग के नवीन साहित्य को दुर्भाग्यवश रामचंद्र शुक्ल के रूप में एक ऐसा महान् और दिग्गज आलोचक मिला, जिनकी दृष्टि सुदूर अतीत की ओर ही अधिक थी, उन्हे वर्तमान में न तो रुचि थी और न उन्हें समुचित रूप से ग्रहण करने का उत्साह ही था। इस कारण प्राचीन परंपरा के शास्त्रीय और द्विवेदीयुगीन नैतिकतावादी आलोचको की तरह शुक्लजी ने भी नए साहित्य, विशेषरूप से छायावादी कविता की प्रारंभ में कटु-आलोचना की। इन विरोधो और आघातो के बीच भी छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद, व्यक्तिवाद आदि साहित्यिक प्रवृत्तियो की शक्ति बढ़ती ही गई। अतः इन प्रवृत्तियो का समर्थन करनेवाली आलोचना का प्रादुर्भाव होना भी स्वाभाविक एवं अवश्यंभावी था। बाद में रामचंद्र शुक्ल से भी छायावादी कविता को जो आंशिक समर्थन मिला, वह उनके स्वाभाविक उत्साह का परिणाम नहीं, बल्कि कर्तव्यनिर्वाह मात्र था। आदर्शवादी नैतिकता और रसवादी दृष्टि को काव्य का शाश्वत प्रतिमान मानकर चलनेवाले शुक्लजी जैसे आलोचक से यह आशा रखना कि वे छायावाद का सही और निष्पक्ष मूल्यांकन कर सकेंगे, व्यर्थ ही था। इस तरह नए साहित्य के लिये नए प्रतिमानो की खोज और उनके आधार पर साहित्य के मूल्यांकन की नवीन पद्धति का प्रारंभ जिन लोगो द्वारा हुआ वे शुक्लजी के समीक्षामार्ग से पर्याप्त अलग हटे हुए तथा कुछ अर्थों में उस मार्ग के विरोधी भी थे। इस नई आलोचना में तत्कालीन नए साहित्य का सैद्धांतिक पक्ष

उपस्थित किया गया है। इसी अर्थ में इस स्वच्छंदतावादी आलोचना और तत्कालीन नए साहित्य के बीच बिंबप्रतिबिंब संबंध की बात कही गई है।

पहले कहा जा चुका है कि छायावादी कवियो ने अपनी भूमिकाओ और आलोचनात्मक निबंधों में अपने काव्य में अंतर्निहित मूल्यो को उद्घाटित करने का स्वयं प्रयत्न किया; किंतु कवि कवि है और आलोचक आलोचक। कवियो द्वारा लिखित आलोचना में सैद्धातिक विवेचन की वह तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक पद्धति नहीं मिल सकती, जो विशुद्ध आलोचकों की आलोचना में होती है। इन छायावादी कवियो की आलोचना से छायावादी कविता की नवीन भावात्मक चेतना और सौंदर्य दृष्टि का तथा उसकी विद्रोही और रूढ़िविरोधी प्रवृत्ति का तो पता चलता है, पर छायावाद और नवीन गद्य-साहित्य के मूल्यांकन के लिये नवीन सिद्धांतो और प्रतिमानों का निर्देश उनमें बहुत कम है। यह कार्य नवयुवक स्वच्छंदतावादी-सौंदर्यवादी आलोचको ने किया। उनकी इस आलोचनात्मक प्रतिभा का प्रकाशन पहले तो व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में हुआ, बाद में उनमें ज्यो ज्यो परिपक्वता और प्रौढ़ता आती गई, उनकी प्रवृत्ति सैद्धांतिक आलोचना की ओर बढ़ती गई। प्रारंभ में ये सभी आलोचक विशुद्ध रूप से सौंदर्यवादी और बहुत कुछ कलावादी थे, पर उत्तरोत्तर उनमें अध्ययन की गंभीरता के साथ साथ मतवादी धारणाएँ घर करती गईं; किसी ने रसवाद का पल्ला पकड़ा, तो किसी ने मनोविश्लेषण या समाजदर्शन का। पर इनमें से किसी भी आलोचक ने किसी एक मतवाद को पूर्वग्रह या शाश्वत प्रतिमान के रूप में नहीं ग्रहण किया। सबके विचारो और मान्यताओ में समय समय पर परिवर्तन भी होते रहे हैं पर उनके विकासशील आलोचनात्मक व्यक्तित्व की एक विशेषता यह रही है कि वे साहित्य के आंतरिक सौंदर्य के समर्थक आदि से अंत तक बने रहे हैं। साहित्य का मूल्यांकन उसके बाह्य और स्थूल उपादानो के आधार पर करने का उन्होने सदा विरोध किया। यद्यपि अपनी अपनी प्रतिभा, रुचि और अध्ययन के अनुरूप सभी स्वच्छंदतावादी आलोचकों के अलग अलग रास्ते हैं, फिर भी उपर्युक्त दृष्टिसाम्य के कारण वे सभी एक श्रेणी—स्वच्छंदतावादी सौंदर्यवादी आलोचको की श्रेणी—में रखे जाते हैं। इस श्रेणी के आलोचको को भी सुविधा के लिये दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—विश्लेषणात्मक स्वच्छंदतावादी आलोचक और प्रभावात्मक स्वच्छंदतावादी आलोचक। नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र आदि प्रथम वर्ग के और शांतिप्रिय-द्विवेदी, गंगाप्रसाद पांडेय आदि द्वितीय वर्ग के आलोचक हैं। कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जिनमें विश्लेषणात्मक और प्रभावात्मक दोनो पद्धतियो का संमिश्रण मिलता है। रामकुमार वर्मा और जानकीवल्लभ शास्त्री इसी वर्ग के आलोचक हैं। नंददुलारे वाजपेयी ने हजारीप्रसाद द्विवेदी और लक्ष्मीनारायण सुधांशु को भी

स्वच्छंदतावादी या सौष्ठववादी आलोचक ही माना है। पर गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि द्विवेदीजी वस्तुतः समाजशास्त्रीय अथवा मानवतावादी आलोचको की श्रेणी में आते हैं और सुधाशुजी शुक्लजी की समन्वयात्मक समीक्षा-धारा के आलोचक हैं।[१] वाजपेयीजी ने तो इन सभी आलोचकों और अपने को भी शुक्लजी की समीक्षाधारा का ही आलोचक कहा है।[२] इस तरह उन्होने स्वच्छंदतावादी समीक्षाधारा का अलग अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया है। पर वस्तुत: इन दोनो धाराओ के दृष्टिकोण और मान्यताओ का अंतर इतना स्पष्ट है कि उन्हें एक ही नहीं माना जा सकता। वाजपेयीजी की यह मान्यता उस समय की है जब कि वे अपने सौंदर्यवादी और विद्रोही स्वरूप को छोड़कर बहुत कुछ शुक्लजी के अनुगामी हो चुके थे। अतः यह उनकी निजी धारणा मात्र है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इन आलोचको में से अधिकाश के दृष्टिकोण में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता गया, पर हमारे आलोच्य काल में वे सभी स्वच्छंदता-वाद के समर्थक और व्याख्याता थे, यह बात निर्भ्रांत है। इन लोगो में से कुछ ने ही अलग से सैद्धातिक आलोचना लिखी है। बाकी लोगो ने या तो केवल व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखीं, सैद्धांतिक विवेचन की ओर गए ही नहीं, या व्यावहारिक आलोचना के बीच बीच में ही सैद्धांतिक विवेचन भी करते गए हैं। आलोच्य काल में केवल शांतिप्रिय द्विवेदी और नगेंद्र ने आलोचना के सैद्धांतिक पक्षो को लेकर अलग से कुछ निबंध लिखे थे। नंददुलारे वाजपेयी ने व्यावहारिक आलोचना के बीच बीच में सैद्धातिक पक्षो की विवेचना की थी और रामनाथ सुमन, गंगाप्रसाद पाडेय, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि ने केवल छायावादी कवियो की कृतियो की व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखी थीं। केवल व्यावहारिक आलोचना लिखनेवाले स्वच्छंदतावादी आलोचको के संबध में बाद में यथास्थान विचार किया जायगा।

नंददुलारे वाजपेयी

सन् १९४० ई० के पूर्व नंददुलारे वाजपेयी ने कुछ कवियों और गद्य-लेखको के संबंध में केवल व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखी थी। इन समीक्षात्मक

[१] नया साहित्य : नये प्रश्न—पृष्ठ, २७, (प्रथम संस्करण सन् १९५५)।

[२] 'कतिपय नए इतिहासकारों ने शुक्लधारा के पश्चात् समीक्षा की एक स्वच्छंदतावादी, सौष्ठववादी या सास्कृतिक धारा का भी नामोल्लेख किया है, पर इसे भी शुक्ल धारा का ही एक नया प्रवर्तन या विकास मानना अधिक उपयुक्त होगा।'—वही; पृष्ठ ४१।

निबंधों का संकलन उनके दो ग्रंथों 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' (सन् १९४२ ई०) और जयशंकरप्रसाद (सन् १९४० ई०) में हुआ है। इन दोनो ग्रंथो के अधिकांश निबंध १९३० ई० से १९४० ई० तक के बीच विभिन्न समयों के लिखे हैं। इन निबंधो में वाजपेयीजी की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिमा, गहरी पकड़ और तीक्ष्ण विश्लेषण-बुद्धि के दर्शन होते हैं। एक स्वच्छंद और विचारशील आलोचक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा इन्हीं निबंधों के कारण हुई। इनमें से, वाजपेयीजी की प्रारंभिक साहित्यिक मान्यताओं को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण आचार्य शुक्ल से संबंधित तीन निबंध हैं। इनमें वाजपेयीजी ने जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि उन्होंने एक सौंदर्यवादी आलोचक के रूप में ही आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया था। शुक्लजी के साहित्यिक प्रतिमानो पर विचार करते हुए उन्होने लिखा है—'साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किंतु जिसे शुक्लजी ने बार बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्वनिश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धात को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धांत सीमित हैं किंतु कला के लिये कोई भी सीमा नहीं है। कई बंधन नहीं है जिसके अंतर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करें। (सिर्फ सौंदर्य ही उसकी सीमा या बंधन है। किंतु उस सौंदर्य की परख किन्हीं सुनिश्चित सीमाओ में नहीं की जा सकती।) इस कार्य में उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म सौंदर्यदृष्टि और उसकी सिद्धातनिरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धात तो उसमें बाधक ही बन सकते हैं।[१]'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वाजपेयीजी क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और ब्रैडले आदि की कलावादी समीक्षा-पद्धति से प्रभावित हैं। शुक्लजी के संबंध में विचार करते हुए बताया जा चुका है कि ब्रैडले भी काव्य की सौंदर्यानुभूति को ही काव्य का लक्ष्य मानता है, और किसी काव्येतर उद्देश्य, सिद्धांत या मूल्य को साहित्यिक प्रतिमान बनाने का विरोध करता है। क्रोचे के अनुसार भी काव्य सहजानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति है, अत. उसका परीक्षण काव्य में निहित सहजानुभूति के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धांत के आधार पर नहीं होना चाहिए। सच पूछा जाय तो छायावादी कविता का मूल्यांकन सौंदर्यवादी प्रतिमान से ही संभव था क्योकि उसकी रचना भी सौंदर्यानुभूति के उच्छ्वसित आवेग की सहज अभिव्यक्ति के रूप में ही होती थी। उसके मूल में आध्यात्मिक और सर्वात्मवादी

१ हिंदी साहित्य बीसवी शताब्दी, पृष्ठ ८३; इंडियन बुकडिपो का १९४५ ई० का संस्करण।

प्रेरणा तो अवश्य वर्तमान थी, पर किसी साहित्यिक या दार्शनिक या राजनीतिक मतवाद के आग्रह से या स्थूल नैतिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये छायावादी काव्य नहीं लिखा जाता था। अतः ऐसे काव्य का शुक्लजी के रसवादी और लोकहित-वादी प्रतिमानो से सही मूल्याकन संभव नहीं था। इसी कारण वाजपेयीजी ने छायावादी काव्य तथा नवीन कथासाहित्य की शुद्ध सौंदर्यबोधात्मक मूल्यो की दृष्टि से आलोचना करने का कार्य प्रारंभ किया।

उनके सौंदर्यवादी दृष्टिकोण का निराला की 'गीतिका' की उनके द्वारा लिखित भूमिका भी है जिसमें उहोने काव्य-सौंदर्य और जीवन सौंदर्य को अभिन्न माना है। उनके अनुसार कवि जीवन-सौंदर्य की कला हमारे हृदयो में खिलाता है। उन्होने अपने सौंदर्यवादी साहित्यिक सिद्धांत की घोषणा इस प्रकार की है– 'सौंदर्य ही चेतना है, चेतना ही जीवन है; अतएव काव्य कला का उद्देश्य सौंदर्य का ही उन्मेष करना है[१]।' इस तरह वाजपेयीजी सौंदर्यानुभूति को ही काव्य की प्रमुख प्रेरणा और सौंदर्याभिव्यक्ति को उसका प्रमुख प्रयोजन मानते हैं, किंतु वाजपेयीजी के अनुसार सौंदर्य की अभिव्यंजना काव्य का मध्यवर्ती लक्ष्य है, उसका अंतिम लक्ष्य तो 'सचेतन जीवन परमाणुओं को संघटित करना और उन्हें दृढ़ बनाना है[२]।' यहाँ आकर वाजपेयीजी का मार्ग ब्रैडले, स्पिंगार्न आदि कलावादी आलोचको से भिन्न हो जाता है। उक्त कलावादी आलोचक कला का लक्ष्य कला ही मानते हैं और जीवन का उससे अधिक संबंध नहीं स्वीकार करते। पर वाजपेयीजी जीवन की वास्तविकता को काव्य का उपकरण, सचेत जीवन परिमाणुओं को संघटित करना तथा उन्हें दृढ़ बनाना उसका उच्च लक्ष्य मानते है। उनके अनुसार 'इसके लिये प्रत्येक कवि को अपने युग की प्रगतियो से परिचित होना और रचनात्मिका शक्तियो का संग्रह करना पड़ता है। जिसने देश और काल के तत्वो को जितना ही समझा है उसने इन दोनो पर उतनी ही प्रभावशाली रीति से शासन किया है। उच्च और प्रशस्त कल्पनाएँ, परिश्रम-लब्ध विद्या और काव्ययोग्यता उच्च साहित्यसृष्टि का हेतु बन सकता है; किंतु देश और काल की निहित शक्तियो से परिचय न होने से एक अंग फिर भी शून्य ही रहेगा। हमारी दार्शनिक या बौद्धिक शिक्षा तथा साधना भी काव्य के लिये अत्यंत उपयोगिनी हो सकती है, किंतु इससे भी साहित्य के चरम उद्देश्य

[१] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १४६।

[२] वही—पृष्ठ १४६।

की सिद्धि नहीं हो सकती। इन सबकी सहायता से मूर्तिमती होनेवाली जीवन-सौंदर्य की प्रतिभा ही प्रत्येक कवि की अपनी देन है[1]।'

इस प्रकार वाजपेयीजी भी शुक्लजी की तरह जीवनसौंदर्य और काव्य-सौंदर्य में कोई अंतर नही मानते। पर वाजपेयीजी की जीवनसौंदर्य संबंधी मान्यता शुक्लजी की मन्यता से नितात भिन्न है। शुक्लजी सौदर्य को रूप सौदर्य, भाव सौदर्य और कर्म सौंदर्य के वर्गों में विभाजितकर उसे स्थूल नैतिक आदर्शों की कसौटी पर कसते हैं, पर वाजपेयीजी की सौदर्य दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म है। वे सौंदर्य को 'व्यापक जीवन धारा का सौदर्य' कहते हैं जो अंतर और बाह्य, व्यष्टि और समष्टि, सूक्ष्म और स्थूल, प्रतिभा और अभ्यास, अंतर्दृष्टि और शास्त्रज्ञान सबकी संश्लिष्ट चेतना है। प्रसादजी ने जिसे 'चेतना का उज्वल वरदान' कहा है संभवतः वाजपेयीजी की सौंदर्यचेतना भी उससे अधिक भिन्न नहीं है। प्रसादजी का सौंदर्य तत्व शैवागम के प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार विशुद्ध आध्यात्मिक है और स्वतः प्रत्यभिज्ञात होनेवाला 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति का चारुत्व' है और वाजपेयीजी का सौंदर्यतत्व लौकिकता और आध्यात्मिकता के मध्यवर्ती बिंदु पर स्थित उच्च मनोभूमिका की सूक्ष्म उपलब्धि है। सौंदर्यसंबंधी इसी दृष्टिभेद के कारण वाजपेयीजी शुक्लजी की अधिकांश साहित्यिक मान्यताओ के विरोधी हैं। वे यह मानते हैं कि काव्य में उपादान का नहीं, निर्माण का महत्व है, क्योंकि सौदर्य उपादान में नहीं, निर्माण में होता है[2]। इसके विपरीत शुक्लजी उपादान में ही सौंदर्य मानते हैं। उनके अनुसार लोकहितकारी आदर्श चरित्रो के निर्माण, प्रकृति के सुंदर असुंदर रूपो की संश्लिष्ट योजना, लोकानुरंजक और लोकमंगलकारी भावो के चित्रण में ही काव्य का सौदर्य निहित है। इसी लिये वे काव्य में विभाव को ही प्रमुख मानते तथा आलंबन या प्रस्तुत के सम्यक् चित्रण को भी रसनिष्पत्ति का हेतु मान लेते हैं। उनका नीतिवादी जीवन-दर्शन भी काव्य का उपादान ही है जिसे शुक्लजी काव्य की कसौटी बनाकर चले हैं। ये सभी काव्य के स्थूल उपादान हैं और वाजपेयीजी इन्हें काव्य के लिये आवश्यक मानते हुए भी सौंदर्य को इन सबसे उच्चतर भूमिका में स्थित मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भी वाजपेयीजी अभिव्यंजनावाद से ही प्रभावित हैं, क्योकि क्रोचे भी निर्माण अर्थात् अभिव्यंजना को ही कला, तथा वस्तु, भाव आदि को द्रव्य अर्थात् कला का उपादान मानता है। जो भी हो, वाजपेयीजी की यह

१ हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृष्ठ १४२।
२ वही—पृष्ठ २००।

मान्यता शुक्लजी की काव्यसंबंधी मान्यता से भिन्न और छायावादी काव्य के मूल्यांकन के लिये अधिक उपयुक्त है।

हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में वाजपेयीजी की आलोचना दृष्टि पूर्णतः आधुनिक है, शुक्लजी की तरह पुनरुत्थानवादी और मध्यकालीन आदर्शों पर आधारित नहीं। यह आधुनिकता उनमें छायावादी काव्य के संस्कारो के कारण तो आई ही है, पाश्चात्य समीक्षा और ज्ञान विज्ञान के क्षेत्रो की नवीनतम उपलब्धियो के अध्ययन से भी अधीत हुई प्रतीत होती है। आधुनिकतावादी होने के कारण ही उन्होने शुक्लजीवाले निबंध में अलंकार मत के साथ साथ रस सिद्धांत को भी आधुनिक साहित्य के मूल्याकन मे अक्षम मानकर उसका विरोध किया है। संभवतः उन दिनो किसी भी भारतीय साहित्यशास्त्रीय मतवाद में उनकी आस्था नहीं थी। इसी कारण उन्होने स्पष्ट शब्दो में लिखा है—''ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी यह प्रकट होगा कि संस्कृत के सभी साहित्यिक संप्रदायो के मूल में न तो कोई महान् आत्मा है, न कोई आदर्शोन्मुख महती प्रेरणा[1]।' वाजपेयीजी ने प्रतिक्रिया के रूप में नही, बल्कि बहुत सोच विचारकर यह बात कही है, क्योकि सस्कृत साहित्यशास्त्र में स्थूल वर्गीकरण की क्षमता चाहे जितनी हो काव्य की अंतरात्मा का उद्घाटन उसमें सचमुच नहीं हुआ है। फलतः वाजपेयीजी के ही शब्दो में 'जब रूपको का रसवाद अपने संपूर्ण सरंजाम के साथ काव्य में लाकर चरितार्थ किया गया तब ता साहित्यसमीक्षा और भी विलक्षण हो गई। सारा काव्यविवेचन शब्द और अर्थ में सीमित हो गया। पिछले जमाने के साहित्य-शास्त्रियो ने अपने को कवि कहने में जिस धृष्ट मनोवृत्ति का परिचय दिया, हमारी रस-समीक्षा-पद्धति उसका विरोध नही कर सकी[2]।' वाजपेयीजी के कहने का तात्पर्य इतना ही है कि रस सिद्धात हो चाहे ध्वनि सिद्धात, व्यवहार में वे काव्यसौदर्य को पहचानने में अधिक सहायक नही होते और न उन्हें प्रतिमान बनाकर सत्काव्य और असत्काव्य के बीच अंतर ही किया जा सकता है। इसी मन्यता के आधार पर वाजपेयीजी ने शुक्लजी के रसवाद का खंडन किया है क्योकि उनके अनुसार रसवाद का अलौकिकता का आधार एक पाखंड मात्र है जिसने साहित्य का बड़ा अनिष्ट किया है।

आधुनिकतावादी होने के कारण वाजपेयीजी किसी भी भारतीय मतवाद को केवल इसी कारण स्वीकार करने को तैयार नही हैं कि वह भारतीय है और

[1] हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ७० ।
[2] वही—पृष्ठ ७१ ।

न वे पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतो को केवल इसलिये अस्वीकार करते हैं कि वे विदेशी या अभारतीय हैं। वे समीक्षा को एक विज्ञान मानते हैं। विज्ञान किसी एक देश का नहीं होता, वह प्राचीन सिद्धातो को नवीन आविष्कारो के संदर्भ में तर्क और प्रयोग की कसौटी पर कसकर स्वीकार या अस्वीकार करता है। वाजपेयीजी भी इसी आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास करते हैं। यह वैज्ञानिक दृष्टि उन्हें निस्संदेह पश्चिम से ही प्राप्त हुई है और इस बात को वे स्वीकार भी करते हैं। अतः वे समीक्षा के क्षेत्र मे समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण शास्त्र और सौंदर्यशास्त्र की उपलब्धियो का उपयोग करना आवश्यक मानते हैं। इस तरह उनके द्वारा प्रतिपादित 'कवि के मस्तिष्क एवं कला का क्रमबद्ध विकास जानने, उसके व्यक्तित्व एवं परिस्थितियो से परिचित होने की ओर उसकी कृति का एक संश्लिष्ट चित्र खींचने की चेष्टा' व्यावहारिक समीक्षा की मनोवैज्ञानिक पद्धति है। वह पद्धति जिसमें 'सामयिक जीवन का अध्ययन किया जाता, युग के प्रधान आदर्शों और समस्याओ का पता लगाया जाता और साहित्य पर उसके प्रभाव का अन्वेषण और निरीक्षण किया जाता है' समाजशास्त्रीय समीक्षापद्धति है; साथ ही 'मनोविश्लेषणशास्त्र ज्यो ज्यो प्रौढ़ होता जा रहा है त्यों त्यो वह काव्य-विवेचन में अधिक उपयोगी प्रमाणित हो रहा है।'[१] वाजपेयीजी ने इन सभी पाश्चात्य समीक्षापद्धतियो को हिंदी आलोचना में ग्रहण करने के समर्थक प्रतीत होते हैं। वे अभिव्यंजनावाद का भी समर्थन और शुक्लजी की तत्संबंधी धारणा का खंडन इन शब्दो में करते हैं—'शुक्लजी क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विरोध करते हैं और कला के लिये कला' सिद्धांत की खिल्ली उड़ाते हैं जब कि क्रोचे और ब्रैडले जैसे कलावादियो ने अभिव्यंजना या कलावाद के मूल में उत्कृष्टतम मानसिक तत्व और प्रतिभा का अध्याहार कर दिया है[२]।' इस प्रकार वाजपेयीजी की साहित्यिक मान्यताएँ उस समय के नवीनतम पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतो से किस सीमा तक अनुप्रेरित और प्रभावित थीं यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

आधुनिकतावादी और वैज्ञानिक दृष्टि स्वभावतः तटस्थ और पूर्वग्रहरहित होती है। इसी कारण वाजपेयीजी ने अपनी प्रारंभिक आलोचनाओ में आलोचक का तटस्थ और पूर्वग्रहरहित होना आवश्यक माना है और स्थान स्थान पर शुक्लजी की पक्षपातपूर्ण तथा पूर्वग्रहयुक्त आलोचनात्मक दृष्टि का विरोध किया

१ हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ७२।
२ वही—पृष्ठ ७१।

है। रामचंद्र शुक्ल का स्थूल नैतिकतावादी आदर्शवाद ही वह पूर्वग्रह था जो सभी प्रकार के श्रेष्ठ काव्य की समीक्षा के सही मूल्यांकन मे साधक नही हो पाता था। इसी लिये वाजपेयीजी ने पूर्वग्रह या टेक के रूप में गृहीत आदर्शवाद को साहित्य के लिये हितकर नही माना है। प्रेमचंद के उपन्यासों में उन्हे कलात्मकता का अभाव इसी लिये दिखाई पड़ता है कि उसमें स्थूल आदर्शवाद का अतिरेक है। पर शुक्लजी और प्रेमचंद के आदर्शों में अतर है यद्यपि पूर्वग्रही दोने ही हैं। शुक्लजी का आदर्शवाद अतीतोन्मुख या पुनरुत्थानवादी है जब कि प्रेमचंद का आदर्शवाद सामयिक और राजनीतिक है। स्थूल दोनो ही है क्योकि दोनो में सूक्ष्म और गंभीर जीवनदर्शन का अभाव है[1]। वस्तुतः वाजपेयीजी कोरे आदर्शवाद की जगह प्रेरणा देनेवाले गभीर जीवनदर्शन को रचनात्मक साहित्यकार और आलोचक दोनो ही के लिये आवश्यक मानते हैं। छायावादी कवि विशेष रूप से प्रसाद और निराला, इसी कारण उन्हे अधिक प्रिय हैं कि उनके काव्य में एक स्वानुभूत जीवनदर्शन मिलता है जो उधार लिया हुआ, कृत्रिम और बाह्यारोपित नहीं है। शुक्लजी छायावादी कविता के इस सूक्ष्म, स्वानुभूतिमूलक जीवनदर्शन को इसी लिये नही देख सके कि उनके स्थूल आदर्शवाद ने उनकी आलोचना दृष्टि को आच्छादित कर लिया था। मध्यकालीन साप्रदायिक अथवा धार्मिक काव्य के लिये भले ही उनका प्रतिमान उपयुक्त हो, पर वर्तमान छायावादी और रहस्यवादी कविता की गहरी स्वानुभूति का स्पर्श करने में वह प्रतिमान अक्षम था[2]। उसी स्थूल आदर्शवादी दृष्टि के कारण शुक्लजी प्रबंधकाव्यो, विशेष रूप से आदर्श चरित्रवाले प्रबंधो में जितनी रसात्मकता पाते थे उतनी गीति कविता मे नहीं अथवा तुलसी मे जितना जीवनसौंदर्य देखते थे उतना सूर मे नही। उनकी उस प्रवृत्ति से क्षुब्ध होकर वाजपेयीजी ने लिखा है, 'उपर्युक्त अद्भुत आलोचको के कारण हिंदी काव्य जगत् में अत्यंत हानिकारिणी विचार परंपरा स्थिर होती जा रही है। जहाँ कोई सौंदर्य नहीं वहाँ अंतःसौंदर्य देखा जाता है। जहाँ सौंदर्य है उसकी अवहेलना की जाती है[3]।'

[1] 'मूल तत्व यह है कि प्रेमचंद का कोई स्वतंत्र स्वानुभूत दर्शन नही है। केवल सामयिकता का आदर्श है।'—हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृष्ठ ८६।

[2] 'इस छायावाद को हम पंडित रामचंद्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणालीविशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।' —वही, पृष्ठ १३२।

[3] जयशंकर प्रसाद, परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ ६५।

उपर्युक्त समस्त विवेचन वाजपेयीजी के दो ग्रंथों—हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी और जयशंकर प्रसाद के आधार पर किया गया है जिनके अधिकतर निबंध सन् १९४० ई० के पहले के लिखे हुए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि १९४० ई० के पूर्व वाजपेयीजी भारतीय साहित्यशास्त्र के रूढ़िवादी समीक्षासिद्धातो के विरोधी और पाश्चात्य समीक्षापद्धतियो के समर्थक थे, किंतु उनकी यह मान्यता कालक्रम के अनुसार उत्तरोत्तर बदलती गई। वाजपेयीजी का आलोचनात्मक व्यक्तित्व विकसनशील रहा है। इसी कारण प्रारंभ में उनकी आलोचना का स्वर जितना विद्रोही और सौंदर्यानुप्राणित था उतना बाद मे नहीं रह गया। सन् १९४० ई० के आसपास से ही उनके विचारो में परिवर्तन दिखाई पड़ने लगता है। उनका अंचल को 'क्रातिदूत' और 'क्राति का स्रष्टा' कहनेवाला आलोचक निश्चय ही प्रसाद और निराला के उदात्त और गरिमामय स्वरूपो का उद्घाटन करनेवाले आलोचक से कुछ भिन्न हो गया था। उसी तरह रस सिद्धात का विरोध करनेवाले सौंदर्यवादी वाजपेयीजी सन् १९५० ई० में 'कामायनी विवेचन' मे कामायनी का मूल्याकन रस, वस्तुवर्णन और भावचित्रण, ध्वनि आदि भारतीय शास्त्रीय सिद्धांतो के आधार पर करने लगते हैं। प्रारंभ मे तटस्थता पूर्वग्रहहीनता को आलोचक का नित्य धर्म माननेवाले वाजपेयीजी बाद मे किस तरह स्वय शुक्लजी के अनुयायी बन गए, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। 'हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी' की भूमिका (विज्ञप्ति) में उन्होंने अपनी आलोचना की 'चेष्टाओ' के जो सात सूत्र दिए हैं उसमे रीतियो, शैलियो और रचना के बाह्यांगो, समय, समाज तथा उनकी प्रेरणाओ और कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो के अध्ययन को संमिलित किया जाना उनके १९४० ई० के बाद की परिवर्तित आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है[१]। इस परिवर्तन के होते हुए भी वाजपेयीजी की प्रारंभिक आलोचनाओ का महत्व कम नहीं हो जाता क्योकि छायावाद और नवीन गद्य साहित्य के सौंदर्यवादी और स्वच्छंदतावादी जीवनमूल्यो का सैद्धातिक विवेचन हिंदी में प्रथम बार उन्ही में किया गया था।

डा० नगेंद्र

शुक्ल युग के नवोदित सौंदर्यवादी आलोचको में डा० नगेंद्र का स्थान प्रमुख है। उन्होने अपनी व्यावहारिक समीक्षा की पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' (सन् १९३८ ई०) के साथ हिंदी आलोचना के क्षेत्र मे प्रवेश किया था। उस काल में उन्होने सैद्धातिक आलोचना से संबंधित जो फुटकल निबंध लिखे उनका संकलन उनकी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' (सन् १९४४ ई०) में हुआ है।

१ यह भूमिका सन् १९४२ ई० में लिखी गई थी।

इस पुस्तक के अधिकतर निबंधों में व्यावहारिक आलोचना की गई है। कुछ ही निबंध ऐसे हैं जिनमें सैद्धांतिक विवेचना की गई है। इन निबंधों में नगेंद्र के तत्कालीन उत्साहशील नवीनतावादी आलोचक के दर्शन होते हैं। उस समय उनपर नवीन पाश्चात्य समीक्षासिद्धांतों का इतना अधिक प्रभाव था कि उनके आज के आलोचक की उस काल के आलोचक से तुलना करना भी कठिन हो जाता है। उस समय के नगेंद्र मुख्यतः मनोविश्लेषणशास्त्रीय आलोचक थे, यद्यपि उन्होंने सामान्य मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और भारतीय रस-सिद्धांत को भी मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांतों के साथ समन्वित करने का प्रयास किया है। इन सभी सिद्धांतों का उन्होंने इस प्रकार मेलजोल कराया है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि वे स्वयं वास्तव में किस सिद्धांत को मानते हैं। कहीं तो वे शुद्ध रूप से फ्रायड, एडलर और युंग के अनुयायी प्रतीत होते हैं, कहीं अभिव्यंजनावादी और कलावादी प्रतीत होते हैं, कहीं आत्माभिव्यंजना पर सर्वाधिक बल देनेवाले स्वच्छंदतावादी और कहीं सौंदर्यवादी तथा रसवादी मालूम पड़ते हैं। उनकी उपपत्तियाँ मुख्यतः काव्य की प्रेरणा या हेतु, प्रयोजन या उद्देश्य, रचनाप्रक्रिया, और काव्य के तत्वों के संबंध में हैं। अतः उन्हीं के संबंध में यहाँ विचार किया जायगा।

काव्य की प्रेरणा के संबंध में उन्होंने एक कल्पित परिसंवाद लिखा है जिसके पात्र एक जिज्ञासु सुंदरी, एक युवक कवि और एक आचार्य हैं। सुंदरी की जिज्ञासा पर आचार्य ने काव्यप्रेरणा संबंधी भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों का विवेचन करने के बाद अपना जो मत व्यक्त किया है वस्तुतः वही नगेंद्र का भी मत है क्योंकि उन्होंने अपने को ही आचार्य के रूप में कल्पित किया है। उनके अनुसार संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्यहेतुओं—प्रतिभा (शक्ति), निपुणता और अभ्यास और काव्यप्रयोजनों—यश, धन, व्यवहारज्ञान, सद्यःमुक्ति, शिवेतर-क्षय और कांतासम्मित उपदेश की जो विवेचना की गई है, वह अपूर्ण और ऊपरी है, क्योंकि 'संस्कृत शास्त्र के तत्ववेत्ता ने जितना परिश्रम रसग्राही पाठक की मनस्थिति का विश्लेषण करने में किया है उसका एक सूक्ष्मांश भी रस-सृजेता के मनोविश्लेषण पर खर्च नहीं किया[1]।' पाश्चात्य सिद्धांतों में उन्होंने अरस्तू के अनुकृतिवाद, हीगेल के सौंदर्यानुभूतिजन्य आनंदवाद और क्रोचे के अभिव्यंजना-वाद की विवेचना करके उन्हें मूलग्राही नहीं, पल्लवग्राही या शाखाग्राही बताया है और मनोविश्लेषक आचार्यों के सिद्धांतों—फ्रायड के काम सिद्धांत, एडलर के क्षतिपूर्ति सिद्धांत और युंग के जीवनेच्छा सिद्धांत—को काव्यप्रेरणा संबंधी मूल

[1] विचार और अनुभूति—प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५।

सत्य के अधिक निकट बताया है। अंत में उन्होंने अपना जो मत व्यक्त किया है वह मौलिक नहीं—पाश्चात्य सिद्धातो का संमिश्रण प्रतीत होता है। उन्होने यह बात स्वीकार भी की है 'अच्छा मेरा अपना मंतव्य सुनो। यह तो मै तुमसे पहले ही कह दूँ कि मेरा मंतव्य कोई सर्वथा स्वतंत्र मंतव्य नहीं है उपर्युक्त सिद्धातो से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं और न हो ही सकता है[1]।' इस तरह पाश्चात्य सिद्धातो के आधार पर उन्होने जो मत व्यक्त किया है उसका निष्कर्ष यह है कि आत्माभिव्यक्ति अर्थात् व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही काव्य की मूल प्रेरणा है जो कवि के 'अंतरंग अर्थात् उसके भीतर होनेवाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से उद्भूत होती है। हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियो से होता है उनमें काम वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होनेवाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है[2]।' स्पष्ट ही यह मत मनोविश्लेषणशास्त्रियो का है, इसमें नगेंद्रजी का अपना कुछ नहीं है। फ्रायड जीवन की मूल प्रवृत्ति काम को मानता है। उसके अनुसार दमित वर्जित काम इच्छाओ की अभिव्यक्ति प्रच्छन्न रूप में काव्यकला आदि में होती है और उन्हीं से व्यक्तित्व का निर्माण भी होता है। एडलर के अनुसार व्यक्तित्व का निर्माण हीनताग्रंथि के कारण उत्पन्न क्षति की पूर्ति के लिये किए गए जीवन प्रयत्नो द्वारा होता है और काव्य भी क्षतिपूर्ति का ही एक साधना है। हीनता की ग्रंथि का बोध व्यक्ति के परिवेश के साथ होनेवाले संघर्ष मे होता है। नगेंद्र ने इन दोनो सिद्धातो की कुछ बातो को लेकर और उसके साथ 'आत्माभिव्यक्ति की अनिवार्यता' के स्वच्छंदतावादी सौंदर्यवादी सिद्धांत को मिलाकर यह नया मत उपस्थित कर दिया है।

फ्रायड और एडलर काव्य या कला को कवि की सचेत रूप में आत्माभिव्यक्ति नही मानते, बल्कि अचेतन मन का व्यापार मानते हैं। नगेंद्रजी की 'व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति' या आत्माभिव्यक्ति चेतन मन की क्रिया प्रतीत होती है; क्योकि कवि के चेतन मन को ही उन रागद्वेषो को 'अभिव्यक्त करने की उत्कट आवश्यकता होती है जिनका संबंध अभाव से है[3]।' यहाँ नगेंद्र यह भी कहते हैं कि साहित्य विशिष्ट व्यक्तित्व की विशिष्ट क्षणो मे हुई विशिष्ट अभिव्यक्ति

१ विचार और अनुभूति, पृष्ठ ६।

२ वही—पृष्ठ १०।

३ वही—पृष्ठ १०।

है। व्यक्तित्व की विशिष्टता से उनका तात्पर्य राग द्वेष की असाधारण तीव्रता अर्थात् अत्यधिक भावुकता या संवेदनशीलता से है। पर इसे भी वे फ्रायड के सिद्धात से जोडकर अंतश्चेतन (अचेतन मन) और निरीक्षक चेतन (इगो) के बीच होनेवाले संघर्ष की उत्कृष्टता सिद्ध कर देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यप्रेरणा संबंधी उनकी मान्यता प्रायः सर्वांशतः मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धातो पर आधारित है।

किंतु काव्यप्रेरणा ही नही, काव्यप्रयोजन, काव्य-सृजन-प्रक्रिया और मूल स्रोत के संबंध में भी उनकी धारणाएँ मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धातो पर ही आधारित हैं। वे साहित्य को जीवन की अंतर्मुखी साधना मानते हैं। उनके अनुसार 'स्वभाव से ही साहित्यकार मे अंतर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य रहता है। वह जितना महान् होगा उसका अहम् उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः सामाजीकरण असभव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा।...'साहित्य में जो महान् है वह...दुर्दमनीय अहम् का ही विस्फोट है[1]।' यो तो अहम् का अर्थ भारतीय दर्शन के क्षेत्र में मायाबद्ध आत्मन् (अहंकार) और सामान्य व्यवहार मे मिथ्याभिमान होता है, पर फ्रायड के अनुसार अहम् (इगो) व्यक्ति के सचेत मन का वह नियामक तत्व है जो अचेतन मन के इदम् (इद्) तत्व का व्यक्त या सघटित रूप है और जिसका काम दमित कामेच्छाओ को बाहर निकलने से रोकना या समाज द्वारा वर्जित इच्छाओ की पूर्ति में अवरोध उत्पन्न करना होता है। वह जगत् और व्यक्ति के अचेतन मन के बीच मध्यस्थ का काम करता है, अर्थात् जगत् को इदम् की वासनाओ के अनुरूप मोड़ने तथा इदम् की वासनाओ को जगत् की वास्तविकता के अनुरूप संशोधित करने का प्रयत्न करता है। इस तरह अहम् मन का बौद्धिक और व्यावहारिक पक्ष है। निश्चय ही नगेंद्र ने अहम् शब्द का प्रयोग इस अर्थ में न कर इदम् के लिये किया है, क्योकि इदम् ही अपने भीतर सचित दमित वासनाओ को बाहर अभिव्यक्त करने के लिये चेतन मन से संघर्ष करता रहता है। अतः विस्फोट तो इदम् का ही संभव है, अहम् का नहीं। अहम् नियंत्रक और अवरोधक है, इदम् अवरुद्ध कामवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिये संघर्ष करनेवाला विद्रोही है। अवरोधो और वर्जनाओ का अतिरेक होने पर इदम् का विस्फोट पागलपन, स्नायविक रोग, आदि के रूप मे होता है। नगेन्द्रजी ने जिसे अहम् कहा है वह संभवतः फ्रायड का 'इदम्' ही है।[2] क्योकि अहम्

[1] विचार और अनुभूति, पृष्ठ ६६।

[2] हिंदी की प्रगतिवादी और प्रयोगवादी समीक्षा में इस 'अहम्' शब्द का प्रयोग मनमाने ढंग से होता आ रहा है। कोई इसे 'इगो' और कोई 'इड' के अर्थ में प्रयुक्त करता है। इससे तात्पर्यबोध में बहुत बाधा होती है।

का विस्फोट तो होता ही नहीं है। इस तरह 'अहम् के विस्फोट' से नगेंद्र का आशय यह है कि अचेतन मन में संचित दमित कामवृत्तियाँ स्वप्न, पागलपन आदि की तरह चेतन मन के अवरोधों को छिन्नभिन्न करके प्रतीकात्मक या प्रच्छन्न रूप मे काव्य में अभिव्यक्त होती हैं और ऐसा ही साहित्य महान् साहित्य होता है। अहम् जब इदम् की वासनाओ और जगत् की वास्तविकता के बीच सामंजस्य नहीं करा पाता है तभी इदम् (अचेतन मन) की कामवृत्तियो का विस्फोट होता है। निष्कर्ष यह कि काव्य की रचनाप्रक्रिया के संबंध मे नगेंद्र का मत फ्रायड के सिद्धातो का अनुवर्ती है। फ्रायड -और एडलर भी साहित्यकार का अंतर्मुखी होना आवश्यक मानते हैं।

नगेंद्र की एक अन्य स्थापना यह है कि छायावादी काव्य मूलतः कुंठा से अनुप्रेरित है और कुंठा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती; इसलिये छायावादी काव्य प्रथम श्रेणी का काव्य नहीं है। फिर भी वे कहते हैं कि 'संसार का अधिकांश काव्य कुंठाजात ही तो है। उसकी तीव्रता उसके वैभवविलास का जन्म प्रायः कुंठा से ही होता है[1]।' अन्यत्र नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा की त्रुटि बताते हुए वे कहते हैं कि 'इस युग की सामाजिक कुंठाओ का विशेपरूप से सेक्स संबंधी कुंठाओ का प्रभाव यह उचित मात्रा में स्वीकार न कर सके[2]।' इस तरह कुंठाओं—चाहे वे सामाजिक हो या वैयक्तिक—को नगेंद्र जी काव्य का एक प्रमुख हेतु या प्रेरणा स्रोत मानते हैं। पर उन्होने यह स्पष्ट नहीं किया है कि कुंठा से उनका तात्पर्य क्या है और उसका प्रभाव साहित्य पर कैसे पड़ता है। मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार नैतिक और सामाजिक निषेधो या वर्जनाओ के कारण मन में अनेक प्रकार की ग्रंथियाँ बन जाती हैं। उन्हीं को हिंदी मे कुंठा (काम्प्लेक्स) कहा जाता है। ये कुंठाएँ चरित्र के पतन, अपराध कार्य और स्नायविक रोगो का कारण तो बनती ही हैं, उदात्तीकरण (सब्लीमेसन) द्वारा ये साहित्य और कला की हेतु भी बनती हैं। साहित्यसर्जना द्वारा कुंठाओ अवरोधो का रेचन और निरसन होता है और स्नायविक तनाव दूर होता है जिससे कवि कलाकार के चरित्र में भी साधारणता (नारमैलिटी) और उदात्तता आती है। एडलर के अनुसार व्यक्ति का अहम् (इगो) अपने चतुर्दिक के पारिपार्श्विक अवरोधो के बीच अपने को स्थापित (एसर्ट) करना चाहता है। इस संघर्ष मे उसे जो असफलता मिलती है उससे हीनता की ग्रंथि या कुंठा बनती है। इस कुंठा की भावना से मुक्ति पाने के लिये साहित्य और कला की सर्जना होती है। इस तरह

१ विचार और अनुभूति, पृष्ठ ६०।
२ वही, पृ० १०५।

साहित्य हीनता की कुंठा से बचने या उसे छिपाने का एक महत्वपूर्ण उपाय है। छायावादी कविता को कुंठाओं से उद्भूत बताने मे नगेंद्र का अभिप्राय यह है कि यदि छायावादी कवियों के व्यक्तिगत जीवन और उनके सामाजिक परिवेश का अध्ययन किया जाय तो उनके मन की दमित कामजन्य इडिपस कुंठा या आत्म-स्थापना के संघर्ष से उत्पन्न हीनता कुंठा को उनकी काव्यसर्जना के मूल स्रोत के रूप मे देखा जा सकता है।

नगेंद्र की इन्ही मान्यताओं के कारण बहुत से लोगो ने उन्हे मनोविश्लेषणशास्त्रीय आलोचक माना है पर वस्तुतः उनकी आलोचनात्मक मान्यताएँ यहीं समाप्त नहीं हो जातीं। इन मान्यताओं के साथ ही उन्होने यह भी कहा है कि 'कलाकृतियों का सापेक्षिक महत्व उनकी आनंददायिनी शक्ति पर आश्रित है'[1] और जो आनंददायक है वह उपयोगी है ही, इस बात को भूलकर आलोचक प्रायः सुंदर से सुंदर साहित्य के प्रति अन्याय कर बैठता है।'[2] 'अतएव काव्य की कसौटी है उसकी शुद्ध आनददायिनी शक्ति जिसे अपने शास्त्रकारों ने रस कहा है। रस का अर्थ व्यापक रूप में आनद से चलकर जीवन पोषक तत्व तक है।'[3] इस तरह नगेंद्र रसवादी प्रतीत होते हैं। उपर्युक्त कथन में उन्होने पाश्चात्य आनंदवादी कलासिद्धांत (हेडोनिस्टिक थीअरी ऑफ आर्ट) का भारतीय रससिद्धांत के साथ समन्वय किया है और हीगेल के सौंदर्य दर्शन को, जो सौंदर्य को अनिवार्यतः शिव और सत्य भी मानता है, भी उसी मे समेट लिया है। इसी तरह वे रसात्मक आनंद को ही साहित्य का अंतिम उद्देश्य का प्रयोजन मानते हैं। वे रसानुभूति के संबंध मे भारतीय साधारणीकरण के सिद्धांत और रसाभिव्यक्ति को संबंध मे क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा रोमैंटिक सौंदर्यवादी आलोचकों के आत्माभिव्यंजना के सिद्धांत के अनुयायी प्रतीत होते हैं। साधारणीकरण के संबंध मे प्राचीन आचार्यों के समान वे भी यह स्वीकार करते हैं कि सहृदय या 'अधिकारी भोक्ता' मे ही रसानुभूति होती है और अधिकारी भोक्ता वही है जो संवेदनशील और संस्कृत शिक्षित रुचिवाला हो। अतः काव्य जन साधारण की वस्तु नही है, वह काव्य के विशेषज्ञों यानी सहृदयों के लिये ही है। समीक्षक का भी रसग्राही सहृदय होना चाहिए, तभी वह आनंददायिनी शक्ति का महत्व आँक सकेगा। समीक्षक के लिये नगेंद्र ने इतना संकेत और दे दिया है कि कलाकृति मे कर्ता के

[1] विचार और अनुभूति, पृ० १३।
[2] वही, पृ० १२।
[3] वही, पृ० १२।

व्यक्तित्व का अनुवाद होना चाहिए और उसका व्यक्तित्व प्राणवान् होना चाहिए। इस प्रकार नगेंद्र के अनुसार कला या काव्य का मूल्य उसके अंतिम लक्ष्य आनंद, उसके साधन—निष्कपट, तीव्र एवं संपूर्ण आत्माभिव्यक्ति और उसके उपादान प्राणवान व्यक्तित्व—पर निर्भर करता है। यह मान्यता निश्चय ही नगेंद्र को रसवादी सिद्ध करती है। उन्होंने अपने इस मत की घोषणा भी इन शब्दों में कर दी है—'अतः साहित्य की आत्मा है रस और इसी रस की परीक्षा करना आलोचक का कर्तव्य है।'

किंतु आत्माभिव्यक्ति का सौंदर्यवादी स्वच्छंदतावादी सिद्धांत उनकी इस मान्यता का अभिन्न अंग है। शुक्लयुग के बाद वे उत्तरोत्तर भारतीय ढंग के 'शुद्ध रसवादी' होते गए। प्रारंभ में उन्होंने रसवादी शुक्लजी का इसलिये विरोध किया था कि उनकी आलोचना दृष्टि वस्तुसीमित थी और 'वस्तु और अभिव्यंजना में अंतर मानकर चलती थी[२]।' इसी कारण उस समय वे प्रभाववादी, शास्त्रीय और वैज्ञानिक समीक्षा पद्धतियों का समन्वय आवश्यक मानते थे[३]। प्रभाववादी पद्धति के अनुसार वे आलोचक का कर्तव्य मानते थे 'आलोच्य वस्तु के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य पद को प्राप्त कर सकती है[४]।' पर बाद में वे प्रभाववादी और वैज्ञानिक पद्धतियों को छोड़कर शुद्ध शास्त्रीय (भारतीय और पाश्चात्य) पद्धति को ही अपनाकर चलने लगे, क्योंकि उन तीनों का समन्वय वस्तुतः असंभव ही है। अपनी मान्यताओं को शास्त्रसम्मत बनाने की प्रवृत्ति उनमें प्रारंभ से ही वर्तमान थी, इसी लिये उन्होंने 'साहित्य की समीक्षा' शीर्षक निबंध में धर्म के चार लक्षणों—आत्मनः प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद के आधार पर साहित्य की परीक्षा करने की विधि बताई थी, मगर वस्तुतः पुरानी शास्त्रीय शब्दावली के सहारे उन्होंने प्रभाव (आत्मनः प्रिय, सामाजिक हित (सदाचार), विधान या राष्ट्रनियम, स्मृति) और शाश्वत ज्ञान (वेद) को ही साहित्यपरीक्षा का आधार बताया था, किंतु उनकी यह सलाह दूसरों के लिये ही थी। स्वयं तो उस समय भी रसवादी, अभिव्यंजनावादी और मनोविश्लेषणवादी पद्धति को लेकर चलते रहे और अब तो उन्होंने आलोचना के शुद्ध शास्त्रीय या रीतिवादी मार्ग को ही अपना लिया है, अन्य सभी पद्धतियों से एक प्रकार से संबंधविच्छेद ही कर लिया है।

१ विचार और अनुभूति, पृष्ठ १४।
२ वही, पृष्ठ ५६।
३ वही, पृष्ठ १६।
४ वही, पृष्ठ १७।

शांतिप्रिय द्विवेदी

पहले कहा जा चुका है कि स्वच्छंदतावादी सौदर्यवादी आलोचको का एक वर्ग ऐसा था जिसने विश्लेषणात्मक शैली न अपनाकर प्रभावात्मक और काव्यात्मक शैली अपनाई थी। शातिप्रिय द्विवेदी इस वर्ग के प्रतिनिधि आलोचक हैं। रामकुमार वर्मा, रामनाथलाल सुमन, जानकीवल्लभ शास्त्री और गंगाप्रसाद पाडेय ने भी इसी पद्धति को अपनाकर अधिकतर व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखी थीं। इन सबने छायावादी काव्यधारा के कवि रूपमे साहित्यक्षेत्र मे प्रवेश किया था और आलोचना के क्षेत्र मे बाद मे आए थे। उनमे से कुछ तो बाद मे काव्यरचना छोड़कर केवल आलोचक ही रह गए और कुछ का दोनो रूप साथ साथ चल रहा है। छायावादी कविता के अंतरंग से पूर्णतः परिचित होने के कारण इनका दृष्टिकोण तो सौदर्यवादी और रूढिविरोधी था, पर मूलतः कवि होने के कारण इनकी शैली में काव्यात्मकता अधिक दिखाई पड़ती है। इन्हें प्रभावात्मक इसी अर्थमे कहा गया है कि इन्होने शास्त्रीय या वैज्ञानिक आधार पर आधुनिक कविता का मूल्याकन नही किया; बल्कि आलोच्य काव्य या प्रवृत्ति से प्रभावित होकर तब उसकी विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण व्यावहारिक आलोचना में इन सबने अपनी रुचि के अनुकूल किसी न किसी रहस्यवादी या छायावादी कवि या कथाकार को अपना आदर्श प्रतिमान बना लिया। रामकुमार वर्मा ने कबीर को चुना तो शातिप्रिय द्विवेदी ने सुमित्रानंदन पंत और शरच्चंद्र को। जानकीवल्लभ शास्त्री ने निराला को अपना आलोच्य प्रतिमान माना तो गंगाप्रसाद पाडेय ने निराला और महादेवी दोनो को। रामनाथ सुमन ने प्रसाद तक ही अपने को सीमित रखा। अपनी रुचि के कवियो से प्रभावित होने के कारण उनकी आलोचनात्मक दृष्टि उसी प्रकार तटस्थ नहीं रह सकी है, जैसे रामचंद्र शुक्ल की दृष्टि तुलसी से प्रभावित होने कारण निष्पक्ष नहीं थी।

किंतु शातिप्रिय द्विवेदी इस वर्ग के अन्य आलोचको से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनकी आलोचना मे भावात्मकता या काव्यात्मकता सबसे अधिक है। इस काव्यात्मकता के कारण ही शातिप्रिय द्विवेदी को इस भयानक भ्रम का शिकार होना पडा है कि वे प्रभाववादी आलोचक हैं। रामचद्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे शातिप्रिय द्विवेदी को प्रभाववादी आलोचक तो नहीं कहा है, पर उनके बारे में एक बहुत ही गूढार्थक वाक्य यह लिखा है—'पं० शातिप्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य निर्माता' नाम की एक पुस्तक लिखकर हिंदी के कई वर्तमान कवियों की प्रवृत्तियो और विशेषताओ का अपने ढंग पर अच्छा आभास दिया है।' इसके ठीक बाद ही शुक्लजी ने प्रभावाभिव्यंजक की कई पृष्ठो मे कटु आलोचना

की है। उस आलोचना के कुछ वाक्य ये हैं—'ठीक ठिकाने से चलनेवाली समीक्षाओं को देख जितना संतोष होता है, किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असंबद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ग्लानि होती है।......इस प्रकार की समीक्षा में, कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव या आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नहीं; आवश्यक इतना ही है कि उसकी किसी रचना का जिसके हृदय पर जो प्रभाव पड़े उसका वह सुंदरता और अनूठेपन के साथ वर्णन कर दे।'[1] हो सकता है, इस कथन में शुक्लजी का संकेत शातिप्रिय द्विवेदी की ओर भी हो, पर बाद के आलोचकों—विशेषकर विश्वविद्यालयों के वर्गीकरणप्रिय प्राध्यापक आलोचकों—ने यह निश्चित रूप से मान लिया कि शातिप्रिय द्विवेदी प्रभाववादी या शुक्लजी के शब्दों में प्रभावाभिव्यंजक इम्प्रेसीनिस्ट आलोचक हैं।

किंतु यह अत्यंत भ्रममूलक और शातिप्रियजी की कृतियों को बिना पढे ही केवल प्रलाप के रूप में मान्य धारणा है। वस्तुतः शातिप्रिय द्विवेदी न तो पाश्चात्य आलोचना में मान्य प्रभाववादी पद्धति के आलोचक हैं और न शुक्लजी ने प्रभाव भिव्यंजनावाद की जो व्याख्या की है उसी पद्धति के अनुयायी हैं। उनकी आलोचना आलोच्य वस्तु से असम्बद्ध कहीं नहीं है। हाँ, काव्यात्मक अवश्य है; पर केवल काव्यात्मक या भावात्मक होने से ही आलोचना प्रभावात्मक नहीं हो जाती। प्रभावात्मक समीक्षापद्धति अभिव्यंजनावाद का ही आलोचनात्मक प्रयोग है जिसमें आलोचना स्वयं आलोच्य वस्तु से विच्छिन्न एक स्वतंत्र रचनात्मक कृति का रूप धारण कर लेती है। भावात्मक निबंधों की तरह प्रभाववादी आलोचना में भी विवेच्य विषय के विश्लेषण, परीक्षण और मूल्यांकन की ओर उतनी प्रवृत्ति नहीं होती जितनी उस विषय या आलोच्य कृति के अपने मन पर पड़े प्रभाव को उद्गार रूप में व्यक्त करने की प्रवृत्ति होती है। इस तरह प्रभाववादी आलोचना मुख्यतः प्रशंसात्मक और रचनात्मक होती है। यों तो प्रत्येक आलोचक कहीं न कहीं प्रभाववादी अवश्य हो जाता है और स्वयं शुक्लजी की आलोचना में ऐसे स्थल हैं, पर विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक समीक्षक उन प्रभावों का बौद्धिकीकरण करता और उन्हें तर्कपूर्ण संगति देता है। इसके विपरीत प्रभाववादी आलोचक मन पर पड़े प्रभावों को उनके मूल अविकृत रूप में ही अभिव्यक्त करता है और ऐसा करने में भावात्मकता स्वभावतः आ जाती है। शातिप्रिय द्विवेदी की समीक्षा में भावात्मक शैली तो है पर प्रभावों की अभिव्यक्ति तर्क-

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५१७—५१८।

पूर्ण और व्याख्यात्मक है। मन पर पड़े प्रभावों को आलोच्य वस्तु से असंबद्ध करके उन्होंने नहीं व्यक्त किया है। इसलिये अधिक से अधिक उन्हें प्रभावात्मक या भावात्मक स्वच्छंदतावादी समीक्षक कहा जा सकता है। सौंदर्यवादी स्वच्छंदतावादी आलोचक कभी कभी आलोच्य कृति के सौंदर्य के मर्मोद्घाटन के लिये भावाविष्ट होकर काव्यात्मक पद्धति का सहारा लेते हैं पर इतने से ही उन्हें प्रभाववादी नहीं कहा जाता। शांतिप्रिय द्विवेदी का कवि रूप उनकी समीक्षा में भी प्रमुख रहता है जिससे उनके भावात्मक उद्गार प्रायः प्रकट हो जाया करते हैं। इस बात को उन्होंने स्वयं सामायिकी के 'शुक्लजी का कृतित्व' शीर्षक निबंध में इस प्रकार कहा है—'अनुभूतिवाद (छायावाद, रहस्यवाद) के लिये वैधानिक समीक्षा की ही नहीं, प्राभाविक समालोचना की भी आवश्यकता है। प्राभाविक समालोचना टेकनिकल नहीं, आइडियल है। वह कवि की अनुभूति पाठक में जगाती है, उसे भी कवि बनाती है।...हाँ ऐसी आलोचना में कवि की अनुभूति से समालोचक की अभिन्नता होनी चाहिए निजी आरोपण नहीं।'

उपर्युक्त कथन द्वारा शांतिप्रियजी ने स्वयं प्रभाववादी समीक्षापद्धति से अपनी समीक्षापद्धति का अंतर इतना स्पष्ट कर दिया है कि उसे और अधिक बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रभाववादी आलोचक आलोच्य कृति पर अपनी भावनाओं का आरोपण करता है और भावात्मक (प्राभाविक) पद्धति में आलोचक आलोच्य कवि के साथ तादात्म्य स्थापितकर उसकी अनुभूतियों को पाठकों तक संप्रेषित या साधारणीकृत करता है। यह मत डॉ० नगेंद्र के इस सिद्धांत से मिलता है— 'स्वभावतः साहित्य के अन्य अंगों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण को मैं अनिवार्य मानता हूँ। अर्थात् आलोचक एक विशेष रसग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्वसुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा।'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि शांतिप्रिय की आलोचना में रसग्राहिता और तज्जन्य काव्यात्मक शैली वर्तमान है और इस दृष्टि से इनकी आलोचना का मूल्य बहुत अधिक है। सचाई भी इसमें पर्याप्त मात्रा में है, पर सफाई की कुछ कमी अवश्य है। उस कमी का कारण शांतिप्रिय का प्रतिकूल परिस्थितियों और सामाजिक असुविधाओं से विवश

[1] विचार और अनुभूति, पृष्ठ १८।

होकर पाश्चात्य और भारतीय साहित्य सिद्धातो और दर्शनो के गंभीर अध्ययन से वंचित रहना है। यदि उनको भी वे सुविधाएँ मिली होती तो उनकी समीक्षा-पद्धति कुछ और ही हुई होती और तब डा० नगेंद्र को यह आक्षेप करने का अवसर न मिलता कि 'लिरिकल होने के कारण शातिप्रियजी की भावनाएँ तरल हैं; यह उनकी शक्ति है। उनके विचार भी उतने ही तरह हैं; यह उनकी सीमा है। इसलिये शातिप्रियजी आधुनिक युग के काव्य -विशेषकर छायावाद के रस का आस्वादन तो करा सके, लेकिन उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके।' इस कथन का तात्पर्य यह है कि शातिप्रियजी की आलोचना भावात्मक अधिक और विचारात्मक कम है। यह कथन आशिक रूप से सत्य हो सकता है, पर पूर्णतः सत्य नही है। इसके लिये शातिप्रियजी के ग्रथो का पर्यवेक्षण आवश्यक है।

आलोच्य काल मे शातिप्रिय के पॉच आलोचनात्मक ग्रंथ—हमारे साहित्य निर्माता (सन् १ ३४), कवि और काव्य (सन् १६३६), साहित्यिकी (सन् १६३८) संचारिणी (सन् १६३६) और युग और साहित्य (सन् १६४०)—प्रकाशित हुए थे इनमें से प्रथम केवल व्यावहारिक आलोचना का ग्रंथ है और शेष ग्रंथो में व्यावहारिक और आलोचनात्मक निबंध संकलित हैं। इनमें युग और साहित्य के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रंथो में लेखक की दृष्टि विशुद्ध रूप से सौंदर्य-मूलक स्वच्छंदतावादी है। युग और साहित्य में शातिप्रिय पंत के प्रगतिशील विचारों से प्रभावित होकर समन्वयात्मक प्रगतिवादी हो गए हैं, पर उसमें भी उनका सौंदर्यबोधात्मक दृष्टिकोण अधिक बदला नहीं है। सौंदर्यसंबंधी उनकी धारणा अँगरेजी के रोमांटिक और हिंदी के छायावादी कवियो जैसी ही है। छायावादी कवियो विशेषकर प्रसाद की सौदर्यभावना आध्यात्मिक अधिक है, भौतिक कम। शातिप्रिय भी सौंदर्य को वस्तु में नही द्रष्टा के मन में अवस्थित मानते हैं। उनके अनुसार 'यह सौंदर्य केवल ऑखो की दृश्य वस्तु नहीं, हमारी कल्याणमयी चेतना का चुनाव है। जब हम चेतना के उज्ज्वल प्रकाश में सौदर्य का निरीक्षण करेंगे तब हमारी ऑखे ऐसी ही दिव्य छवि खोज सकेंगी। यह सौंदर्य-सृष्टि केवल कवि की ही ऑखो में नहीं, बल्कि यह विश्व की एक जीवनदायिनी सत्ता है'[१]। स्पष्ट ही यह आध्यात्मिक सौंदर्यदृष्टि है जो छायावादी कविता की मूल प्रेरणा रही है। किंतु उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक सौंदर्य का आधार भी वस्तु जगत् ही है, कोई अन्य अभौतिक लोक नहीं। इसी लिये शांतिप्रिय जी 'कला को साध्य नहीं, साधन मानते हैं। कला का लक्ष्य जीवन के 'सत्य' और शिव को

१ साहित्यिकी, प्रथम संस्करण, पृ० ४६।

सुंदर बनाकर उपस्थित करना है। कला बाह्य अभिव्यक्ति है जो जीवन को ही अभिव्यक्त करती है। यह धारणा कलावादियों और अभिव्यंजनावादी क्रोचे की मान्यता से बिलकुल भिन्न है।[१] वस्तुतः शांतिप्रिय का सौंदर्यबोध वस्तु और चेतना दोनो के सामंजस्य और अन्वितिपूर्ण प्रभाव को प्राथमिकता देता है। वे कहते हैं—'चेतना के कारण ही तो जीवन बना हुआ है और जीवन के कारण ही कला रसमय और सहृदयसंवेद्य बनी हुई है। तब, कला जीवन से विच्छिन्न कैसे हो सकती है।'[२] इस तरह उन्होंने कला के स्वतंत्र अस्तित्व के कलावादी सिद्धांत का खण्डन किया है।

शांतिप्रियजी कविता को कवि की तन्मय और ऐकांतिक मनोदशा में अपने आप निकल पड़नेवाला सरस उद्गार मानते हैं।[३] उनके अनुसार कविता 'अंतर्जगत् की वाणी', 'भावनाओं का सुंदरतम रूप' और 'हमारे' हृदय की साँस' है। इस तरह वे कविता को आत्मव्यंजक मानते हैं, वस्तुव्यंजक नहीं। उनकी यह धारणा छायावादी कविता के विशेषताओं से प्रभावित होकर निर्मित हुई है। छायावादी कवियों की तरह शांतिप्रिय भी वस्तुजगत् और भाव जगत् में भाव जगत् (अंतर्जगत) को कविता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं और कहते हैं—'वस्तु जगत् विचारों और स्थूल अनुभवों को जन्म देता है जो लोक व्यवहार की वस्तु है। अंतर्जगत् भावों और सूक्ष्मतम अनुभूतियों की उद्भावना करता है जो मनुष्य के मानसिक उपचार के लिये रसायन हैं'।[४] इस प्रकार वे कविता की उपयोगिता यह मानते हैं कि वह मनुष्य का मानसिक उपचार करती है अथवा शुक्लजी के शब्दों में 'लोकचित्त का परिष्कार' करती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे काव्यकला को उपयोगितावादी दृष्टि से देखते हैं। वे कविता को शरीर या मस्तिष्क के लिये नहीं, हृदय के लिये उपयोगी बताते हैं। कविता मानसिक उपचार के लिये रसायन तभी बन सकती है जब वह रसमयी हो। अतः वे काव्य का रसयुक्त होना आवश्यक मानते हैं और रससंप्रदायवालों के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—'शब्द से लेकर रस तक काव्य में प्रवाह

१ 'जीवन में जो कुछ सत्य है, शिव है, कला उसे ही 'सुंदर' बनाकर साहित्य द्वारा संसार के संमुख उपस्थित करती है। कला साहित्य का बाह्य रूप है, जीवन उसका अंतःस्वरूप। कला अभिव्यक्ति है, जीवन अभिव्यक्त।'—संचारिणी, पाँचवाँ संस्करण; पृ० ८६।

२ वही—पृ० ८५।

३ कवि और काव्य, चतुर्थ संस्करण पृ० २१।

४ वही—पृ० १०।

की एक लड़ी सी बंधी रहती है। शब्द छंद को अग्रसर करते हैं, छंद भाव को और भाव रस को।'[1] इस तरह वे रस के सभी सहायक तत्वों, शब्द, छंद, बिंबविधान, अप्रस्तुत विधान आदि का महत्व स्वीकार करते हैं।[2] शुक्लजी की तरह शांतिप्रिय भी रसपरिपाक के लिये काव्य में चित्रयोजना (बिंबविधान) आवश्यक मानते हैं पर उनसे कुछ आगे बढ़कर काव्य की संगीतात्मकता अथवा समुचित वर्णविन्यास, और शब्दविन्यास को भी उसके कलात्मक सौष्ठव के लिये अनिवार्य सिद्ध करते हैं।[3] किंतु रसवादी होते हुए भी वे शास्त्रीय या रीतिबद्ध नहीं हैं। उन्होंने आत्मभिव्यंजना के सिद्धांत को मिलाने का प्रयास किया है जो प्रसाद आदि छायावादी कवियों की समीक्षा में भी देखा जा सकता है।

साधारणीकरण के संबंध में भी शांतिप्रियजी की मान्यता शास्त्रीय रसवादियों से भिन्न है। रससिद्धांत में विवक्षित भावों और विभावों को रस का प्रमुख अवयव माना गया है और शुक्लजी तो उन दोनों में भी विभाव को सबसे अधिक महत्व देते हैं। पर सौंदर्यवादी, स्वच्छंदतावादी समीक्षा में भाव की जगह आत्मानुभूति या स्वानुभूति को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। अनुभूतियों में भाव कहीं परिस्फुट होते हैं, कहीं प्रच्छन्न और कहीं कहीं तो उनमें संवेदनाओं और प्रभावों का जटिल रूप ही वर्तमान रहता है। इस कारण आत्माभिव्यंजक कविता में—चाहे वह छायावादी हो या आधुनिकतावादी नई कविता—प्रायः अस्पष्टता रहती है जिससे सामान्य पाठक उसे समझ नहीं पाता; शास्त्रीय शब्दावली में पाठक का आश्रय (कवि) के साथ तादात्म्य नहीं हो पाता जिससे साधारणीकरण और रसनिष्पत्ति नहीं हो पाती। शांतिप्रिय द्विवेदी के अनुसार कविता में यह अस्पष्टता कहीं कहीं आवश्यक हो जाती है। उन्हीं के शब्दों में 'कविता सुंदरी को भी कभी कभी अवगुंठन की आवश्यकता पड़ती है······इसलिये कि उसकी शोभाश्री एक कुलवधू की सलज्ज मुसकान की तरह संयमित, गूढ, गंभीर एवं प्रतिक्षण नवीन बनी रहे'।[4] छायावादी कविता में लाक्षणिकता, व्यंजकता और प्रतीक पद्धति की अधिकता इसी मान्यता के कारण है। अभिधात्मक पद्धति जन साधारण के लिये अधिक उपयुक्त होती है पर उसमें वह सौंदर्य, जिसका उल्लेख शांतिप्रियजी ने किया है, नहीं होता। इसलिये उन्होंने लिखा है—'कला की दृष्टि से जो कविताएँ अस्पष्ट लिखी जाती हैं, वे सर्वसाधारण की नहीं, केवल भावुक हृदयों के प्रेम की

१ कवि और काव्य; पृष्ठ ५।
२ देखिये 'काव्यचिंतन शीर्षक निबंध, वही—पृ० १ से १७ तक।
३ वही, पृ० ४, ५।
४ कवि और काव्य; पृष्ठ १४४

वस्तु होती है।'[1] उनका कहना है कि वस्तुतः कोई अच्छी कविता अस्पष्ट नहीं होती, पाठक कवि की परिस्थिति मे अपने को रखकर उसे नहीं पढ़ता, इसी से वह अस्पष्ट मालूम पड़ती है। भावुक पाठक अपने को कवि की परिस्थिति और मनस्थिति मे रखकर यदि कविता पढ़े तो वह भले ही उसे भलीभाँति समझ न पावे पर उसके सौंदर्य पर मुग्ध अवश्य हो जायगा। यहाँ शातिप्रियजी ने अनजाने ही एक ऐसी बात कही है जो आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र की दृष्टि से बिलकुल सही है। उन्होने लिखा है—'कवि के अज्ञात भावो का अर्थ न समझ सकने पर भी वे भाव हृदय को भले लगते हैं।······अंतरतम चेतना काव्य मे भी अज्ञात रूप से भीतर ही भीतर मर्मस्थल को छूती रहती है यद्यपि हम बाहरी चेतना द्वारा अर्थविमूढ़ बने रहते हैं।'[2] यहाँ मनोविश्लेषण के चेतन और अचेतन मन के सिद्धात और कविता में अचेतन मन से निःसृत प्रतीकात्मक बिंबो (खंडित या शृंखलित) की बात ही मन्न शब्दावली मे कही गई। अचेतन मन से निःसृत प्रतीकात्मक बिंबोवाली कविता सामान्य पाठक के लिये अवश्य अस्पष्ट और दुरुह होती है।

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है कि अपनी प्रारंभिक कृतियो मे शातिप्रिय छायावादी कविता विशेषकर पंत के पल्लवकालीन काव्यादर्श से प्रभावित स्वच्छंद सौदर्यवादी आलोचक थे। पर पंत की काव्यप्रवृत्तियो के परिवर्तन के साथ शातिप्रिय के आलोचनात्मक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता गया। साहित्यिकी में वे पंत के गुंजन आदि काव्यो से प्रभावित होकर मानवतावादी बन जाते हैं और कवि को दुखी विश्वमानव की सुख शाति के लिये काव्यरचना करने की सलाह देते हैं। उनकी उस विचारधारा पर गाधी और रवींद्र का भी समान प्रभाव है। उसी तरह पंत के युगात का प्रभाव उनकी संचारिणी पर (नवीन मानवसाहित्य शीर्षक निबंध मे) तथा 'युगवाणी' का प्रभाव 'युग और साहित्य' पर दिखाई पड़ता है। अतः कुछ लोगो के इस कथन में काफी सच्चाई है कि 'शातिप्रिय द्विवेदी की विचार सरणियो मे भी कवि पंत के काव्यविकास की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है।'[3] 'युग और साहित्य' मे उनकी विचारधारा तत्कालीन प्रगतिशील आदोलन से प्रभावित है। उस काल का प्रगतिशील लेखक संघ एक संयुक्त मोर्चा था जिसके हिंदी के प्रतिनिधि नेता सुमित्रानंदन पंत थे। पंत

[1] कवि और काव्य, पृष्ठ १४४।
[2] वही, पृष्ठ १५०।
[3] हिंदी के आलोचक, सं० शचीरानी गुर्टू, पृष्ठ १६२।

ने अपनी तत्कालीन रचनात्मक और आलोचनात्मक कृतियों में मार्क्सवाद और गांधीवाद के समन्वय पर बल दिया है और साहित्य को शोषित पडित मानवता के उत्थान का एक महत्वपूर्ण साधन माना है। उसी तरह 'युग और साहित्य' में शांतिप्रिय ने भी समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति अपनाकर हिंदी के विभिन्न युगो के साहित्य को उन उन युगो की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में देखा है और प्राचीन तथा छायावादी कविता को मध्ययुगीन जीवनदृष्टि की देन बताया है। इस ग्रंथ में उनकी विचारधारा के साथ उनकी शैली में भी परिवर्तन हो गया है, काव्यात्मक शैली की जगह विवेचनात्मक शैली ने ले ली है। यहाँ आकर वे यह मानने लगे हैं कि छायावादी कविता भ्रममूलक और स्वप्नवत् है, पर अब कवियों को यथार्थ भूमि पर उतर कर भावों को नहीं, अभावों, जनता के दुःख और क्रंदन को अभिव्यक्त करना चाहिए। प्रगतिवाद के इसी अतिरिक्त उत्साह में उन्होने यह घोषणा की है—'आज छायावाद निस्पंद है, साहित्य को नवजीवन देने के बजाय वह स्वयं ही मुमूर्ष की भाँति जीवन माँग रहा है।'[१] किंतु उनका यह उत्साह बहुत दिनो तक नही रहा। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते न होते कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित प्रगतिशील लेखक संघ का संयुक्त मोर्चा टूट गया, पंत, राहुल आदि प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिए गए। फलस्वरूप पंत को अरविंद दर्शन की शरण में जाना पड़ा। यहाँ आकर शांतिप्रिय ने पंत से अपना मार्ग अलग कर लिया। अब वे सर्वोदय की ओर हैं जिसकी ओर उनकी प्रवृत्ति प्रारंभ से ही रही है। वस्तुतः द्विवेदीजी का सबसे बड़ा महत्व यह है कि शुक्लजी के समय में ही उन्होने उनके प्रभाव से मुक्त रहकर नवीन स्वच्छंदतावादी समीक्षा का प्रवर्तन किया।

(घ) उपयोगितावादी आलोचना

पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि देश की राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक स्थितियो के दबाव और महात्मा गाधी की नैतिकतावादी दृष्टि के प्रभाव से द्विवेदी युग मे साहित्य की उपयोगिता पर अधिक बल दिया जाने लगा था। महावीरप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा में यद्यपि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि का अभाव नहीं है पर उनकी प्रवृत्ति मुख्यतः सुधारवादी और शुष्क नैतिकतावादी थी। इस दृष्टिकोण को प्रतिमान बनाकर उन्होने सुधारवादी और आदर्शवादी लेखको की एक नई पीढ़ी निर्मित कर दी। रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि आदर्शवादी लेखकों की मान्यताओं का निर्माण उसी काल में हो चुका था। अतः

१ युग और साहित्य, पृष्ठ १६६।

शुक्लजी में लोकहित और लोकादर्श को साहित्य का मूल्य मानकर साहित्य के परीक्षण की जो प्रवृत्ति थी, वह भी बहुत कुछ उपयोगितावादी ही है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी आलोचना में जो काव्यादर्श रखा था, उसमें राष्ट्रीयता, समाजसुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का लक्ष्य होते हुए भी उसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं था, केवल सामयिक आवश्यकता की विवेकपूर्ण पहिचान ही उसका आधार थी। रामचंद्र शुक्ल ने उस उपयोगितावादी आदर्श को साहित्यशास्त्रीय आधार प्रदान किया। पर वे उपयोगिता को सामयिक आवश्यकता की दृष्टि से न देखकर मानव स्वभाव (मनोविज्ञान) और सांस्कृतिक परंपरा की दृष्टि से देखते थे, जिससे उनकी समीक्षा का मुख्य स्वर साहित्यिक ही रहा, कोरा राजनैतिक, धार्मिक अथवा नैतिक नहीं। यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के उपयोगितावादी आलोचक टालस्टाय, रस्किन आदि ने स्पष्ट रूप में धार्मिक, नैतिक और सामाजिक उपयोगिता को कला का सबसे प्रमुख प्रतिमान मान लिया था। शुक्लजी ने अपनी आलोचना में उन लोगों की मान्यताओं का खंडन किया है।

द्विवेदी युग में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना जितनी प्रबल थी उतनी राष्ट्रीयता और विद्रोह की नहीं। किंतु महात्मा गांधी के भारतीय राजनीति में प्रवेश करने के बाद राजनीतिक आंदोलन तीव्र होता गया। गांधीजी के महान् व्यक्तित्व और उच्च आदर्शों के प्रभाव से राष्ट्रीयता और मानवता के आदर्शों की लहर तीव्र गति से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गई। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय और सुधारवादी साहित्य की तो रचना पर्याप्त मात्रा में हुई ही, अनेक लेखकों और पत्रकारों ने इन आदर्शों को दृष्टि में रखकर आलोचनाएँ भी लिखीं। गांधीजी का साहित्यिक आदर्श रस्किन और टालस्टाय की तरह शुद्ध उपयोगितावादी था। वे ऐसे साहित्य को साहित्य ही नहीं मानते थे, जिससे समाज का कोई प्रत्यक्ष लाभ न हो। समाज का सर्वांगीण उत्थान ही उनकी दृष्टि से साहित्य के मूल्यांकन का प्रतिमान था। गांधीजी के विचारों का सीधा प्रभाव हिंदी के जिन लेखकों पर पड़ा था उनमें रचनात्मक साहित्य लिखनेवाले अधिक थे, आलोचक कम। फिर भी हिंदी में उपन्याससम्राट् प्रेमचंद और पत्रकारप्रवर बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने भाषणों, लेखों और संपादकीय टिप्पणियों में राष्ट्रीय भावना और समाजसुधार की दृष्टि से लिखे जानेवाले साहित्य का महत्व प्रतिपादित किया। चतुर्वेदीजी ने 'विशाल भारत' में 'कस्मै-देवाय हविषा विधेम'—साहित्य किसके लिये हो?—का प्रश्न उठाया और यह आंदोलन प्रारंभ किया कि साहित्य समाज के लिये होना चाहिए और उसमें राजनीतिक आंदोलनों को सशक्त बनाने तथा सामाजिक क्रांति करने की शक्ति

होनी चाहिए। इस दृष्टि से जो साहित्य प्रत्यक्षतः उपयोगी नहीं है उसे उन्होंने लेखकों की 'दिमागी ऐयाशी' बताया। इसी दृष्टि से उन्होंने दिनकर की राष्ट्रीयतावादी कविताओं का जोरदार समर्थन किया और उग्र के यथार्थवादी साहित्य को 'घासलेटी साहित्य' नाम देकर उसकी भर्त्सना की। पर उनकी समस्त आलोचना 'पत्रिक आलोचना' थी, जिससे उसका सामयिक महत्व ही अधिक था; सैद्धांतिक या शास्त्रीय दृष्टि से वह अधिक महत्व नहीं रखती। शुद्ध साहित्यिक आलोचना के अन्तर्गत केवल प्रेमचंद के भाषण और निबंध आते हैं, जिन्हें उपयोगितावादी आलोचना कहा जा सकता है। हिंदी में यह आलोचनात्मक सिद्धांत अधिक प्रचलित नहीं हुआ, न उसकी कोई विशिष्ट धारा ही निर्मित हुई। बाद में १९३५ ई० के बाद प्रगतिवादी आलोचना मे उसका विकसित रूप अवश्य दिखाई पडा, पर उसकी विवेचना आगे की जायगी।

प्रेमचंद के आलोचनात्मक सिद्धांत

प्रेमचद के साहित्य और भाषासंबंधी भाषणों और लेखों का संग्रह उनके 'कुछ विचार' नामक ग्रंथ में हुआ है जिसका प्रकाशन सन् १९३९ ई० में हुआ था। इसी में उनका वह प्रसिद्ध भाषण भी है जो प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन मे अध्यक्ष पद से दिया गया था। इन भाषणों और लेखों मे यद्यपि विश्लेषणात्मक और शास्त्रीय पद्धति नही अपनाई गई है फिर भी वे विचार-प्रधान हैं और उनसे लेखक की मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है। प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचना मानते हैं। उन्होंने साहित्य की परिभाषा यह बताई है—'मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।'[1] प्रेमचंद का यह सिद्धात कोई नया या मौलिक सिद्धांत नहीं है। उन्नीसवी शताब्दी में मेकाले, कार्लाइल, जान स्टुअर्ट मिल और रस्किन ने साहित्य को किसी महत्तर सामाजिक या धार्मिक उद्देश्य का साधक मानकर साहित्यरचना करने का आदोलन प्रारंभ किया था। टालस्टाय ने भी अपने कला क्या है' शीर्षक ग्रंथ में साहित्य के उपयोगितावादी मूल्य पर ही सबसे अधिक जोर दिया था। प्रेमचंद पर टालस्टाय का सबसे अधिक प्रभाव था। अतः 'जीवन की आलोचना' से उनका तात्पर्य है साहित्य में यथार्थ जीवन का इस प्रकार चित्रण करना कि मानव की सत्प्रवृत्तियों के प्रति पाठकों में आस्था उत्पन्न हो। वे साहित्य को मनोरंजन या मनबहलाव की नहीं,

[1] कुछ विचार, प्रथम संस्करण, पष्ठ ६।

बल्कि समाज में स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करनेवाली, उसे प्रभावित करनेवाली वस्तु मानते थे। इसी कारण वे कहते हैं—'नीति शास्त्र और साहित्य शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिये मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।'[1]

इस तरह प्रेमचंद साहित्यकार और नीति उपदेष्टा में कोई मौलिक अंतर नहीं मानते, या केवल दोनों की अभिव्यंजना प्रणाली में अंतर मानते हैं। इस बाह्य अंतर के कारण साहित्य सुबोध, सरस और सुंदर होता है और नीति-शास्त्र शुष्क और दुरूह होता है। प्रेमचंद कहते हैं कि पुराने जमाने में मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और मजहब भय और प्रलोभन से काम लेकर अपने आदेश समाज से मनवाता था, पर अब समाज के आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान की जिम्मेदारी साहित्य पर आ गई है। ये ही विचार टाल्सटाय ने भी व्यक्त किए हैं। उसी की तरह प्रेमचंद भी कलात्मकता और सौंदर्य को साहित्य का साधन मात्र मानते हैं। उन्होंने अपनी मान्यता की घोषणा इन शब्दों में की है,—'मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौंदर्य वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनंद… नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो।… कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।[2]

पर सौंदर्य की उनकी परिभाषा सौंदर्यवादियों की परिभाषा से भिन्न है। वे सौंदर्य को स्थूल, बाह्य, रंगों, रेखाओं और ध्वनियों का सामंजस्य मानते हैं। अतः साहित्यकला में भी प्रकृति के समान जहाँ साम्य और सामंजस्य है, वह सौंदर्य है। नैतिक आदर्श जीवन में सामंजस्य स्थापित करते हैं अतः वास्तविक सुंदरता उन्हीं में है।[3] प्रेमचंद के अनुसार सौंदर्य एक सापेक्ष्य वस्तु है। एक ही पदार्थ किसी के लिये उपयोगी होने के कारण सुंदर हो जाता है और दूसरे के लिये अनुपयोगी या हानिकर होने से असुंदर हो जाता है। अतः अतीत का समस्त शृंगारिक, मनोरंजनप्रधान या व्यक्तिवादी साहित्य पूर्ववर्ती कालों के लिये भले ही सुंदर रहा हो, आज वह असुंदर और हानिकर हो गया है। इसी लिये वे जोर देकर कहते हैं—'हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक

[1] कुछ विचार, पृष्ठ ६।
[2] वही—पृष्ठ १८-१६।
[3] वही—पृष्ठ १४।

यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी।... कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप पूजा का, शब्दयोजना का, भाव निबंधन का'।[१] इसी दृष्टि से प्रेमचंद ने 'कला कला के लिये' के संबंध मे भी विचार किया है। 'कला का लक्ष्य' कला ही है, इस कथन का वे केवल यही अर्थ लेते हैं कि कला में मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो की छटा दिखानी चाहिए तभी कला या साहित्य चिरायु हो सकता है। किंतु वे साहित्य के चिरायु होने से अधिक आवश्यक यह समझते हैं कि वह सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे। अतः उनके अनुसार 'कला कला के लिये का समय वह होता है जब देश संपन्न और सुखी हो।'[२] इस प्रकार वे 'कला कला के लिये' के सिद्धांत को आदर्श रूप मे मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से उसे इसलिये अस्वीकार कर देते हैं कि उससे देश के राजनीतिक और सामाजिक हित में कोई सहायता नहीं पहुँच सकती। फिर भी वे उपयोगिता का अर्थ प्रचार नहीं मानते। प्रेमचद पर उनके आलोचको ने यह आरोप किया था कि वे 'प्रचारक' (प्रोपोगैंडिस्ट) हैं, वे उपयोगितावादी सिद्धांतो का खुलकर प्रचार करते हैं। पर प्रेमचंद ने स्वयं साहित्य को प्रचार का माध्यम बनाने का विरोध किया है। उन्होने स्पष्ट लिखा है कि 'जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिये की जाती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है, इसमें कोई संदेह नही।'[३] पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि साहित्य का विचारप्रधान होना अत्यंत आवश्यक है, और सभी बड़े लेखक अपने ग्रंथो में किसी न किसी मत या विचार की ही अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद विचार और सौदर्य, नीति और कला का सामंजस्य चाहते हैं। निष्कर्ष यह कि वे न तो सौदर्यमूलक कलावादी न नीतिवादी प्रचारक। उनकी स्थिति इन दोनो के बीच की थी अर्थात् वे उपयोगितावादी साहित्य की सच्ची साधना में विश्वास रखते थे।

इसी प्रकार आदर्शवाद और यथार्थवाद के विवाद में भी प्रेमचंद मध्यमार्ग के अनुयायी थे। वे यह मानते थे कि 'साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसकी देह यथार्थ चित्रण।'[४] उनकी दृष्टि से दोनो की अपनी अपनी उपयोगिता है, 'यथार्थवाद यदि हमारी आँखे खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी

१ कुछ विचार, पृष्ठ २१।
२ वही—पृष्ठ ७६।
३ वही—पृष्ठ ७८।
४ वही—पृष्ठ १२८।

मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।'[1] दोनो एक दूसरे के बिना अपूर्ण और दोषपूर्ण रहते हैं। कोरा आदर्शवादी सिद्धातो की कृत्रिम मूर्ति गढ़कर साहित्य में प्रतिष्ठित करता है और कोरा यथार्थवादी कल्पनाशून्य और स्वकालधर्मी होता है, भविष्य जीवन की कल्पना वह नही प्रस्तुत करता, इससे वह समाज को निराशावादी बना सकता है।[2] इस कारण प्रेमचंद आदर्शवादी और यथार्थवादी विचारधारा और रचनापद्धति के समन्वय मे विश्वास करते थे। इस सबंध में उन्होंने लिखा है कि 'वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ आदर्श और यथार्थ का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं।'[3] इन दोनो का समन्वय तभी हो सकता है जब साहित्यकार देश की यथार्थ स्थिति से पूर्ण परिचित हो और उससे प्रभाव ग्रहण करे तथा साहित्य मे देश, काल के चित्र को प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रित करे। इस तरह प्रेमचंद साहित्य को समाज का 'दर्पण' और 'प्रतिबिंब' तो कहते ही हैं, उसे प्रकाशित करनेवाला 'दीपक' भी कहते हैं। 'दीपक' इसलिये कहते हैं कि 'साहित्य ही मनोविकारो के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियो को जगाता है।'[4]।

प्रेमचंद साहित्य का प्रयोजन तो उपयोगिता मानते थे पर साथ ही आनद या 'रसात्मक आनंद को उसका अंतिम लक्ष्य स्वीकार करते थे। अतः उनके विचार शुक्लजी विचार से अधिक भिन्न नहीं हैं। शुक्लजी की भाँति वे भी जीवन को साहित्य का मूल आधार, मनोविकारों को उसका मूल उपादान और आनंद को अतिम उद्देश्य मानते हैं। उनकी दृष्टि मानवतावादी है और टालस्टाय की तरह वे भी मानव को उसके अकृत्रिम और सहज रूप में दिव्य और सत्य-शिव-सुंदर समझते हैं। अतः वे कहते हैं—'वास्तवमे सच्चा आनद सुंदर और सत्य से मिलता है। वही आनंद उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है।...जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप मे है वही आनन्द है।'[5] इस आनंद को वे शुक्लजी, गाधी और टालस्टाय की तरह लोकहितकारी आनंद के रूप में ही ग्रहण करते हैं। अतः उनके तर्क की अंतिम परिणति यही है कि वही साहित्य वास्तविक आनंद प्रदान कर सकता है जो उपयोगी भी है। ऐसा साहित्य मानवतावादी भावों और विचारों की अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से करता है।

[1] कुछ विचार, पृष्ठ ७६।
[2] वही—पृष्ठ ७४।
[3] वही—पृष्ठ ७३।
[4] वही—पृष्ठ १४४।
[5] वही—पृष्ठ १४०-१४१।

इस प्रकार प्रेमचंद के विचारो में भी शुक्लजी के समान ही तार्किक संगति और आद्योपांत अन्विति है यद्यपि दोनो के दृष्टिकोण और उद्देश्य में पर्याप्त अंतर है। प्रेमचंद की दृष्टि वर्तमान पर है और शुक्लजी की अतीत और वर्तमान में अनुस्यू परंपरा पर। उपयोगिता और नैतिकता का प्रतिमान भी दोनो का भिन्न भिन्न है। प्रेचंद के आदर्श चरित वर्तमान के महापुरुष गाधी हैं और शुक्लजी के आदर्श अतीत के मर्यादा पुरुषोत्तम राम। ये दोनो महान् चिंतक एक ही बिंदु से चलकर दो दिशाओ के पथिक बन जाते हैं।

(ङ) मनोविश्लेषणात्मक आलोचना

वैसे तो हिंदी में मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का स्पष्ट रूप सन् १९४० ई० के बाद दिखाई पड़ा, पर उसका प्रारंभ नए आलोचको के छिटफुट निबंधो मे १९३० ई० के बाद ही हो गया था। डा० नगेंद्र की आलोचना की मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्तियो का उल्लेख पहले किया जा चुका है। डा० नगेंद्र ने इस समीक्षासिद्धात को बाद मे छोड़ दिया और भारतीय रससिद्धांत के अनुयायी हो गए, इसलिये इस समीक्षाधारा के विकास मे उनका योग महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी उसी समय अपने 'रसात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक निबंध[१] मे कल्पना के संबंध में विचार करते हुए फ्रायड के स्वप्नसिद्धांत और दमित काम की कला द्वारा तृप्ति के सिद्धांत का उल्लेख केवल उनका खंडन करने के लिये किया है। शुक्लजी बहुत ही जागरूक तथा ज्ञान विज्ञान के नवीनतम विचारो और उपलब्धियो से परिचय रखनेवाले आलोचक थे। इसी कारण आलोचना पर मनोविश्लेषणशास्त्रीय सिद्धातो के प्रभाव की कल्पना कर उन्होने पहले ही उसका खंडन कर दिया। पर युग किसी आलोचक या विचारक के—चाहे वह कितना ही महान् क्यो न हो—विचारों का नियंत्रण स्वीकार करके आगे नही बढ़ता। शुक्लजी के समय में ही इलाचंद्र जोशी और सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने मनोविश्लेषणशास्त्र से प्रभावित होकर आलोचना लिखना प्रारंभ कर दिया था। १९४० ई० तक इन दोनो आलोचको ने कुछ ही निबंध ऐसे लिखे थे जिनमें उपर्युक्त सिद्धांतों की व्याख्या की गयी है। यहाँ उन्हीं के संबंध में विचार किया जायगा।

(१) इलाचंद्र जोशी

सन् १९४० ई० के पहले इलाचंद्र जोशी का केवल एक निबंध संग्रह 'साहित्य सर्जना' (सन् १९४०) प्रकाशित हुआ था, जिसमें उनके सन् १९२७

[१] चिंतामणि—पहला भाग, पृष्ठ २४२ से २७१।

से सन् १९४० के बीच लिखे गए निबंध संकलित हैं। जोशी स्वयं एक छायावादी कवि रहे हैं, अतः उनके प्रारंभिक निबंधो मे सौंदर्यवादी और स्वच्छंदतावादी विचारो की अभिव्यक्ति हुई है। यह अवश्य है कि प्रारंभ मे उन्होने अन्य स्वच्छंदतावादी आलोचको से कुछ हटकर तथा पाश्चात्य कलावाद और दुःखवाद से प्रभावित होकर आलोचनाएँ लिखी थी। उदाहरण के लिये 'कला और नीति' शीर्षक निबंध (सन् १९२७) मे उन्होने पाश्चात्य कलावादियो के इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि कला का मूल उत्स आनंद है और आनंद प्रयोजनातीत होता है, कला का नीति या कला से बाह्य किसी अन्य उद्देश्य से कोई संबंध नहीं होता। यदि साहित्य मे सत्य सौंदर्य और मंगल से पूर्ण स्वाभाविक छवियाँ विचित्र की जायें तो वह पाठकों के हृदय को उन्नत बनाने में स्वतः सक्षम होता है। नीति की प्रतिष्ठा मूल उद्देश्य होने पर साहित्य संकीर्ण हो जाता है।

इस कलावादी विचारधारा के साथ उन्होंने अपने प्रारंभिक निबंधों में नीत्शे के दुःखवाद से भी पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। 'साहित्य कला और विरह' (सन् १९२७) और 'साहित्य में दुःखवाद' (सन् १९२८) मे उन्होने अपने दुःखवादी सिद्धांत की व्याख्या की है। साहित्य में व्यक्त दुःख की भावना को उन्होंने विषाद रस कहा है और उसे 'अनिर्वचनीय, अद्वितीय तथा अनोखा' माना है। इस दुःखवाद को उन्होने भारतीय दर्शनो के दुःखवाद और 'आत्मा परमात्मा' के विरहसंबंधी सूफी सिद्धांत से समन्वित करने का प्रयत्न किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् का हवाला देकर उन्होंने परमात्मा को पुरुष और समस्त प्रकृति को स्त्री माना है और प्रकृति को पुरुष के विरह मे चिर व्याकुल सिद्ध किया है। अंत मे उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया है कि 'सनातन नारीत्व के इस भाव के कारण ही सृष्टिजन्य विरह के भाव द्वारा हम आनंद का अनुभव करते हैं। कला के भीतर नाना रूपों में मनुष्य इसी विरह का रोना रोने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में वह अपूर्व आनंद पाता है। साहित्य कला की अभिव्यक्ति इसी मूल भाव मे हुई है।''[1] इस तरह उन्होंने साहित्य मे वेदना-मूलक रहस्यवाद का प्रतिपादन किया है जो प्रसाद के आनंदमूलक रहस्यवाद का विरोधी प्रतीत होते हुए भी वस्तुत. उसी का सगोत्रीय है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे से प्रभावित होकर जोशी ने 'हमारे राष्ट्र का भावी साहित्य और संस्कृति' शीर्षक निबंध (सन् १९३१) मे यह प्रतिपादित किया है कि पाप, अत्याचार, घृणा आदि से मन में जो पीड़ा की गहरी अनुभूति होती है वही मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ अनुभूति है क्योंकि उसी के कारण हम उच्च आदर्शों को

[1] साहित्य-सर्जना (साहित्य कला और विरह)—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ६ ।

प्राप्त कर सकते हैं। नीत्शे का यह कथन उद्धृतकर उन्होंने अपने मत की पुष्टि की है –'पाप मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है।···श्रेष्ठ पाप ही मेरा परितोष है।···मनुष्य अधिकतर उन्नत और विकटतर पापी बने, मैं यही शिक्षा देता हूँ।' किंतु जोशी नीत्शे की पापभावना से उद्भूत निराशावाद और अपने विरहजन्य दुःखवाद का संबंध जोड़ने में सफल नहीं हो सके हैं।

इलाचंद्र जोशी के विचारों में युगानुरूप और कभी कभी वर्षानुरूप परिवर्तन होता रहा है। अतः १६३१ ई० तक दुःखवाद के व्याख्याता जोशी १६३६ ई० में मनोविश्लेषणशास्त्र के अनुयायी बन गए। 'साहित्य सर्जना' का 'काव्य मे अस्पष्टता तथा रूपक—रस' नामक निबंध (सन् १६३६) उनके मनोविश्लेषण सिद्धांत के सद्यः परिचय का परिणाम प्रतीत होता है क्योंकि उसमें उन्होंने फ्रायड के सभी सिद्धांतों की व्याख्या न कर केवल स्वप्नसिद्धात को ग्रहण कर किया है। इस निबंध में लेखक ने यह स्थापना की है कि प्रत्येक श्रेष्ठ कविता अस्पष्ट होती है। जो कविताएँ स्पष्ट और सीधे भावोद्रेक करनेवाली होती हैं उन्हें बहुत श्रेष्ठ काव्य नहीं माना जा सकता। अस्पष्टता का मुख्य कारण श्रेष्ठ कवि की काव्यसृजन की प्रक्रिया है। काव्य भी एक प्रकार का स्वप्नव्यापार ही है। और इसी कारण श्रेष्ठ काव्य स्वप्नवत् अस्पष्ट होता है। फ्रायड ने लिखा है कि व्यक्ति की दमित कामइच्छाएँ उसके उपचेतन मन में संचित होकर अज्ञात रूप में पड़ी रहती हैं, चेतन मन का अहम् उन्हें व्यक्त नहीं होने देता, अतः वे रूप बदलकर प्रतीकवत् स्वप्नो के रूप मे व्यक्त होती हैं जिससे व्यक्ति का स्नायविक तनाव दूर होता है। उसने यह भी लिखा है कि ठीक इसी तरह काव्य में कवि के उपचेतन मन की दमित कामवृत्तियाँ प्रतीको और अप्रस्तुतो के रूप में व्यक्त होती हैं; इससे कवि की मनस्तृप्ति होती है, और कामवृत्ति का उदात्तीकरण भी होता है जिसके फलस्वरूप उसको यश, धन, मान, स्त्रीसुख सभी सुलभ हो जाते हैं। जोशी ने इन सभी बातो की व्याख्या न करके केवल इतना ही बताया है कि 'एक विशेष श्रेणी की कविताएँ ऐसी होती हैं जो कवियो की अन्तश्चेतना मे जागरित होनेवाली अज्ञात आकाक्षाओ को स्वप्नो के आकार में वेष बदलकर सांकेतिक रूप मे अपने को व्यक्त करती हैं।' इस कथन में कुछ ऐसी बात हैं जो यह स्पष्ट कर देती है कि फ्रायड के सिद्धातो को लेखक ने अभी अच्छी तरह पचाया नहीं है। फ्रायड का सिद्धात सभी प्रकार की कविताओ के लिये है किसी एक प्रकार की कविता के लिये ही नही। दमित वासना (अज्ञात आकांक्षा नहीं) अंतश्चेतना (उपचेतन) मे नहीं जाग्रत होती चेतन मन में वेश बदलकर प्रकट या जाग्रत् होती है, उपचेतन में तो वह प्रसुप्त रूप मे अज्ञात पड़ी रहती है। उक्त कथन से मालूम होता है कि कविता ही आकाक्षाओ का रूप बदलकर अपने को व्यक्त करती है पर वस्तुतः दमित काम आकांक्षाएँ

ही वेश बदलकर अपने को कविता में व्यक्त करती हैं और यह कवि की जानकारी में नहीं होता, अपने आप सहज रूप में (आटोमेटिकली) हो जाता है।

इसी प्रसंग में आगे जोशी ने लिखा है—'फ्रायड ने कवियों की इस स्वप्नाभिव्यक्ति को उनकी अवचेतना में संचित विकारों का उन्नत रूपांतर माना है पर उसी के बिरादर युंग ने उसे अनंत काल से मानव अंतराल में संचित अपूर्व रहस्यों का विस्फोट बताया है।' जोशी ने युंग के सिद्धांत के आधार पर साहित्य संबंधी कोई मान्यता नहीं स्थिर की है पर इससे यह तो पता चलता ही है कि फ्रायड के अतिरिक्त एडलर और युग के मतों से वे परिचित थे। पर युंग के सिद्धांत को उन्होंने गलत रूप में उपस्थित किया है। युग दो प्रकार के अवचेतन की कल्पना करता है, व्यक्तिगत अवचेतन और समष्टिगत अवचेतन। व्यक्तिगत अवचेतन तो उसका भी फ्रायड जैसा ही है पर समष्टिगत अवचेतन उसके अनुसार मनुष्य की वह कालहीन अज्ञात चेतना है, जिसमें आदिम समाज से अबतक के सभी मानवीय गुण और दोष वासनारूप में संचित रहते हैं, जो आदिम बिंबों (आर्कीटाइपल इमेजेज) के रूप में साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं। संभवतः समष्टिगत अवचेतन से निःसृत उन्हीं आदिम बिंबों को जोशी ने 'मानव अंतराल में संचित अपूर्व रहस्यों का विस्फोट' कहा है। मनोविश्लेषणशास्त्र पर आधारित उनके विचार साहित्य सर्जना के केवल एक निबंध में व्यक्त हुए हैं और वे भी प्रामाणिक रूप में उपस्थित नहीं किए गए हैं। अन्य निबंधों में वे मुख्यतः दुःखवाद या विषाद रस और रसात्मक आनंद का सिद्धांत अपनाकर चले हैं तथा रहस्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति की है। इसलिये केवल इसी ग्रंथ के आधार पर उन्हें मनोविश्लेषणवादी आलोचक नहीं कहा जा सकता। पर सन् १९४० के बाद अपने ग्रंथों—'विवेचन' और 'विश्लेषण' में उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक आलोचना पद्धति को इतना अधिक अपनाया है कि उन्हें उस पद्धति का प्रमुख आलोचक मान लिया गया है।

(२) सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

अज्ञेय हिंदी के एकमात्र साहित्यकार हैं जिन्होंने मनोविश्लेषण शास्त्र का न केवल गहरा अध्ययन किया है, बल्कि उसे आत्मसात् करके उसकी उपलब्धियों को अपने रचनात्मक और आलोचनात्मक प्रयासों द्वारा मौलिक ढंग से समर्थन और स्वीकृति दी है। उनकी आलोचना पुस्तक 'त्रिशंकु' में संग्रहीत उनके सैद्धांतिक निबंध मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से साहित्यकला संबंधी उनके अध्ययन और चिंतनपूर्ण विचारों के परिणाम हैं। यद्यपि त्रिशंकु

का प्रकाशन १९४५ ई० में हुआ किंतु इनमें संगृहीत अधिकांश निबंध १९४० ई० के पूर्व लिखे गए थे और विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे। इन निबंधों में काव्यकला के सैद्धांतिक पक्ष पर विशेष रूप से विचार किया गया है। अतः उनकी सैद्धांतिक स्थापनाओं से साहित्यकला के संबंध में उनकी मान्यताओं का पता चलता है, साथ ही उनके रचनाकार के प्रेरणा स्रोतों और साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने में भी सहायता मिलती है। सिद्धांत प्रतिपादन की दृष्टि से इस संग्रह के तीन निबंध—'कला का स्वभाव और उद्देश्य', 'रूढ़ि और मौलिकता' तथा 'परिस्थिति और साहित्यकार' विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमें भी 'रूढ़ि और मौलिकता' तो टी. एस इलियट के ट्रेडिशन एंड इंडिविजुल टैलेंट' का लगभग भावानुवाद है। 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' स्पष्ट रूप से प्रसिद्ध मनोविश्लेषण शास्त्री एडलर के क्षतिपूर्ति के सिद्धांत की कलापक्ष में मौलिक ढंग से विश्लेषण और व्याख्या है। 'परिस्थिति और साहित्यकार' में कला विषयक अपनी स्थापनाओं के आधार पर सामाजिक परिवृति और साहित्यकार के परस्पर संबंध, साहित्यकार की मनःस्थिति और प्रतिक्रिया के विषय में महत्वपूर्ण विचार-सूत्र देने के बाद आधुनिक हिंदी कवियों की कविताओं का उदाहरण प्रस्तुत करके अपने निष्कर्ष की पुष्टि की गई है। इसमें संदेह नहीं कि काव्यकला संबंधी ये सिद्धांत और विचार हिंदी समीक्षा के लिये बिलकुल नए और कुछ हद तक चौंकानेवाले थे। अतः हिंदी समीक्षा के संदर्भ में इन निबंधों के मौलिक होने के संबंध में लेखक का यह कथन कि 'इसमें प्रस्तुत किए गए सिद्धांतों का प्रतिपादन हिंदी में प्रायः नहीं किया गया है और न उनके सहारे आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने का कोई प्रयत्न हुआ है' बिलकुल सही है। लेकिन दूसरे संदर्भ में—एडलर के मनोविश्लेषण संबंधी सिद्धांतों के संदर्भ में—रखकर देखने पर लेखक का यह कथन भी उतना ही सही है कि 'आलोचना में 'नया' कम होता है'। अर्थात् आलोचक सर्वांशतः मौलिक होने का दावा नहीं कर सकता। अतः लेखक ने प्रारंभ में ही स्वीकार कर लिया है कि उसने ऐसे विचार नहीं दिए हैं जो बिलकुल उसके निजी हों। किंतु मौलिकता या नवीनता का यह अर्थ नहीं कि ज्ञान विज्ञान के विविध क्षेत्रों में तबतक जो उपलब्धियाँ हुई हों, उनकी उपेक्षा करके या उन्हें अनावश्यक मानकर बिलकुल नए सिरे से नई स्थापना की जाय। अगर कोई चाहे भी तो यह संभव नहीं और यदि कोई इस रूप में मौलिक होने का दावा करता है तो यह उसकी भ्रांति और दंभ ही माना जायगा। मौलिकता नई स्थापना में ही नहीं, किसी सिद्धांत या विचार की नई व्याख्या और नए संदर्भों में उसके आधार पर उसके अंगरूप नवीन विचार-सूत्रों की स्थापना में भी होती है। इस दूसरी दृष्टि से देखने पर अज्ञेय के समीक्षात्मक विचार साहित्यसमीक्षा को उनकी नई देन माने जायँगे।

'कला का स्वरूप और उद्देश्य' शीर्षक निबंध में अज्ञेय ने पहले काव्य कला संबंधी अपनी सैद्धातिक मान्यताओ और तद्विषयक अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। 'कला क्या है'? इस प्रश्न के उत्तर में जो सूत्र उन्होने दिया है, उससे ही उनकी मान्यता और उसके मूल स्रोत का पता चल जाता है। उनके अनुसार 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है। इस सिद्धात के अनुसार आदिम मानव ने अपनी किसी सामाजिक या भौतिक अनुपयोगिता की क्षतिपूर्ति के लिये अचेतन रूप से कलात्मक चेष्टाओ के द्वारा कला को जन्म दिया होगा, सौदर्यबोध की उपयोगिता की सिद्धि द्वारा अपनी उपयोगिता प्रमाणित की होगी। अतः कला मानव के अहम् या आत्मस्थापन (सेल्फ एसर्शन) की प्रवृत्ति का परिणाम है। कहने की आवश्यकता नही कि कलात्मक चेष्टाओ के संबंध में अज्ञेय की यह मान्यता एडलर के क्षतिपूर्ति और आत्मस्थापन के सिद्धात पर आधारित है। एडलर ने फ्रायड के सिद्धात से असहमति प्रकट करते हुए कहा कि कामवृत्ति का मानव के जीवन मे उतना महत्व नही है जितना अहम् का। एडलर के अनुसार मानव की मूल वृत्ति काम (सेक्स) की नहीं है। उसके अनुसार मानव की संपूर्ण क्रियाओ और चेष्टाओ के मूल मे आत्मस्थापन की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। आत्मस्थापन की प्रवृत्ति के मूल मे व्यक्ति के अहम् की माँग होती है। एडलर के अनुसार किसी अपूर्णता या किसी प्रकार की अपनी असमर्थता या हीनता के वास्तविक अथवा कल्पित कारण से व्यक्ति आत्महीनता का अनुभव करता है। और यह हीनता की मनोग्रंथि उसे अपने अहम् या आत्म को परितुष्ट करने के लिये प्रेरित करती है और वह किसी क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त करके, अपनी उपयोगिता और महत्व प्रमाणित करके अपने आपको स्थापित करने तथा अपनी उपयोगिता की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयास करता है।

किंतु अज्ञेय ने अपने कला सिद्धात के विवेचन मे एडलर के सिद्धातो को आधार बनाते हुए साहित्य पक्ष में उसकी व्याख्या मे 'आत्मस्थापन' के लिये कुछ अपनी ओर से भी जोड़ा है। अज्ञेय की मौलिकता या नवीनता एडलर के सिद्धात की उनकी अपनी व्याख्या में है। अपूर्णता या असमर्थता की उनकी व्याख्या यह है कि 'यह वास्तविक अपूर्णता नही, यह एक विशेष दिशा मे असमर्थता है'। उनके अनुसार सामाजिक धर्मों, मान्य रीतियो और मार्गों की दृष्टि से ही इसे असमर्थता, अनुपयोगिता या अपूर्णता कहा जा सकता है, अत: यह वास्तव में अपूर्णता या हीनता नहीं है। उनका स्पष्ट मत है कि 'समाज का साधारण जीवन जिस दिशा में चलता है उन दिशाओ और उन लीको में चलने की असमर्थता तो इससे ध्वनित होती है, लेकिन क्या यही वास्तव मे अपूर्णता या हीनता (इनफीरियारिटी) है? पर नहीं। समाज के साधारण जीवन मे

अपना स्थान न पाकर तो वह प्रेरित होता है कि वह स्थान बनाए, अतएव पुरानी लीकों पर चलने का असामर्थ्य ही नई लीकें बनाने के सामर्थ्य को प्रोत्साहन देती है।'[1] इस प्रकार अज्ञेय यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अपूर्णता को सापेक्ष दृष्टि से तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं और समाजविहित मार्गों के संदर्भ में देखना चाहिए, अपूर्णता ही नवीन मार्गों के निर्माण की मूल शक्ति होती है और जीवन के विविध क्षेत्रों में नए प्रयोगों, नवीन मूल्यों की खोज के लिये प्रोत्साहित करती है। इससे अन्य प्रतिक्रियाएँ भी हो सकती हैं किंतु जिसमें आत्मबल है, रचनात्मक प्रतिभा है, जो जीनियस है 'ऐसे व्यक्ति के अहम् का विद्रोह अनिवार्य-रूप से सिद्धि की सार्थकता के (जस्टीफीकेशन) की खोज करेगा। वह चाहेगा कि वह समाज का साधारण धर्म निबाहने में असमर्थ है, तो वह विशेष धर्म की सृष्टि करे, यदि समाज के रूढ़िगत जीवन के अनुरूप नहीं चल सकता है तो उस जीवन को ही एक नया अवयव दे जिसके ताल पर वह चले[2]।'

इस प्रकार क्षतिपूर्ति के सिद्धांत के आधार पर अज्ञेय की स्थापना यह है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह करता है। अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह को समझने में कठिनाई हो सकती है। वस्तुतः किसी प्रकार की अपूर्णता या हीनता के लिये 'अपर्याप्तता' और प्रतिक्रिया के लिये 'विद्रोह' शब्द का प्रयोग अज्ञेय ने समझ बूझकर किया है। अपर्याप्तता के द्वारा वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सही अर्थ में कमी प्रतिभाशाली व्यक्ति में नहीं, बल्कि उसकी सामाजिक परिवृति में होती है और इसी लिये उस समाज के मान्य मार्गों पर चलने में वह असमर्थ होता है और स्वयं को उसके अनुरूप, उसकी मान्यता के अनुसार उसके उपयोग का न बना सकने के कारण वह विद्रोह करता है और नया मार्ग बनाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह उस परिवृति को अपने अनुरूप बनाकर आत्मस्थापन करता है। अज्ञेय का साहित्यिक व्यक्तित्व मूलतः अहम् के विद्रोह और नवीन प्रयोगों की माँग को लेकर निर्मित हुआ है, अतः वे अनुप-योगिता या हीनता के सिद्धांत की ऐसी व्याख्या को स्वीकार नहीं करना चाहते, जिसमें अकारण अहम् की बार बार स्थापना या विद्रोह के लिये विद्रोह और शिल्प संबंधी नए प्रयोग आत्महीनता की मनोग्रंथि के परिणाम सिद्ध हों। वैसे 'अपर्याप्तता की भावना के प्रति विद्रोह' की बात समझ में नहीं आती। अपने भीतर अपर्याप्तता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति दूसरी तरह से उसकी पूर्ति का प्रयत्न करेगा, उस कमी की भावना के प्रति विद्रोह क्या करेगा? अगर विद्रोह

१ त्रिशंकु, पृ० २७।

२ वही, पृ० २५।

करेगा भी तो अपर्याप्तता के कारण, सामाजिक मान्यताओं या धर्मों के प्रति करेगा, अपनी भावना के प्रति नहीं। अपनी किसी अपूर्णता की भावना यदि सचमुच है तो उसके प्रति विद्रोह से कुंठा के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त होगा और वह कुंठा मिथ्या विद्रोह का भाव तो उत्पन्न कर सकती है किंतु किसी ऐसे विद्रोह की भावना उत्पन्न नहीं कर सकती जो कुछ नया निर्माण कर सके, जो रचनात्मक हो।

'परिस्थिति और साहित्यकार' शीर्षक निबंध में अज्ञेय का उपर्युक्त मत और अधिक स्पष्ट हो गया है। यहाँ 'अपर्याप्तता' के बोध की प्रतिक्रिया का 'प्रतिभा' के आधार पर परीक्षण किया गया है। प्रतिभाशाली तो विद्रोह करता है क्योंकि जो व्यक्ति औसत से बहुत ऊँचा है, प्रतिभाशाली है, 'जीनियस' है, वह परिस्थिति से नहीं बँधता और कैसी भी शृंखला को तोड़कर अनाहत निकल सकता है। समाज के रूढ़िग्रस्त और ह्रासोन्मुख होने के कारण यदि किसी व्यक्ति की रुचियाँ, उसके विचार और दृष्टिकोण और भावनाएँ सामाजिक स्वीकृति नहीं पाती हैं और उसके अहम् की माँग पूरी नहीं होती है तो प्रतिभा की कोटि के अनुसार मुख्यतः दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होंगी। अज्ञेय के अनुसार 'जो प्रतिभावान है, जीनियस है, वह इस परिस्थिति मे पड़कर एक हड़कंप पैदा कर देगा और निर्भय होकर अपना मार्ग निकालेगा लेकिन जो जीनियस से कुछ भी कम है, उसके लिये ऐसी परिस्थिति का परिणाम केवल इतना ही होगा कि समाज द्वारा स्वीकृति पाने की जो मौलिक आवश्यकता है, व्यक्ति की व्यक्तिता की जो पहली माँग है, वह छिप जायगी, कुंठित हो जायगी। इससे एक असंतोष उत्पन्न होगा, जो रचनाशील नहीं, जो केवल एक अतृप्ति, एक भूख, एक अस्पष्ट अशक्त कामना भर होगी—एक दौहृद मात्र जो ठीक 'घर की याद के' दौहृद जैसा होगा। इस सिद्धात के प्रकाश मे इस काल के साहित्य का मूल्यांकन करने पर अज्ञेय जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'आज का साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य है। लेखक के अनुसार जो साहित्यकार रूढ़ियों के आगे नतमस्तक हो जाता है, वह अपने युग से स्वीकृति पाने की क्षमता न रखने के कारण अपने पूर्ववर्ती युगों से स्वीकृति लेकर अपने अहम् की माँग की तुष्टि करता, अपनी अतृप्ति की पूर्ति करता है। अज्ञेय का निष्कर्ष यह है कि 'अतृप्ति का अनुभव' आधुनिक लेखक में होना चाहिए, किंतु उसकी रचना का महत्व अतृप्ति की अनुभूति नहीं, बल्कि उस अनुभूति के प्रति उसके दृष्टिकोण, उसकी प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। 'यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक बुद्धि जाग्रत है, यदि उसने धैर्यपूर्वक अपनी आतरिक माग का सामना किया, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और युयुत्सा की भावनाएँ जगाई हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण

और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है, तभी उसकी रचनाएँ महान् साहित्य कहलाएँगी'''यदि उसके उद्वेग ने केवल अनिश्चय, घबराहट और पलायन की भावनाएँ जगाई हैं, तब उसकी रचनाएँ मधुर होकर भी घटिया रहेंगी। लेखक के अनुसार प्रसाद, महादेवी, बच्चन आदि की कविताओं मे दूसरे प्रकार की भावना दिखलाई दी है और यद्यपि शिष्टाचारवश लेखक ने स्वयं नही कहा है, उसकी रचनाओं में प्रथम प्रकार की प्रतिक्रिया या विद्रोह का स्वर व्यक्त हुआ है। इस सैद्धांतिक विश्लेषण विवेचन से अज्ञेय ने मनोवैज्ञानिक सिद्धांतो के आधार का नया मानदंड स्थिर किया है और उनके अनुसार जो आलोचना रचना के गुण-दोष-विवेचन से आगे बढ़कर, उसको लाँघकर 'रचयिता के मन को नहीं परखती वह आलोचना निस्सार है, व्यर्थ है। स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक समीक्षापद्धति—बल्कि एडलर के आत्मस्थापन के सिद्धांत के आधार पर अज्ञेय द्वारा निश्चित की गई समीक्षापद्धति ही सही समीक्षापद्धति है और इसी पद्धति से श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ रचनाओं की सही परख हो सकती है।

(च) समाजशास्त्रीय आलोचना

समाजशास्त्रीय आलोचना में साहित्य के तत्वों और विशेषताओं की ही नहीं, उसके मूल स्रोतों, पारिपार्श्विक प्रभावों और उसकी सामाजिक उपयोगिता की भी विवेचना की जाती है। समाजशास्त्रीय आलोचक की दृष्टि में किसी युग का साहित्य या साहित्यकार शून्य में नहीं उत्पन्न होता, उसकी कोई पूर्वपरंपरा होती है, जिसमें से वह उपयुक्त तत्वो का संग्रह और अनुपयुक्त तत्वों का त्याग करता है, उसका समसामयिक राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश होता है, जो उसे अनेक रूपो में प्रभावित करता या उससे प्रभावित होता है और उसकी समकालीन समाज के लिये अथवा आगामी युगो लिये कोई उपयोगिता भी होती है। इस तरह समाजशास्त्रीय आलोचक साहित्य को सापेक्ष्य वस्तु मानता है। उनके अनुसार साहित्य को इतिहास, सांस्कृतिक परंपरा, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति तथा भविष्य की परिकल्पना के संदर्भ में रखकर देखने से ही उसका वास्तविक मूल्यांकन हो सकता है। पूर्ववर्ती आलोचना साहित्य को निरपेक्ष्य और अपने आप में पूर्ण वस्तु मानकर उसका मूल्यांकन करती थी और आज भी कुछ लोग इसी को शुद्ध साहित्यिक आलोचना मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य के मूल स्रोतो, उसपर पडे प्रभावो और साहित्यकार के व्यक्तित्वनिर्माण के कारणों की विवेचना करना साहित्यालोचन के लिये अप्रासंगिक और अनावश्यक है। किंतु प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय आलोचक क्रिस्टाफर काडवेल का कहना है कि साहित्य क्या, किसी भी वस्तु को देखने की

दृष्टि निरपेक्ष्य नहीं हो सकती ।[१] यूरोप में अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ दार्शनिको और विचारको—विकोकी, हर्डर, हीगेल, मार्क्स एंजिल्स स्पैंग्लर, टेन आदि ने युग की पृष्ठभूमि और इतिहास के आलोक मे रखकर साहित्य को निरखने परखने की पद्धति प्रारंभ की थी । हीगेल के अनुसार कला और काव्य अपने युग की आत्मा की अभिव्यक्ति करता तथा उसी से अनुशासित होता है, अतः साहित्य युगानुसार परिवर्तित होता रहता है । मार्क्स ने साहित्य, कला तथा संस्कृति को ऊपरी संस्थान और समाज के आर्थिक संघटन को उसका मूलाधार माना है । उसके अनुसार आर्थिक संघटन के अनुरूप समाज वर्गों में विभक्त होता है और उत्पादन के साधनो पर नियन्त्रण करनेवाला वर्ग ही साहित्य और संस्कृति को भी नियन्त्रित करता है अर्थात् साहित्य शासक वर्ग का हितसाधक अस्त्र होता है । अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकार टेन तथा सेण्ट बोव और रेनान आदि यूरोपीय आलोचको ने भी साहित्य और कला को जातीय और सांस्कृतिक परंपरा तथा युगीन समाज की परिस्थियो के समिश्रित प्रभाव का परिणाम माना है ।

बीसवी शताब्दी मे अँगरेजी साहित्य के प्रायः सभी इतिहासलेखको ने टेन के अनुसार ही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे रखकर साहित्य को देखा है । इसका प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी पडा और रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में युगीन प्रवृत्तियो का विवेचन और विश्लेषण उन्हे उनकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित करके ही किया । उन्होने साहित्यिक प्रवृत्तियो के मूल स्रोतो की खोज युग की सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियो, पूर्ववर्ती साहित्यिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परपराओ तथा विभिन्न संस्कृतियो और जातियो के संघर्ष और संपर्क में की है और तदनुरूप उनकी उपयोगिता, अनुपयोगिता अथवा श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता का निर्णय किया है । किंतु इतने से ही शुक्लजी को समाजशास्त्रीय आलोचक नही माना जा सकता क्योकि इन्होने समाजशास्त्रीय दृष्टि को साहित्य के मूल्यांकन में सहायक भर माना है, उनकी आलोचना के वास्तविक प्रतिमान तो रससिद्धांत और नैतिकतामूलक आदर्शवाद हैं जो शाश्वत हैं । हिंदी मे

१ 'इट इज ए कामन एजम्पशन आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म दैट दी सोर्सेज आफ लिटरेचर आर इर्रिलिवेन्ट आर अनइंम्पार्टेंट ऐण्ड दैट लिटरेचर कैन बी कम्पलीट्ली क्रिटिसाइज्ड इन टर्म्स आफ लिटरेचर । देअर वाज फार सम टाइम ए सिमिलर फ़िलासफी आव एबाउट दी स्टडी आफ नेचर इट वाज सपोज्ड दैट मैटर कुड बी कम्प्लीट्ली डिसक्राइब्ड इन टर्म्स आफ इटसेल्फ़ . . नथिंग इज लेफ्ट अब्सोल्यूट बाई माडर्न फिजिक्स बट इक्वेसन्स ऐंड दीज आर थाट्स ।'—क्रिस्टोफ़र काडवेल—इल्यूजन ऐंड रियेलिटी—इण्ट्रोडक्शन पेज १ ।

पी-एच० डी०, डी० लिट आदि उपाधियों के लिये लिखे गए तत्कालीन शोधग्रंथों में साहित्य के मूल स्रोतों और परंपराओं की जो विवेचना की गई है उसे भी शुक्ल जी की समीक्षापद्धति के ही अंतर्गत मानना चाहिए। डा० बडथ्वाल, परशुराम चतुर्वेदी, रामकुमार वर्मा आदि ने अपने शोधग्रंथों में धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं से आलोच्य साहित्य का जो संबंध जोड़ा है उसे भी समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धति नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने युग न परिस्थितियों के प्रभाव और आलोच्य कृतियों और प्रवृत्तियों को महत्वपूर्ण बनाने में परंपरा और युगीन प्रभाव के योगदान का विवेचन नहीं किया है। इस दिशा में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'विश्व साहित्य' और 'हिंदी साहित्य विमर्श' नामक ग्रंथों में प्रारंभिक कार्य किया था। उन्होंने ही सबसे पहले साहित्य का देश और काल के साथ अविच्छिन्न संबंध माना और सांस्कृतिक अंतरावलंबन से साहित्य की गति में परिवर्तन का सिद्धांत प्रतिपादित किया। साथ ही उन्होंने मानवतावादी दृष्टि से साहित्य के परीक्षण की विधि निकाली। बख्शीजी मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षा का प्रारंभिक रूप ही निर्मित कर सके थे। उनकी पद्धति का विकास हजारीप्रसाद द्विवेदी ने क्षितिमोहन सेन तथा अन्य बंगाली विद्वानों का अनुगमन करते हुए किया।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

सन् १६५० ई० के पूर्व हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तीन ग्रथ सूरसाहित्य (सन् १६३६), हिंदी साहित्य की भूमिका (सन् १६४०) और कबीर (प्रकाशन सन् १६४१) लिखे थे। वस्तुतः ये तीनों ही समीक्षात्मक नहीं, शोधात्मक ग्रंथ हैं। इनमे द्विवेदीजी ने आलोच्य कवियों और काव्य प्रवृत्तियों की साहित्यिक समीक्षा नही की है, बल्कि उनकी समीक्षा के लिये प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है। इन ग्रंथों में उन्होंने अपने आलोचनात्मक प्रतिमानों या सिद्धांतों का भी कहीं उल्लेख नहीं किया है। इनमें प्रस्तुत प्रायः समस्त शोध हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों और दार्शनिक साधनात्मक सिद्धांतों के मूल स्रोतों के संबंध मे पूर्ववर्ती आलोचकों और शोधकर्ताओं की भ्रांत धारणाओं के खंडन के लिये हैं। अतः व्यावहारिक आलोचना की सामग्री के लिये उनका निःसंदेह बहुत अधिक महत्व है। पर स्वयं द्विवेदीजी ने अपनी शोध संबंधी उपलब्धियों और स्थापनाओं का उपयोग करके इन ग्रंथों में सैद्धांतिक या व्यावहारिक आलोचना नहीं लिखी है। फलतः ये साहित्यिक आलोचना से अधिक समाजशास्त्र के ग्रंथ हो गए हैं। वस्तुतः सन् १६५० ई० तक द्विवेदीजी का आलोचनात्मक व्यक्तित्व निखर नहीं पाया था। समाजशास्त्रीय दृष्टि तो उन्हें मिल गई थी पर साहित्य मे उसके उपयोग की

पद्धति अभी नहीं उपलब्ध हो सकी थी। इस समय तक वे एक गंभीर अध्येता (स्कालर) ही बन पाए थे, साहित्यिक समीक्षक नहीं।

किंतु इन ग्रंथों की विवेचना की पद्धति, निष्कर्ष और दृष्टिकोण के आधार पर द्विवेदीजी की साहित्यिक मान्यताओं का कुछ आभास अवश्य मिल जाता है। वस्तुतः वे हिंदी साहित्य के क्षेत्र से प्राचीन भारतीय वाङ्मय के क्षेत्र की ओर नहीं गए हैं, बल्कि भारतीय वाङ्मय के भीतर से गुजरते हुए हिंदी के क्षेत्र में आ पहुँचे हैं और उसमें अपने विशाल ज्ञान की सुविधाओं के साथ उन्होंने अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की तरह द्विवेदीजी भी साहित्य को अपने आपमें स्वतंत्र और पूर्ण मानकर नहीं चलते बल्कि उसे संस्कृति की जीवंत धारा का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। संस्कृति को वे शाश्वत या एकदेशीय वस्तु नहीं मानते। उनके अनुसार वह परिवर्तनशील और परंपरा-नैरंतर्य से युक्त होती है। इस तरह साहित्य भी संस्कृति का अंग होने के कारण अनिवार्यतः परिवर्तनशील और प्रगतिशील होता है। वे साहित्य को सामान्य जनता की जीवनधारा से विच्छिन्न कोई अलग वस्तु नहीं मानते। मनुष्य को जीवन के केंद्र में प्रतिष्ठित करके ही उन्होंने साहित्य को देखने का प्रयत्न किया है। यह विभिन्न वर्णों, वर्गों, धर्मों, संप्रदायों, जातियों, राष्ट्रों आदि की सीमाओं में बँटा और बँधा मनुष्य नहीं है बल्कि समग्र और मुक्त, एक इकाई है। उन्होंने प्रमाणों और उदाहरणों द्वारा बराबर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न जातियों और देशों के बीच आदिकाल से सांस्कृतिक आदानप्रदान होता आया है, क्योंकि सत्य एककालिक, एकदेशीय या एकजातीय नहीं होता। साहित्य और कला भी ऐसे ही सत्य हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने भारतीय समाज में विभिन्न कालों में आकर घुलमिल जानेवाली विभिन्न जातियों और उनके धर्म, साहित्य, रीतिनीति आदि का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है और तत्संबंधी पूर्वप्रचलित अनेक भ्रमों का निवारण किया है। उन्होंने विभिन्न संप्रदायों, धर्मों, शास्त्रों और सांस्कृतिक साहित्यिक परंपराओं के ऐसे तत्वों का भी विश्लेषण किया है जिनकी अमिट छाप लोकचेतना के माध्यम से हिंदी साहित्य पर पड़ी है। इसलिये उन्होंने बार बार इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है—'इस विषय को ठीक ठीक समझने के लिये हमें एक और प्राचीन भारतीय परंपरा की जानकारी आवश्यक है। भारतीय साहित्य की यह शाखा अत्यधिक संपन्न है।'[1] 'नाथपंथ की साधनापद्धति का नाम हठयोग है। कबीरदास को समझने के लिये

१ हिंदी साहित्य की भूमिका—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ११८।

इस साधनापद्धति की जानकारी होनी चाहिए।'[२] 'भारतवर्ष की वह धारा जो आचार प्रधान वर्णाश्रम धर्म के विधानों के नीचे गुप्त रूप से बह रही थी, एकाएक इस सुधर्मी (सूफ़ी मत) को पाकर विशाल वेग से जाग पड़ी। निरंजन, नाथ, आदि मार्गों की साधना पहले से ही निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रवृत्त थी। इन दो धाराओं के संयोग से एक अभिनव साधना ने जन्म लिया।'[३]

साहित्य के उचित मूल्यांकन के लिये द्विवेदीजी पूर्वपरंपरा और सांस्कृतिक अंतरावलंबन के अतिरिक्त युगीन परिस्थितियों के प्रभाव को भी महत्व देते हैं यद्यपि सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों का विवेचन उन्होंने अधिक नहीं किया है फिर भी साहित्य पर सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव के महत्व को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं—'कहा जा सकता है, सूरदास या कबीरदास की साधना का विशिष्ट रूप किसी सामाजिक परिस्थिति का परिणाम नहीं है, वह व्यक्तिगत चीज है और व्यक्तिविशेष की शिक्षा का फल है। समाज से उसका कोई संबंध नहीं। परंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ये लोग अपने आसपास की परिस्थिति से प्रभावित हुए थे।'[४] इसी लिये उन्होंने उपर्युक्त तीनों ग्रंथों में तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का भी यत्र तत्र विवेचन किया है। पर सच बात यह है कि उनकी वृत्ति धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं और सिद्धांतों के विवेचन में जितनी रमी है उतनी सामाजिक और राजनीतिक परिवेश के विवेचन में नहीं। वस्तुतः उनका मुख अतीत की ओर ही अधिक रहता है, वर्तमान और भविष्य की ओर तो वे कभी कभी उलटकर देख लेते हैं। इस कारण वे साहित्य के विवेचन में अपने ऐतिहासिक ज्ञान का अधिक लाभ नहीं उठा सके हैं। विभिन्न युगों के साहित्य के सौंदर्यबोधात्मक मूल्यों के निर्माण में सामाजिक परिस्थितियों का क्या योग था, तत्कालीन कवियों का व्यक्तित्व उन परिस्थितियों से किस रूप में प्रभावित हुआ था, इन बातों पर उन्होंने बहुत कम विचार किया है। हिंदी साहित्य के विकास में लोकजीवन का प्रभाव उन्होंने अवश्य स्वीकार किया है पर लोकजीवन साहित्य को क्यों प्रभावित करता है, इसपर प्रकाश नहीं डाला है। भक्तिकाल के साहित्य के रूढ़िविद्रोही और लोकोन्मुख होने में तत्कालीन विकासमान मध्यवर्ग की व्यक्तिवादी और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का प्रभाव कारण रूप था, इस तथ्य की ओर भी उनकी दृष्टि नहीं गई है।

२ कबीर—तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४४।

३ सूर साहित्य—प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४९।

४ वही—पृष्ठ ६९।

निष्कर्ष यह कि द्विवेदीजी की समाजशास्त्रीय समीक्षादृष्टि उस समय तक एकांगी थी। हाँ, 'हिंदी साहित्य की भूमिका के उपसंहार में आधुनिक साहित्य का पर्यवेक्षण करते समय उन्होंने अवश्य युगीन परिस्थितियों के प्रभाव का विशद विवेचन किया है। इस पर्यवेक्षण में उनकी समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धति का स्पष्ट और विकासमान रूप दिखाई पड़ता है। उन्होंने इस समीक्षा-पद्धति को सन् १६४० ई० के बाद अपने आलोचनात्मक निबंधों में विशेष रूप से और पूर्ण आत्मविश्वास के साथ विकसित किया है और विशुद्ध समाजशास्त्रीय विवेचना से हटकर साहित्य के मूल्यांकन की ओर भी मुड़े हैं। उनकी परवर्ती आलोचना में ही उनकी मानवतावादी समाजशास्त्रीय समीक्षापद्धति का स्पष्ट और सुनिश्चित रूप दिखाई पड़ता है।

(छ) मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय आलोचना

हिंदी में समाजशास्त्रीय आलोचना की दूसरी प्रवृत्ति मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिवाद की है जिसका प्रारंभ हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना के साथ साथ ही सन् १६३६ ई० के बाद हुआ था। इस आलोचनात्मक प्रवृत्ति के पीछे एक संघटित अंतरराष्ट्रीय आंदोलन था जिसका नेतृत्व अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट संघ (कोमिनफार्म) के हाथ में था। इस समीक्षापद्धति का सैद्धांतिक आधार मार्क्सवाद का द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन है जो मनुष्य के समस्त जीवनप्रयत्नों की प्रेरक शक्ति अर्थ को मानता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद हीगेल के द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद (डायलेक्टिकल आइडियलिज्म) और फायर-बाख के यांत्रिक भौतिकवाद का समन्वित रूप है। मार्क्स ने हीगेल के द्वन्द्व सिद्धांत को तो ग्रहण कर लिया पर उसके प्रत्ययवाद को, जो शाश्वत चेतना को सृष्टि का मूल स्रोत मानता है, छोड़ दिया। उसी तरह उसने फायरबाख के वस्तुवाद या भौतिकवाद को, जो पदार्थ को ही प्रत्यय का उद्गम मानता है, अपना लिया पर उसके इस सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया कि प्रत्यय निष्क्रिय होता है, और उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इन दोनों मतवादों के समन्वय द्वारा मार्क्स ने यह प्रतिपादित किया कि जगत् का मूल उद्गम पदार्थ है और उसी से चेतना या प्रत्यय का विकास हुआ है। पर एक बार चेतना का विकास हो जाने पर वह निष्क्रिय नहीं रहती, बल्कि जिस तरह पदार्थ चेतना को परिवर्तित करता है उसी तरह चेतना भी पदार्थ को परिवर्तित करती है। फिर भी सृष्टि की विकासप्रक्रिया में प्रधानता पदार्थ की ही होती है। विकासप्रक्रिया द्वंद्वात्मक या संघर्षात्मक होती है अर्थात् दो मूल विरोधी शक्तियों के संघर्ष में स्थिति, प्रतिस्थिति और संस्थिति की अवस्थाएँ आती हैं जिनमें संस्थिति की अवस्था में गुणात्मक परिवर्तन के द्वारा उन दोनों शक्तियों के

सामंजस्य से एक भिन्न नवीन शक्ति का उदय हो जाता है। मार्क्स ने इस सिद्धांत को मनुष्य के सामाजिक जीवन पर भी घटित किया और सिद्ध किया कि मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को निरूपित और नियंत्रित नहीं करती बल्कि उसकी सामाजिक और भौतिक परिस्थितियाँ उसकी चेतना का रूपनिर्माण और नियंत्रण करती हैं। इस तरह जीवन के भौतिक साधनो के उत्पादन के ढंग से ही मनुष्य के सामाजिक राजनीतिक और बौद्धिक जीवन का संघटन और विकास होता है किंतु बौद्धिक कारण भी इतिहास की गतिविधि पर प्रभाव डालते हैं और परिवर्तनो का रूपप्रकार निर्मित करने में प्रमुख भाग लेते हैं। इस तरह भौतिक शक्तियो और मनुष्य के संघर्ष के फलस्वरूप सामाजिक जीवन का विकास होता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार पदार्थ के इतिहास की तरह मानव समाज के इतिहास पर दृष्टि डालने से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि आदिम समाजवादी समाजव्यवस्था के बाद दास युग, सामंत युग और पूँजीवाद युग का मानवसमाज वर्गों में विभक्त हो गया जिसमें शासक वर्ग उत्पादन के साधनो पर अधिकारकर शासित वर्गों का शोषण करता था जिसके फलस्वरूप वर्ग-संघर्ष की स्थिति बराबर बनी रहती थी। हर युग मे समाज के आर्थिक संघटन के अनुसार ही उसका साहित्य, कला, धर्म, राजनीति, नीतिशास्त्र आदि हुआ करते है और वे वर्गसंघर्ष में शोषक वर्ग का साथ दिया करते अथवा उसके हाथ के अस्त्र होते हैं। इस तरह मार्क्सवाद वर्गसंघर्ष में विश्वास करता है और आधुनिक पूँजीवादी युग मे वर्गसंघर्ष को तीव्र बनाकर पूँजीवाद को मिटाना और सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तंत्र कायम करके साम्यवादी समाजव्यवस्था लाना चाहता है। अतः वह साहित्य और कला को भी वर्गसंघर्ष को तीव्र बनाने तथा शोषित वर्ग को मिटाने के लिये क्रांति के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त करने का पक्षपाती है। क्योंकि उसके अनुसार साहित्य, कला आदि सदा से पक्षधर होते आए हैं।

भारत में सन् १९३६ ई० में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो जाने के बाद प्रयत्नपूर्वक और एक आंदोलन के रूप में प्रगतिशील रचनाएँ और प्रगतिवादी समीक्षाएँ लिखी जाने लगीं जिनमे मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को सैद्धांतिक आधार बनाया गया था। हिंदी में प्रगतिवादी आंदोलन के तथा रचनात्मक प्रगतिशील साहित्य का प्रारंभ करनेवालो मे सुमित्रानंदन पंत, नरेंद्र शर्मा, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान और प्रकाशचंद्र गुप्त प्रमुख हैं। प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में प्रेमचंद ने सभापति पद से जो भाषण किया था उसमें साहित्य मे युगीन संघर्षों और सामाजिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति करने का आग्रह तो किया गया था पर मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर साहित्यरचना करने की बात कहीं नहीं कही गई थी। मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सर्वप्रथम शिवदानसिंह चौहान ने सन् १९३७ ई० में विशालभारत

में प्रकाशित अपने एक लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' में उपस्थित किया था। सन् १९३८ ई० मे सुमित्रानदन पंत और नरेंद्र शर्मा के संपादकत्व में कालाकॉकर से 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र निकला जिसमें पंत, रामविलास शर्मा आदि की प्रगतिवादी कविताएँ प्रकाशित होती थी। सन् १९४० ई० मे प्रकाशचन्द्र गुप्त की 'नया हिंदी साहित्य—एक दृष्टि' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे मार्क्सवादी दृष्टि को प्रमुखता दी गई थी।

सन् १९४० ई० तक हिंदी के और भी कई लेखक—नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, राहुल सांकृत्यायन, नरोत्तम नागर आदि—प्रगतिवाद की ओर आकृष्ट हो गए थे। इनमें से राहुल और यशपाल तो पहले से ही मार्क्सवादी थे, पर अन्य लोगो ने मार्क्सवादी दृष्टि को आंशिक रूप मे ही स्वीकार किया था। पंत मार्क्सवाद और गॉधीवाद को समन्वित करके नवीन मानवतावाद को प्रतिष्ठित करना चाहते थे तो नंददुलारे वाजपेयी और शांतिप्रिय द्विवेदी मार्क्सवाद और सौंदर्यवाद के समन्वय का पक्ष उपस्थित कर रहे थे। अज्ञेय विद्रोह की भावना में ही मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणशास्त्र का समन्वय ढूँढ रहे थे। प्रकाशचंद गुप्त की समीक्षाओ में भी उस समय तक मार्क्सवाद का ऐकांतिक आग्रह नहीं था और वे सौंदर्यबोध को भी साहित्य का एक आवश्यक प्रतिमान मानते थे। इस तरह उस समय तक विशुद्ध रूप से मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय समीक्षा की पद्धति को अपनाकर चलनेवाले अकेले आलोचक शिवदान सिंह चौहान थे। किंतु एक बात में ये सभी लेखक सहमत थे कि छायावादी काव्य अत्यधिक कल्पनाप्रवण और आत्माभिव्यंजक होने के कारण युग की आवश्कताओ की पूर्ति करने में असमर्थ है, अतः नवीन साहित्य मे युगीन परिस्थितियो के प्रतिबिंब के साथ भविष्य के सुखमय समाज की कल्पना और स्वस्थ जीवनदृष्टि से उद्भूत आशाओ, आकाक्षाओ की अभिव्यक्ति भी चाहिए। वस्तुतः प्रारंभ में प्रगतिशील आंदोलन अन्य देशो की भॉति भारत मे भी 'कोमिनफार्म' के आदेशानुसार एक संयुक्त मोर्चे के रूप मे चल रहा था, क्योकि उस समय यूरोप मे फासिस्टवाद और नाजीवाद से लड़ने के लिये सारे विश्व के प्रगतिशील विचारवाले लोगो की संमिलित शक्ति की आवश्यकता थी। द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने पर संयुक्त मोर्चा और भी आवश्यक हो गया था। अतः उस समय प्रगतिशील होने के लिये पूर्णतः मार्क्सवादी होना आवश्यक नहीं था। सन् १९४५ ई० मे महायुद्ध की समाप्ति और मित्रराष्ट्रों की विजय के बाद संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता नहीं रह गई और तब यह देखना कम्युनिस्ट लेखकों और आलोचकों के लिये आवश्यक हो गया कि कौन मार्क्सवादी विचारो को पूरी तरह मानता है और कौन नहीं। अतः हिंदी मे भी रामविलास शर्मा ने सुमित्रानदन पंत,

राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, अज्ञेय, रांगेयराघव आदि अर्ध मार्क्सवादियों की कटु-आलोचना शुरू की। यही नहीं, काडवेल की मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणशास्त्र के समन्वय की पद्धति को अपनाकर चलनेवाले आलोचक शिवदान सिंह चौहान को भी सौंदर्यवादी और प्रतिक्रियावादी कहकर निराहत किया जाने लगा। पर ये सब हमारे आलोच्य काल के बाद की बातें हैं। सन् १६४० ई० तक मार्क्सवादी समीक्षक के रूप में प्रकाशचंद्र गुप्त और शिवदान सिंह चौहान—ये दो ही लेखक सामने आए थे।

(१) प्रकाशचंद्र गुप्त

आलोच्य काल में गुप्त की एक ही समीक्षा पुस्तक 'नया हिंदी साहित्य—एक दृष्टि' प्रकाशित हुई थी जिसमें लेखक ने अपने समसामयिक साहित्यकारों और साहित्यिक प्रवृत्तियों के संबंध में व्यावहारिक आलोचना लिखी। अतः इस पुस्तक के संबंध मे बाद में यथास्थान विचार किया जायगा। व्यावहारिक आलोचना के बीच बीच में समीक्षासिद्धातो के प्रतिपादन की शैली इन्होने नहीं अपनाई है फिर भी उनकी दृष्टि की दिशा का ज्ञान तो इस ग्रंथ से हो ही जाता है। पुस्तक में प्राक्कथन में उन्होने लिखा है—'इस संग्रह के निबंध एक विशेष दृष्टिकोण से लिखे गए हैं। इस दृष्टिकोण से हिंदी संसार का परिचय उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। समाज और साहित्य मे परस्पर एक अंतरंग संबंध है और साहित्य समाज का दर्पण है—यह सिद्धात इन निबंधों में व्यवहार रूप में माना गया है। स्व· प्रसाद और महादेवी वर्मा हिंदी साहित्य के 'रोमैंटिक' कवि हैं। उनकी आलोचना रूढ़िवादी दृष्टि से की गई है। यह जीवन की विशेषताओ से बचकर चलते हैं।' इससे स्पष्ट है कि गुप्त समाज के दर्पण के रूप में जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करनेवाले साहित्य को ही श्रेयस्कर साहित्य मानते हैं। यही उनका दृष्टिकोण है और यही उस काल की प्रारंभिक प्रगतिवादी समीक्षा का दृष्टिकोण था जिसकी ओर उन्होने उक्त कथन में संकेत किया है। पूरी पुस्तक मे उन्होंने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद या मार्क्सवाद का विवेचन कहीं नहीं किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्सवाद की कट्टरता उनमें नहीं थी और प्रगतिवाद को वे व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। इसी लिये प्रसाद और महादेवी के मूल्यांकन में वे जानबूझकर रूढ़िवादी दृष्टि अपनाकर समीक्षा करने की उदारता दिखाते हैं।

पुस्तक के निबंधो में भी कहीं कहीं उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। एक स्थान पर वे रस को काव्य की आत्मा बताते हैं और अलंकार मत का खंडन करते हुए कहते हैं—'अलंकार गिनकर काव्य की श्रेष्ठता निर्धारित नहीं की

जा सकती ।'[1] अन्यत्र वे समस्त पुराने समीक्षासिद्धांतो को नए साहित्य के मूल्यांकन में अक्षम बताते हैं।[2] समकालीन छायावादी काव्य की समीक्षा करते हुए वे कहते हैं कि हमारा साहित्य मध्य वर्ग की कृति है। जनसाधारण के जीवन से हम सर्वथा विमुख हैं। प्रगति के नियमो का तर्क पूंजीवाद के साथ साथ पुरातनशाही और मध्य वर्ग की कला में प्रतिबिंबित है।[3] यह कथन गुप्त के मार्क्सवादी जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति करता है। वे काडवेल की तरह छायावादी (रोमांटिक) कविता को मध्य वर्ग की देन मानकर उसकी भर्त्सना करते हैं और सर्वहारा वर्ग के लिये साहित्यरचना मे विश्वास करते हैं। वे समाज के शोषक सामंतो और पूँजीपतियो तथा साम्राज्यवादियो से लड़नेवाली शक्तियो का समर्थन करना साहित्य का धर्म मानते हैं पर साहित्य को प्रचारवादी बनाने के समर्थक नही हैं। इसीलिये कहते हैं - 'हम यह नही कहते कि कला प्रचारवादी हो, किंतु देश के जीवन से विलग साहित्य की कल्पना हम नही कर सकते। हमारे जीवन मे जो संघर्ष आज इस विराट् रूप में व्यापक है उसकी प्रतिध्वनि हमारे साहित्य मे आएगी ही।'[4] इस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धांतो के अनुसार वे वर्गसंघर्ष तथा स्वातंत्र्ययुद्ध के समर्थक हैं और साहित्य को शोषक, शासित वर्ग का एक अस्त्र मानते हैं। जो साहित्यकार ऐसे साहित्य की रचना नही करते उन्हें वे पलायनवादी और प्रतिक्रियावादी मानते हैं। ऐसे साहित्य को वे निर्जीव मानते हैं। उनके अनुसार 'समाज की प्रगति के नियमो को समझना अर्थात् द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से समाज के विकास का अध्ययन करना और प्रगतिशील शक्तियो का साथ देना साहित्यकार का कर्तव्य होता है। इस तरह वे साहित्य को पक्षधर (पार्टीज़न) मानते हैं और स्पष्ट शब्दो में घोषणा करते हैं कि 'आज हमारे देश में ही नही, वरन् सारे संसार में समाज की शक्तियाँ दो दलो मे बँट गई हैं। हम बीच में निश्चल खडे नही रह सकते।'''आज कलाकार को अपने विचार सुलझाने ही होगे। क्या वह धनकुबेरो और पूँजीवाद की ओर अपनी शक्तियो का प्रयोग करेगा, अथवा भूखी नंगी (भूखे-नगे ?) जन समाज की ओर? या वह मौन धारणकर अपना उमड़ा गीत कंठ मे ही सुखा देगा ?'[5]

किंतु इस तरह के विचार गुप्त ने कुछ ही निबंधो मे व्यक्त किए हैं। अन्य निबंधो में उन्होने इस तरह की भावावेशपूर्ण बातें नहीं लिखी हैं बल्कि संयत

[1] 'नया हिंदी साहित्य—एक दृष्टि; प्रथम संस्करण—पृष्ठ ७१।

[2] 'पुरानी काव्य कसौटियों से नए साहित्य की ठीक परख नही हो सकती। वही—पृष्ठ ७३।

[3] वही—पृष्ठ २१४।

[4] वही—पृ० २१२।

[5] वही—पृ० २१५—२१६।

और विवेचनात्मक दृष्टि से काम लिया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रगतिशील विचारोंवाले उनके निबंध प्रगतिवादी आंदोलन के संपर्क में आने के बाद तथा अन्य निबंध उसके पूर्व के लिखे हैं क्योंकि दोनों प्रकार के निबंधों में विचारसाम्य अधिक नहीं है।

(२) शिवदान सिंह चौहान

शिवदान सिंह चौहान मार्क्सवादी आलोचकों में सबसे अधिक वैज्ञानिक और साहित्यिक दृष्टिवाले आलोचक हैं। इसका कारण यह है कि उनके प्रायः सभी सैद्धांतिक विचार अंग्रेजी के मार्क्सवादी आलोचक काडवेल से प्रभावित हैं जो मार्क्सवाद की उपपत्तियों को मनोविश्लेषण शास्त्र और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के मेल में रखकर देखता है। सन् १६४० ई० के पूर्व उनके दो तीन निबंध ही प्रकाशित हुए थे, पर उन्हीं के बल पर उस समय ही एक सुलझे हुए मार्क्सवादी आलोचक के रूप में उनकी ख्याति हो गई थी। उनका पहला लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता'—विशाल भारत में सन् १६३७ ई० में प्रकाशित हुआ था और दूसरा 'छायावादी कविता में असंतोष की भावना' सन् १६४० ई० में हिंदी साहित्य परिषद्, मेरठ के अधिवेशन में पढ़ा गया था और उसी वर्ष अज्ञेय द्वारा संपादित संकलन ग्रंथ 'आधुनिक हिंदी साहित्य में प्रकाशित हुआ था। उनके अन्य निबंध जो १६४० से १६४५ ई० तक लिखे गए थे, उनके निबंधसंग्रह प्रगतिवाद (सन् १६४६ ई०) में संकलित हैं। पर उपर्युक्त दोनों निबंधों में उनके प्रायः सभी आलोचनात्मक सिद्धांत आ गए हैं। उनका पहला लेख एक प्रकार से हिंदी में प्रगतिवादी समीक्षा का घोषणापत्र है। इस लंबे निबंध में मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों-वर्ग संघर्ष, भौतिकवाद, आदि—की विस्तार से विवेचना की गई है और हिंदी के तत्कालीन साहित्य को पूँजीवाद की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों की देन सिद्ध किया गया है। सैद्धांतिक आलोचना की दृष्टि से यह निबंध अधिक महत्व का नहीं है क्योंकि मार्क्सवादी सिद्धांतं' का, जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है, उसमें हिंदी रूपांतर उपस्थित कर दिया गया है। इस दृष्टि से उनका दूसरा निबंध अधिक महत्व का है। अतः उसी के आधार पर यहाँ उनके समीक्षात्मक सिद्धांतों का विवेचन किया जा रहा है।

चौहान साहित्य का समाज से अविच्छिन्न संबंध मानकर साहित्यिक प्रवृत्तियों और धाराओं के विवेचन में उन्हें उत्पन्न करनेवाले सामाजिक प्रभावों और कारणों की खोजबीन करना आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति और समाज के संबंधों से ही भावों और विचारों का निर्माण होता है। अतः

भावों विचारों का मूल उत्स सामाजिक संबंध हैं और उन्हें समझे बिना साहित्य कला के सौंदर्य और मूल्य को नहीं समझा जा सकता। द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के आधार पर वे यह मानते हैं कि मनुष्य के सामाजिक विकास ने ही उसमें ज्ञात चेतना उत्पन्न की है। यह चेतना वैयक्तिक स्तर पर उत्पन्न होकर सामाजिक रूप धारण कर लेती है और इस तरह समस्त समाज का एक सामूहिक भावकोश बन जाता है। पर व्यक्ति की सभी अंतःप्रवृत्तियों या अंतःप्रेरणाओं को समाज स्वीकार नहीं करता, कुछ को ही ग्रहण करता है और जिन्हें ग्रहण करता है वे व्यक्ति की न रहकर 'समाज की ज्ञात चेतना के चिर परिवर्धित कोष में परिवेष्ठित होती' जाती हैं। सामाजिक जीवन और सामाजिक अनुभव से जिनका संबंध रहता है वही अंतःप्रेरणाएँ इस कोष में स्थान पाती हैं।[१] इस प्रकार चौहान सामाजिक भावकोश को अधिक महत्व देते हैं, वैयक्तिक भावों या अन्तः-प्रेरणाओं को नहीं। यह सामाजिक भावकोश (सोशल इगो) बाह्य सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ परिवर्तित परिवर्धित होता रहता है। चूँकि साहित्य और कला का संबंध भाव जगत् से है इसलिये समाज के विकास के साथ भावकोश की भाँति कला भी परिवर्तनशील और प्रगतिशील होती है। इस तरह चौहान की प्रथम स्थापना यह है कि भाव शाश्वत या स्थायी नहीं, परिवर्तन-शील होते हैं।

काव्य के उद्देश्य के संबंध में उनकी मान्यता है कि कविता मनुष्य की स्वतंत्रता का अस्त्र है पर वह स्थूल शस्त्र के रूप में नहीं प्रयुक्त होती; 'कविता, जो भावों को संगठित या उन्हें तरतीब देती है, नवीन अंतःप्रेरणाओं द्वारा भाव जगत् की सीमा विस्तृत करती जाती है। वह जीवनश्रम या संघर्ष को भावों के रस से सींचकर मधुर बनाती है। कविता का यही उद्देश्य रहा है। वह सामाजिक जीवन और सामाजिक श्रम के साथ मनुष्य का 'मानवी लगाव' उत्पन्न करती है।'[२] यह सिद्धांत शुक्लजी के इस मत के अधिक निकट है कि कविता लोक चित्त का परिष्कार करती और उसे मनुष्यता के गुणों से युक्त करके वास्तविक मनुष्य बनाती है। पर दोनों में मुख्य अंतर है दृष्टिकोण का। शुक्लजी आदर्श-वादी होने के कारण भावों को शाश्वत और स्थिर मानते हैं। उनके अनुसार काव्य का उद्देश्य मनुष्य में दिव्य आदर्शों की, जिसे उन्होंने मनुष्यता कहा है, प्रतिष्ठा करना है। इसके विपरीत चौहान समाजवादी होने के कारण बाह्य जगत् के समान भावों को भी परिवर्तनशील मानते हैं और यथार्थ जगत् के संघर्षों और श्रम की सफलता के लिये कविता को अस्त्र के रूप में प्रयुक्त करना चाहते हैं। इस तरह दोनों की दृष्टि उपयोगितावादी है पर लक्ष्य दोनों का भिन्न है।

चौहान कविता का कार्य एक नूतन और श्रेष्ठतर कल्पनात्मक संसार की रचना करना बताते हैं जो भ्रम होते हुए भी सत्य होता है। उनके अनुसार 'कविता का जन्म ही श्रेष्ठतम वास्तविकता की कल्पनात्मक रूपरेखा अंकित करने से होता है। यद्यपि हम इस कल्पनात्मक वास्तविकता का स्पर्श नहीं कर पाते, तथापि इस 'भ्रम' के दीपक को लेकर भविष्य के तमपूर्ण गर्भ मे घुसने का साहस संचित कर लेते हैं। यह भ्रम, यह श्रेष्ठ जीवन की कल्पना मृगमरीचिका के समान अप्राप्य नहीं होती, क्योंकि वर्तमान के गर्भ में उसके बीज होते हैं जिन्हें संपूर्ण मानवता की श्रम शक्ति अंकुरित करने में सफल होती है—कल्पना सत्य हो जाती हैं, आकाक्षाएँ वास्तविकता के रूप में परिणत हो जाती हैं।'[2] इस कथन में चौहान ने काव्य में कल्पना और छायाभास जैसे बिंबविधान की महत्ता स्वीकार की है, पर वे कल्पनाओं और बिंबों को सामाजिक यथार्थ से विच्छिन्न करके नहीं देखते और यह मानते हैं कि कविता के कल्पनात्मक संसार से पाठकों का संबंध अंतर्वृत्तियों द्वारा नहीं बल्कि आर्थिक सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की चेतना द्वारा होता है। इस तरह वे साधारणीकरण का साधन भावों को नहीं सामाजिक आवश्यकताओं को मानते हैं। काव्यरचना का साधन भी वे वैयक्तिक नहीं सामूहिक अनुभूति को मानते हैं।

ये मान्यताएँ चौहान की अपनी नहीं हैं। उन्होंने उन्हें काडवेल की पुस्तक 'भ्रम और यथार्थ' (इल्यूजन ऐंड रियेलिटी) से लिया है, पर गड़बड़ी यह हुई कि जिन सिद्धांतों की स्थापना और व्याख्या काडवेल ने तीन सवा तीन सौ पृष्ठों में की है, उन्हें चौहान ने कुछ पृष्ठों में उतारने का प्रयास किया है जिससे विवेचना अधूरी और अस्पष्ट हो गई है। इससे उनकी आलोचना में मौलिकता का नितांत अभाव दिखाई पड़ता है। फिर भी प्रगतिवादी आलोचकों में सैद्धांतिक विवेचना उन्होंने ही सबसे अधिक की है। इस दृष्टि से उनका महत्व असंदिग्ध है।

———

१ प्रगतिवाद—पृष्ठ २६।

२ वही—पृष्ठ २८।

चतुर्थ अध्याय

व्यावहारिक आलोचना

पिछले अध्यायो मे बताया जा चुका है कि हिंदी में आधुनिक आलोचना का प्रारंभ व्यावहारिक आलोचना के रूप मे ही हुआ था। भारतेंदु युग में तो उस समय प्रकाशित होनेवाले ग्रंथो के गुणदोषो, विशेष रूप से भाषा संबंधी गुणदोषो पर ही विचार होता था, पर द्विवेदी युग में संस्कृत और हिंदी के प्राचीन कवियो तथा उनके ग्रंथो के संबंध में तथा समकालीन काव्यप्रवृत्तियो के बारे में व्यावहारिक आलोचना व्यापक रूप मे लिखी जाने लगी, हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवियो की गणना की जाने लगी और विभिन्न कवियो का तुलनात्मक गुण-दोष-विवेचन किया जाने लगा। शुक्ल युग मे सैद्धांतिक आलोचना लिखने का कार्य व्यापक रूप में प्रारंभ हुआ, पर व्यावहारिक आलोचना अब भी सैद्धांतिक आलोचना की तुलना मे अधिक लिखी जाती रही। इस युग मे व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में नवीनता यह दिखलाई पड़ी कि एक ही आलोचक अनेक साहित्यिको या साहित्यिक प्रवृत्तियो पर अलग अलग आलोचनात्मक लेख लिखकर उन्हे संग्रहग्रंथो के रूप मे प्रकाशित करने लगे। साथ ही इस युग से हिंदी साहित्य का इतिहास भी वैज्ञानिक पद्धति से लिखा जाने लगा जो केवल इतिवृत्तात्मक न होकर आलोचनात्मक भी होता था। इस युग की व्यावहारिक आलोचना केवल आलोच्य कृति या कृतिकार के जीवनवृत्त या गुणदोषो के विवेचन तक ही सीमित नही रही, उसमे युगीन परिस्थितियो के प्रभावो, कृतिकार की अंतर्वृत्तियो और दार्शनिक, सामाजिक चिंताधाराओ का भी विवेचन किया जाने लगा। इस तरह शुक्ल युग में निर्णयात्मक और तुलनात्मक समीक्षापद्धति का प्रचार कम हो गया और ऐतिहासिक, व्याख्यात्मक, समाजशास्त्रीय, मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा पद्धतियो को अधिक अपनाया जाने लगा।

यहाँ आलोच्य युग की व्यावहारिक समीक्षा को चार भागो में विभाजित कर उनपर अलग अलग विचार किया जायगा। वे चार विभाग ये हैं—(१) प्राचीन काव्य और कवियो की आलोचना, (२) आधुनिक काव्य और कवियो की आलोचना, (३) आधुनिक गद्यसाहित्य और गद्यलेखको की आलोचना और (४) मिलेजुले विषयो के आलोचनात्मक निबंधसंग्रह। प्रत्येक भाग में आलोचकों के अनुसार नहीं, आलोच्य साहित्यकार, ग्रंथ या प्रवृत्ति के अनुसार विचार किया जायगा।

(१) प्राचीन काव्य की आलोचना

आलोच्य काल में प्राचीन काव्य की प्रवृत्तियों, कवियों और उनके साहित्य की आलोचना चार रूपों में की गयी : १–हिंदी साहित्य के इतिहासग्रंथों के अंतर्गत, २—फुटकल निबंधों में, ३—स्वतंत्र आलोचनाग्रंथों में और ४—संपादित ग्रंथों की भूमिकाओं में। इतिहासग्रंथों तथा शोधपुस्तकों को वास्तविक अर्थ में व्यावहारिक आलोचना नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें ऐतिहासिक इतिवृत्त और आलोच्य वस्तु की सामग्री की प्रधानता होती है। इसी लिये उनके संबध में अगले अध्याय में अलग से विचार किया जायगा। फिर भी उनमें से कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों की चर्चा यहाँ की जायगी क्योंकि उनमें ऐतिहासिक के साथ आलोचनात्मक दृष्टि भी वर्तमान है और साथ ही कुछ इतिहासकारों की स्थापनाएँ इतनी महत्वपूर्ण हैं कि आगे के आलोचकों ने उन्हीं को आधार बनाकर अपने विचार व्यक्त किए हैं।

(क) काव्यप्रवृत्तियों की समीक्षा

आलोच्य काल में हिंदी साहित्य के आदि काल की काव्यप्रवृत्तियों और काव्यग्रंथों के संबंध में महत्वपूर्ण आलोचना का अभाव दिखाई पड़ता है। उस काल के संबंध में रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास तथा अन्य इतिहासकारों ने ऐतिहासिक दृष्टि से ही थोड़ा बहुत विचार किया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'हिंदी साहित्य विमर्श' नामक ग्रंथ में आदिकालीन हिंदी कविता की विवेचना कुछ मौलिक ढंग से की है। शुक्लजी ने इस काल की मुख्य प्रवृत्ति वीरगाथा की मानी थी और उसी के नाम पर इस युग को ही वीरगाथा काल नाम दे दिया था। बाबू श्यामसुंदर दास ने भी उसका शुक्लजी की तरह वीरगाथा काल और आदि काल दोनों ही नाम स्वीकार किया है। चन्दवरदाई के पृथ्वीराज रासो के संबंध में इन लोगों ने प्रायः एक ही ढंग से विचार किया है और यह स्वीकार किया है कि उसके वर्तमान रूप में प्रक्षिप्त अंशों की अधिकता है जिससे उसके मूल रूप का पता लगाना असंभव सा है।[१] रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में पृथ्वीराज रासो के विभिन्न रूपांतरों की विस्तार से चर्चा की है। आदिकाल की काव्यप्रवृत्तियों और ग्रंथों के संबंध में सम्यक् विवेचन आलोच्य काल के बाद हजारीप्रसाद द्विवेदी, माताप्रसाद गुप्त आदि द्वारा किया गया।

[१] हिंदी भाषा और साहित्य—प्रथम संस्करण, पृ० २८७।

इतिहासग्रंथों में पूर्वमध्य काल या भक्ति काल के संबंध में अवश्य बहुत ही विवेचनात्मक ढंग से विचार किया गया है। रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदर दास दोनो ने ही भक्ति काल की आध्यात्मिक और धार्मिक काव्यप्रवृत्ति को निर्गुण और सगुण धाराओ मे बॉटकर उनकी चार शाखाओ—ज्ञानमार्गी शाखा, प्रेममार्गी शाखा, रामभक्ति शाखा और प्रेमभक्ति शाखा—की काव्यप्रवृत्तियो की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक पृष्ठभूमि, दार्शनिक परंपरा और काव्यगत विशेषताओं का विस्तार से विश्लेषण किया है। अन्य इतिहासकारो ने भी उन्हीं की पद्धति अपनाई है। इन दोनो विद्वानो ने भक्ति आदोलन का मुख्य कारण मुसलमानो के आक्रमण और राज्यस्थापन के बाद हिंदुओ में व्याप्त घोर निराशा की भावना को माना है पर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'हिंदी-साहित्य विमर्श' नामक ग्रंथ में इस संबध में यह मत व्यक्त किया है 'इसमें तो संदेह नही है कि मुसलमानो के शासनकाल में हिंदी साहित्य का प्रचार बढ़ा। पर यह कहना कठिन है कि यदि भारतवर्ष मे मुसलमानो का आगमन न हुआ होता तो हिंदी साहित्य का कैसा स्वरूप होता? हॉ, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिंदी के उस युग में भक्तिवाद का आविर्भाव अवश्यंभावी था। हिंदू समाज में जो विचार-धारा बह रही थी उसकी गति मुसलमानो के आगमनकाल के पहले से ही निर्दिष्ट हो चुकी थी। न तो मुसलमानो के आक्रमण ने और न उनके शासन ने ही उसकी गति मे किसी प्रकार की बाधा डाली। भारतवर्ष का सामाजिक संगठन ही ऐसा था कि राजनीतिक क्षेत्र में उत्क्राति होने पर भारतीय समाज उससे क्षुब्ध नहीं हो सकता था।······कबीर, दादू आदि संतो ने जिन भावो का प्रचार किया वे हिंदू जाति की परंपरागत निधि हैं। इन भावो को हिंदी साहित्य ने अपने प्राचीनतम साहित्य से प्राप्त किया हैं।'[1] ये विचार बख्शीजी ने सन् १९२३ मे व्यक्त किए थे पर शुक्लजी, श्यामसुंदरदास तथा परवर्ती सभी इतिहासकारो ने इसकी ओर ध्यान न देकर यह हिंदू पुनरुत्थानवादी विचार व्यक्त किया कि भक्ति आदोलन धार्मिक और राजनीतिक पराजय की भावना से उद्भूत निराशा की देन है। फिर बहुत बाद में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बख्शीजी के उपर्युक्त मत को अपनाकर शुक्लजी आदि के मतों का खंडन किया। अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (सन् १९४०) उन्होने उन समस्त पूर्ववर्ती धार्मिक और दार्शनिक परंपराओ और तत्कालीन लोकधर्म की प्रवृत्तियो का उल्लेख और विश्लेषण किया है जिनकी परिणति हिंदी साहित्य की मध्यकालीन काव्यप्रवृत्तियो में दिखाई पड़ती है। उन्होने बख्शीजी के मत को और स्पष्ट और जोरदार भाषा मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

[1] हिंदी साहित्य विमर्श—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४५-४६।

'दुर्भाग्यवश, हिंदी साहित्य के अध्ययन और लोक-चक्षु-गोचर करने का भार जिन विद्वानो ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिंदी साहित्य का संबंध हिंदू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं। और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं—एक यह कि हिंदी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की संपत्ति है, इसलिये उसका महत्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान पतन के अंगागिभाव से संबद्ध है, और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरंतर पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त प्रतीक है। मै इन दोनो बातो का प्रतिवाद करता हूँ।......ऐसा करके मै इस्लाम के महत्व को भूल नही रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'[1]

इसी मान्यता के अनुसार द्विवेदीजी ने हिंदी साहित्य को 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' मानकर बौद्ध धर्म के हीनयान, महायान, वज्रयान और सहजयान संप्रदायो, नाथ संप्रदाय, आलवार भक्ति मत, योग मत, तंत्र साधना तथा वैष्णव मतो की विस्तृत व्याख्या की है। यद्यपि इस विवेचन को शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के कारण बिलकुल नवीन उद्भावना नहीं माना जा सकता पर उसकी विशेषता यही है कि शुक्लजी की तुलना में इसमें परंपराबोध अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। शुक्लजी और श्यामसुंदरदास ने मुसलमानो के संपर्क को भी महत्व दिया है और सूफियो तथा ज्ञानमार्गी संतो को हिंदू और मुसलिम संस्कृतियो के बीच एकता लाने का श्रेय दिया है। द्विवेदीजी ने परंपराज्ञान के प्रदर्शन के जोश में इस बात की ओर ध्यान ही नही दिया है कि पूर्वमध्य काल में हिंदी साहित्य के माध्यम से हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियो का समन्वय करने का प्रयत्न किस रूप मे हुआ। गोरखनाथ, चैतन्य, रामानंद, वल्लभाचार्य, नानक, कबीर आदि द्वारा प्रवर्तित पंथो और संप्रदायो में मुसलमान भी दीक्षित होते थे और सूफीमत को माननेवाले हिंदुओ की संख्या भी कम नहीं थी, इस बात पर द्विवेदीजी ने अपने किसी भी ग्रंथ में विचार नहीं किया है। उनकी दृष्टि अतीत में ही उलझकर रह गई है। आश्चर्य की बात है कि द्विवेदीजी ने बख्शी जी के 'पूर्वपरंपरा के स्वाभाविक विकास' का सिद्धांत तो अपना लिया पर 'हिंदू मुसलिम समन्वय' वाली उनकी बात को एकदम छोड़ ही दिया। बख्शीजी ने इस संबंध मे लिखा है, 'यह सच है कि मुसलमानों के शासनकाल मे भारतीय

[1] हिंदी साहित्य की भूमिका—चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १-२।

ऐश्वर्य नष्ट नहीं हुआ था। देश धनधान्य से पूर्ण था। भारतीय संपत्ति पर भारतीयों का ही आधिपत्य था। तो भी यह कहना अनुचित नहीं कि हिंदू जाति का सौभाग्यसूर्य अस्त हो चुका था। ऐसी अवस्था में हिंदी के धार्मिक साहित्य ने बड़ा काम किया। यह साहित्य उदार भावों से पूर्ण है। इसी ने नीचों और अधमों के लिये भी आत्मोद्धार का मार्ग खोल दिया। सबसे महत्व-पूर्ण बात यह हुई कि हिंदी साहित्य के ही द्वारा हिंदू और मुसलमानों में एकता का सूत्रपात हुआ। कुछ विद्वानों की राय है कि हिंदू समाज में एकेश्वरवाद का प्राबल्य मुसलमानों के ही कारण हुआ। किसी किसी की यह भी संमति है कि हिंदी में तुकांत कविताओं का प्रचार मुसलमानों ने ही किया।[१] द्विवेदीजी ने मध्यकालीन हिंदी साहित्य के इस पक्ष का आधिकारिक और प्रामाणिक रूप में विवेचन नहीं किया है। उनके पूर्व डा० पीतांबरदत्त बडथ्वाल ने अपने अंग्रेजी शोधग्रंथ 'निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोयट्री' (सन् १९४६) में अवश्य इस बात की ओर ध्यान दिया था पर उनके ग्रंथ में दार्शनिक विवेचन की प्रमुखता होने के कारण इसके लिये अधिक अवकाश नहीं था। बाद में सरस्वती पत्रिका में उन्होंने 'कबीर और गांधी' शीर्षक लेख में इसपर विशेष रूप से विचार किया था।

निर्गुणधारा के काव्य के मूल स्रोतों की विवेचना करनेवाले इस काल के महत्वपूर्ण और मौलिक विद्वान् पीतांबरदत्त बड़थ्वाल थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम मध्यकालीन संत कवियों का संबंध योग मार्ग नाथ संप्रदाय और निरंजन संप्रदाय से जोड़ा। उनके निबंधसंग्रह 'योगप्रवाह' (सन् १९४६) के सभी शोधनिबंध सन् १९४० के पूर्व के लिखे हैं जो विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे। उनका 'हिंदी कविता में योगप्रवाह' शीर्षक लेख इतना महत्व-पूर्ण था कि रामचंद्रशुक्ल, हरिऔध, रामकुमार वर्मा आदि तत्कालीन इतिहासलेखकों ने उसे पूर्णतः स्वीकार कर लिया। शुक्लजी के इतिहास के परिवर्धित संस्करण में प्रारंभ में 'अपभ्रंश काल' में सिद्धों और नाथपंथियों की कविता और सिद्धांतों का विवेचन बड़थ्वालजी के उपर्युक्त लेख तथा तद्विषयक अन्य निबंधों का ही परिणाम है। डा० रामकुमार ने भी अपने 'हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में संधिकाल के अंतर्गत सिद्ध कवियों और गोरखनाथ की कविता का विवेचन डा० बडथ्वाल के निबंधों तथा पुरातत्व निबंधावली में प्रकाशित राहुल सांकृत्यायन के 'चौरासी सिद्ध' तथा हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ' शीर्षक निबंधों के आधार पर किया है। इन सभी शोधों और स्थापनाओं का उपयोग करके तथा क्षितिमोहन सेन की पुस्तकों से

[१] हिंदीसाहित्य विमर्श—पृष्ठ ४५।

[२] दी निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोयट्री—पेज १८१।

सामग्री ग्रहण करके हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' नामक ग्रंथ लिखे जिनमें संग्रहवृत्ति जितनी प्रमुख है उतनी काव्यालोचन की वृत्ति नहीं। इन दोनों ग्रंथों में नवीनता इतनी ही है कि लेखक ने मध्यकालीन हिंदी काव्य की सभी धाराओं का संबंध पूर्व परंपराओं से जोड़ने के प्रयत्न के साथ विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों का शास्त्रीय विवेचन भी प्रस्तुत किया है। शुक्लजी ने निर्गुण काव्यधारा की पूर्व परंपरा की बात तो स्वीकार कर ली पर इस बात पर अंत तक अटल रहे कि 'उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं; जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ'।[1] संत साहित्य के संबंध में भी उनकी वही धारणा थी। उसके संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं। उनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है। कबीर आदि दो एक प्रतिभासंपन्न संतों को छोड़ औरों में ज्ञानमार्ग की सुनी सुनाई बातों का पिष्टपेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक भद्दी तुकबंदियों में हैं।[2] श्यामसुंदरदास, बड़थ्वाल, रामकुमार वर्मा और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी से आगे बढ़कर संत साहित्य का महत्व केवल साहित्यिक आधार पर नहीं सांस्कृतिक और दार्शनिक आधार पर प्रतिपादित किया। श्यामसुंदरदास ने संत कवियों के काव्य की विशेषता उसकी प्रभावोत्पादकता मानी है। उनके अनुसार 'कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की है। उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है, उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है।'[3] श्यामसुंदरदास के इस मत को ही बाद के अधिकतर विद्वानों ने स्वीकार किया। संत साहित्य संबंधी गवेषणा और विवेचना से मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की गरिमा, मौलिकता और महत्व का सम्यक् उद्घाटन हुआ किंतु प्रेमाख्यानक काव्यों और वैष्णव धर्माश्रित साहित्य का जो आकलन शुक्लजी ने किया वही उस समय अंतिम माना जाता रहा और आज भी उस क्षेत्र में उनसे आगे बहुत कम लोग बढ़ सके हैं।

रीतिकालीन प्रवृत्तियों की विवेचना रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदरदास ने अपने इतिहासग्रंथों में भिन्न भिन्न दृष्टियों से की है। शुक्लजी ने रीति

१ हिंदी साहित्य का इतिहास—परिवर्द्धित संस्करण, पृ० १७।
२ वही—पृ० ६१।
३ हिंदी भाषा और साहित्य—पृ० ३१६।

काल की मुख्य प्रवृत्ति रीतिबद्धता और श्रृंगार को माना और इसका कारण यह बताया कि रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत के पिछले खेवे के कवियों का अनुसरण किया जो कवि और आचार्य दोनों ही होते थे और शास्त्रीय नियमों से हटकर जिनकी दृष्टि प्रकृति और जीवन के व्यापक क्षेत्रों में नहीं रमती थी। श्रृंगारिकता की अधिकता का कारण उन्होंने कवियों का विलासी राजाओं के आश्रय में चला जाना बताया। इसी आधार पर उन्होंने रीतिकालीन साहित्य को विलासितापूर्ण और कृत्रिम साहित्य कहकर उसकी भर्त्सना की। पर श्यामसुंदरदास ने रीति की प्रवृत्ति का कारण यह बताया कि रचनात्मक साहित्य पर्याप्त मात्रा में निर्मित हो जाने के बाद आलोचनात्मक या रीति ग्रंथों की रचना होती है, इसी कारण भक्ति काल में प्रचुर साहित्य निर्माण के बाद रीतिकाल में रीतिग्रंथों की रचना होने लगी। श्रृंगारिकता का कारण उन्होंने भक्तिकाल की आध्यात्मिक कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया और गार्हस्थ्य जीवन के सुख सौंदर्य की ओर स्वाभाविक आकर्षण बताया है। इसी आधार पर उन्होंने रीति काव्य की आलोचना सहानुभूतिपूर्ण ढंग से और निष्पक्ष होकर की है। शुक्लजी प्रबंध काव्यों के पक्षपाती थे पर श्यामसुंदरदास ने मुक्तक काव्य को भी काव्यत्व और जीवनदर्शन की गंभीरता की अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त उपयुक्त माध्यम माना है। इन्हीं सब कारणों से रीतिकाल का जैसा सामंजस्यपूर्ण और पूर्वग्रहहीन आकलन श्यामसुंदरदास ने किया है वैसा शुक्लजी ने नहीं।

शुक्लजी ने रीतिकाव्य की पूर्वपरंपरा संस्कृत में ही ढूढी है। लेकिन बाद में विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने 'बिहारी की वाग्विभूति' नामक ग्रंथ में इस परंपरा को प्राकृत, अपभ्रंश और लोक गीतों में खोजने का सुझाव दिया। उनके अनुसार 'श्रृंगार की प्रवृत्ति का लोप साहित्य में कभी नहीं होता। हिंदी की ही दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट दिखाई देता है कि प्राकृत और अपभ्रंशकाल में श्रृंगार और वीर रस की धाराएँ प्रवाहित थीं।'[1] मिश्रजी ने यह सूत्र पद्मसिंह शर्मा की तुलनात्मक समीक्षा से प्राप्त किया था। शर्माजी ने बिहारी सतसई के दोहों की तुलना प्राकृत ग्रंथ 'गाथा सप्तशती' की गाथाओं से की थी जो श्रृंगार और प्रेम की अभिव्यंजना का प्राचीनतम उदाहरण है। पर गाथा सप्तशती या अपभ्रंश के दोहों में राधा कृष्ण का आवरण नहीं लिया गया है और न उनमें परकीया नायिका को ही प्रधानता दी गई है। हिंदी के रीतिकाव्य में परकीया नायिका का प्राधान्य क्यों हो गया और प्रेमव्यंजना के लिये राधाकृष्ण का आवरण क्यों अपनाया गया, इसके लिये विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने तीन कारण

[1] बिहारी—पृ० १८।

बताए हैं —१–भक्तिकालीन परंपरा के पालन के लिये रीतिकाल में शृंगार का प्रधान आलंबन राधा और कृष्ण को रखा गया यद्यपि भक्तिभावना की प्रवृत्ति पीछे छूट गई। जयदेव में भक्ति और शृंगार का जो संतुलन था वह रीतिकालीन कविता में नहीं रहा। २—सूफी कवियों ने 'प्रेम की पीर' तथा लौकिक के भीतर अलौकिक प्रेम का जो मार्ग प्रदर्शित किया था वह कृष्णभक्ति काव्य के भीतर से होता हुआ रीतिकालीन काव्य में पहुँचा पर यहाँ अलौकिक प्रेम गौण और लौकिक प्रेम ही प्रधान हो गया। इस तरह इस काल का शृंगारिक काव्य प्राकृत अपभ्रंश के शृंगारिक काव्य की भाँति शुद्ध लौकिक नहीं था बल्कि अलौकिकता के आवरण में लौकिक था। ३–परकीया प्रेम की प्रवृत्ति भी इस काल के काव्य को कृष्णभक्ति काव्य से ही उत्तराधिकार रूप में मिली है। इस तरह मिश्रजी ने रीतिकालीन काव्य की मुख्य प्रवृत्ति 'शृंगार मानकर इस काल को 'शृंगार काल' नाम दिया और इस काल के काव्य को दो मुख्य धाराओं में विभक्त किया, रीतिबद्ध काव्य धारा और रीतिमुक्त या स्वच्छंद काव्य धारा; और फिर इन दोनों को दो दो उपधाराओं में विभाजित करके लक्षणबद्ध काव्य, लक्ष्यमात्र काव्य, रहस्योन्मुख काव्य और शुद्ध प्रेम काव्य—ये चार धाराएँ मानीं और यह सिद्ध किया कि रीतिबद्ध काव्य मुख्यतः दरबारी कवियों द्वारा और रीतिमुक्त काव्य दरबारी वातावरण से अलग रहनेवाले कवियों द्वारा रचा गया। मिश्रजी ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया कि रीतिग्रंथों के निर्माण की कृपाराम से लेकर सेनापति तक एक अखंड परंपरा प्रमाणित की। शुक्लजी ने सामग्री के अभाव में यह मान लिया था कि केशवदास के बाद ५० वर्ष तक रीतिग्रंथों की रचना नहीं हुई और रीति की अखंड परंपरा चिंतामणि के बाद से प्रारंभ हुई।

रीतिकालीन शृंगारिक काव्यप्रवृत्ति के संबंध में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में मिश्रजी के मत से मिलता जुलता ही मत अभिव्यक्त किया है। उन्होंने दूसरे विद्वानों का, जिनका नाम उन्होंने नहीं बताया, हवाला देकर यह सिद्ध किया है कि भारत में शृंगारमूलक मुक्तक काव्य के प्रारंभ का प्रधान कारण आभीर जाति का संसर्ग है। ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद प्राकृत में और फिर अपभ्रंश में इस प्रकार की ऐहिकतामूलक मुक्तक रचनाएँ अधिक लिखी जाने लगी, जो पूर्ववर्ती आर्य साहित्य में अज्ञात थीं।[१] द्विवेदीजी

[१] हिंदी साहित्य की भूमिका—पृ० ११३-११४।

की इस मान्यता में भी कोई नवीनता नहीं है क्योंकि चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' नामक लेख मे यह मत बहुत पहले व्यक्त कर दिया था। पद्मसिंह शर्मा ने भी तुलना करके प्राकृत और रीतिकालीन हिंदी के श्रृंगारिक काव्य में एक ही परंपरा का प्रवाह प्रमाणित किया है।

(ख) कवियों और काव्यग्रंथों की समीक्षा

१—कबीर

आलोच्य काल में कबीर और उनके साहित्य के संबंध में दो आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे गए, रामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' (सन् १९३१) और हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'कबीर' (प्रकाशन सन् १९४१)। पर कबीर के जीवन, पंथ और दर्शन से संबंधित गवेषणात्मक और आलोचनात्मक निबंध उस समय बहुत अधिक लिखे गए जिनमे से हरिऔध और डा० बड़थ्वाल के निबंध उल्लेखनीय हैं। हरिऔधजी की 'कबीर वचनावली' और श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' मे लंबी भूमिकाएँ भी लिखी गई थी जिनमे कबीर के जीवन और दर्शन के साथ उनके काव्य का भी विवेचन किया गया है। शुक्लजी, श्यामसुंदर दास, रामकुमार वर्मा आदि ने अपने इतिहास ग्रंथो में तथा डा० बड़थ्वाल ने अपने अंग्रेजी के शोध ग्रंथ 'निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोएट्री' में कबीर के संबंध मे पर्याप्त विचार किया है। इन सभी ग्रंथों और निबधो मे कबीर की जीवनी और दार्शनिक तत्वो पर जितना विचार किया गया है उतना उनके काव्य के काव्यत्व, शिल्प आदि की साहित्यिक अलोचना नही की गई है। इसलिये उनका मूल्य जितना शोधात्मक है उतना आलोचनात्मक नही।

कबीर के संबंध मे शुक्लजी की दृष्टि निष्पक्ष और उदार नही थी। वे सगुण भक्ति मे ही भक्ति का प्रकृत रूप देखते थे और साहित्य के लिये उसी को उपयुक्त मानते थे क्योंकि वे रसवादी और लोकमर्यादावादी थे। सगुण भक्तिकाव्य मे लौकिक भावो और सगुण आलंबन के कारण रसवत्ता के साथ लोकादर्श की अभिव्यक्ति उन्हे जितनी पसंद थी उतनी कबीर की निर्गुण उपासनापद्धति पर आधारित आध्यात्मिक और रहस्यात्मक अनुभूतियो की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति या ज्ञानोपदेश नहीं। इसी लिये कबीर के संबंध मे उन्होने अपने इतिहास में बहुत कम विचार किया है और जो कुछ लिखा है, वह उनकी उपासनापद्धति और काव्य के वस्तुतत्व के मूल स्रोतो तक ही सीमित है। जिन मूल स्रोतो का निर्देश उन्होंने किया है उन्हीं की विस्तृत विवेचना बाद के आलोचकों—डा० बड़थ्वाल और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रंथों में की है। मूल स्रोतो और पूर्वपरंपरा का विवेचन शुद्ध समालोचना नही है; अतः बड़थ्वालजी की

'हिंदी काव्य में निर्गुण धारा' तथा 'योग प्रवाह' और हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' के संबंध में अगले अध्याय—'इतिहास और शोध साहित्य'—में विशेष रूप से विचार किया जायगा। यहाँ उनमें व्यक्त कबीर के काव्य से संबंधित विचारों पर ही दृष्टिपात किया जायगा।

साहित्यिक दृष्टि से कबीर की सबसे अधिक महत्वपूर्ण आलोचना श्यामसुंदर दास का है जो उन्होने अपने इतिहास और कबीर ग्रंथावली की प्रस्तावना मे लिखी है।[1] दोनो पुस्तके एक ही समय (सन् १६३०) की हैं और दोनो में कबीर संबधी बहुत सी बाते एक सी हैं। 'कबीर ग्रंथावली' की प्रस्तावना में उन्होने कबीर के जीवनकाल की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियो के साथ उनके सिद्धातो, आचारगत विश्वासो, रहस्यवादी काव्याभिव्यक्तियो, काव्यसौष्ठव और भाषा के संबंध में भी विस्तार के साथ विचार किया है। श्यामसुंदर दास ने कबीर को एक महान् तत्ववेत्ता और पहुँचा हुआ संत मानकर उसी दृष्टि से उनके काव्य की महत्ता का विवेचन किया है। शुक्लजी के अनुसार कबीर ने सत्संग से योग, ज्ञान और प्रेम मार्गों की सुनी सुनाई बातो का संचय मात्र किया है, और वे वैष्णव भक्त नहीं है। पर श्यामसुंदरदास ने स्पष्ट शब्दो में लिखा है कि 'कबीर सारतः वैष्णव थे'[2] और 'पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनका ज्ञान पोथियो से चुराई हुई सामग्री नही थी और न वह सुनी सुनाई बातो का बेमेल भंडार ही था।'[3] हिंदी के प्रथम रहस्यवादी कवि के रूप में कबीर का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्होने लिखा है—'जैसे कबीर का जीवन संसार से ऊपर उठा हुआ था, वैसे ही उनका काव्य भी साधारण कोटि से ऊँचा है। अतएव सीखकर प्राप्त की हुई रसिकता को उनमें काव्यानंद नहीं मिलता।'[4] कबीर में परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण का जो भाव है वह प्रेम की पराकाष्ठा है और श्यामसुंदर दास के मत से काव्य जगत् में उसका बहुत अधिक मूल्य है, उसे शुष्क ज्ञानकथन नही माना जा सकता। कबीर मे कृत्रिम आलंकारिकता और 'मानसिक कलाबाजी और कारीगरी' के अभाव को श्यामसुंदर दास उनका

१ शुक्लजी ने अपने इतिहास में पृष्ठ ५६२ पर लिखा है कि कबीर ग्रंथावली की भूमिका डा० बड़थ्वाल की लिखी है। पर कबीर ग्रंथावली में इसका कहीं उल्लेख नहीं है। अतः हम इसे श्यामसुंदर दास का ही मानेंगे।

२ कबीर ग्रंथावली, प्रस्तावना—पृष्ठ १७।

३ वही—पृष्ठ ५६।

४ हिन्दी भाषा और साहित्य, प्रथमसंस्करण—पृष्ठ ३४१।

दोष नहीं; विशिष्ट गुण मानते हैं। उनकी दृष्टि में कबीर का रहस्यवाद भारतीय सर्वात्मवाद पर आधारित और सूफियों के माधुर्यभाव से रससिक्त होने के कारण मनोमोहक है, शुष्क नहीं। काव्यगत चित्रात्मकता, आध्यात्मिक प्रेम की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना, सहज विदग्धता, विचार स्वातंत्र्य, सर्व धर्म समन्वय की भावना, आचार निष्ठा, सामाजिक न्याय का आग्रह आदि बातो के आधार पर श्यामसुंदर दास कबीर को अत्यंत उच्च कोटि का कवि मानते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने कबीर बचनावली के 'मुखबंध' तथा अपने इतिहास में कबीर के साहित्य और दर्शन के संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। कबीर बचनावली की भूमिका में उन्होने कबीर के जीवन से संबंधित ज्ञातव्य बातो का विवरण देने के बाद उनके रचित ग्रंथो, पंथ, धर्मसिद्धात, विचारपरंपरा, संतमत आदि बातो पर विस्तार से विचार किया है। पर उनके विचार उनकी रूढिवादी दृष्टि के द्योतक हैं क्योकि उन्होने कबीर के स्वतंत्र चिंतन और सत्यवादिता को अशिष्टता, दंभ, परधर्म विरोध और महात्माओं के लिये अनुपयुक्त आचार कहा है। कही कही तो उन्होने कबीर के लिये बहुत कटु शब्दो का व्यवहार किया है जिससे पता चलता है कि वे कबीर की आलोचना साहित्यिक या शोधकर्ता की दृष्टि से नही, धार्मिक या साप्रदायिक दृष्टि से कर रहे हैं। कबीर के काव्य के संबंध में उनका मत है—'इन ग्रंथो की अधिकाश कविता साधारण है। सरस पद्य कही कही मिलते है।...छंदोभंग इन सब में इतना है कि जी ऊब जाता है। जहाँ तहाँ कविता में अश्लीलता भी है।...कबीर साहब के ग्रंथो का आदर कविताहष्टि से नहीं विचारदृष्टि से है। उन्होने अपने विचार दृढ़ता और कट्टरता के साथ प्रकट किए हैं'।[१] स्पष्ट है कि हरिऔध जी को कबीर की सत्यवादिता और विद्रोही भावना पसन्द नहीं थी और वे उनके साहित्य को अपनी मर्यादावादी नैतिकता और रूढ़िबद्ध काव्य-संस्कार की तुलापर तौलना चाहते थे। अपने इतिहास में भी उन्होने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं, पर उसमे तबतक प्रकाशित सामग्री का लाभ उठाकर कबीर पर वैष्णवधर्म योगमार्ग, नाथसंप्रदाय, तंत्रमार्ग आदि के प्रभावो का भी सोदाहरण विवेचन कर दिया गया है।

कबीर साहित्य के आलोचको में रामकुमार वर्मा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है क्योकि बडथ्वाल और हजारीप्रसाद द्विवेदी से भी पूर्व उन्होने कबीर पर एक स्वतंत्र ग्रंथ 'कबीर का रहस्यवाद' (सन् १६३१) लिखा था। यह ग्रंथ

[१] कबीर बचनावली, नवाँ संस्करण, मुखबंध—पृष्ठ ३०-३१।

कबीर के काव्य के केवल एक पक्ष 'रहस्यवादी भावानुभूति' से संबंधित है, अतः लेखक ने कबीर के काव्यत्व, भाषा और दार्शनिक सिद्धातो के मूल स्रोतो पर विचार नहीं किया है, जो उचित ही है। कबीर के रहस्यवाद को समझने के लिये इसमें ब्रह्म, माया, आत्मा और परमात्मा के संबंध, गुरुमहत्व, आदि से संबंधित कबीर की मान्यताओ पर प्रभावपूर्ण ढंग से विचार किया गया है। मध्यकालीन भारतीय रहस्यवाद मुख्यतः अद्वैतवाद, हठयोग और सूफी सिद्धातो पर आधारित है। अतः रामकुमार वर्मा ने इन दर्शनो के सिद्धातो की व्याख्या भी की है यद्यपि यह विवेचना अधिक विशद और शास्त्रीय नही हो पाई है। नाथपंथियो और वज्रयानी, सहजयानी तात्रिको तथा सिद्धो का कबीर पर कितना और कैसा प्रभाव पड़ा था, इसका उल्लेख इस ग्रंथ में नही हुआ है, क्योकि तबतक इस संबंध मे राहुल साकृत्यायन और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शोधनिबंध नही प्रकाशित हुए थे और रामकुमार वर्मा का उद्देश्य इस ग्रंथ में शोध करना नहीं, बल्कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर कबीर साहित्य के वस्तुपक्ष तथा उसकी अतःप्रवृत्तियो का विवेचन करना था। यद्यपि लेखक की शैली अनेक स्थलो पर भावुकतापूर्ण और काव्यात्मक हो गई है, जिससे विषय के अध्येता की अध्ययन प्रक्रिया मे बाधा पहुँचती है, फिर भी इस दिशा मे प्रारंभिक ग्रंथ होने के कारण उसका महत्व असंदिग्ध है। कबीर का जीवनवृत्त ग्रंथ के परिशिष्ट में देकर लेखक ने ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ा दी है यद्यपि जीवनवृत्त देना आलोचक का काम नही, इतिहासकार का काम है। अपने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में उन्होने कबीर की जीवनी और रचित ग्रंथो पर और भी साधिकार और गवेषणात्मक ढग से विचार किया है। साथ ही तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो का विवेचन करते हुए कबीर के काव्य का महत्व भी प्रतिपादित किया है। यहाँ उन्होने लिखा है—'कबीर का काव्य बहुत ही स्पष्ट और प्रभावशाली है।...उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं।... "कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना में हैं। यह विवेचना कबीर मे पर्याप्त है। अतः वे एक महान् कवि हैं।'[१] इस तरह रामकुमार वर्मा ने, स्वयं एक रहस्यवादी कवि होने के कारण, कबीरसाहित्य के मर्म को पकड़ने का प्रयत्न किया है। यद्यपि श्यामसुंदर दास की तरह कबीर के संबंध में उनकी दृष्टि निष्पक्ष नही है, क्योकि कबीर की त्रुटियो का उन्होने कहीं उल्लेख नही किया है, फिर भी उनकी आलोचना में एकागिता या रूढ़िवादिता नही है।

१. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ—३८१।

जैसा पहले कहा जा चुका है बड़थ्वाल और हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रंथो और निबंधो में मूल दर्शनो और संप्रदायो तथा उनकी पूर्वपरंपराओ की विवेचना की प्रधानता है, इससे वे विशुद्ध आलोचना की कोटि मे नही आ सकते। हाँ, कबीर साहित्य या संत साहित्य की आलोचना की सामग्री प्रस्तुत करने की दृष्टि से अवश्य उनका अत्यधिक महत्व है। फिर भी इन विद्वानो ने जो निष्कर्ष निकाले हैं या कबीर के व्यक्तित्व और जीवनदर्शन की जो व्याख्या की है, वह कबीर साहित्य को समझने के लिये अत्यंत आवश्यक है। डा० बड़थ्वाल ने 'हिंदी काव्य की निर्गुण धारा' में कबीर के संबंध में अलग से विचार नही किया है पर आध्यात्मिक प्रेम, गुरुमहत्व, शब्दयोग, परचा, निर्गुनबानी, आदि के विवेचन मे कबीर साहित्य से बहुत अधिक उदाहरण दिए हैं और स्थान स्थान पर कबीर के मतो की व्याख्या की है। इससे कबीर के काव्य के भावपक्ष और विचारवस्तु पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और उनके रहस्यवाद की बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। 'योगप्रवाह' शीर्षक निबंध-संग्रह मे कबीर के संबध में तीन निबंध हैं पर तीनो ही में कबीर की जाति, कुल, जन्मस्थान, जन्मकाल आदि के बारे में शोधपूर्ण विवेचना की गई है। अतः साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से उनका कुछ भी मूल्य नही है। उनके 'हिंदी काव्य मे निर्गुण धारा' ग्रंथ के पाँचवें अध्याय मे कबीर तथा अन्य निर्गुण मतवादी कवियो की अभिव्यंजना शैली पर जो कुछ लिखा गया है, उसे साहित्य-समीक्षा के अंतर्गत अवश्य लिया जा सकता है। इस अध्याय मे लेखक ने काव्य का लक्ष्य अलौकिक आनंद की प्राप्ति, उसकी आत्मा रस और माध्यम ध्वनि या व्यंजना को माना है और इसी आधार पर कबीर के काव्य को ध्वनिकाव्य माना है जिसमे संकेतो और प्रतीको के माध्यम से सूक्ष्म और अनिवर्चनीय आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति की गई है। पाश्चात्य प्रतीकवादी सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उन्होने कबीर को ऐसा द्रष्टा कवि माना है जो प्रातिभ ज्ञान (स्वयंप्रभ ज्ञान, द्वारा काव्यरचना करता है अर्जित ज्ञान और पांडित्य का प्रदर्शन नहीं करता। इस प्रकार बड़थ्वालजी ने कबीर के काव्य सौष्ठव के रहस्य को प्रथम बार उद्घाटित किया। आगे के आलोचको को इस दिशानिर्देश के आधार पर कबीर के काव्य के कलापक्ष का पूर्ण विवेचन करना चाहिए था, पर ऐसा हुआ नही और उसकी आवश्यकता आज भी बनी हुई है।

कबीर साहित्य पर आलोच्यकाल का अंतिम महत्वपूर्ण कार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी का है। उन्होने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' के पाँचवे अध्याय 'योगमार्ग और संतमत' मे कबीर के साधनामार्ग की पूर्वपरंपरा और योगदर्शन

के सिद्धांतो को तबतक की उपलब्ध सामग्री और अन्य विद्वानो द्वारा किए गए शोध कार्यों के आधार पर अच्छी तरह समझाया है। यही पद्धति अपनाकर उन्होने अपने दूसरे ग्रंथ 'कबीर' में युगी और जुलाहा जाति की उत्पत्ति, कबीर के ग्रंथ, योगमत, नाथ संप्रदाय, सहजयान और वज्रयान का कबीर पर प्रभाव, हठयोग, निरंजन ब्रह्म, माया, आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया है। केवल उपसंहार में कबीर के व्यक्तित्व और महत्व पर चलते ढग से प्रकाश डाला गया है। इस तरह यह साहित्यालोचन का ग्रंथ न होकर समाजशास्त्रीय अध्ययन विवेचन का ग्रंथ प्रतीत होता है। यद्यपि उन्होने कुछ पंक्तियो में कबीर के कवि के रूप का महत्व भी भावुकतापूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया है पर भूमिका में उन्होने स्वयम् कहा है कि 'पुस्तक में भिन्न भिन्न साधन मार्गों के ऐतिहासिक विकास की ओर ही अधिकाश ध्यान दिया गया है।' इस दृष्टि से हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' और 'हिंदी साहित्य की भूमिका' को व्यावहारिक आलोचना का ग्रंथ न मानकर शोधग्रंथ मानना ही अधिक समीचीन है।

२—मलिक मुहम्मद जायसी

जायसी के संबंध में इस काल में अधिक आलोचनाएँ नहीं लिखी गईं। इस विषय की पहली महत्वपूर्ण आलोचना, जो आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जायसी ग्रथावली (सन १९२४) की २०२ पृष्ठो की भूमिका है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में भी जायसी की काव्यप्रवृत्तियो पर कुछ प्रकाश डाला है। श्यामसुंदर दास और रामकुमार वर्मा ने भी अपने इतिहास-ग्रंथो में जायसी विषयक सामान्य आलोचना लिखी है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी पटना विश्वविद्यालयवाले भाषणो में से एक में जायसी के काव्यत्व का सामान्य परिचयात्मक आकलन किया है। सन् १९३३ मे डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने 'पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद' शीर्षक एक निबंध लिखा था जो छोटा होते हुए भी बहुत महत्वपूर्ण है। इस काल में जायसी के संबंध में चंद्रबली पाडेय, गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि के जो निबंध प्रकाशित हुए वे कवि के जीवनवृत्त और पद्मावत की ऐतिहासिकता से संबंधित होने के कारण यहाँ विचारणीय नहीं हैं। इन सबमें रामचंद्र शुक्ल की भूमिका ही उच्चकोटि की साहित्यिक समीक्षा कही जा सकती है।

शुक्लजी ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका द्वारा सर्वप्रथम जायसी की महत्ता से हिंदी ससार को परिचित कराया। इसके पूर्व व्रजभाषा के काव्याभ्यासी आलोचक जायसी को उच्चकोटि का कवि नहीं मानते थे। मिश्रबंधुओ ने इनको 'तोष' की श्रेणी (चतुर्थ वा पंचम श्रेणी) का कवि मानकर उन्हें 'हिंदी नवरत्न'

में स्थान देना उचित नहीं समझा था। हाँ, ग्रियर्सन ने अपने 'द माडर्न वर्नाकुलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान' मे जायसी का महत्व अवश्य प्रतिपादित किया था। अतः बहुत संभव है कि ग्रियर्सन से प्रभावित होकर शुक्लजी का ध्यान जायसी की ओर गया हो। पर उन्होंने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में जिस तरह जमकर और साधिकार विवेचना की है वह उनकी मौलिक तथा गंभीर आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है। उसमें प्रारंभ में जायसी के काल की सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति, प्रेमगाथा काव्य की परंपरा, जायसी के जीवनवृत्त, पद्मावत की कथा और उसके ऐतिहासिक आधार का वर्णन करके तब जायसी के काव्य और उसकी प्रवृत्तियो की आलोचना मे प्रवृत्त हुए हैं। मनोवृत्तियो और काव्य के प्रमुख अवयवो का सूक्ष्म विश्लेषण करके उसके आधार पर जायसी के काव्य का मूल्यांकन इस आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है जो शुक्लजी के अतिरिक्त उस काल के अन्य किसी आलोचक में नहीं दिखाई पडती। यद्यपि यह आलोचना मुख्यतः शास्त्रीय शैली में लिखी गई है। अर्थात् इसका बहुत बड़ा भाग पद्मावत में रस, अलंकार, वस्तुवर्णन, भाव व्यंजना, प्रबंधत्व आदि का भारतीय साहित्यशास्त्र के मान्य सिद्धातो के आधार पर परीक्षण किया किया है, पर साथ ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी काव्य की सूक्ष्म विशेषताओ का उद्घाटन करने की प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई पड़ती है। अपनी अन्य व्यावहारिक समीक्षाओ की तरह इसमे भी उन्होने कोई नया प्रसंग प्रारंभ करने के पूर्व मनोवैज्ञानिक या शास्त्रीय सिद्धात की स्थापना कर ली हैं और तब उसके अनुसार पद्मावत के विभिन्न काव्यस्थलो की व्याख्या की है। इस तरह इसमें व्याख्यात्मक पद्धति की अधिकता दिखाई पडती है। पद्मावत का काव्यसौदर्य पाठको को अच्छी तरह हृदयंगम कराने की दृष्टि से ही उन्होने ऐसा किया है यद्यपि इस व्याख्यात्मक पद्धति के कारण आलोचना में स्फीति अधिक आ गई है। व्याख्यात्मक अंशो को निकाल देने पर भी इस आलोचना की अन्विति बनी रह सकती है जैसा उनकी तीनो भूमिकाओ के संकलन 'त्रिवेणी' मे किया गया है। विवेचनात्मक पद्धति वहाँ दिखाई पडती है जहाँ सूफी मत के सिद्धांतो और जायसी की भाषा पर शुक्लजी ने विचार किया गया है और पद्मावत के उद्धरण देकर अपने कथन की पुष्टि की है। जायसी के रहस्यवाद का सैद्धातिक विवेचन भी इसी शैली मे किया गया है।

इस आलोचना मे शुक्लजी की मुख्य स्थापना यह है कि जायसी ने कबीर की तरह केवल शुष्क ज्ञाननिरूपण नहीं किया बल्कि जीवन और जगत् के बीच हृदय का प्रसार भी किया है और साथ ही व्यक्तिगत साधना के साथ लोकपक्ष की ओर भी थोड़ा बहुत ध्यान दिया है। इसी कारण उनके अनुसार 'हिंदी के कवियो मे यदि कहीं रमणीय और सुंदर रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत

ही उच्चकोटि की है'।[1] वस्तुतः वे रामभक्त कवियों के सबसे अधिक निकट जायसी को ही पाते हैं क्योंकि विशिष्टाद्वैत की तरह सूफीमत में भी जगत् को पारमार्थिक सत्ता से अधिक भिन्न नहीं माना जाता और निर्गुण ब्रह्म के प्रतीक के रूप में ही सही, सूफी भी सगुण सत्ता को स्वीकार करते हैं। इन दो कारणों से शुक्लजी सूफीमत के उतने विरोधी नहीं हैं जितने योगमार्ग, नाथ सम्प्रदाय, तंत्रमार्ग और कबीर आदि के निर्गुण साधना मार्ग के। सूफी कवियों ने अपनी प्रेम भावना के पूर्ण प्रसार के लिये प्रबंध काव्य को ही माध्यम बनाया था, पद या मुक्तक काव्य को नहीं; यह भी शुक्लजी की मनचाही बात थी क्योंकि वे मानते थे कि जीवन की नाना भूमियों और दशाओं के बीच लोकमंगल की साधनावस्था के चित्रण का जितना अवसर प्रबंध काव्यों में मिलता है उतना मुक्तक काव्य में नहीं। इस सब कारणों से वे जायसी के काव्य को बहुत उच्च स्थान देते हैं, 'यद्यपि वे यह भी कहते हैं कि 'जायसी का ध्यान स्वभावचित्रण की ओर नहीं था''''''मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण हमें जायसी के प्रबंध के भीतर नहीं मिलता।'' आदर्शवादी शुक्लजी को जायसी के प्रबंध के भीतर यह बड़ी भारी कमी दिखाई पड़ती है कि उसमे रामचरितमानस की तरह उच्च और आदर्श चरित्रों की अवतारणा नहीं की गई है। फिर भी गंभीर भाव व्यंजना, प्रबंध के विभिन्न प्रसंगों के क्रमनिर्वाह लोकहृदय की पहिचान और वैविध्यपूर्ण वस्तु-वर्णन की परीक्षा करके उन्होंने जायसी को हिंदी कवियों में बहुत ही उच्च पद का अधिकारी सिद्ध किया है।

व्यावहारिक समीक्षा में आलोच्य कृति के रूपशिल्प का सम्यक् विश्लेषण विशेष महत्व का होता है। शुक्लजी ने अपनी तीनों भूमिकाओं में काव्य के कला पक्ष की विवेचना बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से और अद्भुत सूझबूझ के साथ की है। पद्मावत में समासोक्ति पद्धति के प्रयोग की खोज उनकी इसी सूक्ष्म बुद्धि और गहरी पकड़ का परिणाम है। उन्होंने पद्मावत को अन्योक्ति पद्धति का काव्य न मानकर समासोक्ति पद्धति का काव्य माना है और उसकी कथा के प्रस्तुतार्थ और प्रतीकार्थ दोनों को समान महत्व का माना है। उनके अनुसार 'प्रबंध के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबंधों से परे होकर आध्यात्मिक क्षेत्र में जाता दिखाई पड़े. जायसी का मुख्य लक्ष्य है। क्या संयोग क्या वियोग दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता

१ जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृष्ठ—१५७।

२ वही-पृष्ठ १२६।

है, जगत् के समस्त व्यापार जिसकी छाया से प्रतीत होते हैं।"[१] शुक्लजी ने पद्मावत के प्रबंधत्व की दूसरी विशेषता बताई है उसमे जीवन के मर्मस्पर्शी स्थलों की योजना जो 'मानस' में और भी अधिक हुई है। प्रबंध काव्यो में रसवत्ता ऐसे ही प्रसगो के कारण आती है। इसी तरह 'संबंधनिर्वाह' के विवेचन में उन्होने पद्मावत की कथावस्तु की भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र मे मान्य कार्यावस्थाओ, पंचसंधियो और अन्वितित्रय के सिद्धातो के आधार पर परीक्षा की है और उसे प्रबंध काव्य के लिये उपयुक्त माना है। उसी तरह जायसी के अलंकार विधान को भी उन्होने स्वाभाविक और रसोत्कर्षकारक माना है क्योकि 'जायसी ने सादृश्य-मूलक अलंकारो का ही आश्रय अधिक लिया है। कोरे चमत्कार प्रदर्शन के लिये प्रयुक्त अलंकारो के शुक्लजी विरोधी थे। अतः पद्मावत में उनकी कमी देखकर उन्होने उसकी बहुत प्रशंसा की है। इस तरह पद्मावत के कला पक्ष का जैसा सूक्ष्म और सम्यक् विवेचन शुक्लजी ने किया है, वैसा अबतक नही किया जा सका है।

अन्य आलोचको ने जायसी के काव्य की विस्तृत विवेचना नहीं की है। श्यामसुंदर दास ने अपने इतिहास मे जायसी के संबंध में कुछ प्रशंसात्मक वाक्य लिखकर ही चलता कर दिया है। अयोध्यासिंह उपध्याय ने अपने भाषण में जायसी की धार्मिक उदारता, विस्तृत ज्ञान और भारतीयता की भावना की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है, पर साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से इस भाषण का अधिक महत्व नही है। रामकुमार वर्मा ने अपने विवेचनात्मक इतिहास में जायसी के जीवन वृत्त, रचनाओ और पद्मावत के कथाप्रसंगो का उल्लेख करने के बाद उनके कवि रूप की जो आलोचना की है वह संक्षिप्त होते हुए भी महत्वपूर्ण है। उनकी स्थापना यह है कि जायसी कबीर से प्रभावित थे पर उन्होने कबीर का झाड़ फटकारवाला मार्ग न अपनाकर प्रेम और सद्भावना का मार्ग अपनाया था। इसी तरह अन्य कई बातो के आधार पर उन्होने जायसी और कबीर की तुलना की है। सूफी मत, मसनवी काव्यपद्धति का प्रभाव, विस्तृत ज्ञान के आधार पर वस्तुवर्णन आदि का विवेचन उन्होने शुक्लजी के आधार पर ही किया है जिससे उसमें कोई नवीनता नहीं है। पद्मावत की कथा के प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में उन्हें वैषम्य दिखाई पडा है क्योकि वे उस कथा को समासोक्तिमूलक न मान कर रूपकात्मक काव्य (एलेगोरी) मानते हैं। डा० बड़थ्वाल ने तो अपना निबंध ही इसी समस्या को लेकर लिखा है। उन्होने पद्मावत की कथा को अन्योक्तिमूलक मानकर यह निर्णय दिया है कि 'जायसी एक

[१] जायसी ग्रंथावली की भूमिका—पृष्ठ ५३।

सफल अन्योक्तिकार नहीं हैं, क्योंकि पद्मावत में अन्योक्ति का सूत्र कहानी को एक से दूसरे सिरे तक बेधता नहीं गया है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनो पक्ष कहानी में सर्वत्र एकरस नहीं दिखाई देते'।[१] यह समस्या पद्मावत के उपसंहार के उस अंश के कारण उत्पन्न हुई है जिसमे इस रूपक का रहस्य खोला गया है। पर बाद की खोजो से सिद्ध हुआ है कि उक्त चौपाइयाँ प्रक्षिप्त हैं। अतः शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित समासोक्ति पद्धति को मान लेने पर इस समस्या का समाधान अपने आप हो जाता है। बड़थ्वालजी ने जाने क्यो शुक्लजी के उक्त मत की जानबूझ कर उपेक्षा की और यह निर्णय दिया कि रत्नसेन का नागमती को त्यागकर पद्मावती के लिये योगी बनकर निकल पड़ना लोकसंग्रही भावना के विरुद्ध है। इसी से पद्मावत की 'कहानी आध्यात्मिकता की हँसी उड़ा रही है और आध्यात्मिक कहानी को विरूप बना रही है।[२]' पाश्चात्य देशो की रूपक कथाएँ (एलेगोरी) समासोक्तिमूलक ही होती हैं अतः इस सिद्धांत को मान लेने पर बड़थ्वालजी की आपत्ति निर्मूल हो जाती है। फिर भी इस निबंध मे लेखक ने बहुत ही तर्कपूर्ण ढंग से विवेचना की है। शिल्प विधान संबंधी यह एक महत्वपूर्ण आलोचना है।

२—सूरदास

सूरदास के संबंध में विवेच्य काल की सबसे महत्वपूर्ण आलोचना आचार्य रामचंद्र शुक्ल की है जो उन्होने भ्रमरगीतसार (सन् १९२५) की भूमिका के रूप में लिखी थी। लाला भगवानदीन ने भी सूर पंचरत्न (सन् १९२७) की भूमिका के रूप में सूर साहित्य की विस्तृत आलोचना प्रस्तुत की थी। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने पटना विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य के संबंध में जो व्याख्यान दिए थे उनमें एक सूरदास के संबंध में भी था जो बाद में उनके ग्रंथ 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' (सन् १९४०) में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद सन् १९३६ में हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'सूर साहित्य' लिखा गया। रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास और रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास ग्रंथो मे भी सूरदास के जीवन वृत्त के साथ उनके साहित्य का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय दिया है। साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से इन सब में शुक्लजी के भ्रमरगीत-सार की 'भूमिका' सर्वश्रेष्ठ आलोचनात्मक कृति है।

१ पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद—द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ (सन् १९३३) —पृष्ठ ३९५।

२ वही, पृष्ठ—४०१।

भ्रमरगीतसार की भूमिका लिखने के पूर्व शुक्लजी तुलसी ग्रंथावली और जायसी ग्रंथावली की भूमिकाएँ लिख चुके थे। ये तीनो भूमिकाएँ सन् १६२३ से सन् १६२५ के बीच लिखी गई थी। अतः उन सबमें शुक्लजी का आलोचनात्मक प्रतिमान एक ही है जो उस समय तक पूरी तरह निश्चित और दृढ हो चुका था। भ्रमरगीतसार की भूमिका (सन् १६२५) अंतिम होने के कारण उसमें विचारो की प्रौढता तथा शैलीगत गंभीरता अधिक है, साथ ही पूर्व भूमिकाओ जैसी स्फीति और भावुकता का प्रवाह भी उसमे कम है। इसी कारण यह भूमिका बडी नहीं हुई है पर सैद्धांतिक विवेचन की अधिकता के कारण इसका महत्व अधिक बढ़ गया है। किसी भी पक्ष की आलोचना करते समय पहले वे कुछ सिद्धातो की स्थापना करके तब उनके आधार पर व्यावहारिक आलोचना मे प्रवृत्त होते हैं। यह पद्धति उन्होने सर्वत्र अपनाई है, अतः सूर साहित्य की विवेचना में भी उसका होना स्वाभाविक ही है। व्यावहारिक आलोचना में उन्होने प्रायः विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक शैली अपनाई है पर कही कहीं तुलनात्मक, निर्णयात्मक और भावात्मक पद्धति का भी सहारा लिया है। सिद्धात निरूपण और अंतर्वृत्ति-विश्लेषण में विवेचनात्मक पद्धति और सिद्धातो का प्रयोग करते समय व्याख्यात्मक और भावात्मक शैली अपनाई गई है। शुक्लजी के आदर्श कवि तुलसी और आदर्श काव्य रामचरित मानस हैं। अतः जायसी हो या सूर या अन्य कोई कवि उसके महत्व और काव्यसौंदर्य का मूल्याकन करते समय वे तुलसी से उसकी तुलना अवश्य करते हैं। सूर की आलोचना मे भी उन्होने यही किया है।

शुक्लजी सूर के प्रशंसक हैं पर उनका स्थान तुलसी से नीचे मानते हैं क्योकि उनके अनुसार तुलसी के काव्य में शैलियो की विविधता, जीवनदशाओ की व्यापकता, आदर्श चरित्रो की ऊँचाई, लोकमंगलकी भावना और सास्कृतिक एकता तथा दार्शनिक समन्वय की प्रवृत्ति जितनी अधिक है उतनी सूर के काव्य में नहीं मिलती। फिर भी वे सूर के महत्व को अस्वीकार नहीं करते। यह कहते हुए भी कि 'तुलसी की प्रतिमा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी' वे यह स्वीकार करते हैं कि 'एकमुखी होकर भी उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक की दौड़ लगाई है उतनी दूर तक तुलसी ने भी नही, और किसी कवि की तो बात ही क्या है। जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उसपर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके वे सम्राट् हैं।'[1] फिर भी सूर की महत्ता या प्रतिभा की विशिष्टता का विश्लेषण उन्होने उतना नहीं किया है जितना उनके काव्य की सीमाओं या अभावो का विवेचन

[1] भ्रमरगीतसार की भूमिका, दशम संस्करण—पृष्ठ २६।

किया है। काव्यालोचन संबंधी उनकी एक प्रमुख मान्यता यह है कि कवि को चरित्रगत शक्ति, शील, और सौंदर्य तीनो का समान रूप से चित्रण करना चाहिए। इस प्रतिमान का प्रयोग सूर पर करते हुए वे कहते हैं कि 'शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान् की इन तीन विभूतियो मे से सूर ने केवल सौंदर्य तक ही अपने को सीमित रखा है जो प्रेम को आकर्षित करता है।'[१] इसी कारण सूर ने जीवन की केवल दो वृत्तियो—बालवृत्ति और यौवनवृत्ति को लिया है। इन दोनो के भीतर भी केवल 'बालक्रीड़ा' प्रेम के रंग रहस्य और उसकी अतृप्त वासना' तक ही उनकी दृष्टि सीमित रह गई है जिससे उनके काव्य मे घटना व्यापारो का वैविध्य नही मिलता।

वस्तुत: शुक्लजी की दृष्टि जीवन के स्थूल घटना व्यापारो अथवा उन्ही के शब्दों में शक्ति और शीलयुक्त कर्म सौंदर्य की ओर जितनी थी उतनी अंतर्वृत्तियो के सूक्ष्म सौंदर्य की ओर नहीं। इसी दृष्टि से वे सभी प्रकार के काव्यो को देखते हैं, चाहे वे काव्य किसी भिन्न उद्देश्य, परिस्थिति, मनोदशा, युगधर्म या सौंदर्यबोध की प्रेरणा या रचनात्मक 'बाध्यता' से ही क्यो न लिखे गए हो। अतः तुलसी से भिन्न आदर्शवाले कवियो में शुक्लजी को दोष और अभाव ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। पर उन्होने सूर में जो नही है उसी को नहीं देखा बल्कि जो है उसे भी बड़ी सूक्ष्म और विवेकपूर्ण दृष्टि से देखा है। इसी से सूर की भावव्यंजना, बिंब-विधान और वाग्वैदग्ध्य का विवेचन उन्होंने बड़े विस्तार से उद्धरण देकर और पदों की व्याख्या करते हुए किया है। फलतः इस आलोचना मे व्यास शैली की व्याख्यात्मकता अधिक हो गई है। संभवतः विद्यार्थियो के लिये इस भूमिका की उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही शुक्लजी ने ऐसा किया है। भाव पक्ष की आलोचना के साथ साथ उन्होने सूरसाहित्य के कला पक्ष—भाषा, संगीत तत्व, अलंकार विधान, उक्ति चमत्कार आदि—की भी सहृदयता और गहराई के साथ विवेचना की है पर यह विवेचना कोरी प्रशंसा नही है, त्रुटियो की ओर भी वे संकेत करते गए हैं। यद्यपि यह समस्त विवेचना मूलतः शास्त्रीय आधार पर की गई है और रसो, अलंकारो, भाव पक्ष और विभाव पक्ष, संचारी, भावो, अनुभावो, चेष्टाओ आदि की छानबीन मे ही अधिक शक्ति लगाई गई है पर शुक्लजी ने अपनी ऐतिहासिक समीक्षापद्धति का यहाँ भी परित्याग नही किया है। उन्होने प्रारंभ मे सूरदास के समय की धार्मिक और सास्कृतिक स्थिति तथा अन्त मे वल्लभ संप्रदाय की उपासनापद्धति और शुद्धाद्वैत के दार्शनिक सिद्धांतो का भी

१ भ्रमरगीतसार की भूमिका—पृष्ठ ५।

संक्षेप में परिचय दे दिया है। सूर काव्य के मूल स्रोतों की ओर उन्होंने दो एक स्थलों पर संकेत किया है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'सूरसागर किसी पहले से चली आती हुई परंपरा का चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास सा जान पड़ता है।'[१] फिर अन्यत्र वृंदावन के सामाजिक जीवन को स्वच्छंद और लोक बंधनो से मुक्त बताया है और एक जगह पदकाव्य तथा लीलागान की पूर्वपरंपरा जयदेव और विद्यापति में देखी है। इस तरह उन्होंने शोधकर्ताओं के लिये शोध का दिशानिर्देश कर दिया। इसी सूत्र को पकड़कर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य की भूमिका' में सूर काव्य की पूर्व परंपरा की खोज की है।

श्यामसुंदरदास ने अपने इतिहास में सूरदास के जीवनवृत्त के साथ सूरसागर का परिचायात्मक विवरण ही अधिक दिया हैं, उसपर आलोचनात्मक दृष्टि कम डाली है। सूर की काव्यगत विशेषताओं का जो थोड़ा सा विवेचन उन्होंने किया है वह रामचंद्र शुक्ल की विवेचना से प्रभावित जान पड़ता है। वे भी सूर को तुलसी से नीचे ही स्थान देते हैं। लाला भगवानदीन ने 'सूर पंचरत्न' में १६४ पृष्ठों की आलोचनात्कक भूमिका लिखी जिसमें उन्होंने भक्ति आंदोलन की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि, भक्ति के स्वरूप और प्रभाव, तथा ब्रजभाषा का इतिहास और व्याकरण भी अत्यंत भावुकतापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है और उसके बाद बड़े विस्तार से सूर की शैली, भाषा, प्रतिभा, शास्त्रनिपुणता, काव्यनिपुणता, अंतर्वृति निरूपण, आदि की व्यास शैली में व्याख्या की है। अंत में उन्होंने रस, शब्दशक्ति, अलंकर, वर्णविन्यास आदि की दृष्टि से सूरसागर की शास्त्रीय शैली मे आलोचना की है। इस तरह उनकी आलोचना में ऐतिहासिक और शास्त्रीय पद्धतियों का संमिश्रण हुआ है और उसकी शैली अधिकाशतः भावात्मक है। भूमिका के उत्तरार्ध में उन्होने विद्यार्थियो के लाभ की दृष्टि से पंचरत्न में संगृहीत पदो के भाव पक्ष और विविध प्रसंगो की भावात्मक शैली में व्याख्या की है। इसमें उन्होने सूरकाव्य के भाव, विचार और दर्शन तथा कलासौष्ठव का भी परिचयात्मक विवरण दिया है। इस तरह कुल मिलाकर यह परंपराविहित शास्त्रीय दृष्टि से लिखी गई आलोचना है जिसमे विचारगाभीर्य, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा व्यापक आलोचनात्मक प्रतिमान का अभाव दिखाई पड़ता है। शुक्लजी की उपर्युक्त समीक्षा के संमुख लालाजी की यह समीक्षा हलकी और स्थूल प्रतीत होती है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का सूर साहित्य प्रमुखतः कृष्ण भक्ति काव्य के मूल स्रोतो से संबंद्ध शोधप्रधान ग्रंथ है, व्यावहारिक आलोचना का नहीं। पर इसमें

[१] भ्रमरगीतसार की भूमिका, पृष्ठ—७।

लेखक ने कोई मौलिक शोध नहीं किया है। उन्होने प्रारंभ मे ही स्वीकार कर लिया है कि 'पिष्टपेषण कहलाने योग्य तो कुछ नही हुआ पर नई बात भी नही कह सका। पंडितो ने कुछ छोड़ा भी तो नही है। यत्र तत्र विकीर्ण सामग्री को नए रूप मे उपस्थित कर रहा हूँ।' जैसा आचार्य क्षितिमोहन सेन ने ग्रंथ की भूमिका मे कहा है—द्विवेदीजी ने राधाकृष्ण मतवाद, भक्ति तत्व, प्रेम तत्व, मध्ययुगीन धर्मसाधना आदि के बारे मे तबतक की अधिकाश उपलब्ध सामग्री का सकलन करने का प्रयास किया है।[1] फलतः इस पुस्तक का आधा से अधिक भाग अप्रासंगिक है, सूर साहित्य से उसका कोई सीधा संबंध नहीं है। स्त्रीपूजा और उसका वैष्णव रूप तथा जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की राधा शीर्षक अध्यायो मे सूरदास का कही नाम तक नही आया है न उनमे कही बातो का सूरदास से कोई संबंध ही स्थापित किया गया है। अधिकांश अध्यायो में या तो धार्मिक और दार्शनिक पूर्वपरंपरा पर विचार किया गया है या तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और साधनात्मक परिवेश और उसकी प्रतिक्रियाओ का विश्लेषण किया गया है। ग्रंथ के शेष भाग में सूर साहित्य के अध्ययन के आधार पर तत्कालीन भारतीय समाज का चित्र प्रस्तुत करने और ईसाई कवियो और नंददास के साथ सूरदास की तुलना करने के साथ ही सूर साहित्य की भाव-भूमि की भावात्मक शैली में व्याख्या की गई है। ग्रंथ के अतिम अध्यायो मे रामचंद्र शुक्ल की व्याख्यात्मक शैली और सूर साहित्य की विशेषता संबधी विचारो का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। निष्कर्ष यह कि द्विवेदीजी के सूर साहित्य ग्रंथ में मूल स्रोतो और पूर्वपरंपरा संबंधी अंशो मे तो मौलिकता और नवीनता नही ही है, उसके आलोचनात्मक अंशो मे भी विचारो की गहराई और नवीनता नही दिखलाई पड़ती, जिससे वह सतही, परिचयात्मक और प्रारंभिक प्रयास मालूम पडता है। व्याख्यात्मक अशो की शैली पर बंगीय आलोचना की भावुकतापूर्ण काव्यात्मक शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

हरिऔधजी ने अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास'[2] में मुख्यतः सूरदास की भाषागत विशेषताओ का ही वर्णन किया है। सूर के भाषा शिल्प की विवेचना को दृष्टि से यह निबंध निस्संदेह महत्वपूर्ण है पर सूर के काव्यसौंदर्य और काव्यवस्तु की ओर इसमे विशेष ध्यान नही दिया गया है।

१ 'श्रीहजारीप्रसाद जी भक्ति तत्व, प्रेम तत्व, राधाकृष्ण मतवाद आदि के संबंध में जो जो कुछ भी उल्लेख योग्य जहाँ कहीं से पा सके हैं, उसे इस ग्रंथ में उन्होने संग्रह किया है और उसपर भलीभाँति विचार किया है।' सूर साहित्य, भूमिका—पृष्ठ १।

२ हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ २३६ से २५८।

रामकुमार वर्मा के 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में सूरदास के बारे मे लिखा तो बहुत गया पर उसका अधिकाश सूर के जीवनवृत्त, रचित ग्रंथ, रचनाकाल साप्रदायिक आचार आदि से ही संबंधित है। सूर के काव्यत्व का विवेचन उन्होने शास्त्रीय दृष्टि से किया है और विरह की एकादश दशाओ, रसो और संचारी भावो के आधार पर सूर के पदों की व्याख्या की है। अतः इस आलोचना मे भी कोई नवीनता नही है।

४—तुलसीदास

आलोच्य काल में तुलसी साहित्य की आलोचना सबसे अधिक लिखी गई। मिश्रबंधुओ, लाला सीताराम, ग्रियर्सन, ग्राउज, ग्रीब्स, टेसीटरी, इंद्रदेव नारायण सिंह, शिवनंदन सहाय आदि ने द्विवेदी युग मे ही तुलसी के सबंध में बहुत कुछ लिखा था पर उन्होने तुलसी के जीवन वृत्तात, रचित ग्रंथ, धर्म, मत और दर्शन पर ही अधिक विचार किया था। अतः तुलसी की साहित्यिक आलोचना का कार्य वस्तुत: सन् १९२० के बाद तुलसी ग्रंथावली के तीसरे खंड (सन् १९२३) के प्रकाशन के साथ प्रारंभ हुआ। इस ग्रंथ में तुलसी के जीवन और साहित्य के विविध पक्षो से संबधित अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, ग्रीब्स, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, रामचंद्र दुबे, बलदेव उपाध्याय, राजबहादुर लमगोडा, सुखराम चौबे, ब्योहार राजेंद्र सिंह और कृष्ण विहारी मिश्र के निबंध हैं, जिनमें केवल हरिऔध के निबध में आलोचनात्मक तत्त्व हैं, अन्य निबंध तुलसी के जीवन, धर्म, रचनाकाल क्रम, दर्शन, धर्म आदि से संबधित हैं। ग्रंथावली के इस खंड मे प्रारंभ में रामचद्र शुक्ल की ४१ पृष्ठो की प्रस्तावना भी जुड़ी है जिसमें ६७ पृष्ठो मे तुलसी के जीवन वृत्त से संबधित बातो पर शोधपूर्ण ढंग से विचार किया गया है और शेष प्रस्तावना शुद्ध साहित्यिक आलोचना है। यही प्रस्तावना 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम से एक अलग ग्रथ के रूप में भी प्रकाशित हुई। श्यामसुंदर दास ने भी इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित 'मानस' के नवीन संशोधित संस्करण की प्रस्तावना के रूप मे गोस्वामीजी के जीवनचरित और ग्रंथो का विवरण विस्तार से लिखा था जो सन् १९३१ मे पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। सन् १९३१ मे हिंदुस्तानी एकेडमी प्रयाग से पीताम्बरदत्त बडथ्वाल और श्यामसुंदर दास द्वारा लिखित गोस्वामी तुलसीदास नामक एक ग्रथ प्रकाशित हुआ था जिसके कुल २१० पृष्ठो मे से १५० पृष्ठों में जीवनवृत्त लिखा गया है। इसका आलोचनात्मक अंश कम होते हुए भी महत्वपूर्ण है। इसी काल के आसपास शुक्लजी, श्यामसुंदरदास और सूर्यकांत शास्त्री के इतिहास ग्रथ और हरिऔधजी के हिंदी साहित्य के इतिहास विषयक भाषण भी लिखे गए जिनमे तुलसी के जीवन और साहित्य के संबंध मे भिन्न भिन्न रूपो में विचार किया गया है। लाला

भगवान 'दीन' ने विनयपत्रिका, कवितावली और दोहावली की टीकाओ के साथ आलोचनात्मक भूमिकाएँ और तुलसी पंचरत्न की प्रस्तावना भी इसी काल में लिखी थी। उनकी कवितावली की टीका का जो नवीन संस्करण सन् १९३१ में प्रकाशित हुआ उसमे विश्वनाथप्रसाद मिश्र लिखित एक लंबी आलोचनात्मक प्रस्तावना भी जोड़ दी गई थी। सन् १९३५ मे माताप्रसाद गुप्त का तुलसी संदर्भ नामक शोध निबंधो का संकलन प्रकाशित हुआ जो साहित्यालोचन का नहीं, शोध का ग्रंथ है। उसी वर्ष सद्गुरुशरण अवस्थी ने तुलसी की चार छोटी रचनाओ का संग्रह 'तुलसी के चार दल' प्रकाशित किया। इसके पहले भाग में तुलसी का जीवनवृत्त, धर्म, दर्शन और काव्य की विशेषताओ का आलोचनात्मक वर्णन है। सन् १९३७ मे रामनरेश त्रिपाठी का 'तुलसीदास और उनकी कविता' नामक ग्रंथ दो भागो में प्रकाशित हुआ, इसके पहले भाग में कवि की जीवनी, तत्संबंधी उपलब्ध सामग्री, तुलसी के रचित ग्रंथो उनकी प्राचीन प्रतियो, टीकाओ आदि के संबंध मे विस्तार से विचार किया गया है, और दूसरे भाग मे तुलसी की भाषा, धर्म, मत, जानकारी तथा काव्यत्व की समीक्षा की गयी है। सन् १९३८ में बलदेवप्रसाद मिश्र का 'तुलसी दर्शन' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ जो तुलसी के जीवन, धार्मिक सिद्धातो और दर्शन से संबंधित शोध ग्रंथ है, आलोचना ग्रंथ नहीं। इन ग्रंथो की भूकिकाओ और निबंधो में से यहाँ केवल उन्ही के संबंध में विचार किया जायगा जिनमे किसी न किसी अंश में साहित्यक आलोचना वर्तमान है। औरो के संबंध में विचार नहीं किया जायगा।

तुलसी ग्रंथावली के तीसरे खंड में संकलित निबंधो में कुछ कवि के जीवन-वृत्त से संबधित है, कुछ में उनके दार्शनिक, राजनीतिक और सामाजिक विचारो की समीक्षा की गई है और कुछ में तुलसी के काव्य की संस्कृत, अंग्रेजी और हिंदी के अन्य कवियो की कविताओ से तुलना की गई है. ऐसे निबंधों मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का निबंध है जिन्होने बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से 'मानस' से उदाहरण देकर तुलसी को अद्वैतवादी सिद्ध किया है। आलोचनात्मक निबंधो में राजबहादुर लमगोड़ा का निबंध हिंदी भाषा और तुलसीकृत रामायण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमे पहली बार पाश्चात्य साहित्य के काव्य प्रतिमानो के सहारे मानस का मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और साथ ही संस्कृत, अँगरेजी, फारसी और उर्दू के कवियो की काव्यगत विशेषताओ के साथ तुलसी की विशेषताओ की तुलना भी की गई है। यद्यपि इस आलोचना में भावुकता का मिश्रण हो जाने से स्फीति अधिक आ गई है पर 'मानस' की कला और शिल्प के विवेचन की दृष्टि से यह रूढ़िबद्ध शास्त्रीय पद्धति से अलग हटी हुई समीक्षा है। यह दृष्टि मौलिक तो नही है पर उसमे

गहराई और सूक्ष्म पकड अवश्य है। इस निबंध मे लेखक ने पहले अच्छे काव्य के ये लक्षण निर्धारित किए हैं—शब्द शक्ति (ध्वन्यात्मकता और संगीत तत्व, चित्र शक्ति (बिंबयोजना), भाव शक्ति (तन्मयता और भावात्मकता), उपयुक्त शब्द चयन, नाटकीय दृश्य योजना, संवाद, अन्विति और प्रकृतिचित्रण। फिर इन्हीं प्रतिमानो के आधार पर उन्होने मानस के कतिपय स्थलो की बहुत ही सूक्ष्म और सोदाहरण व्याख्या की है। वर्णों, शब्दो और दृश्यो के चयन का विवेचन करनेवाली यह उस काल की प्रथम आलोचना है। यद्यपि इस निबंध की शैली कथावाचको जैसी, भावुकतापूर्ण है और उसमे निर्णयात्मक तथा तुलनात्मक पद्धति के कारण स्फीति अधिक है, पर उसके विचार की दिशा अवश्य नई है। हरिऔधजी का निबंध 'गोस्वामी तुलसीदास का महत्व' भावात्मक शैली का है और उदाहरणो तथा अन्य लेखको के उद्धरणो से भरा हुआ है। मैथ्यू आर्नल्ड, अल्फ्रेड लायल, द्विजेंद्रलाल राय और रवींद्रनाथ ठाकुर के आधार पर उन्हं ने प्रारंभ मे काव्यालोचन की जो 'कसौटी' बनाई है, आगे उसका प्रयोग करना भूलकर वे आदर्शवादी विचारो और भावुकता के प्रवाह मे बह गए हैं। इससे इस निबध में गंभीर विवेचना का अभाव है।

तुलसी ग्रंथावली के इस खंड की प्रस्तावना के रूप में शुक्लजी द्वारा लिखी गई आलोचना हिंदी में अबतक लिखी गई व्यावहारिक आलोचनाओ में सर्वश्रेष्ठ मानी जा सकती है। इसका महत्व इसी से स्पष्ट है कि शुक्लजी के बाद तुलसी के संबध मे जितने लोगो ने समीक्षाएँ लिखी, प्रायः सबने उन्ही की बातो को दुहराया है अथवा उन्ही की स्थापनाओ और शैली को आधार बनाकर अपनी आलोचना का भवन खड़ा किया है। यह प्रस्तावना पहले ज्यो की त्यो 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम से पुस्तकरूप में प्रकाशित हुई थी। सन् १६३३ में उसमें से तुलसी के जीवनवृत्तवाला अंश निकालकर तथा तुलसी की भक्तिपद्धति और काव्यपद्धति के विवेचन मे कुछ प्रकरण और प्रसंग बढ़ाकर उसका नवीन परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ था। अतः यहाँ उसी परिवर्द्धित, परिवर्तित संस्करण को आधार बनाकर शुक्लजी की तुलसी विषयक आलोचना के संबध मे विचार किया जायगा। इस ग्रंथ मे शुक्लजी ने अपनी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति के अनुसार प्रारभ मे तुलसीकालीन भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो का वर्णन करके उनकी क्रिया प्रतिक्रिया के प्रभाव या प्रतिच्छाया को तुलसी के काव्य मे खोजने का प्रयत्न किया है। प्रारभ के कई अध्यायो (तुलसी की भक्ति पद्धति, प्रकृति और स्वभाव, लोकधर्म, धर्म और जातीयता का समन्वय, मंगलाशा, लोकनीति और मर्यादावाद, शीलसाधना और भक्ति तथा ज्ञान और भक्ति) मे शुक्लजी ने वही ऐतिहासिक या समाजशास्त्रीय आलो-

चना की पद्धति अपनाकर तुलसी के काव्य की मूल प्रेरणाओं, उद्देश्य तथा विचारभूमि का अन्वेषण और तर्कपूर्ण विवेचन किया है। यद्यपि इस विवेचन में उन्होंने अपनी व्यक्तिगत पूर्वग्रहयुक्त धारणाओं और संस्कारों से ही अधिक काम लिया है जिससे उनके निर्णय तटस्थ नहीं रह सके हैं, फिर भी उनकी दृष्टि की गहरी पैठ, विश्लेषण की अद्भुत क्षमता और अगाध पांडित्य का परिचय पंक्ति पंक्ति में मिलता है। इस विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करनेवाले, शास्त्रसंमत नैतिकता और लोकमर्यादा के कट्टर विश्वासी, वैष्णव धर्म के उदार और समन्वयवादी आचार विचारों के संस्कार-वाले व्यक्ति थे और अपनी इन्हीं धारणाओं और संस्कारों को उन्होंने तुलसी के दर्शन, उपासनापद्धति तथा धर्मनिरूपण के विवेचन में प्रतिमान के रूप में प्रयुक्त किया है, यद्यपि उन्होंने अपनी तर्कशक्ति और पांडित्य के बल पर उन वैयक्तिक धारणाओं और संस्कारों का आधुनिक युग के अनुरूप बौद्धिकीकरण भी किया है जो द्विवेदीयुगीन आदर्शवादी, सुधारवादी और नैतिकतावादी दृष्टिकोण के सर्वथा मेल में है। भक्तिकालीन हिंदी साहित्य को देखने की उनकी दृष्टि हिंदूदृष्टि है जिससे वे मुसलमानों के साम्राज्यस्थापन के कारण उत्पन्न निराशा की भावना को ही भक्ति आंदोलन के उदय का कारण मानते हैं। वैष्णव धर्म की दृष्टि उन्हें निर्गुणपंथ, योगमार्ग, नाथसंप्रदाय, सहजयान आदि को संकीर्ण, कट्टर, लोकधर्म विरहित और असामाजिक सिद्ध करने के लिये बाध्य करती है। अपने अवतारवादी और पंच देववादी स्मार्त संस्कारों के कारण वे सूफीमार्ग की उपासना को 'आशिकी रंगढंग' वाली तथा कृष्ण भक्ति को ऐकांतिक और लोकबाह्य प्रेम की पद्धति कहकर उनकी भर्त्सना करते हैं क्योंकि उन्हें तुलसी की विशिष्टाद्वैतवादी सगुण रामभक्ति को उनकी तुलना में श्रेष्ठ ठहराना है। वे लोक को व्यवस्थित करनेवाली मर्यादा को ही धर्म की प्रमुख कसौटी मानते हैं और इस बात को एकदम भुला देते हैं कि आध्यात्मिक साधना की ऐसी अनेक पद्धतियाँ इस देश में बहुत पहले से चली आ रही थीं, जो जगत् और जागतिक जीवन को माया का प्रपंच और साधना के मार्ग में बाधक मानती थीं। इसी लिये शुक्लजी पूर्व परंपराओं पर विचार करते समय सांख्य, योग, मीमांसा आदि दर्शनों तथा उपनिषदों की ओर या बौद्ध और जैन धर्मसाधनाओं की ओर, जो श्रमण संस्कृति की परंपरा की देन है, नहीं जाते, केवल वेदों, स्मृतियों और वैष्णव संप्रदायों की ब्राह्मण परंपरावाली धर्मसाधनाओं और लोकमर्यादाओं तक ही रह जाते हैं।

इस तरह लोकादर्श से उनका तात्पर्य राम के जीवनगत आदर्शों से है। उनकी दृष्टि में वर्णाश्रम व्यवस्था की रक्षा हिंदू शास्त्रों का पठन पाठन और स्मृतियों के नियमों का पालन ही लोकमर्यादा है। उनके लोकधर्म और लोकहित

का अर्थ वस्तुतः उच्चवर्गीय हिंदुओ के हितो की रक्षा, उनका राजनीतिक और आर्थिक लाभ है। उपर्युक्त कथन की पुष्टि शुक्लजी के इन वाक्यो से हो जाती है—'तुलसीदास के समय मे दो प्रकार के भक्त पाए जाते थे। एक तो प्राचीन परंपरा के रामकृष्णोपासक जो वेदशास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायो के अनुयायी थे, जो अपने उपदेशो मे दर्शन, इतिहास, पुराण आदि के प्रसंग लाते थे। दूसरे वे जो समाजव्यवस्था की निंदा और पूज्य तथा संमानित व्यक्तियो के उपहास द्वारा लोगो को आकर्षित करते थे। समाज की व्यवस्था मे कुछ विकार आ जाने से ऐसे लोगो के लिये अच्छा मैदान हो जाता है। समाज के बीच शासको, कुलीनो, श्रीमानो, विद्वानो, शूरवीरो, आचार्यो इत्यादि को अवश्य अधिकार और संमान कुछ अधिक प्राप्त रहता है, अतः ऐसे लोगो की भी कुछ संख्या सदा रहती है, जो उन्हें अकारण ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं। और उन्हें नीचा दिखाकर अपने अहकार को तुष्ट करने की ताक में रहते हैं।······योरप मे जो सामाजिक अशाति चली आ रही है वह बहुत कुछ ऐसे ही लोगों के कारण।··· इन्ही उन्मादियो के हाथ मे पड़कर वहाँ का समाज छिन्नभिन्न हो रहा है।'[1] इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी वर्णाश्रम धर्म और सामती समाजव्यवस्था में परिवर्तन के विरोधी थे और सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक क्राति जो 'यथास्थिति' में उलटफेर कर देती है, उन्हे पसंद नही थी। इसी कारण उन्होने सामाजिक क्राति के पोषक और धार्मिक बाह्याचार के विरोधी कबीर आदि निर्गुण संतो को लक्ष्य करके उपर्युक्त मत व्यक्त किया है। तुलसीदासजी स्वयं वर्णाश्रम धर्म और सामती समाजव्यवस्था के समर्थक थे। शुक्लजी के शब्दो मे ही 'गोस्वामीजी का समाज का आदर्श वही था जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है, अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा।'[2] उसी तरह आदर्श और लोकमर्यादा सबधी तुलसी की मान्यता भी सामती और रूढिवादी थी, जिसका समर्थन शुक्लजी ने बहुत ही आवेशपूर्ण ढंग से किया है।[3] इन कारणो से शुक्लजी का तुलसी के प्रति पक्षपात और अगाध श्रद्धा होना स्वाभाविक ही है।

शुक्लजी के संस्कार और दृष्टिकोण चाहे जैसे हो, पर उनकी यह स्थापना बिलकुल सही है कि प्रेम और भक्ति का आलंबन सदाचारपूर्ण शील या चरित्र है। सदाचार की परिभाषा और मान्यता भिन्न भिन्न हो सकती है पर उससे इस

[1] गोस्वामी तुलसीदास—सप्तम संस्करण, (सन् १६४१)—पृष्ठ २०-२१।
[2] वही, पृष्ठ ३८।
[3] वही, पृष्ठ ३६, ४१, ४३।

मनोवैज्ञानिक तथ्य में कोई अंतर नहीं पड़ता। अतः तुलसीदास ने अपनी दृष्टि से समाज के हितसाधक जिस आदर्श चरित्र की अवतारणा की उसका शील-निरूपण भी उन्होने अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही किया है। उस दृष्टिकोणवाले व्यक्तियों की ही उस आदर्श महापुरुष में श्रद्धा और भक्ति होगी, सबकी नही हो सकती। शुक्लजी ने आदर्श पुरुष के शील के कुछ सामान्य गुणों— दया, क्षमा, संकोच भाव, कृतज्ञता, विनय, सरलता आदि का उल्लेख किया है जो मानवीय गुण हैं अर्थात् जो सार्वकालिक और सार्वदेशिक सत्य हैं। ऐसे गुणोंवाले चरित्रो के प्रति सभी देशो और सभी काल के लोगो के मन में भक्तिभावना उत्पन्न होती है। वाल्मीकि ने भी रामायण के प्रारंभ में ही राम के इन गुणो का उल्लेख किया है। पर शुक्लजी ने वाल्मीकि के राम को नहीं, तुलसी के राम को आदर्श पुरुष माना है। इसका कारण यह है कि वाल्मीकि के राम युग के महापुरुष मात्र है - (कोन्वस्मिन् साप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ', पर तुलसी के राम स्वयं भगवान् हैं जो लोकधर्म, लोकमर्यादा और वर्णव्यवस्था को पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिये अवतरित हुए हैं। अतः शुक्लजी चाहे जितने मानवीय गुणो का हवाला दें, उनकी रामभक्ति, राम के भगवान् होने के कारण है, उन मानवीय गुणो के कारण नही तुलसी के राम, शुक्लजी के शब्दो में, शक्ति, शील और सौंदर्य भगवान् की इन तीनो विभूतियो से युक्त हैं और इसी से तुलसी का राम विषयक शीलनिरूपण काव्य के लिये सबसे अधिक उपयुक्त और रसोपकारक है। इस तरह शुक्लजी शील और भक्ति का आधार आधेय संबंध मानकर राम के शीलनिरूपण द्वारा तुलसी की भक्ति भावना की अभिव्यक्ति को मनोवैज्ञानिक तथ्य सिद्ध करना चाहते हैं। तुलसी और शुक्लजी के लिये तो यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सही है पर तुलसी के काव्य के सभी पाठको के लिये यह सत्य नहीं हो सकती। क्योकि सभी राम को भगवान् या ईश्वर का अवतार मानने को बाध्य नहीं किए जा सकते, और तुलसी के राम से यदि ब्रह्मत्व या अवतारी रूप हटा दिया जाय तो निश्चय ही वे शील की उच्चता में बाल्मीकी के राम की बराबरी नही कर सकते। अतः भक्तिभावना को अलग हटाकर यदि केवल काव्यगत शीलनिरूपण की दृष्टि से देखा जाय तो शायद मनोवैज्ञानिक और मानवीय दृष्टि से तुलसी को महान् चरित्रो का निर्माता न मान जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्लजी ने काव्यगत समीक्षा में शीलनिरूपण के अंतर्गत भक्ति को व्यर्थ ही घसीटा है।

शुक्लजी की स्थापनाएँ बहुत ही तर्कपूर्ण और परस्पर शृंखलित हैं। उन्होने अपनी सभी स्थापनाओ का संबंध सगुण मतवाद से जोड़कर उनका विवेचन और प्रतिपादन किया है। उदाहरण के लिये 'लोकमंगल की साधनावस्था' का

उनका पूर्ववर्ती सिद्धांत[1] और 'गोस्वामी तुलसीदास' ग्रंथ में 'लोकधर्म और 'मंगलाशा' संबंधी मान्यताएँ एक दूसरे से शृंखलाबद्ध सी हैं। भगवान् का अवतार रामराज्य की स्थापना के लिये होता है क्योंकि उसी से लोक की रक्षा और मगल होता है। लोकरक्षा और लोकरजन भगवान् के सत् और आनंद पक्ष के द्योतक हैं। अतः लोकमंगल का अभिलाषी सगुण ब्रह्म या अवतारी ब्रह्म की भक्ति मे भी अनिवार्यतः विश्वास करेगा या इसे उलटकर कह सकते है कि सगुण भक्त लोक की रक्षा और रजन में अवश्य आस्था रखेगा। इसी से उन्होने यह निष्कर्ष निकाला कि जो सगुण भक्त नही है वह लोकरक्षा और लोकमगल की बात सोच ही नही सकता, गो कि उनका यह तर्क हेत्वाभास (फैलेसी) मात्र है। इस तरह लोकरक्षा और लोकमंगल का कार्य ही लोकधर्म है। यहाँतक तो ठीक है पर यह लोकमगल और लोकरजन हैं क्या? शुक्लजी के शब्दो में 'लोकसग्रही वे हैं जो समाज की व्यवस्था और मर्यादा की रक्षा मे तत्पर रहते हैं और भिन्न भिन्न वर्गों के परस्पर संबध को सुखावह और कल्याणप्रद करने की चेष्टा करते रहते हैं।'[2] लोकसग्रह का यह कार्य भगवान् का कार्य है क्योंकि शक्ति, शील और सौंदर्य की पराकाष्ठा भगवान् का व्यक्त या सगुण स्वरूप है। इनमें से सौंदर्य और शील भगवान् के लोकपालन और लोकरजन के लक्षण हैं। और शक्ति उद्भव और लय का लक्षण है।'[3] जो व्यक्ति केवल भगवान् की शक्ति की अनंतता के मूल उत्स तक जाने के लिये उत्सुक होता है वह ज्ञानमार्गी होता है पर यह मार्ग बहुत कठिन है। यद्यपि वह 'भक्ति का ही एक रूप है पर एक ऐसे कठिन क्षेत्र की ओर ले जानेवाला है जिसमे कोई विरला ही ठहर सकता है।[4] ज्ञानमार्गी रागात्मिका वृत्ति को मार डालना चाहता है पर यह केवल बात की बात है। अतः उसे मारने का प्रयत्न न करके 'एक अच्छी जगह टिका देना चाहिए—ऐसी जगह टिका देना चाहिए जहाँ से वह न लोकधर्म के पालन मे, न शील की उच्च साधना मे और न ज्ञान के मार्ग मे बाधक हो सके। इसके लिये भगवान् के सगुण रूप से बढ़कर और क्या आलंबन हो सकता है जिसमे शील, शक्ति और सौंदर्य तीनो परमावस्था को प्राप्त होते हैं।'[5] इस प्रकार शुक्ल जी के तर्क का चक्र पूरा होता है—भगवान् के सगुण रूप से लोक की रक्षा, लोकरक्षा

[1] चिंतामणि, भाग १, पृष्ठ २१३।
[2] वही—पृष्ठ—२५।
[3] वही—पृष्ठ ६२।
[4] वही—पृष्ठ ६२।
[5] वही—पृष्ठ ६३।

या लोकमंगल से लोकधर्म लोकधर्म से सगुण भक्ति, सगुण भक्ति से शील, शक्ति और सौंदर्य के चरम रूप सगुण ब्रह्म और उसके व्यक्त रूप 'लोक' के प्रति प्रेम।

इन सब तर्कों का सहारा शुक्लजी ने केवल इसलिये लिया है कि तुलसी को कबीर, जायसी, सूर आदि पूर्ववर्ती भिन्न मतवादी कवियों से श्रेष्ठ सिद्ध किया जा सके। इस कार्य के लिये शुक्लजी को धार्मिक और दार्शनिक मतवादों के तर्कजाल मे उलझने की कोई आवश्यकता न होती, यदि वे केवल शुद्ध काव्यालोचन संबंधी प्रतिमानो के आधार पर ही इन कवियो की तुलना करते, क्योंकि तब भी तुलसी का स्थान सूर, कबीर और जायसी से नीचे शायद ही जा पाता। पर उन्हे तो तुलसी के धार्मिक और सामाजिक आदर्शों में ही अपने आदर्श भी दिखाई पड़े थे, इसी लिये काव्य के उद्देश्यो और उसकी उपयोगिता की ओर उन्होंने इतना अधिक और अनावश्यक ध्यान दिया। कवि की आलोचना उसके काव्य की विशेषताओं और सौंदर्यबोधात्मक मूल्यों के आधार पर होनी चाहिए, उसमे निहित धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक सिद्धांतो के आधार पर नहीं। यह उद्देश्य महाकवि की कविता मे अवश्य होता है, पर वह सदैव उपयोगितावादी ही नहीं होता। अतः यदि कवि के उद्देश्यों की परीक्षा करनी ही हो तो तटस्थ रूप से करनी चाहिए। शुक्लजी अपनी आदर्शवादी और उपयोगितावादी दृष्टि के कारण व्यावहारिक आलोचना में तटस्थ नही रह सके, यह एक सर्वविदित सत्य है। इसी से वे कबीर और तुलसी के मूल्याकन मे दुहरे प्रतिमानो का प्रयोग करते हैं; कबीर की भर्त्सना इसलिये करते हैं कि उनमें नीति और ज्ञान की अधिकता है पर इन्ही बातो को तुलसी मे देखकर वे उनकी प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं—'दोहावली के समान रामचरित मानस मे भी गोस्वामीजी कवि के रूप मे ही नहीं धर्मोपदेष्टा नीतिकार के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। ......इसी एक ग्रंथ से जनसाधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख मे धैर्य, आनंदोत्सव मे उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल सब कुछ प्राप्त होता है।'[1] यदि कवि की महत्ता नीति और धर्म के उपदेश के कारण ही है तो कबीर तुलसी से किसी भी तरह कम नहीं, बढ़कर ही हैं। कबीर के काव्य का प्रभाव आज भी निम्नवर्गीय दलित जातियो के लोगो पर उतना ही है जितना तुलसी का उच्च वर्णवाले लोगों पर। अतः यह काव्यपरीक्षण की कोई सामान्य कसौटी नही हुई।

शुक्लजी अपने प्रतिमान की इस कमी से अवगत नही थे, यह बात भी नही है। शुद्ध काव्य की कसौटी 'रसात्मकता' भी उनके पास थी। पर उसका प्रयोग वे

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ७१।

कबीर आदि को अकवि सिद्ध करने के लिये ही विशेष रूप से करते हैं। पर तुलसी के मूल्यांकन मे नैतिक उपदेश और रसात्मकता दोनो को श्रेष्ठ काव्य का लक्षण मानकर चलते हैं। मानस में वे जहाँ धर्मोपदेश की अधिकता देखते हैं उसकी दबी जबान से निंदा करते हुए भी फिर उसके पक्ष मे तर्क देने लगते हैं; जैसे— 'वह ग्रंथ एक धर्मग्रंथ के रूप मे भी लिखा गया और माना जाता है। इससे शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत से प्रसंग और वर्णन खटकते हैं।......मानस मे उक्त प्रकार के उपदेशात्मक वचन किसी न किसी पात्र के मुँह से कहलाए गए हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ऐसे वचन पात्रो के शील-व्यंजक मात्र हैं और काव्यत्व के अंतर्गत हैं।'[1] यद्यपि शुक्लजी ईमानदारी से ऐसे स्थलो को काव्यत्वहीन और नीरस मानते हैं पर साथ ही यह भी कह देते हैं कि 'जैसे समूचे प्रबंध के रस से बीच में आए हुए 'आगे चले बहुरि रघुराई' ऐसे नीरस पद भी रसवान हो जाते हैं, वैसे ही इस प्रकार के कोरे उपदेश भी।'[2] इस तरह काव्य की रसात्मक स्थिति के लिये वे प्रबंध काव्य को मुक्तक या गीति-काव्य से अधिक उपयुक्त या श्रेष्ठ मानते हैं। यह भी शुक्लजी की काव्यसमीक्षा का एक महत्वपूर्ण प्रतिमान है जिसका प्रयोग उन्होने अपने अन्य निबंधो और भूमिकाओं मे भी किया है। उनके अनुसार 'प्रबंध काव्य सदा बाह्यार्थनिरूपक (आब्जेक्टिव) होता है।[3] प्रबंध काव्य का स्वरूप अनुकृत या प्रकृत (इमीटेटिव या रियलिस्टिक) होता है और मुक्तक या प्रगीत का अतिरंजित या प्रगीतात्मक (एक्जैगरेटिव या लिरिकल) होता है। इनमें से प्रथम प्रकार के काव्य का आधार वास्तविकता होती है। प्रबंध काव्य न कवि कल्पनातिरंजित रूपो, व्यापारों और भावो की व्यंजना नही करता, वास्तविक जीवन के भीतर आनेवाली प्रत्येक दशा और परिस्थिति का मर्मस्पर्शी चित्रण करता है। जीवन के मर्मस्पर्शी व्यापारो की पहिचान प्रबंधकार कवि को जितनी होती है उतनी प्रगीत कवि को नही। इस तरह शुक्लजी प्रबंधकाव्य के पक्षपाती इसलिये हैं कि वह बाह्यार्थनिरूपक होता है और बाह्यार्थनिरूपण इस कारण अधिक अच्छा है कि वह वास्तविकता पर आधारित होता है, और वास्तविक जीवन दशाओं के मार्मिक रूपो का चित्रण कवि का प्रमुख कर्तव्य है जो प्रबंध काव्य में ही संभव है। इसी सिद्धांत के अनुसार शुक्लजी ने तुलसी की भावुकता और जायसी की प्रबंधपटुता की प्रशंसा की है और सूर, कबीर आदि को मुक्तक या प्रगीत कवि होने के कारण, अधिक महत्व

[1] गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ७२।

[2] वही, पृष्ठ ७२।

[3] वही, पृष्ठ ७६।

नहीं दिया है। ऐसे कवियों को वे हेय दृष्टि से देखकर फुटकरिया कवि कहते हैं— 'कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्चभूमि मे आने पर फुटकरिये कवि पीछे छूट जाते हैं. केवल प्रबंधकुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं।'[१] अतः इसी प्रतिमान के सहारे शुक्लजी ने इस ग्रथ में तुलसी की भावुकता की परीक्षा करते हुए विभिन्न भावो, संचारियो, अनुभावो, चेष्टाओ आदि का नए ढंग से सोदाहरण विवेचन किया है।

शुक्लजी प्रबंध काव्य को इसलिये भी श्रेष्ठ मानते हैं कि उसमें शीलनिरूपण और चरित्रचित्रण द्वारा आदर्श चरित्रो और सत्प्रवृत्तियो की महत्ता और विजय तथा दुष्ट चरित्रों एवं असत्प्रवृत्तियो की हेयता और पराभव दिखाने का अवकाश रहता है। जीवन के मर्मस्पर्शी स्थलो को पहचानकर उनके चित्रण द्वारा पाठको में रससंचार करना प्रबंधकार कवि के लिये जितना आवश्यक है उतना ही शील-निरूपण द्वारा आदर्शों की स्थापना भी। इसी दृष्टि से शुक्लजी प्रबंधकार कवियो में भी तुलसी को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि 'चारणकाल के चंद आदि कवियो' ने प्रबंध काव्यो मे चरित्रचित्रण को वैसा स्थान नही दिया और 'जायसी आदि मुसलमान कवियो की प्रबंधधारा केवल प्रेमपथ का निदर्शन करती गई है।'[२] केवल तुलसी ने आदर्श चरित्रो की अवतारणा की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। आदर्श चरित्र शुक्लजी ने दो प्रकार के माने हैं—सात्विक वृत्तिवाले और तामस वाले। राम सात्विक भावोवाले आदर्श चरित्र हैं तो रावण तामस भावोवाला। यह वर्गीकरण शुक्लजी की निजी देन है। शीलनिरूपण अथवा भावों के विवेचन मे उन्होने प्राचीन साहित्यशास्त्र का अंधानुकरण नहीं किया है बल्कि पाश्चात्य साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धातो तथा प्राचीन भारतीय आलंकारिको के मतो का समन्वय करते हुए चरित्रविश्लेषण और रसभावविवेचन मे प्रवृत्त हुए हैं। तुलसी के काव्य में प्रयुक्त अलंकारो का विवेचन भी उन्होने रसवादी आचार्यों की भाँति अलंकार को रस (अलंकार्य) का उपकारक मानकर किया है और साथ ही आधुनिक दृष्टि से भी उनपर विचार करते गए हैं। इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप वे अलंकार को 'कथन की एक युक्ति या वर्णन शैली मात्र' मानते हैं। तुलसी के काव्य मे प्रयुक्त अलंकारो को उन्होने चार वर्गों में विभक्त किया है—भावोत्कर्षक, तथा रूप, गुण और क्रिया का अनुभव तीव्र करने मे सहायक। यद्यपि उन्होंने प्राचीन अलंकारो को ही लिया है पर उनके विवेचन

[१] गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ११३।

[२] वही, पृष्ठ ११३।

की पद्धति नवीन है। वस्तुवर्णन के विवेचन में 'उन्होंने अपनी वर्ण्य वस्तु का सश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने में ही कवि की कुशलता मानी है ताकि पाठको को उसका बिंबग्रहण हो सके। उनका यह पूर्व निश्चित प्रतिमान' उनकी सभी व्याहारिक समीक्षाओं से प्रयुक्त हुआ है। यह प्रतिमान भी उन्हे पाश्चात्य मनोविज्ञान और साहित्यशास्त्र के अध्ययन से उपलब्ध हुआ है, भारतीय साहित्यशास्त्र से नहीं। इसी दृष्टि से उन्होंने तुलसी के प्रकृतिचित्रण और वस्तुवर्णन मे सश्लिष्ट बिंबो की खोज की है।

इस प्रकार शुक्लजी की यह आलोचनात्मक कृति हिंदी की व्यावहारिक आलोचना को अपनी नवीनता, गहराई, समन्वयात्मकता तथा सुदृढ़ सैद्धांतिक आधार के कारण एक नवीन दिशा में मोडनेवाली सिद्ध हुई। शुक्लजी ने 'गोस्वामी तुलसीदास' मे जिस गंभीर विवेचनापद्धति का प्रारभ किया उसका विकास उन्होंने जायसी, सूर और आधुनिक कवियो की समीक्षा मे किया। इस आलोचना में उन्होंने व्याख्यात्मक पद्धति को भी काफी दूर तक अपनाया है; विशेषकर 'तुलसी की भावुकता', 'बाह्यदृश्य चित्रण' और 'अलंकारविधान' के प्रसंग में, पर उससे पूरे ग्रंथ के समन्वित प्रभाव मे अधिक बाधा नहीं पड़ती।

लाला भगवानदीन ने दोहावली और कवितावली की टीकाओ के साथ जो प्रस्तावनाएँ लिखी हैं, उनमे उल्लेखनीय आलोचनात्मक गुणो का अभाव दिखाई पड़ता है। उनकी दृष्टि मूलतः परंपराविहित और शास्त्रीय है। इसी लिये दोहावली की प्रस्तावना में वे आरभ मे ही कह देते हैं कि अलंकार, रस, ध्वनि और व्यंजना के सम्यक् ज्ञान बिना कविता का भाव ठीक से नहीं समझा जा सकता। इनमे से भी वे ध्वनि को अधिक महत्व देते हुए कहते हैं—'सचमुच ध्वनि काव्य की आत्मा ही है। जिस कविता मे अच्छी ध्वनि नही वह अच्छी कविता नही।'[२] इस शास्त्रीय प्रतिमान का प्रयोग यद्यपि उन्होंने भूमिका के भीतर नही किया पर दोहो की टीका मे अलंकारो का निर्देश करते गए हैं। कवितावली की प्रस्तावना में अवश्य उन्होंने परिचयात्मक ढंग से तुलसी के छंदचयन, अलंकारविधान, रसयोजना, भाषा और शैली पर विचार किया है। पर शास्त्रीय दृष्टि का उन्होंने आधुनिक दृष्टि के साथ समन्वय करने का भी प्रयास किया था, यह बात दोहावली की भूमिका मे तुलसी की उपासनापद्धति, ज्ञान और भक्ति प्रेम पद्धति, जानकारी आदि के विवेचन मे देखी जा सकती है। कहीं कहीं तो उनकी विवेचनापद्धति ही नहीं,

[१] काव्य मे प्राकृतिक दृश्य चिंतामणि, दूसरा भाग।
[२] दोहावली (सटीक) टी० लाला भगवानदीन, भूमिका, पृष्ठ २।

विचार भी शुक्लजी से बिलकुल मिल जाते हैं जैसे सगुण मत तथा ज्ञान और भक्ति के विवेचन में। लालाजी ने हिंदू विश्वविद्यालय के अन्य अध्यापक आलोचको रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुंदरदास से मानो पीछे रहने के लिये ही समन्वय का मार्ग विवश होकर ग्रहण किया था। बाबू श्यामसुंदरदास की वृत्ति आलोचनात्मक से अधिक शोधात्मक और संकलानात्मक थी। इसका प्रमाण उनकी 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक दोनो पुस्तके हैं। दोनो मे ही तुलसी के जीवनवृत्त से संबधित बातों का संकलन ही अधिक है। जीवनवृत्तवाला अंश तो दोनो मे भिन्न भिन्न है पर पहली पुस्तक का 'गोस्वामीजी की कला' शीर्षक अध्याय १६४१ वाली पुस्तक मे भी नया शीर्षक 'गोस्वामी जी का काव्यसौंदर्य' देकर जैसा का तैसा रख लिया गया है। यद्यपि इस विवेचन मे शुक्लजी के मार्ग—भक्ति का स्वरूपनिरूपण, तल्लीनता, प्रबंधपटुता, रसो, भावो, संचारियो आदि का विवेचन, भाषासौष्ठव आदि को ही अपनाया गया है पर श्यामसुंदरदास की स्थापनाएँ शुक्लजी से अनेक जगह भिन्न हैं। उन्होने काव्य को कला मानकर विचार किया है और सौंदर्यवादी आलोचको की तरह कविता को सहज भावोद्रेक कहा है। इसी दृष्टि से उन्होने तुलसी के काव्य की परीक्षा की है। आदर्श चरित्रो की अवतारणा लोकमर्यादा की रक्षा, मनोवृत्तियो के सूक्ष्म ज्ञान, रसयोजना, तुलसी की उदारता और सारग्राहिता, भाषा और शैली आदि का विवेचन प्रायः शुक्लजी के अनुसार ही किया गया है जिससे इस विवेचन मे कोई नवीनता नही है। तुलसी के व्यवहार धर्म, तत्वशाधन और व्यक्तित्व का विश्लेपण भी शुक्लजी के विश्लेषण की तुलना मे बहुत ही सामान्य प्रतीत होता है।

सन् १६३१ में लाला भगवानदीन की सटीक कवितावली की प्रस्तावना के रूप में विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने तुलसी की जो सामान्य परिचयात्मक समीक्षा लिखी थी उसमें शुक्लजी की ऐतिहासिक समीक्षापद्धति और लालाजी की शास्त्रीयपद्धति का समन्वय किया गया है। प्रारंभ मे उन्होने शुक्लजी के ही आधार पर तुलसीकालीन धार्मिक परिस्थितियो का परिचय दिया है और निर्गुण मत की अपेक्षा सगुण मत को रागात्मिका वृत्ति से युक्त होने के कारण लोक के लिये अधिक उपयुक्त ठहराया है। उन्होने तुलसी की महत्ता उनके साप्रदायिक समन्वय की भावना, लोकमर्यादा की रक्षा की प्रवृत्ति, तत्कालीन प्रचलित विभिन्न काव्यशैलियो के ग्रहण, जनता की रुचि परिष्कृत करने के प्रयत्न आदि में देखी है। यह सब शुक्लजी की ही स्थापनाओ की उद्धरणी है। कवितावली की भाषा, रस और भावव्यंजना की व्याख्या और उसमे प्रयुक्त अलंकार, ध्वनि आदि का विवेचन उन्होने लालाजी की पद्धति से किया है। निष्कर्ष यह कि यह समीक्षा विद्यार्थियो के काम की ही अधिक थी, उसमें

लेखक की स्वतंत्र उद्भावना नहीं थी और न उसके लिखने मे लेखक का ऐसा कोई बड़ा उद्देश्य ही था।

सद्गुरुशरण अवस्थी ने 'तुलसी के चार दल' मे तुलसीदास के चार लघु काव्यो—रामलला नहछू, बरवे रामायण, पार्वती मगल और जानकी मंगल—के सबंध मे अपने विविध प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। वस्तुतः इसे सही अर्थ में आलोचना का ग्रंथ न कहकर परिचयात्मक या विवरणात्मक ग्रंथ ही कहा जा सकता है क्योकि व्यावहारिक आलोचना की विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय, प्रभावात्मक आदि में से किसी भी पद्धति का इसमे अवलंबन नहीं किया गया है और न किसी ग्रंथ की सागोपाग साहित्यिक समीक्षा लिखने का लेखक का उद्देश्य ही जान पड़ता है। जगह जगह अनावश्यक और अप्रासंगिक विषयो की लंबी विवेचना दे दी गई है जिसका आलोच्य विषय से कोई सबंध नही है। केवल एक अध्याय 'काव्यकला और गोस्वामीजी की निजी प्रेरणा' में साहित्यिक समीक्षा है पर वह भी सैद्धातिक है, व्यावहारिक नहीं। अन्य अध्यायो मे बीच बीच मे कही अलंकारयोजना, कही रसयोजना और कही चरित्रचित्रण के सबंध में चलते ढंग से विचार कर लिया गया है।[1] अतः सागोपाग व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्वहीन है। यही स्थिति रामनरेश त्रिपाठी की पुस्तक 'तुलसीदास और उनकी कविता' की भी है। उसका पहला भाग तो कवि के जीवनवृत्त से संबधित है और दूसरे भाग मे तुलसी की भाषा, वाणीविलास, महाकाव्यत्व और काव्यसंपदा शीर्षक अध्यायो में साहित्यिक समीक्षा के नाम पर केवल तुलसी के काव्य से उदाहरणो का अंबार खड़ा किया गया है अथवा ग्रंथ का आकार मोटा बनाया गया है। ऐसा लगता है कि लेखक समीक्षाशास्त्र की सामान्य जानकारी के बल पर ऐसा काम हाथ में ले बैठा है जो उसके बूते का नहीं है।

तुलसी साहित्य की दो ऐसी समीक्षाएँ इस काल मे और लिखी गई जिनमे शोध सामग्री और ऐतिहासिक इतिवृत्त के साथ साथ तुलसी के काव्य की विद्वत्तापूर्ण समीक्षा की गई है। इनमे से प्रथम रामकुमार वर्मा का इतिहास-ग्रथ और द्वितीय माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' हैं। रामकुमार वर्मा ने तुलसी के संबंध में अपने इतिहास के १७८ पृष्ठो मे विचार किया है। इसमें कवि के जीवनवृत्त और रचनाक्रम के साथ समीक्षा की पूर्वप्रचलित परंपरा के अनुसार तुलसी और राजनीति, तुलसी और समाज जैसे विषयो पर भी विचार किया गया

[1] देखिये तुलसी के चार दल, पुस्तक पहली—पृष्ठ १२६, २१३, २६७।

है जो शुक्लजी की पद्धति की तरह साहित्यिक समीक्षा के भीतर अंतर्भुक्त नही हो सका है। इस आलोचना का आकार अलग अलग ग्रंथो के छंद, वर्ण्यविषय आदि के विस्तृत विवरण के कारण बढ़ गया है। आलोचना का मुख्य स्वर शास्त्रीय हैं। लेखक ने सभी ग्रंथो की आलोचना में रस, भाव, संचारी भाव, अनुभाव, अलंकार, गुण, चरित्रचित्रण, आदि की विवेचना की है। फलतः इस आलोचना मे कोई नवीन उद्भावना या गहराई नही दिखाई पड़ती। वर्माजी ने कहीं कही निर्णयात्मक और तुलनात्मक पद्धति अपनाकर भी तुलसी की महत्ता प्रतिपादित की है। तुलसी के दार्शनिक और सामाजिक विचारो की आलोचना मे उन्होने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे शुक्लजी के निष्कर्षों से अधिक भिन्न नहीं हैं। इस प्रसंग में उनकी नवीनता यही है कि उन्होने विशिष्टाद्वैत के सिद्धातो की विस्तृत व्याख्या भी की है और यह स्पष्ट कहा है कि तुलसीदास विशिष्टाद्वैतवादी थे। माताप्रसाद गुप्त की पुस्तक तुलसीदास यद्यपि सन् १६४२ में प्रकाशित हुई पर वह १६३७ मे ही लिखी जा चुकी थी। मुख्यतः तुलसी के जीवन से संबंधित शोधग्रंथ होने के कारण इसमे केवल एक अध्याय में तुलसी की 'कला' का विवेचन किया गया है। इसमे भी चरित्रचित्रण, रस, भाव, वस्तुविन्यास नखशिख वर्णन, कल्पना-चित्रण (अलंकार विधान), उक्तिवैचित्र्य और शैली की दृष्टि से शास्त्रीय ढंग से तुलसी के सभी ग्रंथो की सोदाहरण समीक्षा प्रस्तुत की गई है। निश्चय ही यह शास्त्रीय ढंग की एक प्रौढ़ समीक्षा है पर पाठको को इससे तुलसी के काव्य को समझने की कोई नवीन दृष्टि नहीं मिल सकती। उक्तिवैचित्र्य और शैली के विवेचन मे अवश्य उन्होने शास्त्रीय पद्धति से कुछ हटकर विवेचना की है; उदाहरणार्थ शैली के अंतर्गत उन्होने लिखा है—'कवि की शैली का सिंहाव-लोकन करते हुए हम कह सकते हैं कि कवि की शैली के मौलिक गुण हैं उसका आर्जव, उसकी सरलता, उसकी सुबोधता, उसकी निर्व्याजता, उसकी अल्पालकार-प्रियता, उसकी चारुता, उसकी रमणीयता और उसका प्रवाह।'[१] किंतु इन गुणो की दृष्टि से तुलसी की काव्यशैली की विवेचना मे लेखक विशेष प्रवृत्त नहीं हुआ है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि रामचद्र शुक्ल के बाद तुलसी के काव्य की सबसे साफसुथरी और व्यवस्थित आलोचना माताप्रसाद गुप्त की ही है। सूर्यकात शास्त्री ने अपने इतिहासग्रंथ मे तुलसीदास के बारे मे लिखा तो बहुत है पर उसमे तुलना की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि होमर, शेक्सपीयर, मिल्टन, गेटे, विलियम मारिस आदि पाश्चात्य कवियो की प्रशंसा मे ही लेखक ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। तुलसी के काव्य की समीक्षा उसमें ऐसे काव्यात्मक ढग

[१] तुलसीदास, माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३७८।

से की गई है कि तुलसी के काव्य की विशेषताओं पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। इसे प्रभावात्मक समीक्षा का अच्छा उदाहरण माना जा सकता है।

५—केशवदास

केशवदास के ग्रंथो की टीकाएँ तो इस काल में लिखी गईं पर उनसे संबंधित आलोचनाग्रंथ या निबंध अधिक नहीं लिखे गए। लाला भगवानदीन ने कविप्रिया और रामचंद्रिका की टीकाओं की जो भूमिकाएँ लिखीं उन्हें समीक्षा नहीं कह सकते। बाद मे रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास और रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहासग्रंथों मे केशव के काव्य का मूल्यांकन किया। हरिऔधजी ने भी एक निबंध मे केशव के काव्य का महत्व प्रतिपादित किया था। सन् १९३३ में कृष्णशंकर शुक्ल ने 'केशव की काव्यकला' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसके संबंध मे शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा है कि 'केशव की काव्यकला मे पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने अच्छा विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान किया है।'[१] इस काल मे केशव से संबंधित आलोचनाग्रंथ बस एक यही निकला। उसी वर्ष पीतांबरदत्त बडथ्वाल ने भी संक्षिप्त रामचंद्रिका की भूमिका के रूप में एक महत्वपूर्ण समीक्षा लिखी थी।

परंपरागत रूप में हिंदी जगत् मे सूर और तुलसी के बाद केशव को ही स्थान दिया जाता रहा है पर शुक्लजी पहले आलोचक हुए जिन्होने केशव मे काव्यत्व का अभाव देखा और नरी खरी आलोचना की। अपने इतिहास मे उन्होने केशव का जो मूल्यांकन किया है वह तटस्थ निर्णयात्मक समीक्षा का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनके अनुसार 'केशव को कविहृदय नहीं मिला था। उनमे वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि मे होनी चाहिए।'[२] शुक्लजी ने यह बताया है कि केशव का उद्देश्य संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचनाकौशल की धाक जमाना था न कि महान् चरित्रों की अवतारणा करना या जीवन के मार्मिक स्थलों की योजना करके रसव्यंजना करना, इस कारण रामचंद्रिका में न तो प्रबंधपटुता और संबंधनिर्वाह है, न प्राकृतिक दृश्यों का रमणीय चित्रण या दृश्यों की स्थानगत विशेषताओं का उद्घाटन, और न जीवन के मार्मिक और गंभीर पक्षों का वर्णन। केशव की प्रवृत्ति आलंकारिक चमत्कारों की ओर थी, हृदयग्राही वस्तुवर्णन की ओर नहीं, इससे उनके काव्य

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५६२।
[२] वही, पृष्ठ २०६।

में पददोष, वाक्यदोष अनौचित्यपूर्ण अप्रस्तुत योजना आदि की भरमार है। उनका दृष्टिकोण दरबारी वातावरण और शास्त्रीय रूढियो द्वारा निर्मित हुआ था जिससे संस्कृत साहित्यशास्त्र में निर्दिष्ट नियमो के अनुसार ही उन्होने वस्तु-व्यापार-योजना की है, स्वाभाविक कवि कल्पना उनके पास नही थी। इतना दोष गिनाने के बाद अंत मे शुक्लजी ने सफल सवादयोजना के लिये केशव की प्रशंसा की है और उनका यह महत्व स्वीकार किया है कि 'काव्यागो का विस्तृत परिचय कराकर उन्होने आगे के लिये मार्ग खोला'[१]।

श्यामसुंदरदास ने भी अपने इतिहास में केशव को चमत्कारवादी कवि ही माना है और यह मत व्यक्त किया है कि केशव ने अलंकारो के फेर में पड़कर ऐसी जटिल और निरर्थक पदरचना की है जिससे सहृदयो का जी ऊब जाता है। यद्यपि श्यामसुंदरदास ने शुक्लजी की तरह ही केशव के काव्य में अनेक प्रकार के दोष गिनाए हैं पर साथ ही यह भी कहा है कि उन्हें हृदयहीन कहना उनके प्रति अन्याय करना है क्योकि अनेक स्थलो पर उन्होने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है। केशव की संवादयोजना की भी उन्होने प्रशंसा की है। उपर्युक्त दोनों आचार्यों के मतो का ही जैसे खंडन करते हुए हरिऔधजी ने अपने इतिहास मे केशव के काव्य की बहुत अधिक प्रशंसा की है और यहाँतक कह दिया है कि हिंदी में यदि किसी कवि ने सुंदर और संश्लिष्ट प्रकृतिचित्रण किया है तो केशव ने। केशव की 'रामचंद्रिका' का उद्देश्य उन्होने पांडित्यप्रदर्शन माना है और इसी दृष्टि से उसका मूल्याकन करने का सुझाव दिया है। उनके अनुसार साहित्य में सरल और प्रसाद गुणवाले काव्यो की ही नहीं, जटिल और गंभीर काव्यो की भी अपनी अलग महत्ता होती है। अतः उनका मत है कि रामचद्रिका की गंभीरता इस योग्य नही कि उसपर कटाक्ष किया जाय। जिस उद्देश्य से यह ग्रंथ लिखा गया है, मै समझता हूँ, उसकी पूर्ति इस ग्रंथ द्वारा होती है।'[२] उन्होने केशव की श्लिष्ट पद योजना की भी बहुत सराहना की है। हरिऔधजी के निबंध की एक विशेषता यह है कि उन्होने केशव की भाषा पर भी विस्तार से और विश्लेषणात्मक पद्धति से विचार किया है। रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास मे केशव के जीवनवृत्त और रचित ग्रंथो का विवरण देने के बाद रामचद्रिका की लंबी समीक्षा प्रस्तुत की है। इस समीक्षा में पूर्ववर्ती आलोचको की बातें ही दुहराई गई हैं जिससे उसमें कोई नवीनता नही है। इसकी विशेषता इतनी ही

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१३।
२ हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ २८५।

है कि लेखक ने अपने प्रत्येक कथन की पुष्टि उदाहरणों और उनकी व्याख्या द्वारा की है। हरिऔधजी की तरह रामकुमार वर्मा ने भी केशव के प्रकृतिचित्रण की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'केशव का प्रकृतिनिरीक्षण बहुत व्यापक है। उन्होंने अपने सूक्ष्म निरीक्षण और अलंकार के प्रयोग से प्रकृति के दृश्य बहुत सुंदर रीति से प्रस्तुत किए है।'[1] इस कथन की पुष्टि के लिये उन्होंने उदाहरण रूप में जो कविताएँ उद्धृत की हैं उनमें प्रकृति का सश्लिष्ट और सुंदर चित्र किसी ओर से देखने पर नहीं दिखाई पड़ता।

केशव के काव्य की सर्वांगीण समीक्षा कृष्णशंकर शुक्ल के केशव की काव्यकला' नामक ग्रंथ में मिलती है। तत्कालीन व्यावहारिक समीक्षा को ध्यान में रखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ उस काल के सर्वश्रेष्ठ समीक्षा-ग्रंथों मे से है। इसकी विवेचना की पद्धति ही नहीं, शैली और विचार वस्तु पर भी रामचंद्र शुक्ल का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उन्होंने भी प्रारंभ में केशव का जीवनपरिचय और उनके ग्रथों तथा उनपर लिखी गई टीकाओं का विवरण देने के बाद उनकी भावव्यंजना, बाह्यदृश्य चित्रण, प्रबंधकल्पना और चरित्रचित्रण, संवाद, अलंकार, भाषा, आध्यात्मिक सिद्धात, आचार्यत्व और पाडित्य आदि से संबंध मे अलग अलग अध्यायों में विचार किया है। उनके अनुसार केशव मे पाडित्यप्रदर्शन, शृंगारिकता और चमत्कारपूर्ण अलंकारयोजना की जो प्रवृत्तियाँ दिखलाई पडती हैं उनका मूल कारण वह विलासितापूर्ण सामंती वातावरण है जिसमे केशव रहते थे और जहाँ के चमत्मकारप्रिय और विलासी लोगों को प्रसन्न करने के लिये उन्होंने काव्यरचना की। वे केशव को संस्कृत के पिछले खेवे के अलंकारी कवियों का अनुकर्ता मानते हैं जिससे वे गंभीर भावों की रसपूर्ण व्यंजना न कर सके। उन्होंने तर्कपूर्ण ढंग से और उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि केशव की भावव्यंजना दोषपूर्ण है, रसव्यंजना में स्ववाच्यत्व दोष जगह जगह मिलता है और शृंगारवर्णन में मार्मिकता और प्रभविष्णुता नहीं, चमत्कारपूर्ण अलंकृति और अश्लीलता है। विभिन्न रसों, भावों संचारियों आदि की दृष्टि से रामचद्रिका के विभिन्न स्थलों से उदाहरण लेकर उन्होंने उनकी व्याख्या की है। यह व्याख्यात्मक पद्धति इस ग्रंथ में आदि से अंत तक दिखाई पड़ती है जिससे ग्रंथ का अनावश्यक विस्तार हो गया है। बाह्यदृश्य चित्रण की विवेचना में उन्होंने केशव के मानवरूप चित्रण, प्रकृतिचित्रण के साथ चरित्र-चित्रण को भी ले लिया है जो अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि चरित्र के विवेचन मे मानसिक तत्वों, विचार, भाव, उद्देश्य आदि पर विचार किया जाता

१ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ—६७४।

है। चरित्र बाह्य दृश्य नहीं है। केशव के वस्तुवर्णन के संबंध में विशेष विवेचना न करके उन्होने विभिन्न प्रसंगो के छंदो को उद्धृत कर दिया है। केशव की प्रबंध-कल्पना पर उन्होंने जो विचार किया है वह शुक्लजी के मत का विस्तार मात्र है। प्रबंधकल्पना के प्रसंग में उन्होने रामचंद्रिका के चरित्रचित्रण पर फिर विचार किया है पर यहाँ भी चरित्रो की विशेषताओं या दोषो की विवेचना न कर केवल चलते ढंग से उनका उल्लेख भर कर दिया है। पूर्ववर्ती आलोचको का अनुसरण न करके उन्होने केशव की संवादयोजना के दोष भी दिखाए हैं। अलंकारो के विवेचन में भी शास्त्रीय शैली का अनुसरण न करके, शुक्लजी की मनोवैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर केशव की अप्रस्तुत योजना के गुण दोषो पर विचार किया है। यद्यपि कृष्णशंकर शुक्ल रामचंद्र शुक्ल की परंपरा के रसवादी आलोचक हैं फिर भी उन्होने केशव की सूझ की प्रशंसा इन शब्दो में की है—'केशव के अलंकारो में चाहे उतनी सहृदयता न मिलती हो, परंतु यह मानना पड़ेगा कि उनकी सूझ तथा प्रतिभा विस्तृत व गंभीर थी। एक एक दृश्य को लेकर उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक की लड़ी बाँधते चलते हैं।'[१] लेखक ने केशव की एक ही जगह निंदा और प्रशंसा दोनो कैसे कर डाली, यह समझ में नही आता। संभवतः विभिन्न अलंकारो के उदाहरण देकर पुस्तक का आकार बढ़ाने के लिये प्रशंसा करना आवश्यक था। शुक्लजी ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक में तुलसी की अलंकारयोजना पर जिस तरह युक्तिपूर्ण ढंग से विचार किया है कृष्णशंकर शुक्ल ने वैसा न करके केवल प्रसंगो का उल्लेख करके प्रभाववादी ढंग से उदाहरणो की व्याख्या मात्र की है।

केशव की भाषा, शास्त्रीय ज्ञान, आचार्यत्व और साहित्यशास्त्रीय सिद्धातो की विवेचना जैसी अपेक्षित थी वैसी इस ग्रंथ में नही हुई है। 'भाषा' शीर्षक अध्याय में भाषा पर कम, शैलीगत तत्वों—शब्दशक्ति, गुण, दोष आदि पर विचार किया गया है और अंतिम दो अध्यायो मे केशव के पांडित्य, आचार्यत्व और उनपर संस्कृत आलंकारिको के प्रभाव का परिचयात्मक विवेचन कर दिया गया है। लेखक शुक्लजी के रसवादी दृष्टिकोण से इतना प्रभावित है कि केशव के अलंकारसंबंधी सिद्धांतो की तात्विक व्याख्या न करके तुरंत इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि 'केशव का अलंकारशास्त्र का ज्ञान ठोस नहीं था। आचार्य ऐसे उच्च पद के योग्य जैसी योग्यता तथा अभिज्ञता अपेक्षित है वैसी उनमें नही।'[२]

१ केशव की काव्यकला, प्रथम संस्करण—पृष्ठ २११।

यह निर्णय तटस्थ नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस ग्रंथ में लेखक ने मुख्यतः केशव को कवि मानकर समीक्षा की, साहित्यशास्त्र की समीक्षा की दृष्टि ही दूसरी होती है जो कृष्णशंकर शुक्ल मे नही है। वस्तुत: केशव हिंदी मे साहित्यशास्त्र के प्रथम अलंकारवादी आचार्य हैं और उनकी समीक्षा शास्त्रीय धरातल पर होनी चाहिए, काव्य के धरातल पर नही। इन सब दृष्टियो से 'केशव की काव्यकला' को बहुत गंभीर और पाडित्यपूर्ण समीक्षाग्रंथ नही माना जा सकता। व्याख्याओ और उदाहरणो के कारण इसमें गंभीर विवेचना के लिये और भी अवकाश नहीं रह गया है।

पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने 'संक्षिप्त रामचंद्रिका' की जो प्रस्तावना लिखी है उसमें केशव के काव्य का बहुत ही पाडित्यपूर्ण ढंग से मूल्याकन किया गया है। बड़थ्वालजी ने रामचंद्रिका को शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य मानते हुए भी उसमे यह मत व्यक्त किया है कि 'महाकाव्य को महान् होने के पहले काव्य होना चाहिए।'[१] रामचद्रिका मे प्रबंधत्व, सूक्ष्म निरीक्षण, क्रातदर्शिता, संवेदनशीलता, मर्मस्पर्शिता आदि काव्यगुणो का इतना अभाव है कि बड़थ्वालजी उसे उच्च कोटि का काव्य मानने को तैयार नही हैं। वे दरबारी वाग्वैदग्ध्य और कल्पना के अद्भुत चमत्कारो को काव्य का लक्षण नहीं मानते। इसी कारण केशव के काव्य की उन्होने कड़ी आलोचना की है।

६—मीराबाई

मीराबाई के संबंध मे इस काल में केवल एक पुस्तक भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' की 'मीरा की प्रेमसाधना' (सन् १९३४) प्रकाशित हुई। रामचंद्र शुक्ल और रामकुमार वर्मा ने भी मीरा के जीवन और काव्य के संबंध में अपने इतिहासग्रंथो मे विचार किया है पर उनकी विवेचना बहुत ही संक्षिप्त है। शुक्लजी ने यह माना है कि मीरा की माधुर्य भाववाली उपासनापद्धति पर सूफियो का प्रभाव पड़ा है। इस संबंध मे उन्होने लिखा है कि 'माधुर्य-भाव की जो उपासना चली आ रही थी, उसमें सूफियो के प्रभाव से आभ्यंतर-मिलन, मूर्छा, उन्माद आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनो पर सूफियो का प्रभाव पाया जाता है।'[२] शुक्लजी ने सूफीसाधना और कृष्णभक्ति की प्रेमसाधना में साम्य देखकर ही यह बात कही है, इसे प्रमाणो से पुष्ट नही किया है। उन्होने 'मीरा की प्रेमसाधना' नामक उपर्युक्त ग्रंथ की प्रस्तावना में स्वयं लिखा है कि सातवी शताब्दी में दक्षिण में

[१] संक्षिप्त रामचंद्रिका, प्रस्तावना, पृष्ठ १७, द्वितीय सस्करण—सन् १९३३।

[२] हिंदी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ १५९।

आंदाल तथा अन्य भक्तिने हुईं जो कृष्ण को ही अपना पति कहती थीं और उन्हीं के प्रेम में मग्न रहती थीं। श्रीमद्भागवत की प्रेममूला भक्ति को भी शुक्लजी ने माधुर्य भाव की उपासना का कारण माना है। अतः उनका मीरा को सूफी प्रेमसाधना से प्रभावित बताना स्ववदतोव्याघात है। शुक्लजी ने मीरा के काव्य की विशेषताओं पर विचार नहीं किया है। केवल मीरा की उपासना-पद्धति तक ही उनकी विवेचना सीमित रह गई है। रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास मे मीरा के संबंध मे लिखा तो बहुत है पर साहित्यिक समीक्षा केवल दो तीन पृष्ठो में की है। उनके अनुसार मीरा मे सगुण भक्ति और निर्गुण साधना दोनो प्रवृत्तियों का सामंजस्य हुआ है, इसी लिये वे सगुण कृष्ण को भी पति रूप मे मानती हैं और संत कवियो की तरह निर्गुण ब्रह्म से मिलने के लिये योग, ज्ञान, और प्रेम के साधनापथो का भी अनुसरण करती दिखाई पड़ती हैं। रामकुमारजी ने मीरा पर सूफी प्रभाव का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने मीरा की कविता मे सहजता, मार्मिकता और आतरिक भावाभिव्यंजना का प्राधान्य मानते हुए भी उसमे कलात्मकता की कमी देखी है। कबीर का आकलन उन्होंने जिस प्रतिमान के सहारे किया है, यदि उसी का प्रयोग मीराबाई पर करते तो कलात्मकता की ओर शायद उनका ध्यान ही न जाता।

भुवनेश्वरनाथ 'माधव' की 'मीरा की प्रेमसाधना' विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा की पुस्तक नहीं कही जा सकती, क्योकि इसमें मीरा के काव्यपक्ष पर विचार ही नहीं किया गया है, केवल उनकी उपासनापद्धति की प्रभावात्मक शैली मे विवेचना की गई है और प्रेममूला भक्ति के मूल स्रोतो की खोज वैदिक काल से लेकर मध्यकाल तक की दार्शनिक और धार्मिक परंपरा में की गई है। 'माधवजी' की शैली मे भावात्मकता इतनी अधिक है कि माधुर्य भाव की भक्ति के मूल स्रोतो और पूर्वपरंपरा पर विचार करते समय भी वे काव्यात्मक भाषा का ही प्रयोग करते हैं, जिसका एक उदाहरण यह है—'मधुमास मे मंजरी के भार से झुकी हुई अमराइयों, गदराई हुई लताबल्लरियों के भीतर छिपकर कोकिला कल्याण का राग छेड़ जाती है अपने दर्द भरे घायल दिल को उँडेल जाती है और हमारा हृदय किसी अज्ञात वेदना से कुहुँक उठता है।'[१] उनकी भावात्मक शैली को लक्ष्यकर ही इस ग्रंथ के संबंध में शुक्लजी ने लिखा है—'मीरा की प्रेमसाधना' भावात्मक है जिसमें 'माधव' जी मीरा के भावो का

१ मीरा की प्रेम साधना, प्रथम संस्करण—पृष्ठ ११।

स्वरूप पहचानकर उन भावो मे आप भी मग्न होते दिखाई देते हैं।'[1] यह पूरी पुस्तक उस प्रभावात्मक समीक्षा का उदाहरण है जिसके बारे मे शुक्लजी ने जैसे खीचकर लिखा है—'किसी कवि की आलोचना कोई इसलिये पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिये नही कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पदविन्यास द्वारा अपना मनोरञ्जन करे।'[2] 'माधवजी की इस पुस्तक मे भी विवेच्य वस्तु उनके गद्यकाव्य के भीतर खो गई है। बहुत ध्यान से पढ़ने पर यही उपलब्धि होती है कि माधुर्य भाव ही परम भाव है क्योंकि उसमे उपासक और उपास्य के बीच की दूरी मिट जाती है, दास्य भाव में वह दूरी सबसे अधिक रहती है, सख्य और वात्सल्य भावो मे उससे कम। इस भाव के महामिलन का माधुर्य विरह मे ही अधिक प्रस्फुटित रहता है। अतः विरहमूलक प्रेमाभक्ति ही भक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप है, जिसमे ब्रह्म और जीव का संबंध पुरुष और स्त्री का होता है। यह दापत्य प्रेमसंबंध भक्ति मे तीव्रता लाने के लिये परमावश्यक है। इसी कारण 'मीरा का विरह गहरा अधिक है, व्यापक कम। उसमे प्रकृति के नाना रूपो एवं विलासो के साथ तन्मयता स्थापित करने की न चिंता ही है और न अवकाश ही।'[3] कृष्ण को पति रूप में मानकर अपनी विरह भावनाओ को सीधे सीधे अभिव्यक्त करनेवाली 'मीरा का दुःख उधार लिया हुआ दुःख नहीं है', वह उनकी अंतरात्मा का सहज उद्‌गार और कातर पुकार है। माधवजी के इस निष्कर्ष से शायद ही किसी को मतभेद हो, पर माधुर्य भाव की विवेचना में वे तटस्थ नहीं रह सके, अतः उसके प्रति उनके अनुरागपूर्ण पक्षपात के कारण तत्संबधी उनकी समीक्षा 'साम्प्रदायिक' कही जा सकती है।

७—विहारीलाल

विहारीलाल आधुनिक समीक्षा के प्रारंभ से ही विवाद के विषय बन गए थे। हिंदी नवरत्न मे मिश्रबंधुओ ने किस तरह विहारी के काव्य के दोष गिनाकर उन्हे देव, मतिराम आदि से भी नीचें स्थान दिया और महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा आदि ने कैसे उनका खंडन किया, यह सब द्विवेदी युग की समीक्षा के प्रसंग मे बताया जा चुका है। सन् १६२० मे कृष्णविहारी मिश्र की 'देव और विहारी' नामक पुस्तक निकली थी जिसमें देवका पक्ष लेते हुए दोनो

[1] हिंदी साहित्यका का इतिहास, पृष्ठ ५६३।

[2] वही, पृष्ठ ५६४।

[3] मीरा की प्रेम साधना, पृष्ठ ७२।

कवियों की तुलनात्मक समीक्षा की गई थी। इस पुस्तक का उद्देश्य देव की कविता को बिहारी से श्रेष्ठ ठहराने के अतिरिक्त पद्मसिंह शर्मा की बातो का खंडन करना भी था। 'देव और बिहारी' संबंधी इस विवाद में लाला भगवानदीन ने भी भाग लिया और 'श्रीशारदा' नामक पत्रिका में बिहारी का पक्ष लेते हुए और मिश्र कंपनी (मिश्रबंधु तथा कृष्णबिहारी मिश्र) के तर्कों का खंडन करते हुए एक लेखमाला लिखी जो सन् १९२६ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के प्रकाशन तथा रत्नाकरजी के 'बिहारी सतसई' के पांडित्यपूर्ण 'संजीवनी भाष्य' के उपरात तुलनात्मक समीक्षा के नाम पर चलनेवाला यह साहित्यिक विवाद समाप्त हो गया। रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे बिहारी की जो छोटी किंतु गंभीर और तात्विक समीक्षा लिखी उससे नई दृष्टि से बिहारी के मूल्यांकन का मार्ग खुल गया। सन् १९३६ में विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'बिहारी की वाग्विभूति' नामक पुस्तक लिखी जिसे बिहारी से संबंधित सतुलित साहित्यिक समीक्षा का प्रथम ग्रंथ कहा जा सकता है। सन् १९४० में हरदयालु सिंह का 'बिहारी विभव' प्रकाशित हुआ जिसमें बिहारी की आलोचना के साथ सतसई भी संमिलित है।

लाला भगवानदीन की पुस्तक 'बिहारी और देव' भी पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी सतसई की भूमिका' और कृष्णबिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' के ढंग की विवादमूलक तुलनात्मक समीक्षा की पुस्तक है। इसके संबंध में लालाजी के पट्ट शिष्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने निष्पक्ष होकर बहुत ठीक लिखा है कि 'उसमें बिहारी और देव की बड़ाई छोटाई की ही नापजोख है और वह इसी झगड़े को लेकर लिखे गए लेखो का संग्रह मात्र है।'[1] अतः इसे वास्तविक समीक्षा नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस ग्रंथ में प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से जो गुण-दोष विवेचन किया गया है उससे देव और बिहारी के अध्येताओ को कुछ लाभ तो हो ही सकता है। इसमें लालाजी ने मुख्य रूप से यही दिखाया है कि मिश्रबंधुओ ने बिहारी में शब्दों को तोड़नेमोड़ने, अप्रचलित अथवा गढ़े हुए शब्दो का व्यवहार करने और दूसरे कवियो का भाव अपहृत करने के जो दोष दिखाए हैं वे मिथ्या आरोप मात्र हैं, इसके विपरीत ये सभी दोष देव की कविता में अधिक मात्रा में वर्तमान हैं। लालाजी ने देव की भाषा में व्याकरणसंबंधी दोषो तथा भावापहरण की प्रवृत्ति का विस्तृत वर्णन किया है। दोषदर्शन के प्रसंग में उन्होने देव के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग

१ बिहारी की वाग्विभूति, उपक्रम, पृष्ठ १।

किया है जिसे आज का पाठक अनुचित और अशिष्ट कहेगा, जैसे—'देव ने की हैं, शब्दों की खूब अच्छी कपालक्रिया 'देव के छक्के छूट गये, हंश नौ दो ग्यारह हो गये!' 'परंतु आपकी इस गुस्ताखी की सजा भी पब्लिक ने खूब दी।' तुलनात्मक समीक्षापद्धति के अन्य पूर्ववर्ती आलोचकों की तरह लालाजी की दृष्टि भी भाषा की शुद्धता, उक्तिवैचित्र्य, अलंकार और रस, तथा नायिकाभेद तक ही सीमित रह गई है, देव या बिहारी के काव्य के आतरिक सौंदर्य और मूल प्रवृत्तियों के परीक्षण की ओर वे प्रवृत्त नहीं हुए हैं। उनके इस ग्रंथ को पढ़कर आधुनिक पाठक इन दोनों कवियों के काव्यसौंदर्य को कुछ समझ नही पाता उल्टे यह धारणा होती है कि इन दोनों मे समान दोष हैं, दोनों ही अश्लील और रीतिबद्ध परंपरा के घोर शृंगारी कवि हैं।

बिहारी की वास्तविक साहित्यिक और संतुलित समीक्षा रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे सूत्र में की है। उन्होंने बिहारी की साहित्यिक उपलब्धियों और सीमाओं की ओर कुछ वाक्यों मे सकेत मात्र किया है। जिनकी व्याख्या बाद के आलोचकों ने की। शुक्लजी के अनुसार 'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों मे अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है।'[१] वे यह मानते हैं कि रस की जैसी पूर्णता और धारा प्रबंध काव्य में होती है वैसी मुक्तक काव्य में नही – 'यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा समाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है।'[२] इस तर्क द्वारा शुक्लजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बिहारी को मुक्तक काव्य में इसलिये सफलता मिली है कि उनमें कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति है जिससे उनके दोहे चुस्त, रस के छींटों की तरह चमत्कृत और रससिक्त करनेवाले और प्रभावपूर्ण हो सके हैं। रसव्यंजना के अंतर्गत अनुभावों और हावों की सुंदर योजना मे शुक्लजी बिहारी को अद्वितीय मानते हैं पर वस्तुव्यंजना मे उन्हे बिहारी कहीं कहीं औचित्य सीमा लाँघते हुए भी दिखाई पड़ते हैं। उनके अनुसार व्यंजना वृत्ति और अलंकारों के प्रयोग मे कहीं कहीं दूरारूढ़ कल्पना का प्रयोग होते हुए भी बिहारी के काव्य में भद्दापन नहीं है और पाठक अपनी ओर से प्रसगों का आक्षेप करके मूल अर्थ तक पहुँच जाता है। इस प्रकार शुक्लजी ने बिहारी की समीक्षा मे सर्वप्रथम नवीन दृष्टिकोण का प्रयोग किया है। हरिऔधजी का निबंध छोटा है जिसमें उन्होंने बिहारी के काव्य की संक्षिप्तता, रसात्मकता, भावव्यंजकता, बहुज्ञता, शब्दचयन संबंधी कलात्मकता

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४७।

[२] वही, पृ० वही।

आदि विशेषताओं को गिना दिया है और उनपर भारतीय शृंगारी मुक्तक काव्य की परंपरा तथा फारसी के मुक्तक काव्य का प्रभाव दिखाकर सतसई के दोहों के उद्धरण दे दिए हैं। वस्तुतः यह एक प्रभावात्मक भाषण ही है विश्लेषणात्मक समीक्षा नहीं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से बिहारी के काव्य की विशेषताओं और सीमाओं की विश्लेषणात्मक समीक्षा पहलेपहल विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'बिहारी की वाग्विभूति' में मिलती है। शुक्लजी ने अपने इतिहास मे बिहारी के मूल्यांकन के जो सूत्र दिए हैं, विश्वनाथजी ने इस ग्रंथ में उन्ही को लेकर एक एक की व्याख्या एक एक अध्याय में की है। इस तरह इसकी अधिकांश स्थापनाएँ शुक्लजी के विचारसूत्रों पर ही आधृत हैं। भूमिका में विश्वनाथ जी ने इस बात की ओर सकेत भी कर दिया है।[1] पर इसका यह अर्थ नही कि इसमें लेखक की अपनी उद्भावनाएँ और स्वतंत्र विचारपद्धति नही है। वस्तुतः इस ग्रंथ के आधे से अधिक अध्यायों – तत्कालीन लोक रुचि, बाहरी प्रभाव, सतसई परंपरा, प्रेम का संयोग पक्ष, विप्रलंभ और विरह वर्णन, भक्तिभावना, भाषा—आदि मे विश्वनाथजी ने जो बातें कही हैं, वे उनकी अपनी विवेकबुद्धि की देन हैं, शुक्लजी ने उन विषयों को लेकर बिहारी के संबंध में कुछ नही कहा है, हाँ यह हो सकता है कि मौखिक रूप से, पढ़ाते समय या बातचीत में, उन्होंने वे बातें बताई हों। शुक्लजी के सूत्रों की व्याख्या मुख्यतः मुक्तकरचना, प्रसंगविधान, दोहे की समास पद्धति, अनुभावविधान, विप्रलंभ एवं विरह वर्णन, वाग्वैदग्ध्य और उक्तिवैचित्र्य आदि के संबंध में विचार करते समय की गई है। शुक्लजी का अनुसरण करते हुए उन्होंने भी यह माना है कि प्रबंध काव्य में रस धारारूप में बहता है, इससे उसमें नीरस पद भी रससिक्त प्रतीत होते हैं, मुक्तक में ऐसी बात नहीं होती, वहाँ प्रत्येक मुक्तक के लिये एक परिस्थिति या प्रसंग की कल्पना करनी पड़ती है। इस तरह 'जबतक मुक्तक में जीवन या जीवन के आनुषंगिक व्यापारों के मेल मे आनेवाला खंडचित्र लेकर कोई बंधान न बाँधा जायगा तबतक उसमें न तो सरसता ही आ सकती है और न वह अवसर के प्राप्त होने पर वैसा प्रभावशाली ही हो सकता है।'[2] इससे विश्वनाथजी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुक्तक काव्य की उत्तमता

[1] 'सब से अधिक कृतज्ञ हम अपने श्रद्धेय आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल के हैं, जिनकी लिखित और कथित बातों का भी निस्संकोच प्रयोग किया गया है।'—बिहारी की वाग्विभूति भूमिका, पृ० १०।

[2] बिहारी की वाग्विभूति, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२।

की कसौटी उसमे चित्रित अनुभूतों की स्पष्टता और सहजता है अर्थात् प्रबंध काव्य की तरह मुक्तक काव्य में भी मर्मस्पर्शी जीवनचित्रो के चुनाव से ही रसवत्ता आती है। नीतिकथन या चमत्कार प्रदर्शन के उद्देश्य से लिखित मुक्तकों मे इसी कारण रसवत्ता नही होती। इसी प्रतिमान के सहारे उन्होने बिहारी के दोहो का मूल्याकन किया है और यह सिद्ध किया है कि अलंकार-चमत्कार से युक्त होते हुए भी बिहारी के नीतिपरक दोहों में रसव्यंजना की शक्ति नही है और जिन दोहो में रसवत्ता है उनके प्रसंगो का चुनाव कवि ने उच्च वर्ग और सामान्य वर्ग दोनो के जीवन से किया है पर उन्हें सफलता उच्चवर्गीय जीवनप्रसंगो की उद्भावना मे ही मिली है, सामान्य जीवनप्रसंगो के चित्रण मे नही क्योकि उनकी समस्त जीवनानुभूतियाँ सामंती वातावरण की थी, इससे उनका क्षेत्र व्यापक नही है पर उन बँधेबँधाए प्रसंगो को लेकर ही बिहारी ने अपनी प्रतिभा के बल पर बड़े ही सरस सदर्भों या खंड चित्रो की योजना की है। इस तरह विश्वनाथजी ने यह निर्णय दिया है—'जब सब बातो पर विचार करके बिहारी की मुक्तकरचना पर दृष्टि डाली जाती है, तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि इनकी काव्य दृष्टि दूर तक थी, काव्य का लक्ष्य पहचाननेवाली थी।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विश्वनाथजी रसवादी हैं और वह भी शुक्लजी के ढंग के अभिनव रसवादी जो प्रबंध काव्य को ही रसात्मक काव्य का आदर्श मानते हैं। इसी कारण इस पुस्तक में उन्होंने शुक्लजी की ऐतिहासिक और विवेचनात्मक समीक्षा की पद्धति अपनाई है, जिसमे कवि की सामाजिक परिस्थिति तथा उनकी मूल प्रवृत्तियों की विवेचना, सिद्धातो की स्थापना और उनके आधार विवेच्य काव्य का विश्लेषण और व्याख्या करते हुए, की जाती है। अतः इस ग्रंथ मे प्रारंभ में तत्कालीन राजनीतिक और सास्कृतिक परिस्थितियो तथा लोकरुचि की विवेचना की गई है और बिहारी पर उनका प्रभाव दिखाया गया है। इस सबंध मे उन्होने कुछ नए निष्कर्ष निकाले हैं जिनकी ओर शुक्लजी ने सकेत भर किया था। रीति काव्य मे प्रेम की पीर की अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यंजना की पद्धति को वे सूफियो का प्रभाव मानते हैं। उनकी दूसरी स्थापना यह है कि रीति काल के कुछ कवि रीतिमुक्त या स्वच्छंद धारा के भी हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्होने रीति ग्रंथ तो नही लिखे पर रीति शास्त्र में निष्णात अवश्य थे जिससे उनकी रचनाएँ लक्षणो के उदाहरण के रूप मे भी रखी जा सकती हैं। बिहारी दूसरे प्रकार के कवि थे जिन्होंने 'अलंकार की काव्योपयोगिता पर बराबर दृष्टि रखी है और अलंकारो की योजना एवं अप्रस्तुतो का विधान बहुत कुछ काव्य के भाव और वस्तु के रूप, गुण आदि की अनुभूति

कराने के लिये ही किया है।'[1] उनकी तीसरी नई स्थापना यह है कि रीतिकालीन शृंगारी मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति का मूल स्रोत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की मुक्तक परंपरा में है जो रहीम, कृपाराम आदि से होता हुआ बिहारी तक पहुँचा था। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि बिहारी के काव्य की प्रौढता का कारण यह पूर्ववर्ती शृंगारी मुक्तक परंपरा ही है। इन उपर्युक्त स्थापनाओ के आधार पर विश्वनाथजी ने बिहारी की कविता की र वत्ता, सयोग और विरह वर्णन, भाव और अनुभावव्यंजना, अलंकारयोजना, अप्रस्तुत विधान, उक्तिवैचित्र्य आदि की शास्त्रीय ढग से विवेचना की है। बिहारी की भाषा के संबंध मे इस ग्रंथ में जैसा शास्त्रीय विवेचन किया गया है वैसा अन्य किसी ने नहीं किया है। विश्वनाथजी लालाजी की तरह बिहारी के अंधभक्त नही हैं। उन्होने उनके दोषो को भी देखा है और जगह जगह उनकी कटु आलोचना की है और साथ ही, उनके महत्व तथा परवर्ती हिंदी साहित्य पर उनके काव्य के व्यापक प्रभाव को भी स्वीकार किया है। इस तरह यह पुस्तक सतुलित और शुद्ध समीक्षा की दृष्टि से आलोच्य काल की सर्वश्रेष्ठ समीक्षा पुस्तको मे से है। बिहारी के संबंध मे हरदयालु सिंह ने 'बिहारी विभव' नामक जो ग्रंथ लिखा है उसमे पूर्ववर्ती सभी आलोचको की कही बातो का संग्रह कर दिया गया है। इसमे बिहारी का जीवनवृत्त, बहुज्ञता आदि के बारे मे ही अधिक लिखा गया है, भाषा, भाव, अलंकार विषयक विवेचना बहुत ही सामान्य कोटि की है। लेखक की शुद्ध समीक्षा की दृष्टि न होने से यह ग्रंथ अधिक महत्व का नही है।

अन्य मध्यकालीन कवियों की समीक्षा—

प्राचीन कवियो की समीक्षा का जो कार्य रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास और लाला भगवानदीन ने प्रारंभ किया, वह अधिक इसलिये नही बढ़ा कि अनेक महत्वपूर्ण कवियो का काव्य अभीतक प्रकाश मे ही नहीं आ सका था। अतः इस काल के विद्वानो के सामने प्राचीन कवियो के काव्यग्रथो या ग्रथावली के सपादन, पाठनिर्धारण और प्रकाशन की समस्या भी थी। रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे जहाँ बहुत से सामान्य कवियो का जीवनवृत्त और रचनाओ का उल्लेख करके छोड़ दिया है वहाँ तुलसी सूर, जायसी आदि पूर्वनिर्दिष्ट कवियो के अतिरिक्त रहीम सेनापति, देव, मतिराम, भूषण, घनानद और पद्माकर के काव्यो की समासशैली में कुछ आलोचना भी की है। इस तरह इन कवियो का महत्व शुक्लजी द्वारा स्वीकृत होने पर परवर्ती आलोचको मे उनके ग्रंथो का संपादन और समीक्षा करने का उत्साह उत्पन्न होना स्वाभाविक था। प्राचीन कवियों की

[1] बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ ११५।

कविताएँ उच्च कक्षाओ में पाठ्यग्रंथो में भी रखी गई जिससे उन कवियो की कविताओ का संकलन करने तथा भूमिकाएँ और भाष्य लिखनेवाले भी सामने आए। पर कुछ साहित्य के साधको और शोधको की वृत्ति इस ओर भी थी कि जिन कवियो के ग्रंथ अभीतक अप्राप्त हैं, उन्हे प्राप्तकर सपादन और पाठसंशोधन करके उनका प्रकाशन किया जाय। इस तरह इस काल मे रहीम, सेनापति, मतिराम, भूषण और पद्माकर के काव्य के संग्रह या ग्रंथावलियाँ प्रकाशित हुई जिनमे लंबी भूमिकाएँ भी थीं। साथ ही कुछ कवियो के सबंध में स्वतंत्र समीक्षाग्रंथ भी प्रकाशित हुए।

देव के संबंध मे कृष्णविहारी मिश्र, पद्मसिह शर्मा, लाला भगवानदीन आदि ने अपना अपना पक्ष जिस तरह उपस्थित किया था वह शुद्ध साहित्यिक समीक्षा नही थी, विवाद ही था। देव के काव्य का सही मूल्याकन रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में किया जिसमे उन्होने यह मत व्यक्त किया है कि देव का महत्व आचार्य रूप में नही, कवि रूप मे ही है, क्योकि कवित्व शक्ति, मौलिकता और प्रतिभा तीनो वर्तमान हैं यद्यपि अनुप्रास तथा चमत्कार के आडंबर के कारण इनकी भाषा प्रायः विकृत हो गई है। शुक्लजी की राय मे 'इन सा अर्थसौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियो मे मिलता है'[1]। हरिऔधजी ने भी देव के सबंध मे एक निबध लिखा था पर उसमें देव की भावुकतापूर्ण प्रशंसा और उनकी कविताओ के लबे लंबे उद्धरणो के अतिरिक्त और कुछ नही है। रहीम के संबंध मे शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा है कि मार्मिक जीवनाभूतियों की सच्ची अभिव्यक्ति के कारण ही तुलसी के बाद उन्ही की रचनाएँ सबसे अधिक सर्वसाधारण के मुँह पर रहती हैं। उनमें कल्पना की उड़ान नहीं, अभिव्यक्ति की सहजता है। इसी से उनकी नीति और शृंगार की रचनाएँ समान रूप से मार्मिक और सरस हो सकी है। रहीम की सभी रचनाओ का कोई बड़ा संग्रह नहीं था। अतः सन् १९२८ मे मायाशंकर याज्ञिक ने बडे परिश्रम से उनकी कविताओं की खोज करके उनका संग्रह 'रहीम रत्नावली' नाम से प्रकाशित कराया। इस ग्रंथ मे ९१ पृष्ठ की भूमिका है जिसमें कवि के जीवनवृत्त और ग्रंथो का लंबा परिचय देने के बाद उसकी विशेषताओ पर कुछ पृष्ठो मे उल्लेखकर चलता कर दिया गया है। याज्ञिकजी भी रहीम की कविता के वास्तविक जीवनानुभवों को ही उनकी लोकप्रियता का आधार मानते हैं, उनके अनुसार रहीम मे भावों का सहजोद्रेक, उनकी अयत्नज अभिव्यक्ति है, श्रमसाध्य गंभीरता या कलाकारी नहीं। अंत मे लेखक ने तुलनात्मक समीक्षापद्धति अपनाकर

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास—पृ० २९७।

रहीम की तुलना संस्कृत तथा हिंदी के कवियो से बड़े विस्तार से की है। इस प्रकार याज्ञिकजी की इस भूमिका में शुद्ध समीक्षा के तत्वो का अभाव ही है।

सेनापति के कवित्त रत्नाकर को उमाशंकर शुक्ल ने डा० धीरेंद्र वर्मा के निर्देशन में संपादित करके सन् १९३६ में प्रकाशित कराया। इसमें संपादक ने ५७ पृष्ठो की भूमिका लिखी है जो वस्तुतः एक बड़ा समीक्षात्मक निबंध ही है। इसके प्रारंभ के कविपरिचय और अंत के हस्तलिखित प्रतियो और संपादन सिद्धातोवाले अंशो को छोड़ शेष पूरी भूमिका मे सेनापति के काव्य की शास्त्रीय पद्धति से विवेचना की गई है। 'रसपरिपाक' पर विचार करते हुए संपादक ने नायिकाओ के भेदो के आधार पर भावो की व्याख्या की है जो उसकी रूढ़िवद्ध शास्त्रीय दृष्टि का परिचायक है। सेनापति के विरहवर्णन में संचारियों की कमी उसे खटकती है, उसमे मानसिक दशाओ के सूक्ष्म विश्लेपण का अभाव भी दिखाई पड़ता है, पर इस ओर उसका ध्यान नहीं जाता कि जिन भावो की व्यंजना कवि करना चाहता है उनको उसने यथार्थ जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसंगो या दृश्यो के बीच में रखकर उपस्थित किया है या नही अथवा कवि ने उन भावों की अभिव्यक्ति किस महत्तर उद्देश्य से की है। इससे स्पष्ट है कि सेनापति की काव्य की समीक्षा मे उमाशंकर शुक्ल की दृष्टि आधुनिक नही, रीतिवादी है। पर उनकी यह बात सही है कि यद्यपि सेनापति ने प्रकृति का चित्रण मुख्यतः उद्दीपन के रूप में किया है पर उस वर्णन में स्वाभाविकता और वास्तविकता है, कल्पना की उड़ान से उत्पन्न कोरा चमत्कार नहीं है। अंत मे कवि के अलंकारविधान, विशेष रूप से शिलष्ट पद योजना पर विस्तार से विचार किया गया है। इस पूरी समीक्षा में व्याख्यात्मक पद्धति अपनाकर उदाहरणो का भाष्य ही अधिक किया गया है। सेनापति का इससे कही अच्छा मूल्यांकन रामचंद्र शुक्ल ने सूत्र रूप में ही कर दिया है। उन्होने निर्णयात्मक स्वर में कहा है कि 'इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिनी, रचना बहुत ही प्रौढ़ प्राजल है। जैसे एक ओर इनमें पूरी भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूरी निपुणता भी। श्लेष का ऐसा साफ उदाहरण शायद ही और कहीं मिलेगा।'[१] शुक्लजी ने ऋतुवर्णन में सेनापति के प्रकृतिनिरीक्षण की भी बड़ी प्रशंसा की है। शुक्लजी के इन्हीं सूत्रो की व्याख्या करने का प्रयास उमाशंकर शुक्ल ने कवित्त रत्नाकर की भूमिका में किया है।

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ—२२५

मतिराम के संबंध में भी शुद्ध समीक्षा के रूप में जो कुछ लिखा है शुक्लजी ने ही लिखा है। उन्होने अपने इतिहास में मतिराम के काव्य की सरसता, भावो और भाषा की सहजता की बहुत प्रशंसा की है। उनका मत है कि 'इनका सच्चा कवि हृदय था।··· ···· भारतीय जीवन से छाँटकर लिए हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रो मे जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं'।[१] शुक्लजी ने मतिराम का महत्त्व इस बात के लिये भी माना है कि उनके अलकार ग्रंथो में उदाहरणों मे रमणीयता, सरसता और स्पष्टता बहुत अधिक है। मतिराम की इन विशेषताओ की ओर मिश्रबंधु तथा मतिराम ग्रंथावली के सपादक कृष्णबिहारी मिश्र ने भी ध्यान नही दिया था। कृष्णबिहारी मिश्र ने तो मतिराम ग्रंथावली की विस्तृत भूमिका का अधिकाश कवि के जीवनवृत्त और ग्रंथो का विवरण देने मे ही लगा दिया था। समीक्षा का अर्थ वे तुलनात्मक समीक्षा ही मानते थे, अतः शुक्लजी के शब्दो में 'भूमिका का आवश्यकता से अधिक अंश उन्होंने इस 'तुलनात्मक आलोचना' को ही अर्पित कर दिया, और बातों के लिये बहुत कम जगह रखी।'[२] द्विवेदीयुगीन आलोचको ने तो तुलनात्मक समीक्षा ही सही, मतिराम पर कुछ विचार भी किया, शुक्लयुग में तो किसी ने इस कवि की विस्तृत आलोचना लिखने की प्रवृत्ति ही नही दिखाई। बहुत बाद मे, सन् १९३९ में, हरदयालु सिंह ने मतिराम के कुछ ग्रंथो का संक्षिप्त संग्रह 'मतिराम मकरंद' नाम से प्रकाशित कराया जिसकी भूमिका मे ५० पृष्ठों मे तो कवि के जीवनचरित, उसके आश्रयदाताओ के इतिहास तथा उसकी भाषा पर विस्तार से विचार किया गया है और अंत में कुछ पृष्ठो मे उसके काव्य के अलंकारविधान, नायिकाभेद वर्णन तथा अन्य कवियों से उसके भावो के साम्य पर तुलनात्मक और व्याख्यात्मक पद्धति से विचार किया गया है। इस तरह शुद्ध समीक्षा की दृष्टि से यह ग्रंथ एकदम व्यर्थ है।

इस काल में भूषण की ग्रंथावलियाँ या काव्यसंग्रह सबसे अधिक प्रकाशित हुए। सन् १९२९ मे हिंदी साहित्य समेलन से देवव्रत शास्त्री द्वारा संपादित भूषण ग्रथावली प्रकाशित हुई। सन १९३० में व्रजरत्नदास ने दूसरी 'भूषण ग्रंथावली' संपादित कर प्रकाशित कराई। हिंदी भवन लाहौर से भी एक भूषण ग्रंथावली इसी काल में निकली जिसकी टीका राजनारायण शर्मा, भूमिका देवचंद्र विशारद ने लिखी थी। सन् १९३९ मे उदयनाराण तिवारी द्वारा संपादित 'भूषण सग्रह' का दूसरा भाग

[१] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५३।
[२] वही—पृ० ५३१।

ने लिखी भूमिका और टीका के साथ प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष हरदयालु सिंह ने भी भूषण की कविताओं का एक संग्रह 'भूषण भारती' नाम से प्रकाशित कराया। ये सभी संकलन विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से प्रकाशित हुए थे। इसी लिये उन सबमे प्रारंभ में छात्रोपयोगी लंबी भूमिकाएँ जुड़ी हुई थीं। सभी भूमिकाओं में एक ही तरह की बातों का होना यह सिद्ध करता है कि उन सबमे एक ही मूल स्रोत से सामग्री ली गई थी। उनमें से उदयनारायण तिवारी के 'भूषण संग्रह' की भूमिका के अतिरिक्त अन्य सबमें भूषण के जीवनवृत्त और रचित ग्रंथों के साथ मराठा वंश के राजाओं, मुगल बादशाहों और दक्षिण के नबाबों का ऐतिहासिक इतिवृत्त भी बड़े विस्तार से दिया हुआ है पर कवि की साहित्यिक समीक्षा रस, अलकार और भाषा पर सामान्य विचार करते हुए बहुत ही चलते ढंग से की गई है जो छात्रों के लिये ही उपयोगी हो सकती है। उदयनारायण तिवारी की भूमिका अपेक्षाकृत छोटी है क्योंकि उसमे तत्कालीन ऐतिहासिक व्यक्तियों का इतिहास नहीं दिया गया है पर उसका समीक्षात्मक अंश छात्रोपयोगी होने के कारण अत्यंत संक्षिप्त और परिचयात्मक ही है। इस तरह इन भूमिकाओं की, व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से, न तो कोई मूल्य है न वे यहाँ विचार के योग्य ही हैं। इस तरह इस काल मे भूषणसंबंधी शुद्ध समीक्षा भी शुक्लजी के इतिहास में ही मिलती है। शुक्लजी ने भूषण की महत्ता इस बात मे मानी है कि उन्होने अपने वीर काव्य का आलंबन ऐसे वीरो को चुना जो अन्याय के विरोधी और धर्मसंरक्षक होने के कारण हिंदू जनता के आदर और भक्ति के पात्र थे। इसी कारण भूषण की कविता को जनता के हृदय ने स्वीकार किया और इसी लिये भूषण 'हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि हैं।' शुक्लजी की इस मान्यता को कुछ लोग इसलिये अस्वीकार कर सकते हैं कि उन्होंने भूषण को सांप्रदायिक कवि मान लिया है। वस्तुतः भूषण के काव्य को तत्कालीन दृष्टि से राष्ट्रीय काव्य ही मानना उचित है क्योंकि उसमें अन्याय और अत्याचार का विरोध है, न कि इस्लाम धर्म का। कलात्मकता की दृष्टि से शुक्लजी ने भूषण को उच्चकोटि का कवि नहीं माना है, क्योंकि उनकी भाषा मे अनेक प्रकार के दोष हैं।

पद्माकर की कविता लोकप्रिय तो बहुत थी पर उसकी विशेषताओं का विवेचन शुक्लजी से पहले अन्य किसी व्यक्ति ने समीक्षात्मक दृष्टि से नहीं किया था। अपने इतिहास में शुक्लजी ने पद्माकर के संबंध में विचार करते हुए लिखा है कि 'ऐसा सर्वप्रिय कवि रीतिकाल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एकमात्र कारण है।······अतः जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार

प्रसिद्धि में अतिम भी।'[1] इस रमणीयता का कारण शुक्लजी के अनुसार, पद्माकर की सजीव और हाव-भाव-पूर्ण मूर्तिविधायिनी कल्पना है जिसके बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती क्योकि 'कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप से विकसित हो सकती है।'[2] शुक्लजी को पद्माकर मे इन तीनो का समुचित संयोग दिखाई पड़ता है, इसी लिये उन्होने उनकी कविता की इन तीनो तत्वो से संबधित उपलब्धियो की प्रभावात्मक ढंग से प्रशसा की है। शुक्लजी के बाद कुछ लोगो का ध्यान पद्माकर की आलोचना लिखने की ओर गया और सन् १९३४ मे अखौरी गंगाप्रसाद सिंह की 'पद्माकर की काव्यसाधना' नामक समीक्षा पुस्तक प्रकाशित हुई। 'इस पुस्तक के संबंध में शुक्लजी ने ठीक ही लिखा है कि 'पद्माकर की काव्यसाधना' द्वारा भी पद्माकर के संबंध मे बहुत सी जानकारी हो जाती है।'[3] पर वह जानकारी कवि के जीवन और रचित ग्रंथो के बारे मे ही होती है, उसकी काव्यगत विशेषताओ पर इस ग्रंथ मे अधिक प्रकाश नही डाला गया है। इसमें पद्माकर की भाषा, छंद, रस, भाव, अलकार, वस्तुचित्रण आदि के प्रसंग उठाए तो इस तरह गए है मानो इसपर शास्त्रीय ढंग से गंभीर विवेचना की जायगी पर स्वय लेखक को न तो इन विषयो के शास्त्रीय पक्ष की जानकारी है न उसे समीक्षा लिखने की पद्धति ही मालूम है जिससे वह तुलनात्मक और व्याख्यात्मक पद्धति का पल्ला पकड़कर मनमाने ढग से जो जी मे आया है लिखता चला गया है। फलतः उसने पद्माकर की संस्कृत और हिंदी के कवियो से तुलना करके ग्रंथ का आकार तो बढाया ही है, शेक्सपीयर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, ब्राउनिग, लागफेलो, टेनिसन, लिटन, थामसन, रवींद्रनाथ ठाकुर, आदि से भी उनकी तुलना कर डाली है और उन कवियो की कविताओ के उद्धरण अप्रासगिक रूप से भर दिए हैं। इस प्रकार पद्माकर का मूल्याकन इस ग्रंथ मे कुछ भी नही हो सका है।

पद्माकर की सही और शुद्ध साहित्यिक समीक्षा विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखी है जो उनके द्वारा संपादित 'पद्माकर पंचामृत' (सन् १९३५) के आमुख के रूप मे है। इसमे विश्वनाथजी ने शुक्लजी और लालाजी की समीक्षा-पद्धतियों का समन्वय करते हुए पद्माकरकालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो का विश्लेषण करने के बाद उनकी पृष्ठभूमि मे पद्माकर के जीवन

१ हिंदी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ३०७।
२ वही—पृष्ठ ३०६।
३ वही—पृष्ठ ५६३।

और काव्य को रखकर देखा है और फिर उनके प्रबंधविधान, अलंकार-निरूपण, नायिका-भेद-वर्णन, रस-भाव-निरूपण. श्रृंगार भावना, भक्ति भावना, वस्तु चित्रण, भाषा आदि की शास्त्रीय विधि से विवेचना की है। प्रबंधविधान के अंतर्गत उन्होने 'बिहारी की वाग्विभूति' में व्यक्त विचारो को ही दुहराया है और प्रबंध काव्य में नायक के चरित्र की महानता को आवश्यक ठहराते हुए पद्माकर के प्रबंध दोष दिखाए हैं। नायिकाभेद और अलंकारनिरूपण में उन्होने पद्माकर के आचार्य रूप की विद्वत्तापूर्ण ढंग से आलोचना की है। 'श्रृंगार भावना' के विवेचन में उनका सिद्धांतनिरूपण शुक्लजी से प्रभावित है पर शुक्लजी ने अपने इतिहास में पद्माकर की समीक्षा जिस पैनी दृष्टि से की है, विश्वनाथजी वैसा नहीं कर सके हैं। 'चित्रण' पर विचार करते हुए भी उन्होने शुक्लजी की 'सजीव मूर्तिविधायिनी कल्पना' वाले सूत्र की ओर बिलकुल ही ध्यान नही दिया है और रूपचित्रण संबंधी दो एक उदाहरण देकर चलता कर दिया है। उसी तरह 'भाव व्यंजना' की विवेचना भी बहुत ही सामान्य ढंग से की गई है, पर पद्माकर की भाषा की विशेषताओ, स्वरूप और दोषो का विश्लेषण विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया गया है। इस तरह यह भूमिका बहुत बड़ी न होते हुए भी पद्माकर के काव्य की शास्त्रीय समीक्षा की दिशा मे एक महत्वपूर्ण समीक्षात्मक कृति मानी जायगी।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में भिखारीदास, ठाकुर और घनानंद के संबंध में भी कुछ विस्तार से विचार किया है पर इनमें से भी सबसे अधिक प्रशंसा उन्होने घनानंद की की है। परंतु आलोच्य काल मे इन कवियों की ग्रंथावली, या उनसे संबंधित समीक्षा ग्रंथ नही प्रकाशित हुए। सन् १६५० के बाद इन कवियो की ओर आलोचको और शोधको का ध्यान विशेष रूप से गया। अतः उनके संबंध मे शुक्लजी के विचारो की आलोचना यहाँ अप्रासंगिक होगी।

(२) आधुनिक काव्य की समीक्षा—

आलोच्यकाल में प्राचीन कवियो और काव्य प्रवृत्तियो की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करने के साथ ही आधुनिक काव्य और कवियो के संबंध में व्यावहारिक समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की गईं। ये समीक्षाएँ दो रूपो मे की गई हैं—(क) काव्य प्रवृत्तियो का सामान्य विवेचन, (ख) विशिष्ट कवियो अथवा काव्य कृतियो का समीक्षात्मक मूल्यांकन।

(क) काव्य प्रवृत्तियों की समीक्षा—

आधुनिक कविता के विभिन्न युगो अथवा धाराओ की प्रवृत्तियो और विशेषताओ का विवेचन करनेवाली कोई स्वतंत्र आलोचना पुस्तक इस काल में

नहीं लिखी गई। फिर भी हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों तथा आलोचनात्मक निबंध संग्रहों में कई आलोचकों द्वारा आधुनिक काव्य की युग प्रवृत्तियों तथा काव्य-धाराओं का विवेचन विश्लेषण किया गया। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कार्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आधुनिक काव्य के विकास क्रम का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान के अंतर्गत भारतेंदु युग, द्विवेदी युग तथा छायावाद युग की काव्यगत प्रवृत्तियों, काव्यधाराओं तथा विशिष्ट कवियों और काव्यकृतियों के संक्षिप्त किंतु सारगर्भित समीक्षात्मक विवेचन द्वारा किया। भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की काव्यधाराओं का तो शुक्लजी ने मुख्यतः विवरणात्मक परिचय ही दिया किंतु छायावाद के संबंध में विचार करते समय उन्होंने उसकी प्रवृत्तिगत विशेषताओं, प्रभावों आदि का आलोचनात्मक विवेचन करने के साथ ही प्रमुख कवियों और उनके कृतित्व का अपने आलोचनात्मक मान के अनुसार सूक्ष्म विवेचन किया है, साहित्यिक इतिहास की प्रचलित पद्धति के अनुसार केवल विवरणात्मक परिचय नहीं दिया है। छायावाद और उसके कवियों के संबंध में जो आलोचना शुक्लजी ने प्रस्तुत की, उसका महत्व इतने से ही समझा जा सकता है कि परवर्ती आलोचकों ने इन कवियों के संबंध में जो आलोचनाएँ लिखीं, उनमें शुक्लजी के समीक्षात्मक निष्कर्षों को निश्चित रूप से ध्यान में रखा गया। छायावाद के संबंध में शुक्लजी के मत से बिलकुल मतभेद रखनेवाले आलोचकों को भी अपने मत का प्रतिपादन करने के लिये शुक्लजी के मत का खंडन करना पड़ा। भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की जिन सामान्य विशेषताओं की ओर शुक्लजी ने अपने इतिहास में संकेत किया, इस काल में इन युगों का प्रवृत्तिगत विवेचन विश्लेषण प्रायः वहीं तक सीमित रहा। ये दोनों युग आधुनिक काव्य विकास के प्रारंभिक युग थे जिनमें हिंदी कविता को काव्य वस्तु, भाव, भाषा सभी दृष्टियों से पूर्वपरंपरा से भिन्न नया रूप देने का प्रयास किया जा रहा था। अतः इस परिवर्तन के प्रयास में इन प्रारंभिक युगों से जो प्रवृत्तियाँ आईं वे बहुत स्थूल और स्पष्ट थीं अतः उनके सामान्य स्वरूप निर्धारण के लिये बहुत गंभीर विश्लेषणात्मक और तत्वग्राहिणी आलोचनात्मक प्रतिभा आवश्यक न थी। संभवतः इसी लिये शुक्लजी ने छायावादी काव्यप्रवृत्तियों के विवेचन और मूल्यांकन में जितनी शक्ति लगाई है, किसी सीमा तक उतनी भारतेंदु और द्विवेदी युग की सामान्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं के उद्घाटन में नहीं। बाद में शुक्लजी के ही सूत्रों को विशेष रूप से आधार बना कर उनके शिष्य कृष्णशंकर शुक्ल ने 'आधुनिक साहित्य का इतिहास (सन् १९०४) में भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का प्रभाव बतलाते हुए शुक्लजी की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप में इन युगों की सामान्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं का उद्घाटन किया।

भारतेंदु युग के काव्य का मूल्यांकन करते हुए शुक्लजी ने सूत्र रूप में उसकी अधिकाश विशेषताओ की ओर संकेत कर दिया। साथ ही आधुनिक कविता के विकास में भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उसके सहयोगियो के योग का भी उन्होने आकलन किया। उनके अनुसार कविता को नए विषयो और नूतन भावनाओं की ओर मोड़ने का श्रेय भारतेंदु युग को ही है। 'इस नए रग में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोकहित, समाजसुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे। हास्य और विनोद के नए विषय भी इस काल में कविता को प्राप्त हुए······इसी प्रकार वीरता के आश्रय भी जन्मभूमि के उद्धार के लिये रक्त बहानेवाले, अत्याचार और अन्याय का दमन करनेवाले इतिहासप्रसिद्ध वीर होने लगे। साराश यह कि इस नई धारा की कविता के भीतर जिन नए नए विषयो के प्रतिबिंब आए, वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारो का सामंजस्य भी घटित कर चले।'[१] साथ ही प्रबंधो के प्रति अपनी विशेष रुझान के कारण शुक्लजी ने यह भी लक्ष्य किया कि इस काल में अनेक प्रकार के सामान्य विषयो पर कुछ दूर तक चलती हुई विचारो और भावो की मिश्रित धारा के रूप में प्रबंध या निबंध लिखने की परंपरा चली जो भारतेंदु युग मे तो बहुत कुछ भावप्रधान रही पर आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (मैटर आफ फैक्ट) होने लगी।

भारतेंदु युग की इन विशेषताओ पर प्रकाश डालने के साथ ही शुक्लजी ने इस युग की काव्य सीमाओ को स्पष्ट करके किसी प्रकार की भ्राति के लिये अवकाश नही रहने दिया है। उनका यह निर्भ्रांत मत है कि नए विषयो और नई भावनाओ के ग्रहण के अतिरिक्त भारतेंदु युग में काव्य की परंपरागत पद्धति मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही हुआ। काव्य की भाषा भी मुख्यतः ब्रजभाषा ही बनी रही। सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर कवियो ने हृदय को बहुत दूर तक प्रवृत्त नही किया। देशभक्ति और स्वदेशप्रेम की भावना भी वर्तमान स्थिति के प्रति खिन्नता और अतीत के गुणानुवाद तक ही सीमित रही। अतः 'यह प्रेम जगाया तो गया पर कुछ नया नया होने के कारण उस समय काव्यभूमि पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित न हो सका।' जैसा कि प्रारंभ में कहा गया, कृष्णशंकर शुक्ल ने शुक्लजी की ही बातो को बहुत कुछ उन्ही के ढग से रखा। बाबू श्यामसुंदरदास ने 'हिंदी भाषा और साहित्य' में आधुनिक साहित्य पर इतने संक्षेप मे विचार किया कि उसमे इन सभी प्रवृत्तियो का उल्लेख भी नही हो सका, केवल प्रमुख विशेषताओ

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ५११।

का ही उल्लेख करके वे आगे बढ गए हैं। इस प्रकार भारतेंदु युग की काव्य-प्रवृत्तियों का विवेचन मौलिकता की दृष्टि से ही नहीं, विस्तृत अध्ययन की दृष्टि से भी आलोच्यकाल में शुक्लजी से आगे नहीं बढा।

द्विवेदी युग का भी सूत्र रूप में ही सही, शुक्लजी ने बहुत स्पष्ट प्रवृत्तिविवेचन किया है। द्विवेदीयुगीन कविता के संबंध में शुक्लजी द्वारा दिए गए इस सूत्र का ही हिंदी आलोचना मे बहुत बाद तक भाष्य होता रहा है—'द्वितीय उत्थान में काव्य की नूतन परंपरा का अनेक विषयस्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ पर द्विवेदीजी के प्रभाव से एक ओर उसमे भाषा की सफाई, दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रूखा, इतिवृत्तात्मक और अधिकतर वाह्यार्थनिरूपक हो गया।'[1] भारतेंदु युग के बाद द्वितीय उत्थान की कविता के विकास के संबंध मे शुक्लजी का मत यह था कि श्रीधर पाठक ने अपनी कविताओ द्वारा काव्य की स्वच्छंदतावादी धारा का सही अर्थ में प्रवर्तन किया किंतु सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छंदता का का यह मार्ग चल नहीं सका। जब कविता शास्त्रीय परंपरा में बँध जाती है उस समय लोक जीवन मे स्वच्छंद रूप से प्रवाहित होती हुई भावधारा को लोकानुरूप अभिव्यंजना पद्धतियों में व्यक्त करनेवाली स्वच्छंतावादी धारा का उदय होता है। श्रीधर पाठक काव्य की इस स्वाभाविक दिशा मे बढ़े किंतु उसी समय महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत काव्य के संस्कारो को लेकर हिंदी साहित्य क्षेत्र में आए और उनके प्रभाव से उस युग की काव्यप्रवृत्ति स्वाभाविक स्वच्छंदता की ओर न जाकर संस्कृत साहित्य की पद्धति की ओर चली गई।

शुक्लजी के अतिरिक्त अधिकाश आलोचक ब्रजभाषा और खड़ी का बोली संबंधी विवादो और खड़ी बोली के काव्य भाषा के रूप में विकास परिचय देने तक ही सीमित रहे या इससे आगे बढ़े भी तो खडी बोली को उत्तम काव्य के उपयुक्त बनाकर उसे व्यवस्थित रूप देने और उसे भावो की अभिव्यंजना का पर्याप्त सशक्त माध्यम बनाने को ही द्विवेदी युग की काव्यगत विशेषता मानकर अपने कर्तव्य की इति श्री समझ ली। उदाहरण के लिये हरिऔधजी ने अपने इतिहास[2] में और प्रो० सत्येंद्र ने 'गुप्तजी की कला' नामक पुस्तक के प्रारंभ मे इसी दृष्टि से इस युग का मूल्याकन किया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अवश्य शुक्लजी से भी अधिक स्पष्ट शब्दो मे उनसे पहले ही इस युग की सीमाओं का व्यंग्यात्मक शैली मे परिचय दे दिया था। कला का अभाव, इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति

[1] हिंदी भाषा और साहित्य का विकास—पुस्तकभंडार, लहेरियासराय, सन् १९३०।

के संबंध में बख्शीजी ने लिखा है कि 'उस समय हमारे कविगण स्पष्ट बातें कहते थे। उन्होंने अपनी कविताकामिनी का मुख किसी अवगुंठन से नहीं ढँका। दो एक को छोड़कर प्रायः सभी कवि आचार्य के आसन पर बैठकर लोगों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य की शिक्षा देते थे। उनकी संमति थी कि कवियों का काम मनोरंजन नहीं, शिक्षादान है। अतएव शिक्षा के नाम से वे स्कूलों की दीवारों पर चिपकाने योग्य उपदेशों के गट्ठे हिंदी के पाठकों पर लादने लगे। कोई करुणाव्यंजक स्वर से उपदेश देने लगा तो कोई निर्देशसूचक वाक्यों में शिक्षा प्रदान करने लगा'।[2] द्विवेदी युग के महत्व का उचित मूल्यांकन करने के साथ ही उसके अभावों और सीमाओं का बख्शीजी ने इस प्रकार सबसे पहले इतनी स्पष्टता के साथ परिचय दिया।

भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की अपेक्षा छायावादी कविता की प्रवृत्तियों का विवेचन और मूल्यांकन आलोच्य काल में अधिक किया गया। कारण यह था कि छायावाद का काल भी (सन् १९२० से ४०) यही था और इस काल के प्रथम दशक (सन् १९२०-३०) में पूर्व प्रवृत्तियों से भिन्न यह नई कविता इतनी नवीनता और परिवर्तन लेकर आई कि इस काल के प्रायः सभी आलोचकों ने आधुनिक काव्यविकास पर विचार करते समय इसी काव्यप्रवृत्ति के संबंध में मुख्य रूप से विचार किया। छायावादी कविता पर अधिक विचार होने का दूसरा कारण यह था कि इसके संबंध में परस्पर बिलकुल भिन्न मत रखनेवाले इसके समर्थक और विरोधी आलोचकों का दो वर्ग ही इस काल में खड़ा हो गया। छायावाद के प्रारंभ के साथ ही उसके संबंध में जो विवाद उठ खड़ा हुआ उसने समकालीन साहित्य का मूल्यांकन ही आलोचक का प्रमुख कर्तव्य माननेवाले अधिकांश नए आलोचकों को तो इस काव्यधारा पर विचार करने के लिये बाध्य किया ही, प्राचीन साहित्य में ही विशेष अभिरुचि रखनेवाले आलोचकों ने भी इस संबंध में कुछ कहना आवश्यक समझकर जहाँ कहीं अवसर मिला, कुछ कह डाला। इस संबंध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि किसी नवीन काव्यधारा का प्रारंभ होने पर शुरू शुरू में ही उसके प्रवृत्तिगत वैशिष्ट्य और विकास की दिशा को ठीक से समझ सकना बहुत कठिन होता है। छायावाद के संबंध में सन् १९३० तक विभिन्न आलोचकों द्वारा व्यक्त किए गए विचारों से इसी स्थिति की सूचना मिलती है। छायावादी कविता इस समय तक अपने विकास की स्थिति में थी, अतः इसकी सभी काव्यप्रवृत्तियाँ अपने पूर्ण और स्पष्ट रूप में सामने नहीं आ पाई थीं। इन सभी कारणों से सन् ३० के पहले छायावाद के संबंध में लिखी गई

[1] हिंदी साहित्य विमर्श, पृ० ९९-१००।

आलोचनाओं में प्रवृत्तिगत विश्लेषण और मूल्यांकन की अपेक्षा व्यक्तिगत काव्य-रुचि और संस्कार के आधार पर खंडन, मंडन की प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पड़ती है। अतः छायावाद के संबंध मे प्रारंभ मे ऐसी निर्णयात्मक आलोचनाएँ लिखी गईं, जिनमें आलोचक निर्णायक के अधिकार से छायावाद नामधारी नई कविता के हिंदी काव्यक्षेत्र मे प्रवेश के औचित्य अनौचित्य पर ही अधिक विचार करते थे। छायावादी कविता का प्रारंभ मे ही जोरदार विरोध करनेवाले द्विवेदी युग के अधिकांश आलोचकों द्वारा नई कविता के संबंध मे प्रकट किए विचार दोष-दर्शन तक ही सीमित हैं। जिन आलोचको ने इस नई कविता पर सहानुभूति-पूर्वक विचार किया, उनकी दृष्टि भी इस धारा की मूल प्रवृत्तियो और विशेषताओ तक न पहुँचकर उसकी 'रहस्यात्मकता' मे ही उलझी रह गई। इस नई काव्य-प्रवृत्ति को ठीक से न समझने के कारण छायावाद को रहस्यवाद का समानार्थी या उसका अंग समझने की भ्रांति सन् १९३० के पूर्व तक अधिकाश आलोचको ने की है। सन् १९२४ मे भी मिश्रबंधुओ को पंत के 'पल्लव' मे छायावाद नहीं दिखलाई पड़ता—'इनमे केवल छायावाद नही है वरन् इतर साहित्य के साथ कुछ कुछ वह भी मिल गया है।' यहाँ तक कि रामचंद्र शुक्ल जैसे समर्थ आलोचक ने भी छायावादी कविता की मुख्य प्रवृत्ति रहस्यवादी भावना ठहराई और नई काव्य-चेतना को रहस्यवाद या अनुकृत रहस्यवाद कहकर उन्होंने इसे हिंदी काव्य के स्वस्थ विकास के लिये घातक बतलाया। हिंदी साहित्य का इतिहास के प्रथम संस्करण (सन् १९२९) में और अन्यत्र जहाँ कहीं भी शुक्लजी ने इस नई काव्यचेतना पर विचार किया है या मत प्रकट किया है, उनकी दृष्टि पूर्वग्रहयुक्त और विरोधमूलक ही है। सन् १९३० तक इस नई कविता से सहानुभूति रखनेवाले आलोचको की भी अनिश्चितता की स्थिति दिखलाई पडती है और वे निश्चित नहीं कर पाए हैं कि इस कविता को रहस्यवाद कहा जाय या छायावाद। अतः श्यामसुंदरदास ने छायावादी कविता पर विचार करते समय लिखा है—'अब थोड़े समय से हिंदी कविता मे रहस्यवाद या छायावाद की सृष्टि हो रही है। कुछ लोग रहस्यवाद या छायावाद को आध्यात्मिक कविता बतलाते हैं'।[1] हरिऔधजी ने इस अनिश्चय के संबंध में लिखा है कि 'छायावाद शब्द कहाँ से कैसे आया, इस बात की अबतक मीमांसा न हो सकी। छायावाद के नाम से जो कविताएँ होती हैं उनको कोई 'हृदयवाद' कहता है और कोई प्रतिबिंबवाद। अधिकतर लोगों ने छायावाद के स्थान पर रहस्यवाद कहने की संमति ही दी है। किंतु अबतक तर्क वितर्क चल रहा है और कोई यह निश्चित नहीं कर सका

[1] हिंदी भाषा और साहित्य, श्यामसुंदरदास, प्रथम संस्करण सं० १९८७।

कि वास्तव में नूतन प्रणाली की कविताओं को क्या कहा जाय। इसपर लेख बहुत लिखे जा चुके हैं, पर सर्वसंमति से कोई बात निश्चित नहीं की जा सकी।'[१] किंतु छायावाद नाम के ग्रहण की सलाह देते हुए भी हरिऔधजी स्वयं छायावाद या रहस्यवाद की उलझन में पड़ गए हैं क्योंकि इस प्रसंग में वे रहस्यवाद की परंपरा और उसके सिद्धांत के संबंध में ही विचार करने में विशेष रूप से प्रवृत्त हो गए हैं और अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'इसका प्राचीन नाम रहस्यवाद ही है जिसे अँगरेजी में मिस्टिसिज्म कहते हैं। उसी का साधारण संस्करण छायावाद है।'[२] पुराने आलोचकों द्वारा छायावाद के संबंध में लिखी गई प्रारंभिक आलोचनाओं में सबसे स्पष्ट और निर्भ्रांत आलोचना पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी द्वारा 'हिंदी साहित्य विमर्श' नामक पुस्तक के 'आधुनिक हिंदी काल' शीर्षक निबंध में की गई है। महत्व की बात यह है कि यह निबंध सन् १९२३ में लिखा गया था जब कि छायावादी कविता अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था में थी। बख्शीजी पहले आलोचक हैं जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में छायावाद के नाम से प्रचलित कविताओं की मुख्य प्रवृत्ति 'रोमैंटिसिज्म' बतलाई। यद्यपि इस निबंध में तबतक (सन् १९२३ तक) लिखी गई छायावादी कविताओं, विशेष रूप से पंत का 'पल्लव' – के ही आधार पर छायावाद की प्रवृत्तियों पर बहुत संक्षेप में विचार किया गया है किंतु तब भी वे विचार संपूर्ण छायावादी कविता के लिये कुछ सीमाओं के साथ उतने ही सही हैं। बख्शीजी ने भावोन्माद, कल्पनाशीलता और प्रकृतिसौंदर्य के प्रति अत्यधिक कुतूहल और विस्मय के भाव को छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति माना है और रहस्यात्मकता का कारण उन्होंने अनुभूति की प्रधानता और कल्पना का आधिक्य बताया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावाद के संबंध में बख्शीजी के मत को ही बाद में अधिकांश आलोचकों ने मान्यता दी और आज भी अधिकांश आलोचक अन्य प्रवृत्तियों के साथ साथ इन्हें भी छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति मानते हैं। छायावाद के प्रवृत्तिगत विवेचन की दिशा में इसे प्रथम, पूर्वग्रहहीन, वास्तविक समीक्षात्मक मूल्यांकन कहा जा सकता है। छायावाद में किसी एक भाव (रहस्यवाद) या एक शैली के स्थान पर भाव और शैली के वैविध्य को भी बख्शीजी ने सबसे पहले लक्ष्य किया और इस आधार पर उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'हमारी समझ में तो छायावाद के नाम से प्रचलित कविताओं में न तो भावों की एकता है, न विचारों की और न शैली की···उसमें मिस्टिसिज्म तो नहीं, रोमैंटिसिज्म अवश्य है।'[३]

१ हिंदी भाषा और साहित्य का विकास।

२ वही।

३ हिंदी साहित्य विमर्श, पृ० १०९।

किंतु छायावाद के संबंध में बख्शीजी के इस स्पष्ट मत के बाद भी द्विवेदी युग के आलोचक अनिश्चय की स्थिति में ही रहे और इस अनिश्चय की स्थिति को दूर करने के लिये छायावादी कवियों को स्वयं आलोचना के क्षेत्र में उतरकर छायावाद और रहस्यवाद का स्वरूप, उनका अंतर और परिभाषा आदि स्पष्ट करनी पड़ी। प्रसाद और महादेवी ने छायावाद और रहस्यवाद पर स्वतंत्र रूप से गंभीर आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किए। साथ ही इस काल में आधुनिक साहित्यिक चेतना से युक्त ऐसे कई आलोचक समीक्षा के क्षेत्र में आए जिनकी दृष्टि और समीक्षात्मक प्रतिमान पूर्ववर्ती आलोचकों से भिन्न थे। नंददुलारे वाजपेयी और नगेंद्र ऐसे ही आलोचक हैं जिन्होंने हिंदी की आधुनिक काव्यप्रवृत्तियों पर विचार किया और छायावाद तथा रहस्यवाद संबंधी भ्रांतियों का निराकरण करके उसकी मूल प्रवृत्तियों और विशेषताओं का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया। छायावाद, रहस्यवाद के संबंध में लिखी गई इनमें से कुछ गंभीर आलोचनाओं के परिणामस्वरूप ही शुक्लजी को अपने हिंदी साहित्य के इतिहास के परिवर्द्धित संस्करण (सन् १९४०) में इन काव्यप्रवृत्तियों के संबंध में विस्तार से गंभीरतापूर्वक विचार करना पड़ा।

काव्य कला तथा अन्य निबंध में संगृहीत प्रसादजी के 'यथार्थवाद और छायावाद' तथा 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध तत्कालीन काव्यप्रवृत्तियों के मूल्यांकन की दिशा में ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबंध में सबसे पहले यह स्पष्ट किया गया कि हिंदी में जब पौराणिक घटना और बाह्य स्थूल वर्णन को छोड़कर वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिंदी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। साथ ही उन्होंने नवीन पदयोजना नया वाक्यविन्यास और शैलीगत नवीनता को आभ्यंतर सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति का अनिवार्य परिणाम बतलाया। इस प्रकार उन्होंने इस मत का खंडन किया कि छायावाद रहस्यवाद का पर्याय या अभिव्यंजना की नवीन पद्धति मात्र है। इस प्रसंग में प्रसादजी ने शब्दों के प्रयोग, भिन्न प्रयोग से नवीन अर्थ उत्पन्न करने की उनकी शक्ति, शब्दार्थ की वक्रता तथा ध्वन्यात्मकता आदि के संबंध में शास्त्रीय विचार प्रस्तुत करते हुए इस नवीन अभिव्यंजना पद्धति की पूर्व परंपरा बतलाकर विद्वत्तापूर्वक यह प्रतिपादित किया कि 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीकविधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।'[1] छायावाद के वस्तुगत और शैलीगत

[1] काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृ० ९२।

विश्लेषण की दृष्टि से यह प्रथम गंभीर विचारोत्तेजक समीक्षा है जिसने हिंदी के पुराने आलोचकों को छायावाद के संबंध में अपने विचारों में संशोधन करने तथा नए आलोचकों को भाष्य करने के लिये महत्वपूर्ण विचारसूत्र तथा दृष्टि मिली। 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध प्रमुखतः शोधात्मक है और आधुनिक रहस्यवाद को शुद्ध भारतीय परंपरा की देन सिद्ध करना ही उसका प्रधान उद्देश्य है। भारतीय दर्शन के गंभीर अध्ययन द्वारा प्रसादजी ने इस निबंध में भारतीय रहस्यवाद के मूल स्रोत और विकास का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन काव्य में रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना को भारतीय रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास सिद्ध किया है। यह निबंध शुक्लजी के 'काव्य में रहस्यवाद' का उत्तर है। शुक्लजी ने आधुनिक रहस्यवादी कविताओं को पाश्चात्य रहस्यवाद की अनुकृति माना था। प्रसादजी के इस निबंध का सैद्धांतिक महत्व तो है ही, व्यावहारिक समीक्षा को भी इस निबंध की बहुत बड़ी देन यह है कि छायावाद और रहस्यवाद को समानार्थी और छायावाद को रहस्यवाद का अंग समझने की भ्रांति दूर हुई।

जैसा कि पहले बताया गया छायावाद और रहस्यवाद संबंधी इन गंभीर समीक्षाओं के बाद अपने मत प्रतिपादन के लिये शुक्लजी को अपने इतिहास के संशोधित संस्करण में छायावादी कविताओं पर विस्तार से विचार करना पड़ा। यद्यपि छायावाद के उनके विवेचन से आज के अधिकाश आलोचक असहमत हैं, किंतु शुक्लजी ने अपनी समीक्षाओं में जिस बौद्धिक स्तर पर और तर्कपूर्ण विवेचनपद्धति द्वारा अपने निष्कर्षों को रखा है, वे ऐसे नहीं हैं कि उनकी यों ही उपेक्षा करके कोई आगे बढ़ सके। उन्होंने छायावाद को दो अर्थों में लिया है, एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है, अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन मानकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से अभिव्यंजना करता है, और दूसरे काव्यशैली या पद्धतिविशेष के व्यापक अर्थ में। छायावाद के प्रथम और मूल अर्थ में वे महादेवी वर्मा को ही छायावादी मानते हैं। उनके मतानुसार 'पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीकपद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए।' इस प्रकार रहस्यवाद से भिन्न छायावाद शुक्लजी के अनुसार विशिष्ट काव्यशैली मात्र हैं अतः वस्तु की दृष्टि से छायावाद की मुख्य प्रवृत्ति रहस्यवाद मानकर शुक्लजी ने यह मत व्यक्त किया है कि 'बँगला कविताओं, विशेष रूप से रवींद्रनाथ के प्रभाव या अनुकरण के परिणामस्वरूप, हिंदी में यह काव्यप्रवृत्ति आई और बंगाल में इस प्रकार की कविताएँ पुराने ईसाई संतो के छायाभास (फॅन्टासमाटा) तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (सिम्बालिज्म) के अनुकरण पर' लिखी गईं। प्रसादजी ने उपर्युक्त निबंध में शुक्लजी के इसी मत का खंडन किया है जिसका उत्तर

शुक्लजी ने अपने इतिहास के इस संशोधित संस्करण में दिया। उनके अनुसार साधनात्मक रहस्यवाद की परंपरा तो भारतवर्ष में अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है किंतु 'अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर कामवासना के शब्दों में प्रेमव्यंजना भारतीय काव्यधारा में कभी नहीं चली।' शुक्लजी छायावाद की रहस्यवादी कविताओं पर बंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओं का प्रभाव तथा अन्य कविताओं को अंगरेजी के कलावाद और अभिव्यंजनावाद का अनुकरण मानते हैं। अतः नवीन अभिव्यंजना पद्धतियों का सुंदर विकास ही वे छायावाद की मुख्य उपलब्धि मानते हैं। शुक्लजी के इस विवेचन से असहमत होने पर भी इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने छायावाद को काव्यशैली मानकर छायावादी कविता की अभिव्यंजना पद्धतियों का सूक्ष्म विश्लेषण कर दिया है। शुक्लजी के इस विवेचन की दूसरी महत्वपूर्ण देन यह है कि आलोचकों ने उन पाश्चात्य प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान दिया जिनका प्रभाव छायावादी कविताओं पर बतलाया गया था। अँगरेजी के लाक्षणिक प्रयोगों और अन्य अभिव्यंजना पद्धतियों को छायावादी कवियों ने ज्यों का त्यों उठा लिया है, इस मत ने अँगरेजी की रहस्यवादी और स्वच्छंदतावादी कविता के साथ छायावादी कविता के तुलनात्मक अध्ययन को विशेष गति दी।

शुक्लजी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' संशोधित और परिवर्द्धित रूप में सन् १६४० में प्रकाशित हुआ। पर इस संस्करण में भी आधुनिक कविता (छायावादी कविता के प्रति उनके दृष्टिकोण में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ा किंतु स्वर अवश्य बदल गया था। छायावाद को काव्य की एक शैली मानते हुए भी उन्होंने यह स्वीकार किया कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत् और जीवन के और और मार्मिक पक्षों की ओर बढ़ते दिखाई दे रहे हैं।' इस स्वरपरिवर्तन का कारण तबतक प्रकाशित छायावादी कविताओं का स्पष्ट रूप और उनका विशेष अध्ययन तो था ही, साथ ही तब तक छायावादी कविता के संबंध में लिखी गई अन्य महत्वपूर्ण समीक्षाओं ने भी उन्हें स्वर बदलने के लिये बाध्य किया। छायावादी कविता के विशिष्ट कवियों के संबंध में सन् १६३१–३२ तक नंददुलारे वाजपेयी की गंभीर विश्लेषणात्मक समीक्षाएँ प्रकाश में आने लगी थीं। डा० नगेंद्र ने अपनी पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' में पंतजी के काव्य के विविध पक्षों पर विस्तृत और गंभीर समीक्षा प्रस्तुत की थी। इस प्रकार तबतक छायावाद विवाद की सीमा पार करके अपने विकास की उस सीमा पर पहुँच चुका था जब कि सामान्य प्रवृत्तिगत विवेचन के स्थान पर एक एक कवि और प्रवृत्ति को लेकर उसका विशिष्ट अध्ययन करने की आवश्यकता का अनुभव लोग करने लगे थे। सन् १६४० तक महादेवी वर्मा द्वारा छायावाद

और रहस्यवाद की दार्शनिक और भावनात्मक भूमिका तथा पं० शांतिप्रिय द्विवेदी द्वारा उसका भावात्मक और सौंदर्यपरक मूल्यांकन प्रस्तुत किया जा चुका था।

नंददुलारे वाजपेयी ने छायावादी कविता का स्वतंत्र प्रवृत्तिगत विश्लेषण तो नहीं किया है किंतु विभिन्न छायावादी कवियों के संबंध में 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में १६३० से ४० के बीच लिखी गई जो समीक्षाएँ संगृहीत हैं, उनसे उनका मत स्पष्ट हो जाता है। इन कवियों के मूल्यांकन के प्रसंग में छायावाद के संबंध में शुक्लजी तथा अन्य समीक्षकों की भ्रांत धारणाओं का उल्लेख करते हुए अनेक स्थानों पर उन्होंने अपना स्पष्ट मत भी व्यक्त किया है। १६३१ में लिखे गए 'जयशंकर प्रसाद' शीर्षक निबंध में उन्होंने छायावाद को एक नवीन सांस्कृतिक और दार्शनिक चेतना की देन बतलाते हुए स्पष्ट कहा था कि 'इस छायावाद को हम पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणालीविशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी।"[1] वाजपेयीजी की दृष्टि मुख्यतः सौंदर्यवादी है और उनकी समीक्षापद्धति स्वच्छंदतावादी। अतः छायावादी सौंदर्यबोध के ग्रहण की उनकी जैसी समीक्षात्मक प्रतिभा कम आलोचकों में दिखलाई पड़ती है। इस कारण अपने निबंधों में छायावादी कविताओं की निजी विशेषताओं के उद्घाटन के साथ छायावाद और रहस्यवाद का स्वरूप-भेद वे अधिक स्पष्टता के साथ बतला सके हैं। वाजपेयीजी के अनुसार 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान' छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। उनके मत में छायावाद और रहस्यवाद में व्यष्टि सौंदर्यबोध और रहस्यवाद में समष्टि सौंदर्यबोध की अनुभूति को अभिव्यक्ति मिलती है। व्यष्टि-सौंदर्य-दृष्टि और समष्टि सौंदर्य-दृष्टि में अंतर न करने के कारण ही छायावाद और रहस्यवाद के स्वरूपभेद को समझने में लोगों को कठिनाई होती है।

डा० नगेंद्र ने अपनी पुस्तक सुमित्रानंदन पंत (सन् १६३८) में संभवतः पहली बार छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों पर स्वतंत्र रूप से गंभीर समीक्षा प्रस्तुत की। यद्यपि यह पुस्तक पंतजी के काव्य की समीक्षा से संबध रखती है किंतु पुस्तक के प्रारंभ में इसमें छायावाद पर भी विचार किया गया है। इसके पूर्व छायावाद पर जो निबंध लिखे गए थे, उनमें छायावादी कविताओं के आधार पर उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों पर उतना विचार नहीं किया गया था

[1] हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी—पृ० १३३।

जितना छायावाद शब्द के अर्थ, उसके स्वरूप और परिभाषा आदि के संबंध में। साथ ही स्वपक्ष समर्थन और महत्व प्रतिपादन का आग्रह भी इसके पूर्व अधिक था। किंतु १९३८ तक छायावाद का विकास भी पूर्ण हो गया और वाजपेयीजी ने अपनी गंभीर समीक्षाओं द्वारा उसका स्वरूप और उसकी प्रवृत्तियों को भी, कवियों को व्यक्तिगत रूप से लेकर, बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया। अतः इस समय तक अनिश्चितता की स्थिति दूर हो गई थी। फिर भी समग्र रूप से छायावादी- काव्यप्रवृत्तियों का विवेचन अभी होना बाकी था। डा० नगेंद्र ने अपनी पुस्तक द्वारा यह कार्य भी पूरा कर दिया। उन्होंने शुक्लजी की तरह ही छायावाद को द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया कहकर स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है। आज कई आलोचक इस मत को नहीं मानते, वे द्विवेदी युग और छायावाद दोनों को सीधे रीतिकाल के प्रति विद्रोह मानते हैं। इन आलोचकों के अनुसार भारतेंदु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग नवीन सांस्कृतिक उत्थान के तीन चरण हैं। छायावाद इस सांस्कृतिक चेतना की चरम परिणति है। नगेंद्रजी छायावाद को रीतिकाल और द्विवेदी युग दोनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया मानते हैं। साथ ही वाजपेयीजी की तरह उन्होंने भी छायावाद को नवीन सांस्कृतिक जागरण का साहित्यिक रूप माना है। यही नहीं, नगेंद्रजी पहले आलोचक हैं जिन्होंने अँगरेजी के 'रोमैंटिक रिवाइवल' और हिंदी के छायावाद को समान परिस्थितियों से उत्पन्न एक विशेष प्रकार की जागृति का साहित्यिक रूप, बतलाकर शुक्लजी के 'पाश्चात्य अनुकरण' संबंधी मत का खंडन किया। इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि छायावादी और अँगरेजी की स्वच्छंदतावादी कविता में पाई जानेवाली समान काव्यप्रवृत्तियों का कारण समान परिस्थिति और एक सी सांस्कृतिक चेतना है। छायावादी काव्यसमीक्षा को नगेंद्रजी की यह महत्वपूर्ण देन है, जिसके आधार पर आगे चलकर अनेक आलोचकों ने इस समान परिस्थिति की विशद विवेचना थी। नगेंद्रजी की दूसरी महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने छायावाद की कुछ प्रमुख काव्यप्रवृत्तियों को अलग अलग लेकर सोदाहरण उनका विवेचन उपस्थित किया। छायावादी कवियों की प्रकृति और मानव जगत् के प्रति भावना, उनकी सौंदर्यदृष्टि, आत्माभिव्यंजन की प्रवृत्ति और स्थूल नैतिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह तथा दुःखवादी और रहस्यवादी भावना पर विचार करने के साथ ही उन्होंने उसकी कलात्मक उपलब्धियों पर भी संक्षेप मे विचार किया है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि छाया-वाद के सही मूल्यांकन की दिशा मे नगेंद्रजी की यह विशिष्ट देन है।

इसके बाद महादेवी वर्मा ने अपने 'छायावाद' शीर्षक निबंध ('महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' मे संगृहीत) में बहुत विस्तार के साथ छायावादी कविता की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उसकी विविध प्रवृत्तियों और

विशेषताओं पर विचार किया। छायावाद के संबंध में सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करनेवाला यह प्रथम विस्तृत प्रबंधात्मक आलोचना है। यह निबंध महादेवीजी के अन्य निबंधो की तरह ही काव्यगुणो से युक्त भावात्मक शैली मे लिखा गया है, अतः इसमें स्फीति बहुत है। उस समय सामाजिक, और राजनीतिक स्थितियो की पृष्ठभूमि मे रीतिकाल, द्विवेदी युग और छायावाद युग की सास्कृतिक और साहित्यिक चेतना का मूल्याकन इसकी निजी विशेषता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमे छायावादी कविता के संबंध में नवोदित प्रगतिवादियो के आरोपो का भी विस्तार से उत्तर दिया गया है।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि आलोच्य काल के अंतिम वर्षों (सन् १६३६-४०) में छायावाद के पूर्ण विकास के साथ ही हिंदी में प्रगतिवादी विचारधारा भी आ गई थी और आदोलन के रूप में ४, ५ वर्षों में ही उसने काफी 'तूफान' उठा दिया था। इस आदोलन ने कई कवियो का भी प्रभावित किया और साथ ही कुछ ऐसे साहित्यिक समीक्षकों को भी जन्म दिया जिन्होने मार्क्सवादी दृष्टि से आधुनिक साहित्य का परीक्षण मूल्याकन किया। मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय समीक्षा सिद्धात के अंतर्गत इनके काव्यसिद्धातो पर पहले विचार किया जा चुका है। इन समीक्षको ने भी छायावादी काव्य प्रवृत्तियो पर मार्क्सवादी दृष्टि से विचार किया है। आलोच्य काल में मार्क्सवादी दृष्टि से छायावादी कविता पर चलती टीका टिप्पणी तो कई लोगों ने की है, लेकिन इस कसौटी पर उसकी अच्छी तरह जॉच शिवदान सिंह चौहान ने 'छायावादी कविता मे असंतोष की भावना' शीर्षक अपने ३१ पृष्ठ के विस्तृत निबंध[१] में (सन् १६४० में) की थी। हिंदी मे छायावादी कविता पूँजीवाद की कविता है और उसमें पूँजीपति वर्ग या मध्यम वर्ग की वर्गभावना की अभिव्यक्ति हुई है, इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होने यह प्रतिपादित किया है कि 'छायावादी कवि प्रारंभ में क्रातिकारी के रूप में अवतरित हुआ। उसने कविता को सामंती बंधनो से मुक्त कर दिया, किंतु पूँजीजीवी मनोवृत्ति होने के कारण वह नवीन समाज (पूँजीवादी समाज) के संश्लिष्ट बंधनो की कल्पना न कर पाया। उनमें स्वयं को जकड़ा पाकर वह समस्त बधनों और समाज-संबंधों के प्रति विद्रोही बन गया।'[२] किंतु चौहान के अनुसार छायावाद की यह विद्रोहभावना भ्रातिमूलक और निष्क्रिय है और ये भावनाएँ 'आधुनिक

१ आधुनिक हिंदी साहित्य—सं० सच्चिदानंद हीरानंद, वात्स्यायन, पृ० १३८-१६६।
२ वही, पृ० १६०।

जीवन की आवश्यकताओं से पराङ्मुख व्यक्ति के मूल असंतोष के प्रतीक हैं'। कारण यह है कि अनियंत्रित स्वतंत्रता का भ्रम टूटते ही छायावादी कवियों का असंतोष निरुद्देश्य और लक्ष्यभ्रष्ट हो गया और कवि वास्तविकता से पलायन करने लगा। पूँजीवादी समाज की वास्तविकता ने छायावादी कवियों को अहंवादी आत्मावेसी, समाजविरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया। इस प्रकार चौहानजी के अनुसार छायावादी काव्य में मुख्यतः कुंठा, निराशा और वास्तविकता से पलायन तथा अहंवाद की प्रवृत्तियों को ही अभिव्यक्ति मिली है।

छायावाद की यह मार्क्सवादी समीक्षा द्विवेदीयुगीन समीक्षा की तरह ही एकांगी और पूर्वग्रहयुक्त है जिसमें प्रगतिवाद की स्थापना के लिये छायावाद की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को जानबूझकर छोड़ दिया गया है और अपने मत के समर्थन में ऐसी ही कविताओं को उद्धृत किया गया है जो लेखक की उद्देश्य-सिद्धि में सहायक हों। अधिकांश उदाहरण महादेवी और बच्चन की कविताओं से ही दिए गए हैं। यहाँतक कि छायावाद को प्रतिगामी प्रवृत्ति का कार्य सिद्ध करने के अत्यधिक आग्रह के कारण प्रसाद की कविताओं के मूल भाव को छोड़कर 'अनर्थ' भी किया गया है।

जैसा कि पहले कहा गया, प्रगतिवादी आंदोलन के कारण आलोच्य काल में प्रगतिवाद की ओर कई कवि उन्मुख हुए। पंतजी सन् १९३८ तक प्रगतिवाद के प्रमुख कवि हो गए। अतः इस काल में हिंदी की प्रगतिवादी कविता के संबंध में भी कुछ आलोचकों ने सिद्धांत प्रतिपादन और प्रवृत्तिगत विवेचन करना प्रारंभ कर दिया। किंतु सैद्धांतिक वादविवाद तथा खंडनमंडन की प्रवृत्ति ही इनमें प्रधान रूप से दिखलाई पड़ती है। प्रगतिवादी आंदोलन एक विशेष राजनीतिक मतवाद के साथ जुट जाने के कारण बहुत कुछ सीमित हो गया। उस काल की कविता के आधार पर आलोच्य काल में उसका स्पष्ट प्रवृत्तिगत विवेचन नहीं प्रस्तुत किया गया। शिवदान सिंह चौहान तथा प्रकाशचंद्र गुप्त ने अपने निबंधों में प्रवृत्तियों का विस्तृत और गंभीर विवेचन न प्रस्तुत करके महत्व प्रतिपादन ही विशेष रूप से किया। प्रकाशचंद्र गुप्त ने 'हिंदी में प्रगतिवाद' शीर्षक निबंध में भारतेंदु से लेकर छायावाद तक की राष्ट्रीय धारा की कविताओं में प्रगतिवाद की पूर्वपरंपरा बतलाकर अंत में प्रगतिशील लेखक संघ के तत्वावधान में प्रगतिवादी आंदोलन को मजबूत करने की यह 'राजनीतिक' माँग की है कि 'हमें आशा है कि नवयुग के लेखक संस्कृति की रक्षा में हमारी सेना की दूसरी दीवार बनेंगे और हमारे व्यूह को अभेद्य बना देंगे।'[1] एक विशेष

[1] नया हिंदी साहित्य, एक दृष्टि—प्रथम संस्करण, १९४०, पृ० २२८।

मतवाद के राजनीतिक नारों की यह अपनी शब्दावली है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। सही बात यह है कि प्रगतिशील लेखक संघ की 'प्रगतिवादी धारणा' में निरंतर परिवर्तन होते रहने के कारण आलोच्य काल में प्रगतिवाद का कोई निश्चत रूप ही स्थिर नहीं हो सका था।

(ख) कवियों और काव्यग्रंथों की समीक्षा

काव्यप्रवृत्तियों की समीक्षा के अतिरिक्त आलोच्य काल में आधुनिक युग के विभिन्न कवियों और उनकी कृतियों के संबध में भी विभिन्न आलोचकों द्वारा समीक्षाएँ लिखी गई। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने आधुनिक साहित्य पर विचार करते हुए अपने हिंदी साहित्य के इतिहास के परिवर्द्धित संस्करण में कुछ कवियों के काव्य वैशिष्ट्य का समीक्षात्मक विवेचन भी किया। नंददुलारे वाजपेयी ने हरिऔध, जगन्नाथदास रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला के संबंध में (सन् १९३१ से ३६ तक) गंभीर समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं, जो बाद में 'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी इसी काल में छायावादी कवियों की भावात्मक समीक्षा की। इसके अतिरिक्त कई आलोचकों ने कुछ कवियों को लेकर स्वतंत्र समीक्षाग्रंथ लिखे। यहाँ इन कवियों को अलग अलग लेकर उनके संबंध में लिखी गई आलोचनाओं पर विचार करना अधिक उपयुक्त होगा।

१—जगन्नाथदास रत्नाकर

रत्नाकरजी के संबंध में इस काल में नंददुलारे वाजपेयी ने निबंध रूप में और कृष्णशंकर शुक्ल ने पुस्तक रूप में समीक्षाएँ लिखी। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में संगृहीत 'रत्नाकर' शीर्षक निबंध की रचनातिथि वाजपेयीजी ने सन् १९३१ दी है। इसके चार वर्ष बाद १९३५ में कृष्णशंकर शुक्ल की 'कविवर रत्नाकर' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। ये दोनों समीक्षाएँ एक दूसरे की पूरक कही जा सकती हैं। वाजपेयीजी का निबंध कुल ११ पृष्ठों का है, जिसमें रत्नाकरजी के कविव्यक्तित्व और काव्यवैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने इस बात पर ही विशेष रूप से विचार किया है कि आधुनिक काव्यचेतना के संदर्भ में व्रजभाषा की परंपरागत शैली में लिखी गई उनकी कविताओं का क्या मूल्य और महत्व है। काव्यसौदर्य का विश्लेषण विवेचन इसमें नहीं है। रत्नाकरजी की काव्योपलब्धि का स्वच्छंद दृष्टि से आकलन ही इस निबंध का उद्देश्य है। वाजपेयीजी पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के कारण समीक्षा की आधुनिक दृष्टि लेकर समीक्षा क्षेत्र में आए थे। अतः उनकी दृष्टि हिंदी कविता तक ही सीमित न रहकर पाश्चात्य काव्योपलब्धियों तक पहुँची है। इस निबंध में भी उन्होंने रत्नाकरजी

को अंग्रेजी के उन क्लैसिकल कवियो की श्रेणी में रखा हैं, जो प्राचीन वातावरण को पसंद करते, पुरानी ग्रीक, लैटिन अथवा अँगरेजी के काव्यग्रंथो का अध्ययन करते और उन्ही की शैली को अपनाते हैं। सभी दृष्टियो से आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियो से भिन्न होने और प्राचीन वातावरण की सृष्टि करने के कारण ऐमे कवियो मे अनोखेपन की नवीनता का आनंद मिलता है। वाजपेयीजी के अनुसार रत्नाकरजी के काव्य से भी ऐसा ही आनद मिलता है। किंतु इस आनंद के आधार पर वे रत्नाकरजी को उत्कृष्ट कवि मानने को तैयार नही हैं। उनके अनुसार 'विगत युग के संस्कारो की स्थापना नव्यतर युग मे करना निसर्गतः एक कृत्रिम प्रयास है। वह काव्य सुशोभन और गौरवास्पद हो सकता है किंतु वह युग का अनिवार्य काव्य नहीं कहा जा सकता। उत्कृष्ट साहित्य सदैव अनिवार्य ही हुआ करता है'।[१] रत्नाकरजी के काव्य में ऐसी कोई मौलिकता या अनिवार्यता नही हैं, अतः स्पष्ट है कि वाजपेयीजी उनके काव्य को उत्कृष्ट काव्य की श्रेणी मे नही रखते। उनके अनुसार सूर, तुलसी से प्रारभ होनेवाली हिंदी की क्लैसिकल परंपरा के रत्नाकरजी अंतिम श्रेष्ठ कवि हैं और आधुनिक युग के प्राचीन परपरावाले क्लैसिकल कवियो मे उनका शीर्ष स्थान है। यह स्थान भी उनको 'उक्तिकौशल, अलंकार, भाषा की कारीगरी और छंदो की सुघरता और पांडित्य' के कारण दिया जायगा। अतः निबंध मे मुख्य रूप से छंदो की कारीगरी, संगीतात्मता और भाषा के संबंध मे विचार करके वाजपेयीजी ने इस एक वाक्य से ही रत्नाकरजी के संपूर्ण वैशिष्ट्य को स्पष्ट कर दिया है कि 'भक्तों की अपेक्षा रत्नाकर कम रसमय किंतु अधिक सूक्तिप्रिय हैं। रीति कवियो की अपेक्षा वे साधारणतः अधिक भावनावान्, अधिक शुद्ध और गहन संगीत के अभ्यासी हैं।'[२] रत्नाकरजी के काव्य की यह समीक्षा संक्षिप्त होते हुए भी उनकी उपलब्धि के मूल्यांकन की दृष्टि से पर्याप्त है।

कृष्णशंकर शुक्ल ने अपनी पुस्तक मे रस अलंकार की शास्त्रीय पद्धति से रत्नाकरजी के काव्य की व्याख्यात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। आलोचक ने प्रारंभ मे स्वयं अपनी समीक्षापद्धति और समीक्षात्मक प्रतिमान, जिसके आधार पर पुस्तक मे समीक्षा की गई है, स्पष्ट कर दिया है - 'किसी कवि विशेष की कविताओं का अध्ययन करते समय हमे यही देखना है कि वह उनके द्वारा हमें सामान्य भावभूमि तक पहुँचाने में कहाँतक समर्थ हुआ है अर्थात् सामान्य भावालंबन

[१] हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ० २१।
[२] हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ० ३०।

प्रस्तुत कर हमें कितने भावो में तथा कितनी गंभीरता तथा तन्मयता से मग्न करने में सफल हुआ है हमे यह भी देखना होगा कि वह किसी विशेष भावधारा के अंतर्गत आनेवाली कितनो वृत्तियो का निरीक्षण तथा अभिव्यंजन कर सकता है। ये सब कवि के साध्य है। इनके साथ ही हमे कवि के साधनो का भी अध्ययन करना होगा। उसने भावाभिव्यंजन के लिये कैसी शैलियो का अनुसरण किया है।'[१] इस सिद्धात कथन के बाद शुक्लजी 'अभिव्यंजन शैलियो के अध्ययन की ओर अग्रसर होते हैं'। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अभिव्यंजन शैलियो से शुक्लजी का तात्पर्य स्थायी भावों की व्यंजना द्वारा रसनिष्पत्ति कराने मे योग देनेवाले विभाव, अनुभाव और संचारी भावो के चित्रण से है। रसावयवो के चित्रण को अभिव्यंजना शैली कहकर आधुनिकता का आभास उत्पन्न करना बहुत भ्रमोत्पादक है। अतः 'अभिव्यंजना शैलियाँ' शीर्षक देकर दूसरे अध्याय में अनुभावचित्रण के अन्तर्गत दशाओ, चेष्टाओ आदि के उदाहरण व्याख्या के साथ उपस्थित किए गए हैं। तीसरे अध्याय में विभावचित्रण और चौथे अध्याय मे भावचित्रण के अंतर्गत एक एक रस को लेकर रत्नाकरजी की कविताओ से अनेक उदाहरण देकर व्याख्यात्मक शैली में उनका सौंदर्य दिखलाया गया है। 'यह इन पंक्तियो में देखिए', 'एक उदाहरण देखिए', 'देखिए कवि ने इसका कैसा सुंदर उपयोग किया है,' की शैली मे ही अधिकाश व्याख्या उपस्थित की गई है। इस प्रकार रसविवेचन की शास्त्रीय पद्धति से भाव, विभाव, अनुभाव के चित्रण की सोदाहरण व्याख्या इस समीक्षा की विशेषता है। छठे और सातवे अध्याय मे उसी पद्धति से अलंकार और भाषा पर भी विचार किया गया है। अंतिम दो अध्यायो में 'उद्धव शतक' और 'गंगावतरण' के सबंध में अलग से विचार किया गया है। अंतिम अध्याय में गंगावतरण के मूल स्रोत पर विचार करने के साथ वाल्मीकि रामायण के उन अंशो को भी उद्धृत किया गया है जिनका रत्नाकरजी ने अविकल अनुवाद कर दिया है। गंगावतरण के मूल्याकन की दृष्टि से यह अध्याय महत्वपूर्ण है। कुल मिलाकर यह समीक्षा पुस्तक रस पद्धति की छात्रोपयोगी व्याख्यात्मक समीक्षा कही जा सकती है। वाजपेयीजी की तरह युगचेतना के संदर्भ मे रखकर इसमें रत्नाकरजी का मूल्याकन नहीं किया गया है और न तो इसी बात पर विचार किया गया है कि आधुनिक युग में मध्ययुगीन प्रवृत्ति और शैली को अपनाकर लिखे गए अच्छे से अच्छे काव्य को भी कितना महत्व दिया जायगा।

१ कविवररत्नाकर, पृ० ६।

२—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हरिऔधजी के बारे में कोई उत्कृष्ट समीक्षा इस काल में नहीं लिखी गई। पं रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का इतिहास' में हरिऔधजी की साहित्यिक उपलब्धि और प्रवृत्तियों का सामान्य परिचय ही दिया है। गिरिजादत्त शुक्ल ने यद्यपि 'हरिऔध' जी को 'यथोचित संमान' प्रदान करने और 'योग्यासन पर प्रतिष्ठित करने' के पुनीत कर्तव्य से प्रेरित होकर 'महाकवि हरिऔध' नामक ३६८ पृष्ठों के भारी ग्रंथ की रचना कर डाली, लेकिन उससे हिंदी के सामान्य पाठक को भी हरिऔधजी के काव्यगुणों की उतनी भी जानकारी नहीं हो सकती जितनी कि उसे हरिऔधजी के काव्यग्रथों के पाठ मात्र से हो सकती है। यह ग्रंथ पाँच खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड मे हरिऔधजी की लोकप्रियता, जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए उनके भाई गुरुसेवक उपाध्याय पर भी कई पृष्ठों में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। दूसरे, तीसरे और चौथे खंड में क्रमशः रसकलश, प्रियप्रवास और चोखे चौपदों से उद्धरण लेकर विषयक्रम से रख दिया गया है। अगर इन उद्धरणों की ही थोड़ी व्याख्या कर दी गई होती, तब भी पाठक को हरिऔधजी के काव्यगुण का थोड़ा परिचय मिल जाता। पुस्तक का तीन चौथाई भाग हरिऔधजी की कविताओं के उद्धरण से ही भर गया है और शेष का लगभग आधा भाग दूसरों के मत के उद्धरण से। कुछ अध्यायों में तो गिरीशजी ने चार पाँच पंक्तियों में अपना वक्तव्य देकर उसके बाद कई पृष्ठों में कविताएँ उद्धृत करके अपने दायित्व की इतिश्री समझ ली है। उदाहरण के लिये 'प्रियप्रवास में हरिऔध की काव्यकला के साधन' शीर्षक अध्याय में 'शब्दालंकार की योजना देखिए कहकर १४ कविताएँ और 'नीचे अर्थालंकृतिपूर्ण कुछ पद्य दिए जाते हैं' कहकर १३ कविताएँ उद्धृत कर दी गई हैं। इस प्रकार हरिऔधजी की काव्यकला के साधनों को गिरीशजी ने स्वयं अच्छी तरह समझ लिया है और पाठकों को भी समझा दिया है।

इस प्रकार सामान्य प्रवृत्तिगत विवेचन तक ही सीमित होते हुए भी शुक्लजी द्वारा की गई समीक्षा ही हरिऔधजी के काव्यवैशिष्ट्य का उद्घाटन करनेवाली एकमात्र उल्लेख्य समीक्षा है। शुक्लजी ने हरिऔध का वैशिष्ट्य उनकी द्विकलात्मक कला को माना है। लोकसंग्रह वृत्ति, भावव्यंजना तथा अंतर्दशाओं के चित्रण और आद्यंत संस्कृत के वर्णवृत्तों के प्रयोग की दृष्टि से प्रियप्रवास का महत्व स्वीकार करते हुए भी वे उसे महाकाव्य या उत्कृष्ट प्रबंधकाव्य मानने के लिये तैयार नहीं हैं।

३—मैथिलीशरण गुप्त

गुप्तजी के बारे मे इस काल में कई समीक्षाएँ लिखी गई। शुक्लजी ने अपने इतिहास में भी गुप्तजी के काव्यगुण का केवल उल्लेख न करके, समीक्षात्मक ढंग से अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया है। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में नंददुलारे वाजपेयी ने गुप्तजी की काव्यप्रवृत्तियो और काव्योपलब्धि पर गंभीर विवेचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है, साथ ही साकेत के प्रबधत्व और महत्व पर स्वतंत्र रूप से कई पृष्ठो मे विचार किया है। सत्येंद्र एम. ए. और गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने क्रमशः 'गुप्तजी की कला' और 'गुप्तजी की काव्य-धारा' नामक स्वतंत्र समीक्षाग्रंथ लिखकर गुप्तजी की रचनाओ का विस्तार से आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था।

शुक्लजी ने गुप्तजी के कृतित्व का संक्षिप्त पर्यालोचन करते हुए उनकी कुछ प्रमुख वृत्तियो और विशेषताओ का उल्लेख भर किया है। इतिहास की दृष्टि से गुप्तजी के काव्यविकास का परिचय देने के लिये उनकी कृतियो पर अत्यंत संक्षिप्त, कुछ पर केवल एक दो वाक्य में ही, टिप्पणियाँ देते हुए उन्होने यह मत व्यक्त किया है कि 'गुप्तजी की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओ और काव्यप्रणालियो को ग्रहण करते चलने की शक्ति।' गुप्तजी को इसी अर्थ में वे हिंदी का प्रतिनिधि कवि मानने के लिये तैयार हैं। शुक्लजी ने गुप्तजी के काव्यविकास की तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं। प्रारंभिक अवस्था में गुप्तजी भाषा के मार्जन मे लगे दिखाई देते हैं और इस काल की रचनाओ मे गद्यात्मकता और इतिवृत्तात्मकता अधिक है। दूसरी अवस्था का प्रारंभ शुक्लजी ने 'भारत भारती' और 'वैतालिक' के बीच की रचनाओ में माना है जब कि बंगभाषा की कविताओ के अनुशीलन से इनकी पदावली मे कुछ कोमलता और सरसता आई। विकास की तीसरी अवस्था 'साकेत' और 'यशोधरा' मे दिखलाई पड़ती है जब गुप्तजी का झुकाव छायावाद के प्रगीत मुक्तको की ओर होता है। गुप्त जी के दृष्टिकोण के संबध मे शुक्लजी का मत है कि वे 'सामंजस्यवादी कवि हैं··· प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनो इनमे है।' कुल मिलाकर शुक्लजी के अनुसार गुप्तजी की विशेषता यह है कि उन्होने खड़ी बोली का मार्जन किया, सामयिकता की माँग पूरी की और सामंजस्यवादी होने के कारण स्थिति के अनुरूप अपने को बदलते रहे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गुप्तजी की समीक्षा मे शुक्लजी ने जिस 'उदार और सहिष्णु' दृष्टि का परिचय दिया है, वह उनकी समीक्षाओ में अन्यत्र कम ही दिखलाई पड़ती है।

गुप्तजी पर लिखी गई अबतक की समीक्षाओं में वाजपेयीजी की समीक्षा सबसे अधिक निष्पक्ष, खरी और गंभीर विवेचनापूर्ण है। गुप्तजी की सामान्य काव्यप्रवृत्तियो के विवेचन के साथ ही इस निबंध में उपलब्धि का भी तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है। वाजपेयीजी ने गुप्तजी का महत्व आधुनिक हिंदी के प्रथम कृती कवि के रूप मे स्वीकार किया है और सारग्राही सरलता, आदर्शवादिता तथा उपदेशात्मकता को उनके काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ माना है। शुक्लजी की तरह ही वाजपेयीजी भी युगधर्म का अनुसरण गुप्तजी की प्रधान विशेषता मानते है। शुक्लजी ने जिसे गुप्तजी का सामंजस्यवाद कहकर छोड़ दिया है, वाजपेयीजी ने उसे स्पष्ट कर दिया है— 'गुप्तजी जितना प्राच्य साहित्य से, प्राचीन गाथाओं से प्रभावित हुए हैं, उतना ही आधुनिक जीवन से भी। वीरपूजा का भाव उनमे स्वतः प्रसूत है। उन्होंने प्राचीन कथाओं को नवीन आदर्शों का निरूपक बनाकर उपस्थित किया।' गुप्तजी की कविताओं में जिस मानवीय भावनावाद के दर्शन होते हैं, हिंदी कविता मे नवीन युग का वही से प्रारंभ मानना चाहिए, वाजपेयीजी का यह मत शुक्लजी के मत से ही मिलता है, लेकिन शुक्लजी की तरह वाजपेयीजी यह नहीं मानते कि छायावाद स्वच्छंदतावाद का अनुकरणात्मक या कृत्रिम प्रयास है और गुप्तजी के मानवीय भावनावाद से जिस स्वच्छंद काव्यधारा का विकास हो रहा था, वही उसका सच्चा और वास्तविक तथा हिंदी कविता के अनुकूल रूप था। गुप्त जी के कवि व्यक्तित्व और उनके काव्य की देन के संबंध में वाजपेयीजी का स्पष्ट मत है कि वे 'दीन, दरिद्र भारत के विनीत, विनयी, नतशिर कवि हैं'। कल्पना की ऊँची उडान भरने की उनमें शक्ति नही है किंतु राष्ट्र की और युग की नवीन स्फूर्ति, नवीन जाग्रति के स्मृतिचिह्न हिंदी में सर्वप्रथम गुप्तजी के काव्य मे मिलते हैं···उनकी करुण काव्यमूर्ति आधुनिक विपन्न और तृषित भारत को बड़ी ही शातिदायिनी सिद्ध हुई है।

साकेत के संबध मे वाजपेयीजी ने इसी पुस्तक मे स्वतंत्र निबंध लिखकर विस्तार से विचार किया है। इस निबंध में साकेत के प्रबंधत्व, चरित्रनिर्माण, महाकाव्यत्व आदि पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। शुक्लजी ने भी साकेत पर थोड़ा विचार किया है लेकिन लगता है कि जानबूझकर वे उसके प्रबंधत्व की समीक्षा को बचा गए हैं, क्योकि साकेत जैसे विस्तृत प्रबंधकाव्य के प्रबंधकौशल पर शुक्लजी कुछ न कहें यह आश्चर्य ही की बात है। वाजपेयीजी ने साकेत के प्रबंधत्व पर बहुत सूक्ष्मता और तटस्थता से विचार किया है और विवेचन करके यह स्पष्ट कर दिया है कि कवि ने इसमें घटनाविस्तार तो बहुत अधिक कर दिया है, किंतु उसे सँभाल नहीं सका है। अन्विति का इसमे अभाव है, घटनाओं के विस्तार और कवि की उद्दिष्ट योजना को संभाल सकने मे उसकी भाषाशक्ति और भावनाएँ दोनो अक्षम दिखलाई पड़ती हैं। उर्मिला के चरित्रचित्रण तथा अन्य

चरित्रो की संगति में भी कहीं कही अस्वाभाविकता और कृत्रिमता आ गई है। अतः वाजपेयीजी के अनुसार साकेत मे उच्चकोटि का कवित्व और अनुभूतियो का सूक्ष्म चित्रण होते हुए भी महाकाव्यात्मक ऊँचाई और गुरुता तथा प्रबंधकौशल नही है।

सत्येंद्रजी ने 'गुप्तजी की कला' (सं० १६६४) नामक पुस्तक में कवि की सभी 'रचनाओ का एक आलोचनात्मक अध्ययन' प्रस्तुत किया, जिसमे उनके काव्य और दृष्टिकोण के विकास, वस्तुविवेचन तथा भाषाशैली आदि की सामाजिक पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक समीक्षा की गई है। इसमे शुक्लजी तथा वाजपेयीजी के सूत्रो की विस्तृत व्याख्या मिल जाती है। 'गुप्तजी और खड़ी बोली' शीर्षक प्रथम अध्याय मे काव्यभाषा के रूप मे खड़ी बोली के विकास का इतिहास देते हुए यह बतलाया गया है कि उसे काव्यभाषा के रूप मे सुव्यवस्थित और प्रतिमित (स्टैंडर्ड) रूप देने का श्रेय गुप्तजी को ही है। इसके बाद दो दो पृष्ठो मे 'गुप्तजी की कला' और 'मैथिलीशरण गुप्त के विषय' शीर्षक देकर उनकी कला का भावात्मक परिचय और विषयसामग्री की जानकारी कराई गई है। चौथे अध्याय मे गुप्तजी का 'विषयो मे दृष्टिकोण और विकास' पर विचार किया गया है। इसमे वाजपेयीजी के सूत्रो की ही व्याख्या है, कोई नई बात नहीं कही गई है। पंचवटी का महत्व अवश्य अपने ढंग से प्रतिपादित किया गया है और यह दिखलाया गया है कि पंचवटी कवि के 'काव्य इतिहास का विभाजक स्थल है और यहाँ से उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। इस तरह पूर्व आलोचको के मतो का ही अनुसरण करते हुए पंचवटी और साकेत के पूर्व काव्य का एक विशिष्ट धरातल और दृष्टिकोण और उसके बाद की कविताओ मे दूसरा धरातल माना गया है। इसी बात को पुनः अगले दो अध्यायो मे साकेत के पूर्व की रचनाओ और साकेत के बाद की रचनाओ को लेकर समझाया गया है। इन दोनो अध्यायो मे पिछले अध्याय की बातो को ही थोड़ा बढ़ाकर फिर उपस्थित किया गया है। इस तरह पुनरावृत्ति और पिष्टपेषण की प्रवृत्ति बहुत अधिक होने से आलोचना का व्यवस्थित और संगठित रूप इसमे नहीं है। 'गुप्तजी की कला' शीर्षक दो अध्याय पुस्तक मे हैं और दोनो सिर्फ दो पृष्ठ के हैं। दो पृष्ठ मे किस प्रकार का कलाविवेचन हो सकता है, इसे छोड़ भी दिया जाय, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि 'कला' से सत्येंद्रजी का तात्पर्य क्या है? एक जगह वे कला के अंतर्गत विषय, भावना, दृष्टिकोण, उद्देश्य सबकी 'भावना' करते हैं और दूसरी जगह उसे शैली के अर्थ में लेकर विचार करते हैं। अगर ऐसा नहीं है तो एक ही शीर्षक से दो अध्याय लिखने की बात समझ में नहीं आती। पुस्तक में गुप्तजी की शैली पर अवश्य नए ढंग से विचार किया गया है, लेकिन वर्णों और शब्दों के द्वारा चित्रविधान की विशेषताओ को गुप्तजी में व्यर्थ ढूँढा गया है और स्पष्ट लगता है कि 'पंत के कलाविवेचन (स्वयं पंतजी द्वारा पल्लव

में और नगेंद्र द्वारा सुमित्रानंदन पंत पुस्तक में) से प्रभावित होकर पंतजी की कला की कसौटी पर गुप्तजी को भी उतारने का प्रयास किया गया है। वैसे सब मिलाकर सत्येंद्रजी ने गुप्तजी के संबंध में निष्पक्ष ढंग से विचार किया है और पुस्तक का महत्व नवीनता की दृष्टि से नहीं, बल्कि गुप्तजी की काव्यगत विशेषताओं के विस्तृत ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से है।

गिरीशजी ने 'गुप्तजी की काव्यधारा (सं० १९९३) में वाजपेयीजी की तरह ही 'दो टूक' बात कही है। साथ ही इसमें समीक्षा की ऐतिहासिक, विवेचनात्मक और व्याख्यात्मक सभी पद्धतियों का उपयोग किया गया है। 'महाकवि हरिऔध' की समीक्षा जितनी तो नहीं, लेकिन तब भी कहीं कहीं कई पृष्ठों तक अपने कथन के प्रमाण में उद्धरणों की भीड़ लगाकर 'उद्धरणात्मक पद्धति' का आवश्यकता से अधिक उपयोग किया गया है। फिर भी इस पुस्तक के समीक्षात्मक विचारों में आलोचक का अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण और विवेचना-पद्धति तथा स्थापनाओं में पर्याप्त नवीनता और मौलिकता है। गुप्तजी के काव्य की सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि का विवेचन इसमें अधिक स्पष्ट, सुसंबद्ध और विस्तृत रूप में किया गया है। इस पृष्ठभूमि में गुप्तजी के युगधर्म, आदर्श, दृष्टिकोण तथा काव्यप्रवृत्तियों का विवेचन और उनका मूल्यांकन अधिक स्पष्ट और प्रमाणपुष्ट है। इस विवेचन द्वारा गिरीशजी ने यह प्रमाणित किया है कि गुप्तजी हिंदूसमाज और हिंदूसंस्कृति के ही कवि हैं; भारतीयता की व्यापक दृष्टि उनके पास नहीं है। 'ऐसी अवस्था में हम उन्हें समाज का निर्माता न कह-कर समाज की उत्पत्ति ही कहने को विवश होंगे, उन्होंने समाज की आतंरिक शक्ति को प्रेरणा प्रदान करने के स्थान में उससे स्वयं ही प्रेरणा प्राप्त की है और अपनी कृतियों द्वारा उसी प्रेरणा का उपभोग किया है।' अतः गिरीशजी उन्हें राष्ट्रीय या युग का प्रतिनिधि कवि नहीं मानते क्योंकि 'नवीन युग के सत्य को, आदर्श को प्राप्त करके भी उन्होंने उसका उचित उपयोग नहीं किया।' अधिकांशतः अपने समाज की मान्यताओं और आदर्शों को ज्यों का त्यों अपनाने के कारण गुप्तजी समाजनिर्माता नहीं हैं और उन्होंने कोई मौलिक आदर्श समाज को नहीं दिया। शैली की दृष्टि से भी आलोचक को उनमें साधारण इतिवृत्तात्मकता शैली ही अधिक दिखलाई पड़ती है और उनके काव्य की विविध शैलियों पर विचार करके निष्पक्ष ढंग से यह दिखलाया गया है कि प्रबंधात्मक शैली और गीत शैली में ही उन्हें सफलता मिली है, अन्य में वे असफल रहे हैं।

४—जयशंकर प्रसाद

आधुनिक युग के साहित्यिकों में प्रसादजी का कृतित्व सबसे महत्वपूर्ण है और साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने युगनिर्माण का

कार्य किया है। साथ ही अपनी रहस्यात्मकता और दार्शनिकता के कारण वे सबके लिये बोधगम्य भी नही हैं। अतः यह बिलकुल स्वाभाविक है कि आलोचको का ध्यान वे सबसे अधिक आकृष्ट करते। अपनी रहस्य भावना और आनदवादी जीवनदर्शन के कारण आरंभ में उनकी कविताएँ आलोचको के विचारविमर्श और विवाद का भी विषय बन गई थीं। अतः प्रसादजी के संबध में महत्वपूर्ण समीक्षाएँ इस काल में लिखी गईं। पं० रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के परिवर्द्धित संस्करण में प्रसादजी के काव्य का विस्तार से मूल्याकन किया। नंददुलारे वाजपेयी की १९३१ से ४० तक प्रसाद के साहित्य - विशेष रूप में उनके काव्य की, गंभीर विवेचनात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित हुई, जो 'जयशकर प्रसाद' नामक पुस्तक (प्रथम सस्करण १९४०) में संकलित हैं। १९३८ ई० में रामनाथ सुमन ने जीवनी, सस्मरण तथा कवि एव काव्य का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कवि प्रसाद की काव्यसाधना' निकाली और प्रसादजी के अतरंग मित्र और सहयोगी विनोदशंकर व्यास ने प्रसाद और उनका साहित्य' नामक पुस्तक (१९४० ई०) में प्रसाद के जीवन और साहित्य पर सस्मरणात्मक ढंग से विचार किया। इनके अतिरिक्त भी प्रसाद के सबध में विभिन्न साहित्यिको और आलोचको ने आधुनिक काव्य के विवेचन के प्रसग मे अथवा संक्षिप्त निबंध लिखकर अपने मत व्यक्त किए, जिनका विविध विपयो को लेकर लिखे गए निबंध सकलनो के प्रसंग में उल्लेख किया जायगा। इन सभी समीक्षाओं में शुक्लजी और वाजपेयीजी की समीक्षाएँ सबसे महत्वपूर्ण हैं। शुक्लजी की समीक्षा संक्षिप्त होते हुए भी इसलिये महत्वपूर्ण और विचारणीय है कि वह उन आलोचको के मतो का प्रतिनिधित्व करती है, जो उनका अनुगमन या अनुकरण करते हुए प्रसाद के काव्य में महानता या उच्चता नहीं देखते। वाजपेयीजी द्वारा प्रस्तुत की गई समीक्षा का महत्व इतनेमे ही समझा जा सकता है कि प्रसाद सबंधी उनके समीक्षात्मक निबंधो के प्रकाशन के बाद इस काल में अधिकाश आलोचको ने उन्हीं के विचार सूत्रो को लेकर प्रसाद का महत्व प्रतिपादित किया। रामनाथ सुमन की पुस्तक इसका प्रमाण है। इस पुस्तक में सूत्र और उससे संबद्ध विचार वाजपेयीजी के हैं और उनकी उमड़ती हुई भावना तरंगें और कल्पना की उड़ान सुमनजी की है। विनोदशंकर व्यास की पुस्तक का समीक्षात्मक मूल्य उतना नहीं है, कवि के जीवन, व्यक्तित्व तथा उसकी रचनाओं की भूमिका की दृष्टि से ही इस पुस्तक का महत्व आँका जायगा। व्यासजी का संबंध आलोचना से है भी नही।

शुक्लजी प्रसादजी के काव्य से विशेष प्रभावित नहीं दिखलाई पड़ते और उनकी व्यंग्यात्मक शैली से ही पता चलता है कि रहस्यात्मक भावनाओं के प्रति प्रकृत्यागत 'चिढ़' के कारण वे प्रसाद के मूल्याकन में तटस्थ और पूर्वग्रहहीन

नहीं रह सके हैं। छायावादी कविताओं में भावनाओं की उदात्तता और दार्शनिक ऊँचाई को भी रहस्यवाद से जोडकर जिस प्रकार छायावाद के साथ उन्होने न्याय नही किया, उसी प्रकार प्रसाद के आनदवाद की उदात्त 'भावना' को मधुचर्या और प्रेमविलास का आवरण मानकर उन्होने प्रसाद के साथ भी न्याय नहीं किया है। यद्यपि काव्य की मार्मिकता और अनुभूति व्यजना की गहरी पकड़ और उनकी गहरी पैठ तथा पहुँच यहाँ भी उनसे प्रसाद की विशेषताओं का उद्घाटन करा ही लेती है लेकिन रहस्यवाद के प्रति उनका पूर्वग्रह निष्कर्षों मे उनको उदार और तटस्थ नही रहने देता। प्रसाद के काव्यविकास पर विचार करते हुए वे यह स्वीकार करते हैं कि जैसी जागरूक भावुकता और पदलालित्य प्रसाद में है वैसा अन्यत्र नही मिलता है 'आँसू' मे अभिव्यंजना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेमवेदना की दिव्य विभूति का, विश्व मे उसके मगलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनो को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया मे सौदर्य और मगल के संगम का आभास' पाते हुए भी उन्हे आँसू मे वेदना की कोई निर्दिष्ट भूमि नहीं दिखलाई पडती और उनपर उसका समन्वित प्रभाव अच्छा नहीं पडता कारण यह है कि प्रसाद ने अपने प्रिय को स्थूल नही रहने दिया है और उसके प्रति अपनी भावनाओं और अनुभूतियो को इतना सूक्ष्म बना दिया है कि वह 'उस प्रियतम के संयोग वियोगवाली रहस्यभावना' जैसा हो गया है। इसी तरह कामायनी के सबंध मे यह मानते हुए भी कि 'यह काव्य बडी विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है', वे रहस्यात्मकता के प्रति अपने पूर्वग्रह के कारण 'यदि' और 'लेकिन' लगा ही देते हैं। 'यदि मधुचर्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती, तो इस काव्य के भीतर भावुकता की योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप मे चित्रित होती।' कामायनी मे वृत्तियो की आभ्यतर प्रेरणाओं और बाह्य प्रवृत्तियो की मार्मिक परख, उनके स्वरूपो की मानवीकृत उद्भावना, प्रकृति के मधुर, भव्य और आकर्षक विभूतियो की योजना तथा प्रकृति के भीषण रूप का व्यापक परिधि मे चित्रण, रमणीय चित्रकल्पना और अभिव्यंजना की मनोरम पद्धति से अभिभूत होते हुए भी प्रसादजी के दर्शन' के कारण कामायनी मे मानवता की पूर्ण योजना मे उन्हें कमी दिखलाई पड़ती है।

वाजपेयीजी ने शुक्लजी तथा ऐसे ही अन्य आलोचकों को ध्यान में रखकर प्रसाद के काव्यविकास का गभीर विवेचन प्रस्तुत करते हुए उनकी काव्यप्रवृत्तियो और काव्यसौदर्य का विश्लेषण करके तर्कपूर्ण ढग से यह सिद्ध किया कि अनुभूति, सौदर्यबोध और दार्शनिक गाभीर्य, सभी दृष्टियो से प्रसादजी आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ चिंतक और कलाकार हैं और इस युग मे महाकाव्यात्मक उदात्तता और उद्देश्य की महानता अगर किसी कवि मे दिखलाई पड़ती है, तो

वह प्रसादजी में ही है। अन्य छायावादी कवियों की उपलब्धियों को उचित महत्व देते हुए वाजपेयीजी ने प्रसाद की उपलब्धियों की विशिष्टता प्रतिपादित की है, यह उनकी समीक्षा की विशेषता है। शुक्लजी के मत का खंडन करते हुए सबसे पहली स्थापना वाजपेयीजी ने यह की कि प्रसादजी 'असीम' के कवि नहीं, बल्कि 'मनुष्यों और मानवीय भावनाओं के कवि हैं।' 'आँसू' के संबंध में इस भ्रम का सबसे पहले उन्होंने ही निराकरण किया कि उसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से यत्र तत्र अलौकिक प्रेम की व्यंजना है। उन्होंने स्पष्ट किया कि 'आँसू सब प्रकार से विरहकाव्य है''संपूर्ण काव्य को परोक्ष विरह मानने से अंतिम पंक्तियों की मार्मिक रहस्यात्मकता का न हम अर्थ समझ सकेंगे, न रसानुभव कर सकेंगे'।[1] इसी प्रसंग में उन्होंने रहस्यवाद के संबंध में विस्तार से विचार करते हुए प्रकृत रहस्यवाद और आध्यात्मिक रहस्यवाद का अंतर स्पष्ट किया और यह बतलाया कि छायावाद में विशेष रूप में प्रसाद में, प्रकृत रहस्यवाद है जो छायावाद का अंग है, आध्यात्मिक रहस्यवाद नहीं। प्रकृत रहस्यवाद मानव-जीवन के रहस्य से संबंध रखता है और वह सूक्ष्म होते हुए भी अनुभवगम्य होता है। अतः वाजपेयीजी के मत से 'प्रसाद का रहस्यवाद शक्तिपूर्ण सुदृढ मानवता का विकास अपनी छत्रछाया में करता है, तथा अपर कोई लक्ष्य नहीं रखता। इसी लिये हम उसे प्राकृतिक (आरोप) रहस्यवाद कहते हैं, जो सूफी (परोक्ष) रहस्यवाद से स्पष्टतः भिन्न है[2]।' वाजपेयीजी ने प्रसाद के काव्यविकास का विवेचन करते हुए उनकी काव्यप्रवृत्तियों तथा विशेषताओं का समग्र रूप से मूल्यांकन करने के साथ ही कामायनी का स्वतंत्र समीक्षात्मक विवेचन किया। वाजपेयीजी की कामायनी की समीक्षा हिंदी की कुछ उल्लेख्य प्रौढ समीक्षाओं में है। इसमें उन्होंने कामायनी के संबंध में आलोचकों में प्रचलित भ्रांत धारणाओं का तर्कपूर्ण ढंग से निराकरण किया, शुक्लजी के आलोचनात्मक प्रतिमानों की सीमाएँ बतलाकर यह स्पष्ट किया कि 'रामचरित मानस का ही आदर्श और वैसा ही जीवन उपक्रम आधुनिक युग के महाकाव्यों में ढूँढने के कारण उन्हें कामायनी में महाकाव्यात्मक गरिमा और उद्देश्य की एकता नहीं दिखलाई पड़ती। किंतु 'मानव जीवन की सीमा किसी भी काव्य या महाकाव्य के आदर्शों से आबद्ध नहीं की जा सकती'। अतः उन्होंने विस्तार से कामायनी के उद्देश्य, उसमें व्यक्त मानवपूर्णता के आदर्श तथा उसमें मनोवैज्ञानिक मूल्यों का आकलन करके यह प्रतिपादित किया कि 'इसमें मानवीय प्रकृति के

[1] जयशंकर प्रसाद—पृ० ६८।

[2] वही—पृ० ७३।

मूल मनोभावो को बडी सूक्ष्म दृष्टि से पहचानकर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास है। यही नहीं, यदि हम और गहरे पैठें तो मानवप्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी।' इस प्रकार मनु की कथा द्वारा मानव के उद्भव और विकास के इतिहास की कथा कहने के साथ ही विकास की वर्तमान अवस्था मे पहुँचे हुए मानव की समस्याओ, उसकी शाश्वत जीवनधारा को ध्यान मे रखकर इसमें 'जिन जीवन-मूल्यो की प्रतिष्ठा की गई है, वह कोई महाकवि ही कर सकता था। कामायनी की इस उपलब्धि और उसके इस मानवतावादी जीवनदर्शन की ओर हिंदी जगत् का ध्यान सबसे पहले वाजपेयीजी ने ही आकृष्ट किया। आज कामायनी को जो विश्व के उत्कृष्ट काव्यो में गौरवपूर्ण स्थान दिया जा रहा है, वह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि वाजपेयीजी का मूल्यांकन कितना सही था।

रामनाथ सुमन ने 'कवि प्रसाद की काव्यसाधना' में प्रभाववादी ढंग से प्रसादजी के काव्यसौंदर्य के संबंध में अपनी भावनाएँ और उद्गार व्यक्त किए हैं। जैसा पहले कहा गया, विचारो की दृष्टि से इस पुस्तक पर वाजपेयीजी की गहरी छाप है और उन्हीं की बातों को लेकर आलोचक ने अपनी भावात्मकता का प्रसार किया है। कही कहीं तो निष्कर्षों को लगभग ज्यो का त्यो ले लिया गया है। उदाहरण के लिये सुमनजी जब यह कहते हैं कि 'यह कवि स्पष्ट मनुष्यो का कवि है, मानवहृदय का कवि है' तो वाजपेयीजी के ही शब्दों को दुहराते हैं कि 'प्रसादजी मनुष्यो के और मानवीय भावनाओ के कवि है'। इसी तरह 'आँसू एक विरहकाव्य है।' इसमें शब्दशः वाजपेयीजी बोलते हैं। इस पुस्तक के प्रारंभिक ६ अध्यायो में वाजपेयीजी के ही विचारो को भावात्मक प्रसार देकर प्रसाद के काव्यविकास पर विचार किया गया है और ६ से १२ तक ४ अध्यायो में कामायनी पर विचार किया गया है जिसका अधिकांश भाग कामायनी कथा ने ले लिया है। प्रभाववादी समीक्षापद्धति के कारण इस पुस्तक में कवि की भावनाओ और विशेषताओ से अधिक आलोचक की भावुकता का पता चलता है। हिंदी मे प्रभाववादी समीक्षा का यह अच्छा उदाहरण है। अधिकाश समीक्षा इस प्रकार की है 'यह कविता ऐसी है कि पढते पढ़ते नाड़ियो मे रक्त तेजी से चलने लगता है। भुजाएँ फड़कने लगती है' या 'हिंदी कविता के कोहरे मे उषा की हलकी, लज्जारुण किरण की भाति प्रसाद की कविता हमें आकर्षित करती है।' स्पष्ट है कि ऐसी समीक्षाओ से किसी कवि के काव्यगुण का ज्ञान पाठक को नही हो सकता।

विनोदशंकर व्यास द्वारा प्रस्तुत की गई समीक्षा भी सही अर्थ मे समीक्षा न होकर काव्यार्थ है और उसका अधिकाश भाग उद्धरणों ने ले लिया है।

लेखक अपने विचारों को कितना महत्व देता है, इस संबंध में अधिक कुछ न कहकर इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि एक ही अध्याय में किए गए 'सर्वांगीण' विवेचन मे हस्तलिखित 'हिंदी' के प्रसाद अंक से किन्हीं प्रो० पं० हरीदत्त दूबे का ११ पृष्ठ का पूरा लेख उद्धृत कर दिया गया है।

५—सुमित्रानंदन पंत

प्रसाद की तरह ही पंत जी के संबंध में भी कई महत्वपूर्ण समीक्षाएँ इस काल मे प्रकाशित हुई। पं० रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (परिवर्द्धित संस्करण) में लगभग २० पृष्ठ में पंतजी के काव्यवैशिष्ट्य पर विचार किया है, तुलसी के अतिरिक्त अन्य किसी कवि के संबंध मे शुक्लजी ने इतने विस्तार के साथ विचार नही किया है। नंददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी की इस विस्तृत समीक्षा के पूर्व सन् १९३१ में पंत के काव्यवैशिष्ट्य की सारग्राही समीक्षा प्रस्तुत कर दी थी। इसके बाद सन् १९३८ मे नगेंद्र ने पुस्तक रूप में 'सुमित्रानन्दन पंत' मे पंतजी के काव्य के सभी पक्षो पर विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की जिसमें उनकी रचनाओं पर अलग अलग भी विचार किया गया। अन्य कवियो की तरह ही निबंधसंग्रहो में पंतजी के बारे में छोटी मोटी आलोचनाएँ लिखी गई किंतु उनमे कोई नई बात नही, पंतजी के बारे में उपर्युक्त तीन आलोचकों की विवेचनाएँ ही महत्वपूर्ण हैं।

शुक्लजी ने आधुनिक कवियों में सबसे अधिक मनोयोग के साथ पंतजी के काव्यसौंदर्य पर ही विचार किया है। शुक्लजी ने पंत का केवल सामान्य प्रवृत्तिगत विवेचन नही किया है बल्कि पंत के काव्यविकास का सोदाहरण परिचय देते हुए व्याख्या के साथ उनके काव्य का विशद विवेचन किया है। इतिहास का अंश होते हुए भी पंत के काव्यविकास पर इसे स्वतंत्र समीक्षात्मक निबंध कहा जा सकता है। छायावादी कवियो में केवल पंत ही शुक्ल जी को पसंद आए हैं। कारण स्पष्ट है। एक तो शुक्लजी को जिससे चिढ है, वह या वैसी रहस्य-भावना पंतजी में नही है, इस बात को शुक्लजी ने मौके बेमौके इतनी बार और इतना जोर देकर दुहराया है कि संदेह होने लगता है कि क्या आध्यात्मिक रहस्यवाद के न होने से ही कोई काव्य श्रेष्ठ हो जाता है और उसका रंग आ जाने से वह अन्य दृष्टियों से महान् होते हुए भी अपना महत्व खो देता है। प्रसाद और महादेवी वर्मा का इस प्रसंग में बार बार स्पष्ट या सांकेतिक रूप से स्मरण बहुत कुछ उनकी इसी धारणा की ओर संकेत करता है। पंत के प्रिय होने का दूसरा कारण यह है कि शुक्लजी की अपनी लोकमंगल की भावना पंतजी के परवर्ती रचनाओं में क्रमशः व्यापक होती गई है और 'पल्लव' से 'युगांत' तक आते आते 'कवि की सौंदर्यभावना अब व्यापक होकर मंगलभावना

के रूप में परिणत' हो जाती है। यही कारण है कि पल्लव का महत्त्व 'पहली प्रौढ़ रचना' के रूप में ही शुक्लजी ने स्वीकार किया है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि पल्लव के लाक्षणिक वैचित्र्य और अप्रस्तुत विधान में दूरारूढ़ कल्पना के उपयोग की सोदाहरण व्याख्या शुक्लजी की 'पकड़' और सूक्ष्मदृष्टि की द्योतक है और इस तरह की व्याख्याएँ कम की गई हैं। शुक्लजी ने प्रकृति से सीधा प्रेमसंबंध, मानवीय सौंदर्य के साथ साथ प्रकृति सौंदर्य को लेकर चलनेवाली अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध और स्वाभाविक और उत्तरोत्तर व्यापक आधार ग्रहण करनेवाली सौंदर्य भावना तथा लोकवादी दृष्टि और चित्रमयी लाक्षणिक भाषा पंतजी की प्रमुख विशेषताएँ मानी हैं। इन विशेषताओं के कारण वे पंत को विशेष रूप से युगांत और युगवाणी के पंत को अन्य छायावादी कवियों से ऊँचा स्थान देते हैं।

वाजपेयीजी की समीक्षा संक्षिप्त है और सन् १९३१ में ही लिखी जाने के कारण 'गुंजन' तक ही सीमित है। फिर भी पंत के संबंध में तबसे वाजपेयीजी के विचारों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है, क्योंकि वे पल्लव और गुंजन में ही पंत का वास्तविक और स्वाभाविक कला का विकास मानते हैं। युगांत, युगवाणी और ग्राम्या में वे पंत की कला और काव्यप्रतिभा का ह्रास मानते हैं। शुक्लजी और वाजपेयीजी की समीक्षा दृष्टि में मौलिक अंतर होने के कारण पंत की विभिन्न रचनाओं के संबंध में दोनों में बिल्कुल विरुद्ध धारणाएँ दिखलाई पड़ती हैं, यद्यपि पंत को दोनों उच्चकोटि का कवि मानते हैं। वाजपेयीजी अपनी सौंदर्यवादी दृष्टि के कारण पंत की प्रारंभिक रचनाओं को महत्वपूर्ण और परवर्ती रचनाओं को प्रवृत्तिमूलक (टेंडेंसस) और बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता से युक्त आयाससिद्ध मानते हैं जब कि शुक्लजी को उपयोगितावादी दृष्टि के कारण इन्हीं रचनाओं में पंत की भावनाओं का व्यापक प्रसार और उनकी कला का चरम विकास दिखलाई पड़ता है। वाजपेयीजी ने पंत की कल्पनाशक्ति और उनके सौंदर्यबोध को उनकी सबसे बड़ी विशेषता माना है। उनके अनुसार 'हिंदी के क्षेत्र में पंत की कल्पना की शक्ति अजेय, उसका नवनवोन्मेष अप्रतिम है'। पंत की इस कल्पना शक्ति ने उनकी शैली और काव्यविषय दोनों को अद्भुत आकर्षण और रमणीयता से युक्त कर दिया है। उनकी यही कल्पना शक्ति शब्दसंगीत, छंदचयन और भाषाशैली की दृष्टि से उनके काव्य में अन्य कवियों से विशिष्ट कलात्मकता और चित्रात्मकता ले आ देती है और उनकी कविता को ऐसी 'रमणीय अथच आकर्षक वेशभूषा से सज्जित करती है' जैसी 'आधुनिक हिंदी में और कहीं नहीं देख पड़ती।' पंत के प्राकृतिक सौंदर्यचित्रण का वैशिष्ट्य वाजपेयीजी भी स्वीकार करते हैं।

नगेंद्र ने अपनी पुस्तक में पंत के भावजगत्, उनकी विचारधारा, कला, भाषा तथा बाह्य प्रभाव आदि के संबंध मे काफी विस्तार से विचार किया है। साथ ही ऐतिहासिक क्रम से उनकी विभिन्न कृतियो का अध्ययन प्रस्तुत करके उनका 'विकाससूत्र' भी स्पष्ट कर दिया है। पंत के संबंध में लिखी गई अबतक की समीक्षाओ में पंत के काव्यवैशिष्ट्य को समझने की दृष्टि से यह सबसे उपयोगी समीक्षा समझी जाती है। इस पुस्तक का महत्व विचारों की नवीनता अथवा पत के काव्यवैशिष्ट्य संबंधी किसी नई देन की खोज में नहीं, बल्कि तबतक की उपलब्ध सामग्रियो को लेकर इस प्रकार उपस्थित करने में है कि पत के काव्य के सभी पक्षो का और उनके सौंदर्यबोध तथा कल्पनाशक्ति का सम्यक् बोध पाठक को हो जाय। प्रमुख स्थापनाएँ वही हैं जो वाजपेयी की हैं। वाजपेयी जी के मत का अनुगमन करते हुए नगेंद्रजी ने भी 'सौंदर्य को प्राकृतिक, मानसिक और आत्मिक—उनकी कविता का असली विषय' और कल्पना को पंतजी की कविताओ का प्रधान साधन माना है। पत के कला पक्ष का विवेचन 'पल्लव' की भूमिका को आधार बनाकर किया गया है और यह विवेचन इस पुस्तक की निजी विशेषता है। समीक्षकों में अन्य किसी ने पंत की कला का इतना विशद और सूक्ष्म विवेचन नहीं किया है। किंतु इसका श्रेय स्वयं पंत को है जिन्होने अपनी कला के संबध में प्रायः सभी सूत्र पल्लव की भूमिका में दे दिए। पंत की कला के अंतर्गत नगेंद्र ने संश्लिष्ट चित्रण, सचित्र विशेषणो का प्रयोग, चित्रात्मक लाक्षणिकता, वर्णों और शब्दो की अंतरात्मा की पहचान, ध्वन्यात्मकता, और भावोत्कर्षमूलक अप्रस्तुत योजना और भावानुरूप छंदो का प्रयोग उनकी कला की प्रमुख विशेषताएँ मानी हैं। 'पंतजी पर बाह्य प्रभाव' शीर्षक अध्याय में उदाहरण देकर यह दिखाया गया है कि पंत पर भारतवासियो में कालिदास, रवींद्रनाथ टैगोर का तथा पाश्चात्य कवियो में शेली, कीट्स, टेनीसन आदि का प्रभाव है जिनके अनेक भावो से उन्होने प्रेरणा ली है।

६—सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

निरालाजी के संबंध मे कोई स्वतंत्र समीक्षा पुस्तक तो इस काल में नहीं लिखी गई किंतु इस काल के कवियो और काव्यप्रवृत्तियो की दो विभिन्न कोणों से किसी सीमा तक आधारभूत समीक्षात्मक मूल्यांकन करनेवाले दो प्रमुख आलोचकों—पं० रामचंद्र शुक्ल और पं० नंददुलारे वाजपेयी ने अन्य छायावादी कवियो की तरह निराला के काव्यवैशिष्ट्य और उनकी उपलब्धियो पर अपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है शुक्लजी को छायावादी कवियो में अगर कोई कवि पसंद आता है तो वह सुमित्रानंदन पंत हैं आध्यात्मिक अथवा

परोक्ष रहस्यवाद के कारण अन्य कवि उन्हें काव्य की प्रकृत भावभूमि पर स्थित नही दिखलाई पड़ते। अतः बिलकुल स्वाभाविक है कि निराला के काव्य में भी उन्हें महानता न मिले। अपने इतिहास मे पंत के संबंध मे जब कि सव्याख्या २० पृष्ठो में उन्होने विचार किया है, निराला के लिये केवल ४ पृष्ठ दिए हैं, इसी से स्पष्ट है कि वे पंत की तुलना मे निराला को कितना महत्त्व देते हैं। किंतु श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता और महत्वनिर्धारण के निर्णयात्मक मूल्यांकन का आग्रह न किया जाय, तो शुक्लजी का यह विवेचन संक्षिप्त हुए भी निराला की कुछ प्रमुख विशेषताओ का उद्घाटन कर देता है। शुक्लजी की निराला की समीक्षा कवि की अभिव्यंजना पद्धति से प्रारंभ होती है। उनके अनुसार निराला ने नादसौंदर्य की ओर अधिक ध्यान दिया है। अतः उनके प्रगीत मुक्तको में संगीतात्मकता सबसे अधिक पाई जाती है। आज हिंदी के आधुनिक कवियो मे 'संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का' सबसे अधिक प्रयास निरालाजी ने किया है। किंतु शुक्लजी के मत से संगीत की ओर अधिक ध्यान होने के कारण अर्थसमन्वय की ओर ध्यान नही रहा है। उनके अनुसार जटिल अर्थों को दूसरो तक पहुँचाने मे निराला की पदयोजना प्रायः अशक्त दिखलाई पडती है। समस्त पदविन्यास कवि की काव्यशैली की दूसरी विशेषता है। शुक्लजी ने इन दोनो विशेषताओ को बँगला का प्रभाव माना है। विषमचरण छंदो का प्रयोग तीसरी विशेषता बतलाई गई है। काव्यवस्तु की दृष्टि से शुक्लजी ने यह स्वीकार किया है कि निराला मे बहु वस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा है और शैली तथा सामाजिक मूल्य दोनो ही क्षेत्रो मे निरालाजी किसी परंपरागत आदर्श या मान्यता के बंधन को स्वीकार नही करते हैं। इस प्रकार शुक्लजी ने निराला की 'भाषा मे व्यवस्था की कमी' और उनकी पदयोजना को अर्थव्यंजना मे दुर्बल मानते हुए भी उनकी विद्रोही भावना और 'जगत् के अनेक प्रस्तुत रूपो और व्यापारो' को लेकर चलनेवाली काव्यप्रतिभा के महत्त्व को, उदासीन भाव से ही सही, स्वीकार किया है।

वाजपेयीजी द्वारा निराला के संबंध मे सन् १६३१ में ही लिखा गया समीक्षात्मक निबंध (हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी मे संगृहीत) निराला संबंधी अबतक की समीक्षाओ मे विशिष्ट है, और आज भी उनकी ही कई स्थापनाओ को लेकर व्याख्याविस्तार किया जा रहा है। प्रसाद की तरह ही निराला के काव्यवैशिष्टय और उनकी महान् काव्यप्रतिभा की ओर हिंदीजगत् का सबसे पहले वाजपेयीजी ने ध्यान आकृष्ट किया। निराला के विश्लेषण और मूल्यांकन मे आलोचको को क्यो कठिनाई होती है इसका उल्लेख करते हुए वाजपेयीजी ने शुरू मे ही कह दिया है कि 'इस कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण में ऐसे परमाणुओं का सन्निवेश हुआ है जिसका विश्लेषण हिंदी की वर्तमान

धारणाभूमि में विशेष कठिन क्रिया है।'[1] फिर भी वाजपेयीजी ने निराला का जो मूल्यांकन किया है और ३० वर्ष पूर्व उन्होने जो मूल्यांकन कर दिया, वह आज न केवल उतना ही सही है, बल्कि उसकी सचाई प्रमाणित हो चुकी है। वाजपेयीजी के अनुसार निरालजी 'हिंदी काव्य के प्रथम दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार हैं' और 'उनके विकास के मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धि-तत्व की प्रधानता है।' स्त्रियोचित कोमलता के स्थान पर निराला के काव्य में ओज, पौरुष, उदात्तता की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। शुक्लजी की तरह वाजपेयीजी ने भी छंद और कल्पना की स्वच्छंदता निराला की विशेषता मानी है। कवि के काव्यविकास का गंभीर विवेचन करते हुए इस निबंध में कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गए हैं। विकास की प्रारंभिक अवस्था में निराला में बुद्धितत्व की प्रधानता और परंपरा के प्रति गहरा विद्रोह दिखलाई पडता है जिसका स्पष्ट रूप उनके स्वच्छंद छंदो में दिखलाई पड़ता है। उनके विकास का दूसरा चरण छंदोबद्ध संगीतात्मक रचनाओ से प्रारंभ होता है जिसमें बौद्धिकता भावना से युक्त दिखाई पड़ती है। बौद्धिकता का यह नियंत्रण भावनाविजड़ित कविता में निस्संगता लाने में और कोरी भावुकता या कल्पनाप्रवणता को संग्रथित कलासृष्टि का स्वरूप देने में समर्थ हुआ।

निरालाजी के विकास का तृतीय चरण उनके गीतिकाव्यो में दिखाई पड़ता है जिनमें 'विराट् बौद्धिक चित्रो के स्थान पर रम्य आकृतियाँ अधिक हैं। यह परिवर्तन 'निराला' जी द्वारा बुद्धितत्व के कलात्मक परिपाक की दिशा मे एक सीढी और आगे है।' इस प्रकार निरालाजी का 'वास्तविक उत्कर्ष अपने युग की भावना और कल्पनामूलक काव्य में सचेत बुद्धितत्व का प्रवेश है।' शुक्लजी के मत का खंडन करते हुए वाजपेयीजी ने यह भी प्रतिपादित किया कि सार्थक शब्दसृष्टि, प्रौढ़ सशक्त पदविन्यास और संगीतात्मकता निरालाजी की हिंदी कविता को प्रमुख देन है। 'शब्दसंगीत परखने और व्यवहार में लाने में वे आधुनिक हिंदी के दिशानायक हैं।'

७—महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा के संबंध में इस काल में और कम समीक्षाएँ लिखी गईं। १९३० में पं० नंददुलारे वाजपेयी द्वारा लिखी गई समीक्षा ही महादेवी के संबंध में इस काल की एकमात्र प्रौढ़ समीक्षा है। पं० रामचंद्र शुक्ल ने भी महादेवीजी के संबंध में कुछ ही पंक्तियाँ लिखी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि

१ हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी, प० १३७।

महादेवी के रहस्यवादी होने के कारण शुक्लजी ने उन्हें विशेष महत्व नहीं दिया है और जिस चलते ढंग से देवीजी के संबंध मे उन्होने मत दे दिया है, उसी से स्पष्ट है कि वे उनकी पूरी उपेक्षा कर गए हैं। किंतु निराला की समीक्षा की तरह ही महत्वनिर्णय की माँग न की जाय तो शुक्लजी ने इस अत्यंत संक्षिप्त टिप्पणी मे महादेवी की जिन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है, वे सही हैं और आलोचकों में अब भी मान्य हैं। शुक्लजी के विवेचन के अनुसार 'अज्ञात प्रियतम के लिये वेदना ही इनके हृदय का भावकेंद्र है' और इसी की विवृति विविध रूपो मे इनके काव्य में मिलती है। किंतु शुक्लजी को इस विषय में संदेह है कि ये कवयित्री की वास्तविक अनुभूतियाँ हैं। महादेवी की सफलता शुक्लजी गीतरचना की दृष्टि से मानते हैं। उनके अनुसार गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवीजी को हुई है वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भावभंगी। शुक्लजी की शिष्ट तीखे व्यंग्य की शैली इस समीक्षा में अपना पूरा असर दिखाती है।

वाजपेयीजी की समीक्षा कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है। उनकी प्रारंभिक समीक्षाओं की अपेक्षा इसमे विचारो की तर्कपूर्ण अन्विति और बौद्धिक संतुलन अधिक है। इसमे विवेचन को सिद्धांतो द्वारा पुष्ट करके जैसी तार्किक संगति दी गई है, वैसी शुक्लजी के अतिरिक्त अन्य किसी समीक्षक मे नहीं दिखलाई पडती है। शुक्लजी की तरह वाजपेयीजी ने महादेवीजी के रहस्यवाद के स्वरूप-विवेचन के लिये पहले छायावाद और रहस्यवाद का स्वरूप और काव्य मे रहस्यवाद की भारतीय परंपरा का नई दृष्टि से नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ मे देवीजी के रहस्यवाद का स्वरूपविवेचन करके उन्होंने उनकी उपलब्धियों और सीमाओं पर विचार किया है। इस विवेचन के अनुसार प्राकृतिक या अपरोक्ष रहस्यवाद महादेवी में नहीं मिलता। महादेवी की काव्यभूमि में सगुण साकार को लेकर चलनेवाले परोक्ष अनुभूतिमूलक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा है। फलस्वरूप उनके काव्य में प्रकृति के प्रति पंत जैसा आकर्षण या उसके सौंदर्य की आत्मरूप प्रतिष्ठा नहीं मिलती। 'छायावाद काव्य के व्यक्त प्रकृति के सौंदर्य प्रतीकों को न लेकर महादेवीजी ने उन प्रतीकों की अव्यक्त गतियों और छायाओं का संग्रह किया है। वाजपेयीजी के अनुसार इनके काव्य मे प्रकृति के व्यक्तसौंदर्य की पकड़ और उसकी स्वरूपकल्पना तो उच्च कोटि की है, किंतु उनकी चित्रणकला उन्हें व्यक्त कर सकने में असमर्थ दिखलाई पड़ती है। प्रकृति के उपादानों से एक साथ ही वे कई उद्देश्यों की पूर्ति चाहती हैं, इसलिये उन्हें क्लिष्ट कल्पना भी करनी पड़ती है और चित्र भी अस्पष्ट रह जाता है। देवीजी की काव्योपलब्धि के संबंध मे वाजपेयीजी का मत है कि प्रसाद और

निराला जैसी उदात्त और एकतान कल्पना और पंत जैसा सौंदर्यबोध तो उनमें नहीं है किंतु 'वेदना का विन्यास, उसकी वस्तुमत्ता (आब्जेक्टिविटी) का बहुरूप और विवरणपूर्ण चित्र जितना महादेवीजी ने दिया है, उतना वे तीनो कवि नहीं दे सके हैं।'[१] वेदना की इस अनुभूति के काल्पनिक होने का आरोप करनेवाले शायद आलोचक के इस उत्तर से संतुष्ट हो गए होगे कि 'महादेवीजी के काव्य का आधार उसी अर्थ में काल्पनिक कहा जा सकता है, जिस अर्थ मे कबीर और मीरा का काव्याधार काल्पनिक है; जिस अर्थ में 'गीताञ्जलि' और 'आँसू' काल्पनिक हैं। जो महादेवी का अध्ययन नहीं कर सकते वे इन कवियो का भी अध्ययन कैसे कर सकते हैं, अथवा इनको भी एकरूप क्यो नही ठहरा सकते।'[२] कुल मिलाकर महादेवीजी के संबंध में आलोचक का यह निष्कर्ष है कि रहस्यानुभूति की दृष्टि से महादेवी का काव्य अप्रतिम है किंतु काव्यप्रतिभा और भाषाशक्ति उनमें उतनी उत्कृष्ट नही। प्राचीन रहस्यवादी और भक्त कवियो— विशेष रूप से मीरा से और आधुनिक छायावादी कवियो से महादेवी की नई दृष्टि से तुलना भी इस समीक्षा की एक विशेषता है।

(३) गद्य साहित्य और गद्यलेखकों की समीक्षा

अबतक हिंदी के कवियो और उनके काव्यो के संबंध में इस काल में लिखी गई समीक्षाओ पर विचार किया गया। किंतु १६४० तक न केवल साहित्यिक गद्य लिखा गया, बल्कि गद्य की प्राय: सभी प्रमुख विधाओ का पूर्ण विकास हो गया और इन सभी विधाओ में उत्कृष्ट कोटि का साहित्य भी लिखा गया। अतः आधुनिक काव्य की विविध प्रवृत्तियो, काव्यरचनाओं और कवियो के संबंध में जिस प्रकार समीक्षाएँ लिखी गईं, उसी तरह हिंदी गद्य के प्रारंभ और विकास, आधुनिक गद्य की विविध शैलियो तथा विभिन्न गद्य विधाओ में लिखी गई रचनाओ और लेखको के संबंध में भी पर्याप्त समीक्षाएँ लिखी गईं। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी में गद्य साहित्य का प्रारंभ आधुनिक युग में हुआ। इसके पूर्व गद्य के जो नमूने वार्ताओ, बचनिकाओ और टीकाओ में मिलते हैं वे भाषाविकास के शोध की दृष्टि से उपयोगी हो सकते हैं, किंतु साहित्य की दृष्टि से उनका महत्व नहीं। अतः आधुनिक गद्य साहित्य की ही समीक्षाएँ इस काल में लिखी गईं। यद्यपि शैली और भाषा के विकास का समीक्षात्मक इतिहास प्रस्तुत करनेवालो ने पुराने गद्य के नमूनो का भी भूमिकारूप में उल्लेख किया है।

१ हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ० १७४।

२ वही—पृ० १७६।

यहाँ आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य की समीक्षाओ को दो वर्गों मे रखकर विचार किया जा रहा है—

(क) गद्यशैलियो का समीक्षात्मक विवेचन।

(ख) विशिष्ट गद्यलेखको तथा उनकी कृतियो का विवेचन प्रस्तुत करनेवाली समीक्षाएँ।

(क) गद्यशैलियों और विधाओं के विकास की समीक्षा

हिंदी गद्यशैली के विकास का इस काल के हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथो मे तो सामान्य रूप से उल्लेख हुआ ही साथ ही गद्यलेखन के प्रारंभ और विकास तथा विशिष्ट गद्यलेखको और उनकी शैलियो का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत करनेवाली पुस्तके भी लिखी गई। रमाकात त्रिपाठी ने हिंदी-गद्य-मीमासा' (सन् १६२६) मे प्राचीन गद्यभाषा संबधी सक्षिप्त शोधात्मक विवरण और भाषा का नमूना देने के बाद आधुनिक हिंदी गद्य के प्रमुख लेखको की शैली पर विचार किया है। सन् १६३० में जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिंदी गद्यशैली का विकास' में हिंदी गद्य के विकास और गद्यलेखको की भाषाशैली का अधिक व्यवस्थित, वैज्ञानिक और समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया। यद्यपि विभिन्न गद्यकारो के शैलीगत वैशिष्ट्य अथवा गुणदोष तथा भाषासंबंधी शुद्धता, अशुद्धता को लेकर विभिन्न पत्र पत्रिकाओ में सामान्य ढंग के निबंध भी इस काल मे लिखे गए किंतु गद्यशैली के व्यवस्थित और ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से इस काल की ये दो पुस्तकें ही उल्लेख्य हैं।

'हिंदी गद्य मीमासा' हिंदी गद्यशैली के विकास के अध्ययन की दिशा में प्रथम प्रयास है और विद्वानो ने इस प्रयास के लिये त्रिपाठीजी की सराहना की है। यद्यपि जगन्नाथप्रसाद शर्मा की पुस्तक के प्रकाशन के बाद इस पुस्तक का उतना महत्व नही रह गया, लेकिन इसका 'प्रस्तावना' भाग और 'प्राचीन गद्य' शीर्षक खंड कई दृष्टियो से उसके बाद भी महत्वपूर्ण हैं। ११४ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना में लेखक ने मध्यकाल में गद्यरचना के अभाव के कारणो पर विचार करने के बाद आधुनिक हिंदी गद्य के क्रमिक विकास का ऐतिहासिक विवेचन किया है। प्रस्तावना के अंतिम भाग में गद्यशैली के तत्वो और उसके विविध रूपो का सैद्धातिक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। मध्यकाल में हिंदी गद्य-लेखन के अभाव के सबंध में गद्य युग जैसी बौद्धिकता के स्थान पर भावना की प्रधानता, मुद्रण यंत्रो का अभाव, शिक्षा की कमी तथा संस्कृत साहित्य के प्रभाव के अतिरिक्त धार्मिक प्रभावो तथा मुसलमानी राज्य में लिखापढ़ी के कामा में फारसी के प्रभुत्व को प्रमुख कारण बतलाया गया है। यद्यपि लेखक ने अंत में

स्वीकार किया है कि ये सभी कारण अनुमानाश्रित हैं और निश्चयपूर्वक इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता, फिर भी संस्कृत साहित्य के प्रभाव को गद्य-लेखन में बाधक बतलाना तथ्य की उपेक्षा करके अनुमान को कल्पना की सीमा तक ले जाना है। संस्कृत में काव्य की प्रधानता होते हुए भी गद्य साहित्य की कम रचना नहीं हुई है। कथाओं, आख्यायिकाओं और नाटकों की जैसी समृद्ध परपरा संस्कृत साहित्य में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। लेखक का यह कथन निश्चित रूप से सही है कि धार्मिकता के प्रभाव के कारण गद्यलेखन की प्रवृत्ति कम हो गई या नहीं रह गई। हिंदी में ही नहीं, प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही बात दिखलाई पड़ती है और वहीं से राज्याश्रित साहित्य की अपेक्षा धर्माश्रित साहित्य का महत्व बढ़ने लगता है। हिंदी गद्यविकास के अंतर्गत गोकुल-नाथ, महाराज जसवन्त सिंह, किशोरदास, देवीचंद और कृपाराम के गद्य का परिचय देने के बाद आधुनिक खड़ी बोली गद्य के विकास का विवेचन किया गया है। पुस्तक के मूल भाग में त्रिपाठीजी ने उपर्युक्त प्राचीन गद्यलेखकों से लेकर आधुनिक युग में प्रसाद तक सभी विशिष्ट गद्यलेखकों की गद्य रचनाओं और उनकी शैलियों के वैशिष्ट्य का परिचय दिया है। यह विवेचन विस्तृत और गंभीर उतना नहीं है, लेखक का मुख्य उद्देश्य सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालना है, यही कारण है कि गद्यलेखकों की विशेषताओं से परिचित कराने के बाद अंत में उनकी रचनाओं से कई पृष्ठ में विस्तृत उद्धरण दे दिए गए हैं। इस प्रकार किसी लेखक की विशिष्ट शैली और उसके उदाहरण रूप में उसकी रचना या उसका कोई खंड उद्धृत करके पुस्तक को अधिक छात्रोपयोगी बनाना भी लेखक का उद्देश्य मालूम पड़ता है। पुस्तक के अंत में दिए गए 'परीक्षो-पयोगी प्रश्न' भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। फिर भी हिंदी गद्यशैलियों के अध्ययन के क्षेत्र में प्रारंभिक प्रयास की दृष्टि से यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्व रखती है और इस पुस्तक का महत्व इससे भी स्पष्ट है कि आज भी गद्य-शैलियों का विवेचन प्रस्तुत करनेवाली पुस्तकें हिंदी में कम ही हैं।

'हिंदी गद्यशैली का विकास' में खड़ी बोली के विकास और आधुनिक हिंदी के गद्यकारों की गद्यशैली पर विस्तार से विचार किया गया है। गद्यशैली के विकास और उसके समीक्षात्मक विवेचन की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्व इतने ही से समझा जा सकता है कि आज भी यह अपने ढग की अकेली पुस्तक है। हिंदी के प्रायः सभी उल्लेख्य गद्यकारों की भाषाशैली की विशेषताओं पर इसमे विस्तार से तुलनात्मक समीक्षापद्धति द्वारा विचार किया गया है। त्रिपाठीजी की पुस्तक की तरह इसमे एक दो प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख करके अंत मे रचनाएँ नहीं दे दी गई हैं, बल्कि भाषासंबंधी प्रयोगों तथा

शैलीसंबंधी भंगिओं को अपेक्षित और आवश्यक उद्धरणों द्वारा प्रमाणित और पुष्ट करते हुए विवेचनात्मक ढंग से विचार किया गया है। साथ ही इसमें शैली के एक दो पक्षो को ही नही बल्कि इसके सभी तत्वो को लेकर उदाहरण द्वारा अपने निष्कर्ष की पुष्टि की गई है। शैली के अंतर्गत शर्माजी ने शब्दप्रयोग, पदविन्यास, मुहावरा, वाक्यरचना, भावव्यंजना, गत्यात्मक प्रभाव आदि सभी तत्वो को लेकर प्रत्येक गद्यकार की शैली का विवेचन किया गया है। इस प्रकार हिंदी गद्यशैली के विविध रूपो तथा विशिष्ट गद्यकारो की तत्संबंधी विशेषताओ का इसमे जैसा व्यवस्थित और सर्वांगीण अध्ययन और समीक्षात्मक मूल्याकन किया गया है, हिंदी गद्यशैली का उतना पूर्ण विवेचन आजतक किसी दूसरी पुस्तक में नही किया गया है। आज इसमे एक कमी खटकती है। वह यह कि इसके नवीनतम संस्करण में भी वर्तमानकाल के गद्यलेखको मे केवल वृंदावनलाल वर्मा और जैनेन्द्रकुमार को ही लिया गया है। अतः वर्तमानकाल के अनेक कई महत्वपूर्ण गद्यकारो की शैली का विवेचन इसमे नहीं मिलता जब कि गद्य की सभी विधाओ में शिल्प और शैली की दृष्टि से इस बीच अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किए गए हैं तथा अनेक प्रतिभाशाली गद्यलेखको की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं।

(ख) गद्यलेखकों तथा उनकी कृतियों की समीक्षा

विशिष्ट गद्यलेखको को लेकर इस काल में अधिक समीक्षा पुस्तके नही लिखी गईं। नाटककारो मे प्रसादजी और कथाकारो में प्रेमचंदजी पर ही स्वतंत्र समीक्षा ग्रंथ लिखे गए। वैसे आलोचनात्मक निबंधसग्रहो तथा पत्र-पत्रिकाओ मे भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी पर भी उनके वैशिष्ट्य, हिंदी गद्य को उनकी देन आदि के संबंध में कुछ आलोचको ने अपने मत व्यक्त किए किंतु विस्तृत और सर्वांगीण विवेचन केवल प्रसाद और प्रेमचंद के गद्यसाहित्य का ही किया गया। समीक्षात्मक निबंध इन्ही दो लेखको के संबंध में अधिक लिखे गए। अतः यहाँ प्रेमचंद और प्रसाद पर लिखी गई महत्वपूर्ण समीक्षाओ पर ही विचार किया जा रहा है।

१—प्रेमचंद

प्रेमचंद की उपन्यास कला तथा कथाकार के रूप में उनकी उपलब्धियों का विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन में जितनी तत्परता और प्रतिस्पर्द्धा इस काल में आलोचको ने दिखलाई, उतनी उसके बाद भी नही दिखलाई पड़ती है। कारण यह है कि उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद की ख्याति के साथ ही आलोचकों के स्पष्ट दो ऐसे वर्ग बन गए जो उनके महत्व और उपलब्धि

के संबंध में बिलकुल विरुद्ध मत रखते थे। अतः उनके विषय में पत्रपत्रिकाओं में लेख और प्रत्येक उपन्यास के संबंध में पुस्तक समीक्षाएँ तो बहुत लिखी गईं किंतु उनमें विवाद और पूर्वग्रह का स्वर इतना प्रधान हो गया कि वे गुणानुवाद अथवा छिद्रान्वेषण तक ही सीमित रह गईं। इन दो वर्गों में प्रशंसक वर्ग द्वारा तो शुद्ध स्तुति ही की गई, उसे समीक्षा नहीं कहा जा सकता। रामदास गौड़ की समीक्षाएँ इसी प्रकार की हैं। कथा का सार देकर 'वाह वाह' वाली अत्युक्तिपूर्ण समीक्षा और स्तुति के विरोध में कुछ ऐसे आलोचक अखाड़े में उतरे जिन्हें प्रेमचंद शुद्ध प्रचारक के रूप में दिखलाई पड़े और उनके उपन्यासों में कृत्रिमता, ब्राह्मणों का विरोध, स्त्री चरित्रों का असफल चित्रण और भाषा का साधारण ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। सन् १९३० के आसपास प्रेमचंद की समीक्षा की यही स्थिति थी और उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में इन परस्परविरुद्ध मत रखनेवाले आलोचकों की स्तुति अथवा निंदा-परक समीक्षाएँ प्रायः प्रकाशित होती रहती थीं। पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' को आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय मुख्य रूप से इस वातावरण में प्रेमचंद साहित्य को लेकर लिखी गई विस्तृत समीक्षाओं को ही है। शिलीमुख ने प्रशंसक वर्ग से विरुद्ध मत रखते हुए भी प्रेमचंद के 'सेवासदन', 'कायाकल्प' आदि उपन्यासों तथा 'प्रेमचंद की कला' पर सम्मेलन पत्रिका (भाग १, संख्या ३ और ४), सरस्वती (भाग ३०, सं० २ और भाग २९ सं० ३-४) तथा सुधा (वर्ष १, खंड १, सं० ३) में विस्तृत समीक्षाएँ लिखीं। कायाकल्प की तो ३० पृष्ठों की विस्तृत समीक्षा में उन्होंने उसके प्रायः सभी तत्वों की विवेचना की है। किसी सीमा तक पूर्वग्रह से युक्त होती हुई भी प्रेमचंद के साहित्य के मूल्यांकन की दिशा में इन्हें प्रथम गंभीर विवेचनात्मक समीक्षा कहा जा सकता है। यद्यपि 'प्रेमचंद विवाद' की प्रेरणा से पं० अवध उपाध्याय, जोशीबंधु, राजबहादुर लमगोड़ा तथा रामचंद्र टंडन ने भी लेख लिखकर प्रेमचंद की प्रशंसा की या उनकी सीमाएं पहचानी किंतु जैसा पहले कहा गया इन निबंधों में समीक्षा की गंभीरता और विवेचना नहीं दिखलाई पड़ती। उस समय प्रेमचंद को सामान्य प्रतिभा का उपन्यासकार माननेवाले आलोचकों में पं० नंददुलारे वाजपेयी भी आते हैं। वाजपेयीजी ने भी सन् १९३२ में 'प्रेमचंद' शीर्षक निबंध में (हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी में संगृहीत) उपन्यासकार की प्रतिभा और उसकी सीमाओं पर विचार किया। पूर्वग्रहयुक्त होते हुए भी आलोचना की गंभीर तर्कपूर्ण विवेचनात्मक पद्धति से लिखी जाने और प्रेमचंद साहित्य के संबंध में आलोचकों के एक वर्ग की निश्चित धारणा का प्रतिनिधित्व करने के कारण वाजपेयीजी की समीक्षा महत्वपूर्ण है। कम से कम प्रेमचंद की सीमाओं की जानकारी के लिये तो महत्वपूर्ण है ही। इसी

समय संभवतः इस प्रकार की अतिवादी समीक्षाओ को ही ध्यान में रखकर जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने 'प्रेमचंद की उपन्यास कला' (सन् १६३३) नामक पुस्तक लिखी जिसमे तटस्थ दृष्टि से प्रेमचंदजी की उपन्यास कला के सभी तत्वो पर विस्तार से विचार किया गया। इस प्रकार प्रेमचद के संबंध मे, शिलीमुख, पं० नंददुलारे वाजपेयी और द्विज की समीक्षाएँ ही विचारणीय हैं।

शिलीमुख ने प्रेमचंद को साधक मानते हुए भी उनके साथ न्याय करने के लिये उन दोषो और कमियो का विवेचन विश्लेषण आवश्यक बताया जिनके कारण प्रेमचंद की कला में उत्कर्ष नहीं दिखलाई पड़ता। उनके अनुसार प्रेमचंद के उपन्यासो मे युगधर्म और सतही वास्तविकता को ही आधार बनाया गया है। सामाजिक और राजनीतिक आदोलनो के प्रवाह के साथ बहने के कारण ही प्रेमचंद को लोगो की प्रशसा प्राप्त हुई है, कलात्मक श्रेष्ठता या ऊँचाई के कारण नहीं। शिलीमुख को उपन्यासकार में उपदेश वृत्ति, दुराग्रह और ब्राह्मणविरोधी भावना की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। 'प्रेमचदजी की समाजभावना और उनके आदर्शवाद' शीर्षक निबंध[1] मे आलोचक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रेमचंद का आदर्श काल्पनिक और उनकी यथार्थ भावना संकीर्ण है। शिलीमुख के शब्दो में प्रेमचंद का आदर्शवाद एक 'पेशेवर का आदर्शवाद है, जिसमें किसी स्वास्थ्यप्रद मानसिक विकास का स्वरूप उपलब्ध नही'। 'कायाकल्प' के संबंध मे लिखे गए निबंध[2] मे व्यापक दृष्टि से कथातत्व, चरित्रचित्रण तथा भाषाशैली पर विचार किया गया है। चरित्रचित्रण तथा भाषासंबंधी त्रुटियो पर इसमे विशेष रूपसे विचार किया गया है।

शिलीमुख को सबसे प्रबल समर्थन वाजपेयीजी से प्राप्त हुआ। उनके अनुसार प्रेमचंद के दृष्टिकोण, विचार, आदर्श भावना, ब्राह्मणविरोध आदि पर विचार ही व्यर्थ किया जाता है क्योंकि सामयिकता के अतिरिक्त उनका कोई आदर्श या स्वानुभूत दर्शन नहीं है। यद्यपि इस निबंध में प्रेमचंद की कला की जो सीमाएँ बताई गई हैं और सामयिक, राजनीतिक और सामाजिक भावना को ही उनका आदर्श माना गया है, वह बहुत अशो तक ठीक है किंतु उनकी उपलब्धियो और विशेषताओ को दृष्टि से ओझल करके इन्हीं के आधार पर जो निष्कर्ष दे दिया गया है, उससे पूर्वग्रह स्पष्ट हो जाता है। हस के 'आत्मकथाक' को लेकर वाजपेयीजी और प्रेमचद में जिस स्तर का उत्तर प्रत्युत्तर हुआ और एक दूसरे पर आक्षेप किए

[1] सम्मेलन पत्रिका, भाग २, संख्या १।

[2] सरस्वती, भाग २६, संख्या ३—४।

गए, उसका प्रभाव इस निबंध पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। अपने मत की पुष्टि के लिये इस निबंध में वाजपेयीजी ने कुछ ऐसे प्रसंगों को भी लिया है जिन्हें विवेचन के लिये आवश्यक नहीं कहा जा सकता। शैली भी व्यंग्यपूर्ण, तीखी और कहीं कहीं अत्यंत कटु है, विशेष रूप से ऐसे स्थलों पर जहाँ विषयविवेचन को छोड़कर व्यक्तित्वविवेचन किया जाने लगा है। वाजपेयीजी की मुख्य स्थापना यह है कि प्रेमचंद में कल्पना शक्ति उतनी ही है जितनी कथा की योजना के लिये आवश्यक है, वस्तुविन्यास की उत्कृष्ट कलावाली कल्पना उनमें नहीं है, व्यक्तित्व की परख भी उन्होंने भावों के आधार पर स्थूल दृष्टि से की है, व्यक्तित्वविकास की मनोवैज्ञानिक भूमि तक उनकी पहुँच नहीं हो सकी है। साथ ही युग-निर्माण करनेवाली गंभीर जीवनदृष्टि प्रेमचंद में नहीं है, युगधर्म और सामयिकता के साथ ही उनके आदर्श बनते, मिटते और बदलते रहे हैं। यथातथ्यात्मक दृष्टि उनमें ऐसी है कि 'आज आप सामयिक पत्रों में जो चर्चा पढ़ चुके हैं कल प्रेमचंद की कहानियों में उसे दुबरा पढ़िए'।

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने अपनी पुस्तक में वस्तुविन्यास, चरित्रचित्रण कथोपकथन, देशकाल, भाषाशैली तथा उद्देश्य इन ६ तत्वों के आधार पर कथा-साहित्य के विवेचन की प्रचलित पद्धति के अनुसार ६ अध्यायों में प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य पर विचार किया है। इन अध्यायों के अतिरिक्त विषय-प्रवेश में कथासाहित्य के उद्भव, हिंदी कथासाहित्य के विकासक्रम तथा प्रेमचंद के विकास और कालक्रम से उनके उपन्यासों के महत्व पर विचार किया गया है। अंत में उपसंहार के रूप में देश विदेश के विभिन्न उपन्यासकारों के साथ तुलना द्वारा प्रेमचंद के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुविन्यास, चरित्रचित्रण तथा उद्देश्य आदि की व्याख्यात्मक पद्धति से इस पुस्तक में समीक्षा की गई है। अतः इसमें कथाप्रसंगों के लंबे उद्धरण अधिक आ गए हैं। इसमें विवेच्य को लेकर दूर तक चलनेवाली गंभीर दृष्टि और विवेचन की गहराई उतनी नहीं है। अपने कथन को उदाहरणों द्वारा पुष्ट और प्रमाणित करने की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखलाई पड़ती है। किंतु इस पुस्तक का महत्व उस काल में गंभीर विवेचना की दृष्टि से नहीं, बल्कि विशेषताओं और त्रुटियों के निष्पक्ष विवेचन की दृष्टि से आँका जाना चाहिए। उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद के महत्व और उनकी देन का ईमानदारी से सही सही लेखाजोखा उपस्थित करनेवाली यह पहली समीक्षा पुस्तक है, यही इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता और विशेषता है। द्विजजी वाजपेयीजी की तरह ही यह मानते हैं कि वस्तुयोजना का वह कौशल प्रेमचंद में नहीं दिखलाई पड़ता जैसा शरच्चंद्र में है, और उनकी कथाएँ बिलकुल अनौत्सुक्यपूर्ण ढंग में सीधी सरल

रेखा की तरह आगे बढती और समाप्त हो जाती हैं। किंतु इसके साथ ही समाज और राष्ट्र की व्यापक और गंभीर समस्याओ और भिन्न भिन्न अवस्थाओ के चित्रण की दृष्टि से वे उपन्यासकार का महत्व स्वीकार करते हैं। सामाजिक और राष्ट्रीय वातावरण और उस वातावरण मे पलनेवाले मानव के स्वभाव की सच्ची परख प्रेमचंद मे दिखलाई पड़ती है विशेषरूप से ग्रामीण जीवन के यथार्थ की जैसी पहचान इनमे मिलती है वैसी अन्यत्र कम ही मिलती है। किंतु यथार्थचित्रण और वस्तुवर्णन के मोह के कारण वस्तुसगठन कही कही असतुलित हो गया है। द्विज के मतानुसार वर्णन की संपूर्णता और सजीवता तो प्रेमचंद मे है किंतु चुनाव का गुण उनमे नही है, अतः अनावश्यक वर्णन, घटनाओ की पुनरावृत्ति और तथ्यात्मक असंगतियाँ भी उनके उपन्यासो मे कही कही दिखलाई पड़ती हैं।

चरित्रचित्रण पर द्विजजी ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पद्धति तथा घटनाओ की क्रिया प्रतिक्रिया आदि की सामान्य और प्रचलित विधियो को हो आधार बनाकर सोदाहरण व्याख्या ही विशेप रूप से की है। आलोचक का निष्कर्ष इतना ही मालूम पडता है कि प्रेमचंद ने नाटकीय और अप्रत्यक्ष पद्धति का ही सहारा अधिक लिया है और उनके चरित्र हमारे परिचित, यथार्थ मानव हैं। देशकाल पर विचार करके यह निष्कर्ष दिया गया है कि 'इनके उपन्यास सामयिक होते हैं और उनपर सामयिकता की गहरी छाप लगी रहती है।' आलोचक ने तत्कालीन समाज के यथार्थ चित्र को कला की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना है और वह उन आलोचको से सह-मत नहीं है जो सामयिकता की प्रवृत्ति को कला के स्थायी मूल्य मे बाधक समझते हैं। जीवनदर्शन और उद्देश्य पर भी संक्षेप मे द्विजजी ने विचार किया है और उनके मत से प्रेमचंद व्यावहारिक आदर्शवादी हैं, यह मत प्रेमचंद के विरोधी आलोचको का भी है, किंतु झाजी इस आदर्शवादी उपयोगितावादी दृष्टि को बुरा नहीं समझते और न तो नीतिशिक्षा और उपदेश ही उनकी दृष्टि मे कोई दोप है। इसके विपरीत इसे वे उपन्यास का मुख्य धर्म और उपन्यासकार का दायित्व मानते हैं। उनके अनुसार 'जबतक कला का उद्देश्य मानवीय भावो और विचारो को परिष्कृत करना तथा उन्हे समुन्नत बनाना रहेगा, तबतक वह नीतिशिक्षा की उपेक्षा करेगी कैसे? प्रेमचंदजी की कला का यही प्रधान उद्देश्य है। इसलिये इनके उपन्यासो मे उच्चादर्श तथा नीतिशिक्षा का भी एक कलात्मक मूल्य है।'[1] उपसंहार मे द्विजजी ने तुलनात्मक मूल्याकन का प्रयास अवश्य किया है, किंतु इस बात का ध्यान नहीं रखा है

[1] प्रेमचद की उपन्यास कला, प्रथम संस्करण, पृ० १६८।

कि तुलना के लिये उपन्यासलेखक होने का समान धर्म ही पर्याप्त नहीं होता। समानता और विभिन्नता दिखलाने के लिये उन्होंने देश विदेश के कुछ ऐसे उपन्यासकारों को लिया है, जो जीवनदृष्टि, प्रवृत्ति तथा कथा के उद्देश्य आदि सभी दृष्टियों से बिलकुल भिन्न धरातल पर हैं और जिन्होंने सैद्धांतिक दृष्टि से भी उपन्याससंबंधी भिन्न आदर्शों को लेकर उपन्यासों की रचना की है।

२ – जयशंकर प्रसाद

प्रसाद के गद्यसाहित्य पर भी इस काल में उत्कृष्ट समीक्षाएँ लिखी गईं। मुख्य रूप से प्रसाद के नाट्य साहित्य ने आलोचकों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया। पत्र पत्रिकाओं में तो इनके नाटकों की चर्चा हुई ही, स्वतंत्र आलोचनात्मक पुस्तकें भी लिखी गईं। प्रो रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' की 'प्रसाद की नाट्यकला' में प्रसादजी के नाटकों का गंभीर समीक्षात्मक विवेचन किया गया है।

कृष्णानंद गुप्त ने 'प्रसाद जी के दो नाटक' नामक पुस्तक में चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त की समीक्षा लिखी। नंददुलारे वाजपेयी ने प्रसाद के काव्य के साथ ही उनके कथासाहित्य और नाट्यकला पर भी गंभीर समीक्षाएँ लिखीं। 'कंकाल का समाजदर्शन' (सन् १९३१) और 'स्वतंत्र नाट्यकला का आभास' (सन् १९३२) उपशीर्षक निबंधों मे क्रमशः उपन्यासकार और नाटककार के रूप में प्रसाद के कृतित्व और उनकी देन पर विचार किया गया है। विनोदशंकर व्यास ने 'प्रसाद और उनका साहित्य' (सन् १९४०) में प्रसाद के उपन्यास, कहानियों और नाटकों को तीन अध्याय दिए और अपने मत व्यक्त किए। इन सभी समीक्षाओं मे प्रसाद की नाट्यकला और कंकाल का समाजदर्शन और गुप्तजी द्वारा की गई चंद्रगुप्त की समीक्षाओं में ही समीक्षा की गंभीरता दिखलाई पड़ती है। अन्य समीक्षाओं में या तो अपनी व्यक्तिगत रुचि और पूर्वग्रह का प्रदर्शन किया गया है या ऐसा लगता है जैसे कोई आलोचना के क्षेत्र में अजनबी की तरह चला आया है। कृष्णानद गुप्त की पुस्तक दो स्वतंत्र लेखों का संग्रह है जिसमे चंद्रगुप्त की समीक्षा तो लगभग सवा सौ पृष्ठों मे की गई है और संक्षिप्त पद्धति से स्कंदगुप्त की केवल २५ पृष्ठों में; जैसा कि वाजपेयीजी ने लिखा है, ऐसा लगता है कि पुस्तक का आकार बढ़ाकर उसका मूल्य १) रु० रखने के आशय से यह समीक्षा जोड़ दी गई है। पुस्तक की भूमिका के रूप मे लेखक ने जो 'निवेदन' किया है, उसी से पता चलता है कि उसने समीक्षात्मक मूल्यांकन के लिये प्रसाद के इन नाटकों पर विचार नहीं किया है बल्कि प्रसाद की प्रशंसा और ख्याति से व्यक्तिगत रूप से चिढ़कर उन्हें साधारण लेखक से भी निचली श्रेणी का लेखक ठहराने के लिये इन पन्नों को बेकार रँगा है।' गुप्तजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'इन पन्नों को मैंने बेकार रँगा है। मन में एक लहर उठी और लिखने बैठ गया। उससे मेरा पर्याप्त मनो-

विनोद हुआ है, यही उसकी सार्थकता है। मैं कंजूसी नहीं करूँगा। दूसरे भी मेरे इस विनोद में हिस्सा बँटाने को स्वतंत्र हैं।' बताने की आवश्यकता नहीं कि यह 'लहर' किस कोटि की है और गुप्तजी के 'मनोविनोद' का अर्थ क्या है। किसी की खिल्ली उड़ाने में जो मजा आता है, वही 'मनोविनोद' यह भी है और यह विनोद और बढ जाता है जब दूसरे भी उसी के स्वर में स्वर मिलाकर हँसते हैं, किंतु दुख यह है कि गुप्तजी अकेले ही अपनी कल्पना में नाटक और अभिनय देखते और हँसते रहे, उनके साथ हँसनेवाला बहुत प्रतीक्षा के बाद भी दूसरा कोई नहीं मिला। गुप्तजी की आलोचना की पद्धति इतनी रोचक है कि उसमें कहानी का आनंद आता है और पाठक प्रसाद के नाटकों के विवेच्य विषय को भूलकर गुप्तजी के रोचक वर्णन में ही लीन हो जाता है। नाटक समीक्षा को गुप्तजी की यह नई देन मानी जायगी इसमें संदेह नहीं। गुप्तजी के मत से प्रसादजी को नाटक लिखने नहीं आता है और नाटकीय वस्तुविन्यास का तो उन्हें साधारण ज्ञान भी नहीं है। उन्होंने केवल सामग्री एकत्र करके उसे बिखेर दिया है, उनके नाटक वस्तुतः सामग्री प्रस्तुत करते हैं जिन्हें लेकर किसी कुशल नाटककार को नाटक तैयार करना चाहिए। चरित्रचित्रण भी गुप्तजी के अनुसार प्रसादजी को नहीं आता, चरित्रों का विकास अस्वाभाविक और असंतुलित है। प्रसादजी इतिहास के विद्वान माने जाते हैं किंतु गुप्तजी की दृष्टि में उन्हें इतिहास की सामान्य जानकारी भी नहीं है। भाषा तो प्रसादजी को आती ही नहीं। प्रसादजी को भाषाज्ञान सिखानेवाले गुप्तजी 'मनसा-वाचा-कर्मणा से चन्द्रगुप्त का वरण' कराते हैं। कर्मणा के साथ से का प्रयोग गुप्तजी जैसे भाषा-विद् ही कर सकते हैं। गुप्तजी द्वारा बताए गए इतने दोषों में कुछ ऐसे अवश्य हैं जिन्हें प्रसाद के नाटकों में अन्य आलोचक भी स्वीकार करते हैं—जैसे अभिनेयता के गुण का अभाव चंद्रगुप्त के वस्तुसंगठन में अन्विति की कमी, किंतु गुप्तजी का उद्देश्य संतुलित ढंग से गुण दोषों का विवेचन करना नहीं बल्कि सभी दृष्टियों से नाटकों को दोषपूर्ण सिद्ध करना है। ऐसी द्वेषपूर्ण समीक्षाओं से किस प्रकार के साहित्यिक मूल्यांकन की आशा की जा सकती है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

वाजपेयीजी का स्वतंत्र नाट्यकला का आभास' शीर्षक निबंध स्वतंत्र समीक्षा न होकर कृष्णानंद गुप्त के मत का खंडन मात्र है और इसी उद्देश्य से लिखा गया प्रतीत होता है। इसमें प्रसाद के नाटकों के वैशिष्ट्य के संबंध में वाजपेयीजी ने अपना मत व्यक्त न करके केवल गुप्तजी का खंडन ही किया है, इसलिये इस निबंध से प्रसाद की नाट्यकला पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। जितना शीर्षक से पता चलता है, उतना ही निबंध से भी। प्रसादजी नाट्यकलासंबंधी स्वतंत्र आधार लेकर

चले हैं, इसलिये उनमें इब्सन की तरह का यथार्थ और अभिनेयता का गुण नहीं ढूँढ़ा जाना चाहिए, बस इतना कह देने से ही गुप्त द्वारा उठाई गई शंकाओं का न तो समाधान हो सकता है और न तो उन दोषों का मार्जन हो हो सकता है जिनका उल्लेख प्रसाद के नाटकों के संबंध में प्रायः किया जाता है। इसी तरह विनोदशंकर व्यास ने प्रसादजी के उपन्यास, कहानी या नाटक के संबंध में जो कुछ लिखा है, उससे प्रसाद साहित्य से उनकी आत्मीयता तो प्रकट होती है किंतु प्रसाद की किसी विशेषता या लेखक के दृष्टिकोण का पता नहीं चल पाता। वस्तुतः यह समीक्षा नहीं बल्कि एक अंतरंग मित्र द्वारा किया गया व्यक्तित्व-चित्रण है जिससे प्रसादजी के व्यक्तित्व तथा उनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि आदि के संबंध में उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है।

इस प्रकार इस काल में प्रसाद की नाट्यकला का गंभीर विवेचन केवल शिलीमुखजी ने ही किया। पुस्तक मुख्यतः दो अध्यायों में विभक्त है—प्रथम अध्याय में नाट्यकला के सिद्धांत पक्ष पर और दूसरे अध्याय में प्रसाद की नाट्यकला पर विचार किया गया है। अंत में परिशिष्ट रूप में अजातशत्रु की अलग से समीक्षा की गई है। सिद्धांत पक्ष के अंतर्गत भारतीय और पाश्चात्य नाट्य सिद्धांतों और शैलियों तथा हिंदी नाटक के विकास का परिचय दिया गया है। यह अध्याय मुख्यतः परिचयात्मक है और प्रसाद के नाटकों की व्यवहारिक समीक्षा की भूमिका के रूप में इसे उपस्थित किया गया है। पुस्तक का दूसरा अध्याय महत्वपूर्ण है और इसमें प्रायः सभी दृष्टियों से प्रसाद के नाटकों पर विचार किया गया है; इस समीक्षा से शिलीमुखजी की अंतर्दृष्टि, पकड़, विवेचन की तर्कपूर्ण गंभीरता, उनकी व्यापक दृष्टि तथा नाट्यकलासंबंधी भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों तथा विचारों से उनके पूर्ण ज्ञान का पता चलता है। इस अध्याय में प्रसाद के नाटकों की रचनाशैली के विकास, उनकी विचारभूमि और उद्देश्य का विवेचन करने के बाद वस्तु और घटनासंगठन, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण तथा अभिनेयता पर विचार किया गया है। विचारधारा और अभिनेयता पर शिलीमुख ने मौलिक दृष्टि से विचार किया है और इससे उनकी स्वतंत्र चिंतन शक्ति और गहनता का पता चलता है। प्रसाद के नाटकों में प्रायः घटनाओं की योजना और उनकी चरम परिणति ऐसी होती है कि वह न तो भारतीय सुखांत नाटकों जैसी ही मालूम पड़ती है और न पाश्चात्य दुःखांत नाटकों जैसी। यद्यपि प्रसादजी के नाटक सुखांत हैं किंतु उनकी बिलकुल संस्कृत नाटकों की तरह की 'सुखांतता' नहीं दिखलाई पड़ती। शिलीमुखजी ने इस तथ्य को पकड़ा है और इसकी विवेचना की है। उनके अनुसार प्रसाद की सुखांतता सदा फलागम नहीं होती। इस तरह 'प्रसाद के नाटक संस्कृत और अंग्रेजी दोनों कलाओं से भिन्न हैं'।[1]

[1] प्रसाद की नाट्यकला, पृ० ६५।

उनकी विवेचना के अनुसार 'बाबू जयशंकर प्रसाद की सुखात भावना प्रायः वैराग्य-पूर्ण, अथवा मानवप्रेम से भरित शाति की होती है। यही उनके नाटको का आदर्श है।'[1] इस विश्लेपण से यह पता चलता है कि प्रसाद ने प्रायः निराशा या विराग की सुखात परिणति की है किंतु यह निराशावाद उद्देश्य या योज्य में नही, केवल योजना मे है। नाटकार का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य जातीय और राष्ट्रीय चेतना से युक्त स्वाभिमान और देशप्रेम का भाव उत्पन्न करना है। इस प्रकार शिलीमुख ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रसाद ने महान् उद्देश्यो ध्यान मे रखकर अपने नाटको की रचना की है और इसमे वे सफल भी हुए हैं। नाट्यकला की दृष्टि से आलोचक ने 'राज्यश्री' को प्रसाद का सर्वोत्कृष्ट नाटक माना है। वस्तुयोजना मे जटिलता और घटनाविस्तार की अधिकता के कारण कुछ नाटको में पूर्ण अन्विति का अभाव, कथोपकथन मे कहीं कही अधिक विस्तार, दार्शनिकता और काव्यात्मकता का आधिक्य और उससे नाटक की गति में अवरोध मानते हुए भी शिलीमुख ने प्रसाद को उत्कृष्ट कोटि का सफल नाटककार सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि से प्रसाद के नाटको के संबंध में अनभिनेयता की बात निरर्थक है। नाटक और अभिनय के संबंध में पाश्चात्य नाटको और समीक्षकों का प्रमाण देते हुए आलोचक ने यह स्पष्ट किया है कि साहित्यिक नाटक पाठ्य होकर भी महत्वपूर्ण हो सकता है और यदि उसमें सामान्य परिवर्तन करके उसे रंगमंच पर खेला जा सके तो अभिनेयता की कसौटी पर उसे असफल या सामान्य नहीं मानना चाहिए।

(४) समीक्षात्मक निबंधसंग्रह

साहित्यप्रवृत्तियो और विशिष्ट साहित्यिको को लेकर लिखी गई स्वतंत्र समीक्षा पुस्तको के अतिरिक्त इस काल मे अनेक ऐसे निबंधसंग्रह प्रकाशित हुए, जिनमे विभिन्न विषयो और साहित्यिको के संबंध मे समीक्षात्मक निबंध संकलित हैं। इन निबंधसंग्रहो के कुछ निबंध तो स्वतंत्र समीक्षात्मक प्रबंधो से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। ऐसे निबंधो या निबंधसंग्रहो का हिंदी की सैद्धातिक और व्यावहारिक समीक्षा के प्रसंग में मौलिकता, विवेचन की गंभीरता तथा महत्वपूर्ण निष्कर्षों के कारण पहले उल्लेख किया जा चुका है। नंददुलारे वाजपेयी का 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'हिंदी साहित्य विमर्श' और 'विश्व साहित्य', सच्चिदानंद हीरानद वात्स्यायन का 'त्रिशंकु', प्रकाशचंद गुप्त का 'नया साहित्य-एक दृष्टि', नगेंद्र का 'विचार

[1] प्रसाद की नाट्यकला, पृ० ६५।

और अनुभूति' ऐसे ही संकलन हैं। किंतु इनके अतिरिक्त भी समीक्षात्मक निबंधों के संकलन के रूप में कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। शांतिप्रिय द्विवेदी के समीक्षात्मक निबंधों के चार संकलन 'हमारे साहित्य निर्माता' (सन् १९३५) 'कवि और काव्य' (सन् १९३६), 'संचारिणी' (सन् १९३९) और 'युग और साहित्य' (सन् १९४०) आलोच्य काल में ही प्रकाशित हुए। शांतिप्रियजी के अतिरिक्त प्रो० रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख की 'सुकवि समीक्षा' (सन् १९३९), प्रो० सत्येंद्र की 'साहित्य की झाँकी' (सन् १९३८), प्रो० ललिताप्रसाद शुक्ल की 'साहित्य चर्चा' और सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन द्वारा संपादित 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (सन् १९४०) भी इस काल की ऐसी उल्लेख्य समीक्षा पुस्तकें हैं जिनमें विभिन्न विषयों पर समीक्षात्मक निबंध संकलित हैं।

शांतिप्रियजी की आलोचना का क्षेत्र मुख्यतः आधुनिक साहित्य है। आधुनिक साहित्य में भी छायावादी कवियों और काव्यप्रवृत्तियों की समीक्षा में उनका मन विशेष रमा है। 'हमारे साहित्यनिर्माता' में उन्होंने आधुनिक साहित्यिकों के ही कृतित्व का मूल्यांकन किया है। हमारे साहित्य निर्माता से शांतिप्रियजी का तात्पर्य आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माताओं से है, इस दृष्टि से उन्हें पुस्तक के नाम के साथ आधुनिक शब्द को जोड़ना चाहिए था। अन्य सामान्य पाठक पुस्तक के नाम से भ्रांति में पड़ सकता है। आधुनिक गद्यनिर्माताओं में लेखक ने गद्यकारों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, प्रसाद, राय कृष्णदास, राधिकारमण प्रसाद सिंह और कवियों में अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला, पंत, सुभद्राकुमारी चौहान और महादेवी वर्मा को लिया है। इस प्रकार इस पुस्तक में द्विवेदी युग और छायावाद युग के साहित्यिकों और उनकी प्रवृत्तियों तथा विशेषताओं पर विचार किया गया है। 'कवि और काव्य' में आधुनिक हिंदी कविता के प्रवृत्तिगत विकास के अतिरिक्त प्राचीन हिंदी काव्य का भी लेखक ने परिचय कराया है। किंतु प्राचीन साहित्य शांतिप्रियजी का विषय नहीं है, यह उनके लेखों से भी स्पष्ट पता चल जाता है। 'संचारिणी' तथा 'युग और साहित्य' में भी आधुनिक साहित्य-विशेष रूप से छायावाद, गीतिकाव्य तथा छायावादी कवियों की समीक्षा की गई है। दो तीन निबंध प्राचीन काव्य पर भी हैं, किंतु वे सामान्य कोटि के ही हैं। इस प्रकार छायावादी कवि और उनका काव्य तथा छायावाद युग की साहित्यिक चेतना ही इन संग्रहों का प्रमुख आलोच्य विषय है। जैसा पहले कहा जा चुका है शांतिप्रियजी समीक्षा की सौंदर्यवादी दृष्टि लेकर साहित्य के क्षेत्र में आए, अतः उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में भी सौंदर्य की खोज का प्रयत्न और उसकी काव्यात्मक व्याख्या ही मुख्य रूप से दिखलाई पड़ती है। उनकी प्रारंभिक समीक्षाएँ सामान्य

परिचयात्मक ढंग की हैं और अन्य आलोचकों के विचारों को ही लेकर लिखी गई हैं। किंतु बाद की समीक्षाओं में उनकी स्वतंत्र दृष्टि विकसित दिखलाई पड़ती है। शांतिप्रियजी के दृष्टिकोण और जीवनदर्शन में क्रमशः विकास होता गया है और सन् १६४० आते आते तो वे समाजवाद के प्रबल समर्थक हो गए हैं। शांतिप्रियजी की इन समीक्षाओं का महत्व मौलिकता और नवीनता की दृष्टि से भले ही न माना जाय किंतु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उनका सौंदर्यबोध उच्चकोटि का है अतः उन्होंने छायावाद युग की सौंदर्यानुभूति और काव्यसौंदर्य का जितनी तन्मयता, आसक्ति और ईमानदारी से व्याख्या और विवेचन किया है वही हिंदी की व्यावहारिक समीक्षा को उनकी देन है।

आधुनिक काव्यचेतना का मूल्य परखने और उसे उचित महत्व देकर साहित्य और समाज में प्रतिष्ठित करने का प्रारंभिक श्रेय जिन आलोचकों को है उनमें शांतिप्रिय द्विवेदीजी की गणना है। अपनी सौंदर्यवादी दृष्टि के कारण छायावादी काव्य के सौंदर्य से वे विशेष अभिभूत दिखलाई पड़ते हैं, और सौंदर्य को ही काव्य का मूल आधार और समीक्षा का प्रमुख प्रतिमान मानने के कारण पंत और शरच्चंद्र उनके विशेष प्रिय हैं। पंत को वे अन्य छायावादी कवियों से श्रेष्ठ मानते हैं। बौद्धिकता को वे काव्य में विशेष महत्व नहीं देते और इसी लिये निराला को वे पसंद नहीं कर सके हैं। बाद में समाजवादी विचारधारा से प्रभावित होने पर उन्होंने प्रगतिवादी साहित्य के 'असुंदर' को भी उचित महत्व दिया है। इस प्रकार शांतिप्रिय द्विवेदी ने इस काल में सबसे अधिक आलोचनात्मक निबंध ही नहीं लिखे, बल्कि आधुनिक साहित्य के प्रायः सभी पक्षों पर विचार किया और उसकी प्रगति और विकास का एक सजग आलोचक की तरह निरंतर आकलन करते रहे और आज भी कर रहे हैं। युगचेतना के साथ ही उन्होंने अपनी कलात्मक और सांस्कृतिक चेतना का भी विकास और विस्तार किया है, यह उनकी विशेषता है।

प्रो० ललिताप्रसाद शुक्ल ने भी 'साहित्य चर्चा' में हिंदी के आधुनिक साहित्य की गतिविधि पर ही विचार किया है। इन निबंधों में उनका उद्देश्य आधुनिक हिंदी साहित्य का अध्ययन कुछ ऐसे दृष्टिकोणों से करना है 'जिसका ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक महत्व समान हो। इस उद्देश्य से हिंदी भाषा के विकास और उसकी समस्याओं और महत्व आदि पर विचार करने के बाद 'हिंदी गद्य का विकास, हिंदी गद्य साहित्य और हिंदी गद्य का वर्तमान युग', इन तीन निबंधों में उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास पर ऐतिहासिक और आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। किंतु शुक्लजी के प्रयत्न के बाद भी इसमें आलोचना कम और ऐतिहासिकता ही अधिक है। इन निबंधों से आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास

का परिचय ही पाठकों को मिल सकता है। इससे अधिक की आशा इन निबंधों से नहीं की जा सकती। ऐतिहासिक विवरण और नामोल्लेख से जहाँ आलोचक ने कुछ अधिक कहने का प्रयास किया है, वहाँ स्पष्ट पता चल जाता है कि आधुनिक साहित्य, विशेष रूप से काव्य को बिना अच्छी तरह गहराई से परखे ही उसने उसकी आलोचना का दायित्व ले लिया है। उदाहरण के लिये प्रसाद का महत्व बतलाते हुए वे सूचना देते हैं कि 'सबसे बड़ी विशेषता इनकी कविता में यह है कि आधुनिक युग में इन्होंने छायावाद को पुनः जीवित किया है जो कबीर और सूर के बाद से लुप्तप्राय सा हो गया था'।[1] छायावाद के संबंध में उनका मत है कि 'हिंदी में छायावाद कोई नवीन विषय नहीं है। कबीर, सूर तथा अन्य भक्त कवियों ने इसपर बहुत कुछ लिखा है'।[2] इतने से ही स्पष्ट है कि इन निबंधों से आधुनिक हिंदी साहित्य के संबंध में किस तरह की जानकारी पाठक को मिलेगी।

प्रो० सत्येंद्र के 'साहित्य की झाँकी' में कुल नौ निबंध हैं जिनमें पाँच भक्ति काव्य और भक्त कवियों के संबंध में हैं। दो निबंध हिंदी कहानी की परिभाषा और हिंदी में समालोचना की शैली के विकास के संबंध में और शेष दो 'हिंदी में हास्य रस' तथा भूषण कवि और उनकी परिस्थिति पर लिखे गए हैं। प्रारंभ में गवाक्ष से हिंदी साहित्य की 'झाँकी' दिखाई गई है किंतु यह 'गवाक्ष' इतना छोटा है कि झाँकी भी ठीक से नहीं मिल पाती। इतना अवश्य पता चलता है कि भक्तिकाव्य के संबंध में आलोचकों में अनेक भ्रांतियाँ हैं और भक्तिकाव्य के संबंध में लिखे गए निबंधों में उनका निराकरण किया जायगा। इन निबंधों में इस भ्रांति पर विचार भी किया गया है। सत्येंद्रजी के मत से 'भक्ति आंदोलन को मुसलमानी राज्य से उत्पन्न हिंदुओं की निराशा का परिणाम बताना इतिहास को अपने अनुकूल बनाना है। पं० रामचंद्र शुक्ल के मत का कटुतापूर्वक विरोध करते हुए लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि भक्तिकाव्य मुसलमानी आक्रमण और राज्यस्थापना का परिणाम नहीं है बल्कि वह भारतीय भक्तिभावना का स्वाभाविक विकास है। किंतु सत्येंद्रजी की यह निजी देन नहीं। उन्होंने जिन बातों का उल्लेख मात्र किया है उनकी विस्तृत विवेचना डा० बड़थ्वाल पहले कर चुके थे। जहाँतक तथ्यों की बात है रामचंद्र शुक्ल ने भी भक्ति की परंपरा और दक्षिण में उसके प्रारंभ और विकास का उल्लेख किया है और उसे उन्होंने बिलकुल महत्व न दिया हो, ऐसी बात नहीं। यद्यपि

१ साहित्य चर्चा, पृ० ६६।
२ वही—पृ० १००।

सत्येंद्रजी ने इन निबंधों में महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं किंतु वे उसका विवेचन उतने ही महत्वपूर्ण ढंग से नही कर सके हैं। इसलिये इसमें से प्रायः सभी निबंध या तो सामान्य परिचयात्मक हो गए हैं, या अधूरे रह गए हैं। संक्षिप्त निबंधो में संपूर्ण इतिहास को समेटने का प्रयास करने के कारण निष्कर्षों का अपुष्ट रह जाना स्वाभाविक है।

रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' ने 'सुकवि समीक्षा' में हिंदी के ग्यारह कवियो की समीक्षा प्रस्तुत की है। प्राचीन कवियो मे कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीराबाई, केशवदास, बिहारी और भूषण को लिया गया है। आधुनिक काल के केवल तीन कवियों—भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद को ही लेखक ने लिया है। छात्रों को ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गई है, इसलिये प्रारभ में प्रत्येक कवि का संक्षिप्त जीवन वृत्त देकर उसकी प्रमुख विशेपताओं की सोदाहरण व्याख्या कर दी गई है। इसमे प्रसाद की नाट्यकला जैसी न तो विवेचन की गंभीरता और विचारो की मौलिकता है और न तथ्यो और निष्कर्षों में ही लेखक ने कोई नई बात कही है। अतः छात्रों को हिंदी के कवियों के जीवन, साहित्य और उनकी विशेपताओं का ज्ञान कराने तक ही इसका महत्व सीमित है।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन द्वारा संपादित 'आधुनिक हिंदी साहित्य' में हिंदी के विभिन्न आलोचको के निबंधो का सग्रह है। यह पुस्तक 'मेरठ साहित्य परिषद्' की ओर से 'अभिनव भारती ग्रंथमाला' के अंतर्गत प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का उद्देश्य आधुनिक साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों, उसकी उपलब्धियो और सीमाओं का मूल्याकन प्रस्तुत करना है। सभी निबंध अपने विपय के मान्य आलोचको या रचनाकारो द्वारा लिखे गए हैं और उन्हे इस क्रम से रखा गया है कि स्वतंत्र निबंध होते हुए भी उनमे तारतम्यपूर्ण व्यवस्था दिखलाई पड़ती है। प्रारभ के ६ निबंध आलोचना के सिद्धातो और साहित्य विधाओं के स्वरूप परिभाषा आदि सिद्धातो को लेकर लिखे गए हैं। शेप पाँच निबंधो में कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य की आधुनिक प्रवृत्तियो पर विचार किया गया है। इन निबंधो मे वात्स्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेंद्र और शिवदान सिंह चौहान के निबंधो का ही समीक्षात्मक मूल्य है। अन्य निबंधो में से कुछ तो सामान्य कोटि के परिचयात्मक निबधो की श्रेणी में आते हैं और कुछ रचनाकार की व्यक्तिगत भावनाओं तक सीमित हैं। इस संग्रह के कुछ निबध जैसे 'परिस्थिति और साहित्यकार' तथा छायावादी कविता मे असंतोप-भावना' निबंधलेखको की पुस्तकों में आ चुके हैं और उनपर पिछले अध्याय में और इस अध्याय के प्रारंभ में विचार किया जा चुका है।

———

पाँचवाँ अध्याय

इतिहास और शोधग्रंथ

यद्यपि साहित्य के इतिहास और शोधसंबंधी ग्रंथ या निबंध शुद्ध साहित्यिक आलोचना के अंतर्गत नहीं आते पर आलोचना के इतिहास अथवा विकास के संबंध में विचार करते समय उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इतिहास और शोध द्वारा ही आलोचना की सामग्री उपलब्ध होती है और साहित्य की विविध प्रवृत्तियों की उत्पत्ति, विकास तथा उनपर पड़े प्रभावों का पता चलता है। आलोचक अपने दृष्टिकोण का निर्माण उसी सामग्री के आधार पर करता है और उसी के सहारे सिद्धांतों की स्थापना तथा साहित्यिक कृतियों और कृतिकारों की समीक्षा भी करता है। इसी कारण इस अध्याय में सन् १९२० से १९४० तक के बीच लिखे गए हिंदी साहित्य के इतिहासग्रंथों और हिंदी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों या धाराओं के मूल स्रोतों तथा उनपर पड़े प्रभावों से संबंधित शोध-ग्रंथों के संबंध में विचार किया जायगा। यह विवेचन दो भागों में विभक्त होगा—(क) इतिहासग्रंथ और (ख) शोधग्रंथ।

(क) हिंदी साहित्य के इतिहास से संबंधित ग्रंथ

यों तो हिंदी साहित्य के इतिहास के नाम पर सन् १९२० के पूर्व गार्सें द तासी लिखित 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी'(सन् १८३९,१८४६), शिवसिंह सेंगर लिखित 'शिवसिंह सरोज' (सन् १८८३), जार्ज ए ग्रियर्सन लिखित 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिंदोस्तान (सन् १८८९), मिश्रबंधुओं द्वारा लिखित 'मिश्रबंधु विनोद' (सन् १९१३) आदि कई ग्रंथ प्रकाशित हो चुके थे पर उनमें हिंदी के कवियों और लेखकों के नाम और इतिवृत्त के संग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। वस्तुतः उनमें हिंदी साहित्य के इतिहास की सामग्री तो थी, पर वे स्वयं वास्तविक अर्थ में साहित्य के इतिहासग्रंथ नहीं थे। इनमें से मिश्रबंधु-विनोद में करीब ५ हजार कवियों का परिचय या उल्लेख है। यों तो उसमें हिंदी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन और कवियों का श्रेणीविभाजन भी किया गया है पर रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में वस्तुतः इसे भी एक 'बड़ा भारी कविवृत्त-संग्रह' ही कहा जा सकता है, वास्तविक इतिहासग्रंथ नहीं। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का प्रथम विवेचनात्मक और वैज्ञानिक इतिहास पं० रामचंद्र शुक्ल का

'हिंदी साहित्य का इतिहास' है जो पहले 'वृहत् हिंदी शब्दसागर' के आठवें भाग में भूमिका के रूप में लिखा गया था और बाद मे परिवर्धित रूप मे सन् १६२६ में ग्रंथ रूप में प्रकाशित हुआ। सन् १६३० मे बाबू श्यामसुंदरदास का 'हिंदी भाषा और साहित्य' प्रकाशित हुआ जो कई दृष्टियो से शुक्लजी के इतिहास से भिन्न अपनी निजी विशेषताएँ रखता है। सूर्यकांत शास्त्री का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' सन् १६३१ में प्रकाशित हुआ जो 'के' और मिश्रबंधुओ के इतिहासग्रंथो को आधार बनाकर तथा उच्च कक्षाओ के विद्यार्थियो की आवश्यकताओ को ध्यान में रखकर लिखा गया था। सन् १६३१ मे रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ की सबसे बडी विशेषता यह बतलाई गई कि यह तबतक प्रकाशित इतिहासग्रंथों में आकार मे सबसे बड़ा था और उसमे हिंदी साहित्य से संबंधित सभी ज्ञातव्य बातें एकत्र कर दी गई थी। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने पटना विश्वविद्यालय मे बाबू रामदीनसिंह रीडरशिप व्याख्यानमाला के अंतर्गत हिंदी साहित्य के संबंध मे कुछ लिखित व्याख्यान दिए थे जो पुस्तक भडार, लहेरिया सराय, द्वारा 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' (द्वितीय संस्करण सन् १६००) नाम से प्रकाशित हुए थे। सन् १६४० मे हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रंथ की रचना की जिसको इतिहासग्रंथ तो नही कहा जा सकता पर ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी साहित्य की विविध धाराओ के मूल स्रोतो और प्रभावो की विवेचना करनेवाले ग्रंथ के रूप मे उसका महत्व बहुत अधिक है। इस काल में कई छात्रोपयोगी इतिहासग्रंथ भी लिखे गए, जैसे - रामनरेश त्रिपाठी का हिंदी का संक्षिप्त इतिहास (सन् १६२३), रमाशंकर श्रीवास्तव का हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (सन् १६३०), मुंशीराम शर्मा का हिंदी साहित्य के इतिहास का उपोद्घात (सन् १६३१), नंददुलारे वाजपेयी का हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (सन् १६३१), गणेशप्रसाद द्विवेदी का हिंदी साहित्य (सन् १६३१), रमाशंकर शुक्ल कृत साहित्यप्रकाश और साहित्यपरिचय (सन् १६३१), ब्रजरत्नदास का हिंदी साहित्य का इतिहास (सन् १६३२), गुलाबराय का हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास (सन् १६३७), डा० सूर्यकांत कृत हिंदी साहित्य की रूपरेखा (१६३८) आदि। ये सभी ग्रंथ परिचयात्मक हैं, न तो इनमे दृष्टिकोण की मौलिकता है, न प्रवृत्तियो की गंभीर विवेचना। इस कारण वे यहाँ विचारणीय नही हैं।

उपर्युक्त इतिहासग्रंथो की रचना हिंदी साहित्य की समस्त प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखकर की गई थी। पर इस काल मे कुछ ऐसे इतिहासग्रंथ भी लिखे गए जिनमें किसी विशेष काल या साहित्य की किसी विशेष प्रवृत्ति या विधा के

विकास का इतिहास दिया गया है। डा० रामकुमार वर्मा के 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सन् १९३८) में केवल भक्तिकाल तक के साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' (सन् १९३४) भी उसी ढंग का, केवल आधुनिक युग के हिंदी साहित्य का इतिहास है। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (सन् १९४०) केवल भारतेंदु युग के साहित्य का इतिहास है। इस काल में हिंदी नाटक और उपन्यास के विकास के इतिहास से संबंधित कई ग्रंथ लिखे गए, जैसे-विश्वनाथप्रसाद मिश्र का हिंदी नाट्यसाहित्य का विकास (सन् १९२९), ब्रजरत्नदास का हिंदी नाट्यसाहित्य (सन् १९३८), गुलाबराय का हिंदी नाट्यविमर्श (सन् १९४०), दिनेशनारायण उपध्याय कृत 'हमारी नाट्यपरंपरा (सन् १९४०), ताराशंकर पाठक का हिंदी के सामाजिक उपन्यास (सन् १९३९) और शिवनारायण लाल का हिंदी उपन्यास (सन् १९४०)। हिंदी में गद्य साहित्य तथा उसकी विविध विधाओं और शैलियों के विकास से संबंधित ऐसे कई ग्रथ लिखे गए जिन्हें इतिहास और व्यावहारिक समीक्षा दोनों माना जा सकता है। गणेशप्रसाद द्विवेदी कृत हिंदी साहित्य का गद्यकाल (सन् १९३४), रमाकात त्रिपाठी कृत हिंदी गद्य मीमासा (सन् १९२६), जगन्नाथ शर्मा का हिंदी गद्यशैली का विकास (सन् १९३०) और प्रेमनारायण टंडन कृत हमारे गद्यनिर्माता (सन् १९४०) ऐसे ही इतिहासपरक समीक्षाग्रंथ हैं। उपर्युक्त सभी इतिहासग्रंथों और इतिहासपरक समीक्षाग्रंथों मे से जो महत्त्वपूर्ण हैं उन्ही के संबंध में यहाँ विचार किया जायगा।

१—रामचंद्र शुक्ल का इतिहास

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' वैज्ञानिक और आलोचनात्मक पद्धति से लिखे गए इतिहासग्रथों मे सबसे पहले लिखा जानेवाला ग्रंथ ही नही है, उत्कृष्टता की दृष्टि से भी उसका स्थान सर्वोपरि है। इसकी रचना शुक्लजी ने एक विशेष दृष्टिकोण से की है जिसे उन्होने ग्रंथ की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है। वे केवल कविवृत्त संग्रह और समस्त रचनाकाल को आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर आदि खंडो मे आँख मूँदकर विभक्त कर देने मात्र को ही साहित्य का इतिहास नही मानते। उनका कथन है कि 'शिक्षित जनता की जिन जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न भिन्न शाखाएँ फूटती रहीं हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत कालविभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था।' इस कथन से स्पष्ट है कि शुक्लजी की इतिहाससंबंधी धारणा

वैज्ञानिक थी, वे संस्कृति और साहित्य को मानवसमाज के आतरिक और बाह्य प्रयत्नो के मेल मे रखकर देखने के पक्षपाती थे इसी कारण इतिहास में ही नही; समीक्षा मे भी उनकी दृष्टि बहुत कुछ समाजशास्त्रीय थी। अतः उन्होने अपने इतिहास मे इसी दृष्टि से प्रवृत्तियो के अनुसार कालविभाजन किया है और प्रत्येक काल की प्रमुख अथवा सामान्य प्रवृत्ति के नाम पर उस काल का नामकरण किया है। शुक्लजी साहित्य को व्यक्ति की रचना उतना नही मानते थे जितना समाज की, क्योकि व्यक्ति अंततोगत्वा समाज की ही देन है। इसी से वे साहित्य के इतिहास की परिभाषा बताते हुए कहते हैं 'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का सचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्ही चित्तवृत्तियो की परपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियो का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ साथ आवश्यक होता है।'[1] इस परिभाषा द्वारा शुक्लजी ने अपने इतिहास की पद्धति स्पष्ट कर दी है। लोक चित्त की प्रवृत्तियाँ हिंदी साहित्य में किस रूप में अभिव्यक्त हुई हैं यह दिखाने के लिये उन्होने इतिहास के प्रत्येक काल के प्रारंभ मे देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साप्रदायिक परिस्थितियो का सामान्य परिचय देकर उसके आधार पर उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति और उसके मूल स्रोतो का पता लगाया है और फिर तत्कालीन काव्यप्रवृत्तियो का उन सामाजिक प्रवृत्तियो के साथ सामंजस्य दिखाते हुए इतिहास लिखने में प्रवृत्त हुए हैं। किंतु सामाजिक परिस्थितियो को वे साहित्य की प्रेरक शक्ति या पृष्ठभूमि के रूप में ही ग्रहण करते हैं, प्रमुखता साहित्य को ही देते हैं। इस कारण इनके इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो तथा उनके प्रभावो का वर्णन गौण रूप मे तथा प्रसंगानुरूप ही हुआ है। अतः उनकी पद्धति तो ऐतिहासिक या समाजशास्त्रीय है पर इतिहास 'साहित्य का इतिहास' ही है, ललित कला, धर्म, दर्शन या समाज का इतिहास नहीं वन गया है। परवर्ती अनेक लेखको ने हिंदी साहित्य के इतिहास या उसकी भूमिका के नाम पर ललित कला, धर्म या दर्शन के विकास का इतिहास लिख डाला है, साहित्य को उन्होंने अपने ग्रंथो में गौण स्थान दे दिया है। इस दृष्टि से शुक्लजी का इतिहास समाजशास्त्रीय पद्धति पर लिखा गया सर्वश्रेष्ठ 'साहित्यिक इतिहास' है।

१ हिंदी साहित्य का इतिहास, कालविभाग, पृष्ठ १।

शुक्लजी का इतिहास कोरा इतिहास ही नहीं है उसमें साहित्यिक समीक्षा के तत्व भी पर्याप्त मात्रा में वर्तमान हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या इतिहासकार को अपने इतिहास मे आलोचना भी लिखनी चाहिए और यदि इतिहास में आलोचना हो ही तो उसका अनुपात क्या होना चाहिए ? इस संबंध मे एक मत तो यह है कि इतिहास और आलोचना दो भिन्न वस्तुएँ हैं; दोनो के मिश्रण से न तो ठीकठिकाने का इतिहास ही हो पाता है न आलोचना ही; अतः इतिहास में आलोचना न होकर रचनाओ, रचनाकारो और साहित्यिक धाराओ, प्रवृत्तियो से संबंधित शोध, विवरण आदि ही होना चाहिए, अर्थात् उसमें ऐतिहासिक तथ्य होना चाहिए, इतिहासकार के मतो या विचारो का आरोप उसपर नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर शुक्लजी का इतिहास अवश्य दोषपूर्ण माना जायगा क्योकि इतिहास लिखते समय उनका आलोचक सदा सचेत रहा है, किसी भी काव्यप्रवृत्ति या कवि की अच्छाई बुराई पर अपना मत प्रकट किए बिना वे आगे नहीं बढ़ते, और उनके वे मत पूर्वनिश्चित मान्यताओ पर ही आधारित हैं। इस तरह इतिहासकार को वैज्ञानिक की तरह जैसा निष्पक्ष होना चाहिए, अपने इतिहास में शुक्लजी वैसे नही रह सके हैं। पर इस संबंध में एक दूसरा मत यह है कि बिना आलोचना के इतिहास हो ही नही सकता चाहे वह समाज या देश का इतिहास हो या साहित्य का। इतिहासकार का एक अपना दृष्टिकोण होता है और वह चाहे कितना भी निष्पक्ष क्यो न हो, उसके इतिहास मे वह दृष्टिकोण व्यक्त होता ही है। यदि ऐसा नहीं होगा तो इतिहास निर्जीव इतिवृत्त मात्र रह जायगा। शुक्लजी का यही पक्ष था। चाहे इतिहास हो या आलोचना, उनका दृष्टिकोण सर्वत्र परिलक्षित होता है।

जैसा पहले बताया जा चुका है उनका दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय है जिसके आधार पर सामाजिक उपयोगिता या लोकहित को वे साहित्य का प्रमुख प्रतिमान मानते हैं। इसी प्रतिमान से उन्होने अपनी समीक्षाओ मे तुलसी, सूर, जायसी आदि का मूल्याकन किया है और इतिहास में भी कवियो तथा काव्यप्रवृत्तियो के मूल्यांकन मे उसी प्रतिमान का प्रयोग किया है। किंतु मूल्याकन या आलोचना की प्रवृत्ति उनके इतिहास में इस सीमा तक नही पहुँची है कि इतिहास इतिहास न रहकर आलोचनाग्रंथ बन जाय। यह बात तो सही है कि उनके इतिहास में आलोचना का अंश अधिक है पर वह इतिहास की सीमा का अतिक्रमण कही कही ही करता है। उदाहरण के लिये आधुनिक काल में गद्य साहित्य के अंतर्गत तृतीय उत्थान की आलोचना का इतिहास लिखते समय उन्होने दो पृष्ठो में तो इतिहास लिखा है और करीब बारह पृष्ठो में अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद, कलावाद आदि पाश्चात्य समीक्षासिद्धांतो की समीक्षा की

है।[1] इसी तरह छायावादी कविता का इतिहास लिखते समय भी ५–६ पृष्ठो तक रहस्यवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद आदि की आलोचना करते चले गए हैं।[2] फिर भी कुल मिलाकर उनके इतिहास मे आलोचना और इतिहास का अनुपात बिगड़ा नहीं है अर्थात् उसमे ऐतिहासिकता की ही प्रमुखता है, आलोचना की नहीं। उन्होने स्वयं कहा है कि 'कवियो की साहित्यिक विशेषताओ के संबंध में मैने जो संक्षिप्त विचार प्रकट किए हैं वे दिग्दर्शन मात्र के लिये। इतिहास की पुस्तक मे किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती। किसी कवि की आलोचना लिखनी होगी तो स्वतंत्र प्रबंध या पुस्तक के रूप मे लिखूँगा। बहुत प्रसिद्ध कवियो के संबंध मे ही थोड़ा विस्तार के साथ लिखना पड़ा है। पर वहाँ भी विशेष प्रवृत्तियो का ही निर्धारण किया गया है। यह अवश्य है कि उनमे से कुछ प्रवृत्तियो को मैने रसोपयोगी और कुछ को बाधक कहा है।'[3] इस तरह यह मानते हुए भी कि इतिहास मे आलोचना का अंश अधिक नहीं होना चाहिए, उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके इतिहास में कही कही आलोचनात्मक अंश अधिक हो गए हैं। पर इसे उन्होने आवश्यक माना है।

शुक्लजी का इतिहास शोधग्रंथ नहीं है, इतिहास है। शोधग्रंथ में तथ्यो का पता लगाना तथा निष्कर्षों को प्रमाणित करना आवश्यक होता है पर इतिहासकार उपलब्ध सामग्री पर ही संतोष करता है, नवीन तथ्यो की खोज करने नहीं जाता। इसके अतिरिक्त शोधकर्ता के लिये एक छोटे से छोटा तथ्य भी नवीनता के कारण बहुत महत्व का होता है पर इतिहासकार के लिये उस तथ्य का महत्व अन्य बातो पर निर्भर करता है। साहित्य के इतिहास में किसी अप्रसिद्ध या सामान्य कवि तथा उसके ग्रंथो का उतना महत्व नहीं है, पर शोध की दृष्टि से उनका पता लगना ही एक महत्व की बात है। अतः शुक्लजी ने बहुत अधिक कवियो का इतिवृत्तसंग्रह नहीं किया है, बहुत से अप्रसिद्ध कवियो को उन्होने या तो छोड़ दिया है या उनका सामान्य परिचय देकर आगे बढ़ गए हैं। पर साथ ही जो कवि उन्हे उत्कृष्ट कोटि के प्रतीत हुए हैं, उन्होने उनकी अप्रसिद्धि की चिंता न कर उनकी विशेषताओ का उद्घाटन बहुत उत्साह से किया है। इस तरह जायसी और घनानंद की महत्ता प्रतिपादित करनेवाले

[1] हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५६२ से ५७६ तक।

[2] वही—पृष्ठ ६५० से ६५६ तक।

[3] वही—वक्तव्य, पृष्ठ ६।

प्रथम व्यक्ति शुक्ल जी ही हैं। अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा के कारण ही उन्होंने अनेक प्रसिद्ध कवियों की ऐसी विशेषताओं का उद्घाटन किया है जिनकी ओर उनके पहले अन्य किसी आलोचक या इतिहासकार का कभी ध्यान ही नहीं गया था। उसी तरह उन्होंने कई प्रसिद्ध कवियों में ऐसे दोष दिखाए जिनके कारण बाद में उन कवियों का महत्व कम हो गया। केशवदास की महत्ता शुक्लजी के इतिहास के पूर्व असंदिग्ध मानी जाती थी पर शुक्लजी की कटु आलोचना के कारण ही बाद में केशव सामान्य कोटि के कवि माने जाने लगे, आचार्य के रूप में उनका महत्व कितना भी क्यों न हो। इतिहास में उनकी आलोचना प्रायः निर्णयात्मक पद्धति पर चली है। प्रायः सभी महत्वपूर्ण कवियों और लेखकों के गुण दोषों का तर्कपूर्ण ढंग से विवेचन करने के बाद उन्होंने उनके संबंध में अपना मत दिया है अथवा साहित्य में उनका स्थान-निर्धारण किया है। कोई निष्पक्ष इतिहासकार शायद ऐसा न करता पर शुक्लजी का लक्ष्य केवल तथ्यनिरूपण नहीं था, अपने इतिहास द्वारा वे हिंदी साहित्य के पाठकों की रुचि का नियंत्रण भी करना चाहते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई। आज हिंदी साहित्य का सामान्य अध्येता या विद्यार्थी उनके इतिहास के निर्णयों को ही इदमित्थम् मानता है।

-

इतिहास के कालविभाजन में शुक्लजी ने जो पद्धति अपनाई और उन कालों को जो नाम दिए वे भी बाद में प्रायः सभी लोगों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए। मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में हिंदी साहित्य के इतिहास को चार कालों आदिकाल, पूर्वमध्य काल, उत्तरमध्य काल और आधुनिक काल में विभक्त अवश्य किया था पर उसका कोई तर्कसंगत कारण नहीं बताया था। शुक्लजी ने पहले विभिन्न कालों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया और फिर प्रत्येक काल की प्रमुख प्रवृत्ति के नाम पर उस काल का नामकरण किया। इस तरह उन्होंने हम्मीर के शासनकाल तक के युग को आदि काल माना। उस काल की प्रमुख प्रवृत्ति उन्हें वीरगाथा काव्य की दिखाई पड़ी, अतः उस काल को उन्होंने वीरगाथा काल भी कहा। इसी तरह उन्होंने पूर्वमध्य काल का भक्तिकाल, उत्तरमध्य काल का रीतिकाल और आधुनिक काल का गद्य काल नाम दिया। इनमें से कुछ नामों के संबंध में बाद के विद्वानों ने संदेह प्रकट किया। उदाहरण के लिये हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिंदी साहित्य का आदि काल' नामक ग्रंथ में आदि काल के वीरगाथा काल नाम को इस आधार पर अस्वीकृत किया कि उस काल में वीरगाथा संबंधी काव्य की प्रमुखता नहीं थी और जिन काव्यों के आधार पर शुक्लजी ने यह नाम रखा था उनमें से कुछ अप्राप्त हैं, कुछ बाद की रचनाएँ हैं और कुछ विकसनशील काव्य हैं और जो बच जाते हैं वे वस्तुतः वीर काव्य

हैं ही नहीं। द्विवेदीजी के इस मत का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा और आज भी शुक्लजी द्वारा दिया गया नाम ही अधिक प्रचलित है। इसी तरह विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बिहारी और वाङ्मय विमर्श नामक ग्रंथो मे रीति काल को शृंगार काल नाम से अभिहित किया पर उनका नामकरण भी हिंदी साहित्य के सामान्य अध्येताओ द्वारा स्वीकृत नही हुआ। इससे यह पता चलता है कि शुक्लजी ने जो नाम रखे उनके पीछे तर्क की ही नहीं, तथ्य की प्रामाणिकता की शक्ति भी थी। आदि काल के संबंध मे उनका नामकरण अवश्य भ्रामक कहा जा सकता है क्योकि नवीन खोजो से उनका मत पुष्ट नहीं होता, खंडित ही होता है। उपर्युक्त समस्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामचंद्र शुक्ल का इतिहास भले ही आलोचनात्मक अधिक हो गया है पर विचारो की गंभीरता, प्रतिपादनपद्धति की समीचीनता और मूल्यांकनसंबंधी तर्कों और प्रमाणों की अकाट्यता के कारण वह आज भी हिंदी का सर्वश्रेष्ठ इतिहासग्रंथ है।

२—श्यामसुंदर दास का 'हिंदी भाषा और साहित्य'

श्यामसुदर दास के इस वृहदाकार ग्रंथ में प्रारंभ के १६४ पृष्ठो में तो हिंदी भाषा का इतिहास दिया गया है जो वस्तुतः भाषा विज्ञान के अंतर्गत आता है, साहित्य के इतिहास के अंतर्गत नहीं। यह अंश लेखक की अन्य पुस्तक 'भाषा विज्ञान' मे भी अंतिम अध्याय के रूप में है। इस इतिहास का उद्देश्य लेखक के शब्दो में ही 'कवियो की कृतियो का अलग अलग विवेचन करना नहीं है' बल्कि यह दिखाना है कि 'साहित्य की प्रगति किस समय मे किस ढंग की थी।' इस कारण यह इतिहास शुक्लजी तथा अन्य लेखको के इतिहासग्रंथो से भिन्न ढंग का है। यह दस अध्यायो मे विभक्त है जिनमे से प्रारंभ के दो अध्यायों में भूमिका के रूप मे हिंदी भाषा की विशेषताओ तथा हिंदी साहित्य के इतिहास के भिन्न भिन्न कालो की राजनीतिक,धार्मिक,सामाजिक परिस्थितियो का विश्लेषण किया गया है और तीसरे अध्याय मे भारतीय ललित कलाओ के विकास का इतिहास दिया गया है। इन तीन अध्यायो मे संगृहीत सामग्री की साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उपयोगिता तो है पर इतिहास के भीतर उनका इतने विस्तार से विवेचन उचित नहीं प्रतीत होता। इस सामग्री का भूमिका मे संक्षेप रूप मे ही उपयोग करना अनुपात की दृष्टि से उचित होता क्योकि साहित्य के इतिहास में पाठक समाज, धर्म या ललित कलाओ का इतिहास पढने नहीं जाता है। बाद के अध्यायो मे विभिन्न कालो के सामाजिक परिस्थितियो का पुनः विवेचन किया गया है और उन उन कालो की साहित्यिक प्रवृत्तियों का उन परिस्थितियों से सामंजस्य दिखाया गया है। यह पद्धति मूलतः रामचंद्र शुक्ल की ही है पर शुक्लजी ने सामंजस्य स्थापित करने मे जिस सूक्ष्म दृष्टि और गहरी पैठ का परिचय दिया है वह श्याम-

सुंदर दास के इतिहास में नहीं है। इसका कारण यह है कि श्यामसुंदर दास ने अपनी 'सम्मिश्रणात्मक समन्वय' की पद्धति के अनुसार दूसरो की बातो का ही संकलन किया है, मौलिक उद्भावना और स्थापना की प्रवृत्ति उनमें नहीं दिखाई पड़ती। संकलित सामग्री को नए और व्यवस्थित ढंग से उपस्थित करने की क्षमता उनमें अवश्य बहुत अधिक है। इस इतिहास में भी वह क्षमता पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ती है। विभिन्न कालो की साहित्यिक प्रवृत्तियो का विस्तृत विवेचन ही इस इतिहास का उद्देश्य है और यही इसकी विशेषता भी है। जो पाठक केवल प्रवृत्तियो का अध्ययन करना चाहता है, उसके लिये तो यह ग्रंथ उपयोगी है पर जो विभिन्न धाराओ के कवियो के संबंध में कुछ जानना चाहेगा उसे इस ग्रंथ से निराश होकर अन्य किसी इतिहास की शरण लेनी पड़ेगी। यद्यपि प्रमुख कवियो की जीवनी और समीक्षा इसमें है पर वह भी बहुत अपर्याप्त और परिचयात्मक ही है। अतः श्यामसुंदर दास का यह इतिहास हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधी आवश्यकता की पूर्ति नही करता। इसी कारण शुक्लजी के इतिहास की लोकप्रियता के सामने यह टिक नही सका।

३—हरिऔध का 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास'

हरिऔधजी का इतिहास श्यामसुंदर दास के इतिहास से इस अर्थ में मिलता है कि इसमे भी हिंदी भाषा और साहित्य दोनो का इतिहास एक साथ दिया गया है। पर इससे आगे उन दोनो में कोई समानता नहीं है। यही नही, हरिऔधजी का इतिहास शुक्लजी के इतिहास से भी कई बातो में भिन्न है। उसमे राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियो का बहुत कम विवेचन किया गया है और कालविभाजन तथा कवियो का विवरण ग्रियर्सन और मिश्रबधुओ के इतिहास के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। हरिऔधजी ने हिंदी साहित्य के चार काल ये माने हैं—आरंभिक काल (८०० ई० से १३०० ई०), माध्यमिक काल (१३०० ई० से १६०० ई०), उत्तरकाल (१६०० ई० से १९०० ई०) और वर्तमान काल (१९०० ई० से)। उन्होने इन कालो का नामकरण नही किया है क्योकि उन्होने यह माना है कि साहित्य की वे ही प्रवृत्तियाँ प्रायः सभी कालो में मिलती हैं, उनमें कभी एक प्रबल होती है और कभी दूसरी। फिर भी आरंभिक काल को उन्होने ग्रियर्सन का अनुसरण करके वीरगाथा काल कहा है। उन्होने ग्रियर्सन और शुक्लजी का अनुसरण करते हुए खुमान रासो, वीसलदेव रासो आदि के आधार पर उस काल मे वीरगाथा की प्रमुखता मान ली है और उस काल के माने जानेवाले अन्य कवियो के संबंध में लिखा है कि इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनके किसी ग्रंथ का नाम तक नही बतलाया गया, कुछ ऐसे हैं जिनके ग्रंथो का नाम तो लिखा गया पर वे अप्राप्य हैं।' पर ठीक यही

बात उस काल की वीरगाथात्मक रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है जिनमें से कुछ—जैसे खुमान रासो—तो बहुत बाद की लिखी है। उनका यह कालविभाजन भी मनमाना ही है, प्रवृत्तियों की प्रमुखता के आधार पर नहीं है। इसी लिये वर्तमान काल को उन्होंने १६०० ई० के बाद माना है और भारतेंदु युग को उत्तर काल के अंतर्गत रख दिया है। यद्यपि इस इतिहास में कवियों की संख्या अधिक है और उनकी रचनाओं के उदाहरण तो और भी अधिक हैं पर काव्यप्रवृत्तियों तथा उनके मूल स्रोतों और प्रभावों की विवेचना इसमें बिलकुल नहीं की गई है। इस कारण यह भी मिश्रबंधु विनोद की तरह कविवृत्त संग्रह मात्र ही हो गया है। कुछ प्रसिद्ध कवियों की समीक्षा भी की गई है पर वह प्रवृत्ति-विवेचन-मूलक न होकर भावात्मक ढंग की ही है। आधुनिक काल की कुछ प्रवृत्तियों—छायावाद, रहस्यवाद, उपन्यास, नाटक आदि के संबंध में अवश्य कुछ विवेचनात्मक ढंग से विचार किया गया है।

४—अन्य इतिहासग्रंथ

उपर्युक्त तीन इतिहासग्रंथों के अतिरिक्त आलोच्य काल में तीन इतिहास और प्रकाशित हुए—सूर्यकांत शास्त्री का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' और रामकुमार वर्मा का 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'। इनमें से सूर्यकांत शास्त्री के इतिहास में 'के' आधार पर कालविभाजन इस प्रकार किया गया है—प्राचीन चारणों का इतिहास (११५० से १४०० ई०), प्राचीन भक्त कवि – रामानंद आदि (१४०० से १५५० ई०), हिंदी साहित्य पर लालित्य और लावण्य की छाप (१५५० से १८०० ई०), आधुनिक युग (१८०० ई० से)। इस विभाजन से स्पष्ट है कि लेखक के सामने न तो हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों की स्पष्ट रूपरेखा ही है और न उनके आधार पर उसने इतिहास के कालों का विभाजन करना आवश्यक ही समझा है। लेखक का ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी बहुत दोषपूर्ण और कहीं कहीं घोर सांप्रदायिक प्रतीत होता है। इतिहास के नाम पर यह ग्रंथ लेखक के उलझे हुए विचारों और उधार ली हुई सामग्री का बेढंगा संग्रहमात्र है। विवेचना के नाम पर लेखक ने पाश्चात्य लेखकों से हिंदी कवियों की तुलना ही नहीं की है, अँगरेजी कवियों और लेखकों की कविताओं और विचारों का इतना अधिक उद्धरण दिया है कि पूरा ग्रंथ असंतुलित और अनितिरहित हो गया है। निष्कर्ष यह कि इतिहास के रूप में इस ग्रंथ का कोई महत्व नहीं है।

'रसाल' जी का इतिहास आकार में पूर्ववर्ती सभी इतिहासग्रंथों से बड़ा है। इस आकारवृद्धि का कारण यह है कि हिंदी साहित्य का जिन जिन विषयों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध है उन सबका इसमें बड़े विस्तार से विवरण

उपस्थित किया गया है। उदाहरण के लिये भक्तिमार्ग से संबंधित सभी संप्रदायो और उनके सिद्धातो का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी तरह प्रेमाश्रयी निर्गुणधारा के काव्य के विवेचन में 'प्रेम' के संबंध में एक स्वतंत्र निबंध ही लिख दिया गया है। रसालजी की वृत्ति विषयो के विभाजन और वर्गीकरण की ओर इतनी अधिक है कि वे इतिहासकार की जगह आलंकारिक प्रतीत होने लगते हैं। जहाँ वे साहित्य के विपयो या प्रवृत्तियो का विश्लेषण विभाजन करने लगते हैं वहाँ इतिहास उनसे दूर भाग जाता है पर जब इतिहास की ओर लौटते हैं तो कविवृत्त संग्रह के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। उनके इस इतिहास से सिद्ध हो जाता है कि न तो वे अच्छे इतिहासकार ही हैं न अच्छे आलोचक ही और उनका यह ग्रंथ न तो इतिहास है न आलोचना, बल्कि हिंदी साहित्य का एक छोटा सा कोशग्रंथ है, जिसमें सूचनाएँ तो सब तरह की हैं पर लेखक का समन्वित दृष्टिकोण और उभरा हुआ व्यक्तित्व कही नही दिखाई पड़ता। कालविभाजन मे उन्होने एक चमत्कार यह उत्पन्न किया है कि इतिहास को पुरुप मानकर उसे तीन अवस्थाओ मे विभक्त किया है और फिर प्रत्येक अवस्था को दो दो कालो में विभक्त किया है, जैसे—आदिकाल या बाल्यावस्था (पूर्वार्ध और उत्तरार्ध-सं० १००० से १४००), मध्यकाल या किशोरावस्था (पूर्वार्ध और उत्तरार्ध-(सं० १४०० से १८००) और आधुनिक काल या युवावस्था (परिवर्तनकाल और वर्तमानकाल-सं० १८०० के बाद) । इसी से लेखक की अनावश्यक वर्गीकरण की प्रवृत्ति का पता चल जाता है। साहित्य के इतिहास का अध्येता या विद्यार्थी साहित्यिक प्रवृत्तियो के उद्भव और विकास की विवेचनात्मक कहानी जानने की इच्छा रखता है, वह बीच बीच मे राजनीतिक स्थिति, धर्म, दर्शन, साहित्यशास्त्र आदि विषयो के वर्गीकरण के जाल मे नहीं उलझना चाहता। इस ग्रंथ की अनावश्यक स्फीति और असंतुलित संगटन ही उसकी असफलता के मुख्य कारण हैं।

रामकुमार वर्मा का इतिहास अवश्य पर्याप्त सुसंघटित और व्यवस्थित है पर उसमें लेखक का दृष्टिकोण अन्य इतिहासकारो से भिन्न है। यह केवल आदिकाल और पूर्वमध्यकाल का ही इतिहास है पर आकार मे अन्य सभी इतिहासग्रंथो से बडा है। कारण यह है कि लेखक की दृष्टि काव्यप्रवृत्तियो के मूल स्रोतो तथा कवियो के संबंध में शोध करने की ओर बहुत अधिक है। वस्तुतः यह वर्माजी का शोधप्रबंध है जिसपर उन्हें डि० लिट० की उपाधि मिली थी। अतः उसमें उनका दृष्टिकोण मूलतः शोधात्मक ही है। उन्होने इस संबंध में ग्रंथ के निवेदन मे लिखा है कि साहित्य के इतिहास मे वैज्ञानिक विवेचन की गंभीरता के साथ साथ इतिहास की बिखरी हुई सामग्री का संकलन करना तथा अनुपलब्ध सामग्री

की खोज करना भी इतिहासकार का उत्तरदायित्व है, इस बात को उन्होने इन शब्दो मे स्पष्ट किया है—'साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक शैली से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अतः ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियो एवं साहित्यिक प्रवृत्तियो की आलोचना करना मेरा दृष्टिकोण है।' इस कथन को उन्होने अपने इतिहास मे पूर्णतः चरितार्थ किया है। परिणाम यह हुआ है कि इस एक ही ग्रंथ में अनेक स्वतंत्र ग्रंथ दिखाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ इसमें अकेले तुलसी का विवरण १८३ पृष्ठो में लिखा गया है। उसी तरह अकेले कबीर ने ६० पृष्ठ ले लिए हैं। इससे स्पष्ट है कि कबीर और तुलसी के बारे में वर्माजी ने सभी ज्ञातव्य बातें लिख देने का प्रयास किया है। पर यही नियम उन्होने सभी कवियो के बारे में नहीं अपनाया है। सूफी कवियो के अतिरिक्त अन्य सभी कवियो की तो उन्होने अलग अलग जीवनवृत्त देते हुए विवेचना की है, पर सूफी कवियो के केवल ग्रंथों की ही समीक्षा की है। ऐसा करने का कोई कारण उन्होंने नही बताया है। इसी तरह प्रारंभ मे उन्होने जो कालविभाजन दिया है उसमे सधिकाल (सं० ७५० से १०००), चारणकाल (सं० १००० से १३७५), भक्तिकाल (सं १३७५ से १७००), रीतिकाल (सं० १७०० से १६००) और आधुनिक काल (सं० १६०० के बाद) ये पाँच काल माने गए हैं जो प्रायः शुक्लजी के काल-विभाजन के अनुसार ही हैं। पर वर्माजी की इतिहास-लेखन-पद्धति शुक्लजी की पद्धति की तरह वैज्ञानिक नही है, यद्यपि उन्होंने प्रारंभ में ही वैज्ञानिक पद्धति पर बहुत बल दिया है। शुक्लजी ने प्रत्येक युग की प्रमुख काव्यप्रवृत्ति के अंतर्गत आनेवाले कवियो का इतिहास देने के बाद अन्य प्रवृत्तिवाले कवियो को 'फुटकल कवि' की श्रेणी में रखकर उनपर विचार किया है, पर वर्माजी ने एक युग की किसी प्रवृत्ति के कवियो के साथ परवर्ती युगो में होनेवाले उस प्रवृत्ति के कवियो का विवरण भी एक ही साथ दे दिया है। इससे कालविभाजन का सारा महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। श्यामसुंदरदास ने भी अपने इतिहास मे यही पद्धति अपनाई है। पर इसे वैज्ञानिक पद्धति नही माना जा सकता।

(ख) कालविशेष के साहित्य का इतिहास

यो तो रामकुमार वर्मा का इतिहास भी भक्तिकाल तक के साहित्य का ही इतिहास है पर उसमें परवर्ती कालो के कवियों का विवरण भी आ जाने से उसके संबंध में अन्य इतिहासग्रंथो के साथ ही विचार किया गया है। पर इस काल में दो इतिहासग्रंथ ऐसे लिखे गए, जो किसी एक ही काल या युग के साहित्य से संबंधित हैं। इसमें से प्रथम कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' है और द्वितीय है लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का भारतेंदुयुगीन साहित्य का इतिहास जिसका नाम 'आधुनिक हिंदी साहित्य' पाठको के मन मे यह भ्रम

उत्पन्न करता है कि पूरे आधुनिक काल के साहित्य का इतिहास है। कृष्णशंकर शुक्ल ने आधुनिक काल का प्रारंभ सन् १८६७ से माना है। इस काल को उन्होने तीन युगो मे विभक्त किया है--प्रारंभिक काल या भारतेंदु युग (सन् १८६७ से १६०३ , मध्यकाल या द्विवेदी युग (सन् १६०३ से १६१८) और नवीनकाल (सन् १६१८ के बाद)। इस तरह उन्होने शुक्लजी के इतिहास में किए गए आधुनिक काल के कालविभाजन को थोड़े अंतर के साथ स्वीकार कर लिया है। इसमें शुक्लजी की पद्धति ही नहीं अपनाई गई है, उनकी सामग्री और विचारो को भी अपना लिया गया है। उदाहरण के लिये 'नवीन काल' के 'पद्य' की विवेचना मे शुक्लजी की ही सभी बाते दुहराई गई हैं, लेखक ने कोई भी नई उद्भावना, नया तर्क नही उपस्थित किया है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यह इतिहास शुक्लजी इतिहास के आधुनिक कालवाले अंश का ही परिवर्द्धित संस्करण है। इसकी नवीनता इतनी ही है कि बहुत से ऐसे कवियो और लेखको का विवरण भी इसमें दिया गया है जिन्हे शुक्लजी ने स्थानाभाव के कारण उन्हे अधिक महत्व का न मानकर छोड़ दिया था। रचनाओ के उदाहरणो की भी इसमें भरमार है।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के ग्रंथ 'आधुनिक हिंदी साहित्य' में भारतेंदु युग के साहित्य का इतिहास बहुत ही अध्ययन और परिश्रम से उपस्थित किया गया है। यह लेखक का शोधग्रंथ है जिसपर उसे प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि मिली थी। इस कारण यह इतिहास शोधप्रधान अधिक है। इसमें साहित्यक प्रवृत्तियो के विभाजन और विश्लेषण की ओर लेखक ने बहुत कम ध्यान दिया है। वस्तुतः यह विवेचनात्मक नहीं, विवरणात्मक इतिहास है जिसमें लेखक का लक्ष्य भारतेंदुयुगीन साहित्य का लेखाजोखा उपस्थित करना, साहित्यिक कृतियो की मूल प्रेरणाओं और तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियो सामाजिक और सास्कृतिक आदोलनो आदि के संबंध में शोध करके अज्ञात तथ्यो का उद्घाटन करना तथा उपलब्ध सामग्री का संकलन करना है। इस दृष्टि से लेखक को अपने प्रयत्न मे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। प्रारंभ के दो अध्यायो में लेखक ने उन्नीसवी शताब्दी के भारत की राजनीतिक परिस्थितियों, और सामाजिक तथा धार्मिक गतिविधियो का विस्तार से विवेचन किया है और तत्कालीन हिंदी साहित्य पर उनके प्रभाव तथा प्रेरणा का आकलन किया है। बाद के अध्यायो में हिंदी गद्य के विविध रूपो और विधाओ के प्रारंभ और प्रचलन का इतिहास तथा तत्कालीन कविता की प्रवृत्तियो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस तरह साहित्य की विविध विधाओ और प्रवृत्तियो के विकास के अध्ययन की दृष्टि से तो यह ग्रंथ बहुत

उपयोगी है पर इसकी एक बड़ी भारी और खटकनेवाली कमी यह है कि इसमे लेखको और कवियो के जीवनवृत्त और रचित ग्रथो का विवरण नहीं दिया गया है और न उनकी प्रवृत्तियो और गुण दोषो का ही विवेचन किया गया है।

(ग) 'हिंदी साहित्य की भूमिका'

व्यावहारिक आलोचनावाले अध्याय मे बताया जा चुका है कि हजारी-प्रसाद द्विवेदी का 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रंथ विशुद्ध आलोचना-ग्रंथ नहीं, इतिहासपरक आलोचनाग्रंथ है। सच पूछा जाय तो न तो यह विशुद्ध आलोचना है न विशुद्ध इतिहास। इसकी प्रकाशकीय भूमिका मे प्रकाशक ने लिखा है कि 'यह पुस्तक हिंदी साहित्य का इतिहास नही है और न यह ऐसे किसी इतिहास का स्थान ही ले सकती है। आधुनिक इतिहासो को यह अधिक स्पष्ट करती है और भविष्य मे लिखे जानेवाले इतिहासो की मार्गदर्शिका है।' यह कथन सर्वांशतः सत्य है क्योंकि द्विवेदीजी ने इस पुस्तक में हिंदी साहित्य के उन मूल स्रोतो, प्रेरक शक्तियो तथा उसपर पड़े आंतरिक और बाह्य प्रभावो का विस्तृत विवेचन किया है जिनकी ओर साहि य के इतिहासकारो ने केवल संकेत भर किया है अथवा जिनका संक्षिप्त परिचय देकर ही आगे बढ़ गए हैं। इस तरह इसमे उनकी दृष्टि इतिहासकार की नहीं, समाजशास्त्रज्ञ की है। जिस तरह समाजशास्त्र मे साहित्य और कला के विकास तथा आदिम मानव-समाज मे उनके स्वरूप का अध्ययन किया जाता है और साहित्य को अनंत मानवप्रयत्नो का एक अंग मानकर उसपर पडे अन्य मानवप्रयत्नो के प्रभावों का विश्लेषण किया जाता है, ठीक उसी तरह द्विवेदीजी ने हिंदी साहित्य को इतिहास के विविध कालो मे प्रवहमान भारतीय मनीषा की चिंताधारा की पृष्ठभूमि मे रखकर देखा है। हिंदी साहित्य को वे भारतीय चिंतन के विकास की एक स्वाभाविक कड़ी मानकर उसका सबंध एक ओर तो विभिन्न दार्शनिक, धार्मिक और साप्रदायिक सिद्धातो से जोड़ते हैं, दूसरी ओर संपूर्ण भारतीय साहित्य की अखंड धारा से। इसी लिये यह पुस्तक हिंदी साहित्य के विकास पर उतना प्रकाश नहीं डालती जितना विभिन्न धर्मों, सप्रदायो, दर्शनो और जातीय समुदायों की उत्पत्ति, विकास और ह्रास की कथा कहती है। इस तरह हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों की प्रमुख प्रवृत्तियो के मूल उत्स को प्राचीन भारतीय साहित्य की विभिन्न धाराओ मे खोजने की प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण इस पुस्तक मे हिंदी का स्थान गौण और अन्य भाषाओं का प्रधान हो गया है। इस संबंध मे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए द्विवेदीजी ने पुस्तक के निवेदन मे लिखा है—'ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिंदी साहित्य को संपूर्ण भारतीय

साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय। मूल पुस्तक में बार बार संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आई है। इसी लिये कई लंबे परिशिष्ट जोड़कर संक्षेप में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय देने की चेष्टा की गई है। रीतिकाव्य की विवेचना के प्रसंग में कवि-प्रसिद्धियों और स्त्री अंग के उपमानों की चर्चा आई है। मध्यकाल की कविता के साथ संस्कृत कवि·ा की तुलना के लिये आवश्यक समझकर परिशिष्ट में इन दो विषयों पर भी अध्याय जोड़ दिए गए हैं।'

उपर्युक्त कथन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि इस पुस्तक में संकलित अधिकाश बातों का हिंदी साहित्य से बहुत दूर का संबंध है। इस संबंध की ओर शुक्लजी ने अपने इतिहास में यत्र तत्र संकेत किया है और कई स्थलों पर तो कुछ बातों को प्रासगिक समझकर उनकी सम्यक् विवेचना भी की है। पर द्विवेदीजी ने तो उन प्रासंगिक बातों को ही प्रमुख बनाकर उनका पूरा ब्यौरा ही उपस्थित कर दिया है। इसका प्रमाण इस पुस्तक का परिशिष्ट भाग है जो पूरी पुस्तक का प्रायः आधा है। मुख्य ग्रंथ में दस और परिशिष्ट में आठ अध्याय हैं। मूल पुस्तक की अधिकाश सामग्री दूसरे विद्वानों की पुस्तकों से संगृहीत है और परिशिष्ट का इतिहास भाग तो विंटरनित्स के 'भारतीय साहित्य के इतिहास' के संबंधित अंशों का संक्षेपीकरण ही है। मूल पुस्तक में बौद्ध धर्म तथा उसकी विविध शाखाओं, नाथ संप्रदाय, योगी जाति, वैष्णव मतों और सिद्धातों से संबंधित प्रायः सभी सामग्री विंटरनित्स, क्षितिमोहन सेन, विधुशेखर शास्त्री, वेणीमाधव बडुआ, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों के ग्रंथों और लेखों से ली गई है। इस तरह द्विवेदीजी ने इस पुस्तक में कोई मौलिक शोध नहीं किया है। हिंदी में इन विषयों का विवेचन पहले कम हुआ था फिर भी डा० बड़थ्वाल योगी जाति और नाथ संप्रदाय के बारे में तथा राहुल सांकृत्यायन तांत्रिक सिद्धों के संबंध में द्विवेदीजी से बहुत पहले ही लिख चुके थे। अपभ्रंश भाषा और आभीर जाति के संबंध में भी चंद्रधर शर्मा गुलेरी तथा अन्य विद्वान् पहले ही लिख चुके थे। अतः इस पुस्तक की नवीनता केवल उपलब्ध सामग्री को व्यवस्थित करने में ही है। पर इस समस्त सामग्री को एक साथ रखकर हिंदी साहित्य के अध्ययन का एक नया मार्ग खोलने का कार्य इस पुस्तक के द्वारा द्विवेदीजी ने अवश्य किया है, इसमें कोई संदेह नहीं।

(घ) गद्यविधाओं के विकास का इतिहास

हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं के विकास का इतिहास लिखने की प्रवृत्ति तो इस काल में उत्पन्न हो गई थी पर उसका प्रचलन अभी अधिक नहीं

हुआ था। रमाकांत त्रिपाठी के 'हिंदी गद्य मीमांसा' और जगन्नाथप्रसाद शर्मा के 'हिंदी गद्य शैली का विकास' में हिंदी गद्य साहित्य का इतिहास प्रासंगिक रूप में अवश्य दिया गया है पर उनमें मुख्यतः गद्यशैलियों का विवेचन किया गया है, अतः पिछले अध्याय में व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत उनपर विचार किया जा चुका है। हिंदी नाटकों के इतिहास से संबंधित प्रथम पुस्तक विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'हिंदी में नाट्यसाहित्य का विकास' है जो आकार में बहुत लघु है। वस्तुतः यह एक निबंध है जो 'साहित्यरत्न' की परीक्षा में बैठनेवाले विद्यार्थियों के लिये लिखा गया था। फलतः यह एक सामान्य परिचयात्मक पुस्तिका है जिसमें नाटक की उत्पत्ति, भारत में नाट्य साहित्य की प्राचीनता, भारतीय नाट्यशास्त्र, रंगशाला के प्रकार, आदि विषयों पर संक्षेप में विचार करने के बाद लेखक ने विद्यापति से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के नाटककारों द्वारा लिखित नाटकों की प्रवृत्तियों और शैलियों का परिचय दिया है। इस तरह यह वास्तविक अर्थ में इतिहास नहीं है क्योंकि इसमें केवल नाट्यप्रवृत्तियों का ऐतिहासिक विकास दिखाया गया है, नाटककारों के जीवनवृत्त तथा उनके लिखे ग्रंथों का विवरण और विवेचना नहीं प्रस्तुत की गई है। फिर भी इसमें विश्वनाथजी की पकड़ बहुत सच्ची दिखाई पड़ती है और यदि इसी सूझ बूझ से उन्होंने हिंदी नाट्यसाहित्य का विस्तृत इतिहास लिखा होता तो वह निस्संदेह एक बड़े अभाव की पूर्ति करता।

इस अभाव की कुछ पूर्ति व्रजरत्नदास के 'हिंदी नाट्यसाहित्य' से हुई जो सही अर्थ में हिंदी नाट्यसाहित्य का इतिहास है। इसमें प्रारंभ के दो प्रकरणों में संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति और विकास का इतिहास, उनके स्वरूप और तत्वों का विवेचन तथा पाश्चात्य नाट्यसाहित्य की प्रगति का परिचय दिया गया है और फिर हिंदी नाट्यसाहित्य के इतिहास को तीन कालों—पूर्वभारतेंदु काल, भारतेंदु काल और वर्तमान काल—में विभक्त कर प्रत्येक काल के नाटककारों के जीवनवृत्त और ग्रंथों का विवरण भिन्न भिन्न 'प्रकरणों' में लिखा गया है। वस्तुतः यह इतिहास विवरणात्मक अधिक है। इसमें नाटककारों की रचनाओं की समीक्षा बहुत कम की गई है और जहाँ की गई है वहाँ नाटककार की मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं तथा उसके शिल्पविधान की समीक्षा न करके केवल कथावस्तु का सारांश दे दिया गया है और नाटक के स्थूल गुणदोषों की गिनती कर दी गई है। इससे पता चलता है कि लेखक मूलतः समीक्षक नहीं, तथ्यनिरूपक इतिहासकार ही है। व्रजरत्नदास की दृष्टि शोधप्रधान है, इसलिये नाटककारों के जन्मकाल, ग्रंथ आदि के संबंध में साहित्य के पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने जो गलतियाँ की हैं, वे उन्हें ठीक करते गए हैं। उनके विवरणों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्होंने नाटककारों की कृतियों को स्वयं पढ़कर और पुस्तकालयों, पत्र पत्रिकाओं

की फाइलो आदि से परिश्रम से खोजकर तब उनके संबंध में कुछ लिखा है। जिन पुस्तको को वे नही देख सके उनके बारे में यह बात स्पष्ट लिख भी दी है। पर इसमें कुछ खटकनेवाली बातें भी हैं। पहली बात तो यह है कि उन्होने हिंदी नाटकों की प्राचीनता दिखाने के लिये मध्यकाल के कवियो के उन ग्रंथो को जो संस्कृत के नाटको के हिंदी में पद्यानुवाद हैं, नाटक मानकर उसपर विचार किया है और उनके लेखको को नाटककार माना है। शुक्लजी और कोई इतिहासकार यदि ऐसा करता है तो वह इसलिये क्षम्य है कि साहित्यनिर्माण के किसी भी रूप में साहित्य के इतिहास मे लिया जा सकता है। पर नाट्यसाहित्य के इतिहास में तो वे ग्रंथ ही ग्राह्य हैं जो सचमुच नाटक हैं। दूसरी बात यह है कि भारतेंदु और प्रसाद पर इस ग्रंथ में एक एक अध्याय में पूरी आलोचना लिखी गई है और अन्य नाटककारो की चलती आलोचना कर दी गई है जिससे लेखक पर पक्षपात का आरोप लगाया जा सकता है। समस्यानाटको के प्रति भी लेखक निष्पक्ष नहीं रह सका है अथवा उनकी पद्धति और रूपशिल्प को वह अच्छी तरह समझ नही सका है जिसके कारण लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक 'सिंदूर की होली' के संबंध में वह इस प्रकार का मत व्यक्त करता है—'स्थानाभाव से नाटक में किसी पात्र का पूर्णरूपेण चित्रण नही हो सका है क्योंकि घटनाचक्र काफी है और सिद्धांतो का तर्कवितर्क भी बहुत है।...... बाद का कुछ हाल न खुलने से चित्र सभी अधूरे रह गए। ......यह नाटक हत्याकाड, घूसखोरी आदि से भरा है।'[१] समस्या नाटको के शिल्प और उद्देश्य को समझनेवाला कोई आलोचक ऐसी बात नहीं कह सकता।

शिवनारायण श्रीवास्तव का 'हिंदी उपन्यास' हिंदी मे उपन्यास साहित्य के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करनेवाला प्रथम ग्रंथ है पर इसे वास्तविक अर्थ मे इतिहासग्रंथ नही कहा जा सकता क्योंकि इसमे लेखक की दृष्टि ऐतिहासिकता की ओर बिलकुल नही है। इसमे न तो उपन्यास लेखको के जीवनवृत्त के वर्णन की ओर ध्यान दिया गया है न उपन्यासो के रचनाकाल का ही उल्लेख किया गया है। जो पाठक इस ग्रंथ के आधार पर किसी उपन्यासकार के जीवन वा किसी उपन्यास के रचनाकाल की जानकारी प्राप्त करना चाहता है, उसे इस पुस्तक से निराशा ही हाथ लगेगी। वस्तुतः इसमे मुख्यतः ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार उपन्यासकारो की संक्षिप्त आलोचना की गई है, जिससे न तो औपन्यासिक प्रवृत्तियो के विकास का इतिहास ही अच्छी तरह दिखाया जा सका है और न उन प्रवृत्तियो का

१ हिंदी नाट्यसाहित्य, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २०७।

वैज्ञानिक विवेचन ही समव हो सका है। उपन्यासकारों की जो समीक्षा की गई है वह भी वैज्ञानिक विवेचनायुक्त नहीं है। प्रायः उसमें भावात्मक शैली अपनाई गई है अथवा लेखकों की भाषाशैली के गुणदोषों का स्थूल ढंग से उल्लेख कर दिया गया है। उपन्यासकार के उद्देश्य, उसकी मूल प्रेरकशक्ति तथा उसपर पड़े प्रभावों की विवेचना में लेखक अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ है। इस कारण इस पुस्तक का आलोचनात्मक महत्व भी अधिक नहीं है। इसके प्रारंभ के दो प्रकरणों में उपन्यास की परिभाषा, स्वरूप, तत्व और प्रकार आदि की व्याख्या तथा भारतीय साहित्य में कथा के स्वरूपविकास की विवेचना की गई है। इसके बाद हिंदी उपन्यास के इतिहास को मनमाने ढंग से दो कालों—आदिकाल या बालकाल तथा आधुनिककाल में विभक्त कर दिया गया है। पर उनकी सीमारेखा निर्धारित नहीं की गई है, अनुमान से यह प्रतीत होता है कि प्रेमचंद के पूर्व के उपन्यासकारों को लेखक ने आदिकाल में माना है और प्रेमचंद तथा उनके बाद के लेखकों को आधुनिककाल के भीतर रखा है। यह विभाजन भी अवैज्ञानिक है क्योंकि औपन्यासिक प्रवृत्तियों के आधार पर यह नहीं किया गया है। उपन्यासों का वर्गीकरण भी प्रवृत्तियों या प्रकारों के आधार पर होना चाहिए था और एक वर्ग के उपन्यासकारों की विवेचना एक साथ होनी चाहिए थी। ऐसा करने पर यह विशुद्ध आलोचनात्मक पुस्तक हो जाती। पर लेखक का उद्देश्य इसे इतिहास बनाना था, इसी लिये उपन्यासकारों का विवरण उसने ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार दिया है। फलतः न तो यह अच्छा इतिहासग्रंथ हो सका है न सफल आलोचनाग्रंथ। इस तरह उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये भले ही इस पुस्तक का महत्व हो, साहित्य के गंभीर अध्येताओं के लिये यह अधिक महत्व की नहीं है।

(ङ) शोधप्रधान ग्रंथ और निबंध

इतिहास का शोध से बहुत घनिष्ठ संबंध है। प्राचीन साहित्य का इतिहास प्राचीन पोथियों के प्रकाश में आने के बाद ही लिखा जा सकता है। उसी तरह प्राचीन साहित्य के मूल स्रोतों को भी अतीतकालीन दर्शनों, धर्मों, सप्रदायों और सामाजिक स्थितियों के भीतर से खोजकर निकालना पड़ता है। इस तरह शोध के बिना इतिहास का निर्मित होना असंभव है। इसी लिये हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रसंग में शोधग्रंथों के संबध में भी विचार करना आवश्यक है। ऊपर जिन इतिहासों या इतिहासपरक समीक्षा ग्रंथों की चर्चा की गई है उनमें से रामकुमार वर्मा और लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के इतिहास प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोधग्रंथ ही हैं। पर शोधग्रंथ हमेशा इतिहास ही नहीं होता। अनेक शोधग्रंथों में केवल इतिहास की सामग्री होती है जिनसे इतिहासलेखक

और साहित्य के पाठक लाभ उठा सकते हैं। हिंदी में डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल राहुल साकृत्यायन, चंद्रबली पांडेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सत्येंद्र आदि के बहुत से निबंध और ग्रंथ इसी तरह के हैं जिनमें साहित्य और साहित्यकारों से संबंधित बहुत सी नई बातों की खोज की गई है अथवा उस खोज के आधार पर नवीन स्थापनाएँ और व्याख्याएँ की गई हैं। राहुल सांकृत्यायन की 'पुरातत्व निबंधावली' में महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति, वज्रयान और चौरासी सिद्ध, हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ आदि ऐसे निबंध हैं जिनसे मध्यकालीन निर्गुण काव्यधारा की पूर्वपरंपरा तथा उसके मूल स्रोतों पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है। बड़थ्वालजी का शोधप्रबंध 'हिंदी काव्य में निर्गुण धारा' तथा उनके निबंधों का संग्रह 'योग प्रवाह' (सन् १९४६) भी शोधविषयक ग्रंथ ही हैं। चंद्रबली पांडेय ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका में कबीर, तुलसी, जायसी आदि के जीवनवृत्त के संबंध में कई शोधपूर्ण निबंध लिखे थे। हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' की चर्चा पहले हो चुकी है। उनकी अन्य दो पुस्तकें 'सूर साहित्य' और 'कबीर' भी शोधप्रधान ही हैं। गौरीशंकर सत्येंद्र की पुस्तक 'साहित्य की झाँकी' (सन् १९३६) में भी कुछ निबंध शोधविषयक हैं। यहाँ केवल महत्वपूर्ण शोधप्रबंधों और निबंधों के संबंध में ही विचार किया जायगा।

१—डा० बड़थ्वाल के शोधग्रंथ

डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल का अंग्रेजी में लिखा ग्रंथ 'दी निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोइट्री' हिंदी का प्रथम शोधप्रबंध है जिसपर लेखक को हिंदू विश्वविद्यालय से डी० लिट की उपाधि मिली थी। पर प्रथम शोधप्रबंध होने के साथ ही मेरे विचार से यह हिंदी का आज तक का सर्वोत्कृष्ट शोधप्रबंध भी है। इससे न केवल बड़थ्वालजी के एक सच्चे और अध्यवसायी शोधकर्ता होने का परिचय मिलता है बल्कि उनके गहन चिंतन, मौलिक दृष्टि, और गंभीर दार्शनिक व्यक्तित्व के भी दर्शन होते हैं। यह ग्रंथ अत्यंत पांडित्यपूर्ण और मौलिक उद्भावनाओं से युक्त है। इसमें प्रथम अध्याय में भक्तिकालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यद्यपि उस समय मुसलमानों के अत्याचारों से हिंदू जाति त्रस्त हो चुकी थी, पर साथ ही उसकी आंतरिक दुर्बलताओं और वर्णवैषम्यसंबंधी रूढ़ियों के कारण भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी जिसमें एक प्रबल धार्मिक और सामाजिक आंदोलन का उठ खड़ा होना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी था। यह आंदोलन मुसलमानों के आने के कारण ही उत्पन्न हुआ। हिंदू जाति को संघटित करने के लिये इस्लाम की एकता के आदर्श को अपनाकर सामाजिक समता और

आध्यात्मिक साधना मे सबके समान अधिकार का आदोलन आवश्यक समझा गया। यद्यपि नाथ संप्रदाय और योग मार्ग में यह सिद्धात पहले से ही मान्य था पर इस काल मे वर्णभेद तथा हिंदू मुसलिम भेद को मिटाने के लिये वैष्णव मतावलंबी रामानंद आदि और मुसलमान सूफी संतो द्वारा समान रूप से प्रयत्न किया गया। इस तरह निर्गुण मार्ग केवल ऐकातिक साधना का मार्ग नही था बल्कि लोकहित के उद्देश्य से परिचालित एक देशव्यापी सामाजिक आदोलन था। बड़थ्वालजी का यह मत शुक्लजी के इस मत का विरोधी है कि निर्गुण मत समाजविरोधी और लोकहित की भावना से शून्य था। सत और भक्तिमत के आंदोलनो को शुक्लजी ने मुसलमानी आक्रमणो और विजय के कारण हिंदुओ में उत्पन्न निराशा की भावना की देन माना है पर बडथ्वालजी ने उसे उस समय की सामाजिक आवश्यकता तथा इस्लाम धर्म के सपर्क के प्रभाव की देन बताया है। बड़थ्वालजी की यह स्थापना पुष्ट प्रमाणो पर आधारित होने से अकाट्य है जब कि शुक्लजी का मत कोरे अनुमान पर आधारित है।

डा० बड़थ्वाल के शोधप्रबंध की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमे उन्होने निर्गुण धारा के कवियो के काव्य के आधार पर निर्गुण मत के दार्शनिक सिद्धातो का निरूपण किया है और उनकी पूर्वपरंपरा उपनिषदो, वेदात, साख्य, योग आदि दर्शनो तथा नाथ संप्रदाय के सिद्धातो मे खोजने का प्रयत्न किया है। फलतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि निर्गुण मत भले ही मुसलमानो के भारत मे आकर बस जाने के कारण एक आदोलन के रूप में उठ खडा हुआ हो पर उसकी जड़े भारतीय दार्शनिक और धार्मिक परंपरा के भीतर हैं, विशेष रूप से वेदांत, साख्य, योग, विशिष्टाद्वैत, भेदाद्वैत और नाथपंथी शैव दर्शन से उसका सीधा संबंध है। नाथ संप्रदाय और निरंजन मत का तो उसपर इतना प्रभाव है कि उनकी साधनापद्धति ही नही, शब्दावली को भी निर्गुण मतवादी संतो ने ज्यों का त्यो ग्रहणकर लिया है। पर इसका यह अर्थ नही कि निर्गुण धारा के संतो ने विभिन्न दर्शनो की पचमेल खिचडी पकाई है। इसके विपरीत बड़थ्वालजी का मत है कि निर्गुण मत का अपना एक स्वतंत्र दर्शन है जो पूर्ववर्ती दर्शनो से पर्याप्त भिन्नता रखता है। इसी लिये उन्होने विभिन्न भारतीय दर्शनो का अलग अलग सिद्धातनिरूपण करके निर्गुण काव्यधारा पर उन्हे ऊपर से लादा नहीं है बल्कि दोनो को आमने सामने रखकर उनकी तुलनात्मक परीक्षा की है। उन्होने भारतीय दर्शन से ही नही, पाश्चात्य देशो के आधुनिक दार्शनिकों और रहस्यवादियो के सिद्धातो और कविताओ से भी निर्गुण मत के सिद्धातों और कविताओं की तुलना करके उनका महत्व प्रतिपादित किया है। उनकी रहस्यवादी कविताओं के वस्तु तत्व और अभिव्यंजना पद्धति पर एक अध्याय मे बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से विचार किया गया है तथा उलटबासियां और प्रतीकात्मक

कविताओं में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का प्रतीकार्थ भी समझाया गया है। अंतिम अध्याय में निर्गुण धारा के विभिन्न कवियों का प्रामाणिक जीवन वृत्त भी दे दिया गया है। इस तरह निर्गुण धारा के काव्य के अध्येयता के लिये यह एक ही पुस्तक काफी हो सकती है। इसमें खटकनेवाली बात बस इतनी ही है कि सहजयान और वज्रयान के सिद्धो और तान्त्रिको के दार्शनिक सिद्धांतो और कविताओं का लेखक ने कहीं उल्लेख नहीं किया है। हो सकता है, उस समय तक बड़थ्वालजी को उनका पता न रहा हो।

किंतु उनके निबंधसंग्रह 'योग प्रवाह' से पता चलता है कि उन्हें चौरासी सिद्धों के संबंध में न केवल जानकारी थी बल्कि उनकी शाखा प्रशाखाओं का भी उन्हें ज्ञान था। इस संग्रह के सभी निबंध शोधप्रधान हैं जिनमें से कुछ में नवीन सामग्री की खोज की गई है और कुछ व्याख्यात्मक हैं। इनमें सबसे महत्व-पूर्ण निबंध 'हिंदी कविता में योगप्रवाह' है जिसमें लेखक ने नाथ पथ के साधकों की परंपरा तथा उनकी उपलब्ध कविताओं के संबंध में विचार किया है। इस खोज से हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और सहजयानी सिद्धों की कविताओं के बीच की कड़ी जुड़ जाती है। 'गोरखबानी' का संपादन करके डा० बड़थ्वाल ने इस कड़ी को और भी सुदृढ़ बना दिया और अब निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि निर्गुण काव्यधारा का प्रारंभ दशवीं शताब्दी के आसपास ही हो गया था। 'कुछ निरंजनी संतो की बानियाँ' शीर्षक निबंध में भी एक नए तथ्य का उद्घाटन किया गया है। इसमें जिन निरंजनी संतो की कविताएँ दी गई हैं वे कबीर आदि निर्गुणमतवादी कवियों से बहुत मिलते जुलते हैं यद्यपि उनकी उपासनापद्धति भिन्न है। इस निबंध में लेखक ने यह स्थापना की है कि 'निरंजन धारा भी सिद्ध, नाथ और निर्गुण धाराओं की भाँति आध्या-त्मिक धारा है।' 'नागार्जुन' शीर्षक निबंध भी बहुत ही गंभीर गवेषणा के बाद लिखा प्रतीत होता है। इस निबंध की स्थापना यह है कि जिस नागार्जुन की हिंदी में लिखी कुछ सबदियाँ मिली हैं वे दसवीं शताब्दी के लामा तारानाथ के गुरु सिद्धाचार्य नागार्जुन थे जिन्हें नाथपंथी योगियों तथा सिद्धों दोनों की सूची में संमिलित कर लिया गया है। इस खोज के फलस्वरूप दसवीं शताब्दी की हिंदी कविता और लोकभाषा हिंदी का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अन्य निबंध भी किसी न किसी नवीन तथ्य का उद्घाटन अवश्य करते हैं। इस दृष्टि से हिंदी में शोध के क्षेत्र में बड़थ्वालजी के इन निबंधों का महत्व और स्थान अद्वितीय है।

२—हजारीप्रसाद द्विवेदी के शोधपरक ग्रंथ

हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'सूरसाहित्य' और 'कबीर' की चर्चा व्यावहा-रिक आलोचना के अंतर्गत की जा चुकी है और बताया जा चुका है कि ये मुख्यतः

शोधप्रधान ग्रंथ हैं। पर यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि द्विवेदीजी डा० बड़थ्वाल और राहुल सांकृत्यायन की तरह मुख्यतः शोधकर्ता नहीं हैं। इसलिये उनकी इन दोनो पुस्तकों में उनकी अपनी शोधगत उपलब्धि कुछ भी नहीं है, इनकी समस्त सामग्री अन्य शोधकर्ताओं से अथवा प्रख्यात प्राचीन ग्रंथो से ली गई है। अतः ये सही अर्थ मे शोधग्रंथ नही हैं, व्याख्याग्रंथ हैं। वस्तुतः द्विवेदीजी ने इनमे सभी प्रासगिक और कभी कभी अप्रासगिक सामग्रियो का संकलन करके उनकी नए ढंग से व्याख्या की है और निष्कर्ष निकाला है। यही उनकी सबसे बडी उपलब्धि है। उदाहरण के लिये 'सूरसाहित्य' का पहला निबंध 'राधा कृष्ण का विकास' लिया जा सकता है। इसमे लेखक ने जैकोबी ग्रियर्सन, केनेडी, भंडारकर, मेकडानल्ड, कीथ, आनंदकुमार स्वामी, राय चौधरी, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, गणपति शास्त्री, काशीप्रसाद जायसवाल, विटरनित्स आदि प्रख्यात शोधकर्ता विद्वानो के ग्रंथो, लेखो आदि से सहायता लेकर उनके मतो का खंडनमडन करते हुए अंत मे अनुमानतः यह निष्कर्ष निकाला है कि राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी और बाल कृष्ण आर्येतर आभीर जाति के देवता थे जिन्हे भारतीय भागवत मत के 'वासुदेव' से मिला दिया गया होगा। यह सब ऊहापोह करने का लाभ ही क्या हुआ यदि निष्कर्ष अनुमान के आधार पर निकालना था। पर द्विवेदीजी का उद्देश्य तो एक ओर राधा और कृष्णसंबधी शोधसामग्री को एक साथ इकट्ठा करना और दूसरी ओर वल्लभ संप्रदाय के सिद्धातो से उसका संबंध जोडना था। अतः वे झट अनुमान द्वारा निष्कर्ष निकालकर चौदहवीं शताब्दी के वैष्णव आदोलन से उसका सबंध जोड देते है। यही पद्धति उन्होने इस पुस्तक के अन्य प्रसंगो में तथा 'कबीर' मे भी अपनाई है। अँगरेजी और बँगला मे वैष्णव धर्म, बौद्ध तंत्रमार्ग, सहजयान, शाक्त तंत्र, वैष्णव तत्र, बाउल साधना, गौडीय मधुर साधना, योगमार्ग, नाथ संप्रदाय, योगी जाति आदि के संबंध मे जहाँ जो कुछ लिखा मिला है, उसका उपयोग उन्होने इन दोनो ग्रंथो मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य किया है। जहाँ प्रत्यक्ष उपयोग किया है वहाँ तो मूल स्रोत का उल्लेख कर दिया है और जहाँ अप्रत्यक्ष उपयोग किया है, वहाँ मूल शोधकर्ता का नामोल्लेख न होने पर भी यह बताया जा सकता है यह सामग्री कहाँ से ली गई है। सूर साहित्य की अधिकाश सामग्री वंगीय आलोचको, इतिहासकारो और शोधकर्ताओ के ग्रंथो से ली गई है, यह बात पादटिप्पणियो के उल्लेखों से ही स्पष्ट हो जाती है। जिन प्रसंगो मे उन्होंने अन्य शोधकर्ताओ से सामग्री नहीं ली है वे बहुत सामान्य कोटि की व्याख्या मात्र होकर रह गये हैं जैसे 'सूर साहित्य' के 'प्रेम तत्व', 'सूर की विशेपता', 'कवि सूरदास की बहिरंग परीक्षा' शीर्षक अध्याय।

उनका कबीर नामक ग्रंथ जो प्रकाशित तो सन् १६४१ मे हुआ पर लिखा सन् १६४० के पहले ही गया था, सूरसाहित्य की अपेक्षा अधिक गंभीर और ठोस है। पर इसमे भी लेखक का निजी शोध कुछ भी नहीं है। इस ग्रंथ की विवेच्य सामग्री और स्थापनाएँ या तो दूसरे शोधको से ली गई हैं या लेखक ने कबीर के साहित्य की व्याख्या करके उन्हे प्रस्तुत किया है। इसकी प्रस्तावना में जुलाहा और जुगी जाति के संबंध मे जो कुछ कहा गया है, वह सब क्षिति-मोहन सेन की पुस्तक 'भारतवर्ष मे जातिभेद' और डा० बड़थ्वाल के लेख 'कबीर के कुल का निर्णय' जो बहुत पहले वीणा मे प्रकाशित हुआ था, से लिया गया है। इस प्रसंग मे द्विवेदीजी ने क्षितिमोहन सेन का नाम तो लिया है पर डा० बड़थ्वाल का नामोल्लेख तक नहीं किया है। बाद के अध्यायो मे भी डा० बड़थ्वाल की दोनो पुस्तको 'हिंदी काव्य मे निर्गुण धारा' और 'योग प्रवाह' की स्थापनाओ को ज्यो का त्यो उठा लिया है। दोनो ग्रंथो के संबधित प्रसंगो को मिला कर देखने पर यह बात पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है पर इसके लिये यहाँ अवकाश नहीं है। निर्गुण धर्मसाधना पर नाथपंथी योगियो के प्रभाव का विवेचन डा० बड़थ्वाल ने अपने शोधग्रंथ में तथा सन् १६३० में नागरीप्रचारिणी सभा में प्रकाशित 'हिंदी कविता में योगप्रवाह' शीर्षक निबंध में द्विवेदीजी से बहुत पहले ही कर दिया था। हठयोग की पद्धति पर तो रामकुमार वर्मा, डा० बड़थ्वाल आदि सबने विचार किया था और यह गोरखनाथ की शिव-संहिता के आधार पर कोई भी संस्कृतज्ञ कर सकता है। 'निरंजन कौन है' शीर्षक अध्याय में कही अधिकांश बाते भी बड़थ्वालजी के लेख 'कुछ निरंजनी संतो की बानियाँ' में पहले ही कही जा चुकी थी जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। रामानंद पर योग का प्रभाव और कबीर में रामानद के प्रभाव से योग और भक्ति के समन्वय की प्रवृत्ति पर भी बड़थ्वालजी अपने ग्रंथो में लिख चुके थे जिसे द्विवेदीजी ने 'संतो भक्ति सतो गुरु आनी' शीर्षक अध्याय में बढ़ा चढ़ाकर लिख दिया है। 'योगपरक रूपक और उलटबासियाँ' शीर्षक अध्याय में सांकेतिक शब्दो के जो अभिप्राय द्विवेदीजी ने दिए हैं उनसे कहीं अधिक अर्थों का उल्लेख बड़थ्वालजी ने अपने शोधग्रंथ में किया है। कबीर के दर्शन को कबीर-साहित्य के आधार पर प्रतिपादित करने का जो कठिन कार्य बड़थ्वालजी ने किया है उसका भरपूर लाभ द्विवेदीजी ने 'ब्रह्म और माया, निर्गुण राम, वाह्याचार, भगवत्प्रेम का आदर्श' शीर्षक अध्यायो में उठाया है। यह सब कहने का तात्पर्य यह नही कि द्विवेदीजी का 'कबीर' महत्वपूर्ण ग्रंथ नहीं है। वस्तुतः कबीर-साहित्य के अध्येता के लिये यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है पर साथ ही यह भ्रम नही होना चाहिए कि इस ग्रंथ की समस्त सामाग्री द्विवेदीजी की मौलिक खोज है।

———

छठा अध्याय

उपलब्धियाँ और अभाव

सन् १९२० से सन् १९४० तक की हिंदी आलोचना के इस विवेचनात्मक सर्वेक्षण का उद्देश्य तत्कालीन आलोचना का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करना था। वह काल आज हमसे काफी पीछे छूट गया है और हिंदी आलोचना ही नही, समूचा हिंदी साहित्य उस काल की तुलना मे पर्याप्त समृद्ध हो चुका है। अतः हम अब इस स्थिति मे हैं कि उस काल की हिंदी आलोचना की उपलब्धियो और अभावो पर ऐतिहासिक तटस्थता के साथ विचार कर सकें। पिछले पृष्ठो में हम देख चुके हैं कि हिंदी आलोचना का इतिहास बहुत पुराना नही है। आधुनिक आलोचना का प्रारंभ हिंदी मे सही अर्थों में बीसवी शताब्दी में हुआ। अतः हमारा आलोच्य काल वस्तुत: उसकी शैशवावस्था का काल था। ऐसी स्थिति में तत्कालीन हिंदी आलोचना में सभी प्रकार की पूर्णता खोजना उचित नही है। यही नही, आलोचना का स्तर और रूप बहुत कुछ आलोच्य रचनात्मक साहित्य के अनुरूप ही निर्मित होता है। अतः हम देखते हैं कि तत्कालीन हिंदी आलोचना प्राचीन हिंदी साहित्य की विवेचना की दृष्टि से जितनी संपन्न है उतनी आधुनिक साहित्य की विवेचना की दृष्टि से नहीं। इसका कारण यही है कि हिंदी का प्राचीन साहित्य तो पर्याप्त संपन्न था किंतु आधुनिक साहित्य इस काल मे अभी प्रारभिक अवस्था मे ही था। इन बातो को ध्यान मे रखकर ही तत्कालीन हिंदी आलोचना की उपलब्धियो, सीमाओ और अभावो पर विचार करना उचित है।

सन् १९२० से सन् १९४० तक की आलोचना का प्रतिमान बहुत कुछ आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा निर्मित हुआ था। किंतु यह प्रतिमान उस युग की आलोचना का एकमात्र प्रतिमान नहीं था। इस काल मे हिदी साहित्य में एक के बाद एक कई साहित्यिक सिद्धांत या 'वाद' प्रतिष्ठित और प्रचारित हुए, जिससे आलोचकों का भी वादग्रस्त हो जाना स्वाभाविक था। वस्तुतः यह समूचा युग विविध प्रकार के 'वादो' का युग था। हिंदी साहित्य मे इन 'वादो' का प्रारंभ सर्वप्रथम इस शताब्दी के दूसरे दशक मे छायावाद और रहस्यवाद के साथ हुआ। फिर चौथे दशक मे प्रगतिवाद और पाँचवें दशक मे प्रयोगवाद का प्रादुर्भाव हुआ। अतः आलोचकों मे से भी कई किसी न किसी 'वाद' के पक्षपाती हो गए थे। छायावाद के समर्थकों ने जो आलोचना लिखी, उसे तो छायावादी

समीक्षा नहीं कहा गया पर प्रगतिवाद के समर्थकों की आलोचना को प्रगतिवादी समीक्षा अवश्य कहा गया। प्रयोगवादी लेखकों की आलोचना को प्रयोगवादी नही वरन् 'मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा' नाम दिया गया। इस युग के जिन समीक्षकों की आलोचना में भावुकता और अलंकृति अधिक थी उनकी समीक्षा को कुछ लोगों ने प्रभाववादी समीक्षा कहा है। उसे ही छायावादी समीक्षा भी कहा जा सकता है। इन तीनो छायावादी या प्रभाववादी, प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणवादी समीक्षापद्धतियों का प्रभाव साहित्य पर स्थाई रूप से नही पड़ सका, किंतु रामचंद्रशुक्ल द्वारा प्रवर्तित ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक समीक्षापद्धति ने हिंदी आलोचना पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा। यह स्थायित्व इस बात नहीं है कि शुक्लजी ने समीक्षा के जो प्रतिमान स्थिर किए थे, हिंदी के समीक्षक बाद में भी उसी को दुहराते रहे। उसको स्थाई इस अर्थ में कहा जा सकता है कि शुक्लजी के बाद उनकी ऐतिहासिक समीक्षापद्धति समाजशास्त्रीय समीक्षापद्धति के रूप में विकसित हुई। यद्यपि प्रगतिवादी समीक्षकों ने उसे मार्क्सवादी सिद्धातो के अनुरूप ढालने का प्रयास किया और हजारीप्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी आदि ने सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहास के धरातल पर ले जाकर उसे शोध के क्षेत्र में पहुँचा दिया, फिर भी सामान्य रूप मे किसी भी समीक्षात्मक कृति के लिये यह आवश्यक माना जाने लगा कि उसमें आलोच्य साहित्य या प्रवृत्ति की केवल शास्त्रीय और व्याख्यात्मक समीक्षा ही नहीं होनी चाहिए बल्कि उसे अपने युगविशेष की सामाजिक और सास्कृतिक स्थितियो और विचारधाराओं से जोड़कर देखना चाहिए। इस तरह हिंदी आलोचना की पीठिका उत्तरोत्तर अधिक समाजशास्त्रीय होती गई। इस तरह आधुनिक समाजशास्त्रीय समीक्षापद्धति का प्रारंभ हमारे आलोच्य युग में ही आचार्य रामचद्र शुक्ल द्वारा हुआ था।

इस युग की आलोचना की दूसरी बड़ी उपलब्धि व्याख्यात्मक समीक्षापद्धति है और इसका प्रारंभ भी आचार्य शुक्ल द्वारा ही हुआ था। शुक्लजी पहले आलोचक थे जिन्होंने पूर्ववर्ती रूढ़िवादी शास्त्रीय समीक्षा, पक्षपातपूर्ण तुलनात्मक समीक्षा और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसावाली प्रभावात्मक समीक्षा की पद्धतियो को छोड़कर मात्र आलोच्य कृति की आतरिक प्रवृत्तियो की विवेचना करके व्याख्यात्मक समीक्षापद्धति की नीव डाली थी। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में आधुनिकता का प्रवेश इस व्याख्यात्मक पद्धति द्वारा ही हुआ था। व्याख्यात्म समीक्षा का आधार समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन और सौंदर्यशास्त्र होता है। आलोच्य कृति के बाह्य गुण, दोषो की गणना करना व्याख्यात्मक समीक्षा नही है। सच्ची समीक्षा मे, जिसे व्याख्यात्मक समीक्षा कहा जाता है, रचना के मूल मे निहित उन सत्यों का उद्घाटन

किया जाता है, जिन्हें रचनाकार ने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा और जीवनसाधना के फल के रूप में उपलब्ध किया है। इस तरह व्याख्यात्मक समीक्षा रचनाकार और उसके सामाजिक परिवेश के घात प्रतिघात के अतिरिक्त रचनाकार की अंतःप्रवृत्ति के संघटक तत्वों का उद्घाटन और विवेचन भी करती है और साथ ही रचना के उस आंतरिक सूक्ष्म सौंदर्य का भी उद्घाटन करती है, जिसके कारण ही कोई रचना मूल्यवान बनती है। इस प्रसंग में रचना में व्यक्त जीवंत मूल्यों तथा अनुभूति के व्यापक और गहरे आयामों का उद्घाटन भी अनिवार्य हो जाता है। कहने की अवश्यकता नहीं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने समय तक की ज्ञानविज्ञान संबंधी अधिकाश उपलब्धियों को जानने समझने का प्रयास किया था और उन्हीं के प्रकाश में अपना एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित किया था, जिसके प्रकाश में उन्होंने अपनी व्याख्यात्मक समीक्षा का मार्ग निकाला था। इस दृष्टि से देखने पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आज भी हिंदी आलोचना शुक्लजी द्वारा निर्मित मार्ग से अधिक इधर उधर नहीं हटी है।

इस काल की आलोचना का एक वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि उसमें विविधता और विस्तार अधिक दिखाई पड़ता है। इसका प्रमुख कारण यह था कि इस काल में आलोचकों ने पाश्चात्य आलोचनापद्धतियों तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों से अधिकाधिक प्रभाव ग्रहण किया। स्वयं रामचंद्र शुक्ल की आलोचना आर्नल्ड और आइ० ए० रिचार्ड्स की आलोचनापद्धति से कम प्रभावित नहीं है। यही नहीं, शुक्लजी ने पाश्चात्य मनोविज्ञान और सौंदर्यशास्त्र से भी अधिकाधिक लाभ उठाया है। शुक्लोत्तर समीक्षा पर आधुनिक ज्ञान विज्ञान-मनोविश्लेषणशास्त्र, मार्क्सवाद, सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र आदि—का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इससे सिद्ध होता है कि इस काल के आलोचकों ने हिंदी आलोचना को समृद्ध बनाने की दृष्टि से सदैव अपने दिमाग की खिड़कियाँ खुली रखीं और किसी भी विचार या सिद्धांत को अपने विवेक की कसौटी पर कसकर स्वीकार करने में हिचकिचाहट नहीं दिखाई। उदाहरण के लिये लक्ष्मीनारायण सुधांशु की अभिव्यंजनावाद संबंधी विवेचना अथवा डा० नगेंद्र की स्वच्छंदतावाद संबंधी विचारधारा को ले सकते हैं। किंतु इन बाह्य प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी इस काल के आलोचकों ने भारतीय चिंताधारा की अवहेलना नहीं की। इसके विपरीत उनकी दृष्टि मुख्यतः भारतीय ही बनी रही। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिंदी आलोचना का बहुमुखी विकास हुआ। इस विकास के क्रम में हिंदी में अनेकानेक आलोचनात्मक प्रतिभाओं का उदय हुआ। शांतिप्रिय द्विवेदी, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, हजारी-प्रसाद द्विवेदी, इलाचंद्र जोशी, प्रकाशचंद्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान आदि

वर्तमान आलोचकों की प्रारंभिक आलोचनाएँ इसी काल में लिखी गई थीं। इन सभी आलोचनाओं का समीक्षामार्ग एक ही नहीं था। सबने अपना अपना अलग रास्ता चुना था और इस तरह हिंदी आलोचना को वैविध्य और विस्तार प्रदान किया था।

किंतु यदि तत्कालीन आलोचना में केवल वैविध्य और विस्तार ही होता तो उसे वह महत्व न मिल पाता जो उसको आज भी प्राप्त है। उस महत्ता का कारण शुक्लजी तथा कुछ अन्य आलोचकों की वह तलगामिनी दृष्टि थी जिसके द्वारा हिंदी आलोचना में गहराई और ऊँचाई आ सकी। गहरी और पैनी दृष्टि के मामले में आचार्य शुक्ल जैसा कोई दूसरा आलोचक हिंदी ही नहीं, किसी अन्य भारतीय भाषा में नहीं हुआ। वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर उनके वास्तविक सूक्ष्म रूप को देखने की जो प्रवृत्ति शुक्लजी से प्रारंभ हुई थी वह नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, स० ही० वात्स्यायन आदि शुक्लोत्तर समीक्षकों में विशेष रूप से विकसित हुई। मनोविज्ञान और दर्शन की सहायता से इन आलोचकों ने मानव मन के भीतर गहराई तक प्रवेश करके साहित्यिक कृतियों और प्रवृत्तियों का जो विवेचन किया उसका स्तर निश्चय ही बहुत ऊँचा था। इसी का यह परिणाम है कि हिंदी साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की तुलना में कम से कम आलोचना के क्षेत्र में तो निस्संदेह सबसे आगे है।

हिंदी आलोचना की यह गहराई और ऊँचाई उस समय व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में ही अधिक दिखाई पड़ी थी। व्यावहारिक समीक्षा में शुक्लजी ने प्राचीन हिंदी साहित्य की ओर जितना ध्यान दिया उतना अर्वाचीन साहित्य की ओर नहीं, किंतु जिस किसी कवि या साहित्यप्रवृत्ति को उन्होंने आलोचना का विषय बनाया, उसकी इतनी सूक्ष्म, सम्यक् और पूर्ण समीक्षा की कि बादवाले आलोचकों के लिये उन कवियों और प्रवृत्तियों के विषय में अधिक कहने की गुंजाइश नहीं रह गई। शुक्लोत्तर समीक्षकों में नंददुलारे वाजपेयी और डा० नगेंद्र ने आधुनिक साहित्यकारों और साहित्यिक प्रवृत्तियों को लेकर जो विवेचना की उसमें यद्यपि शुक्लजी जैसी ऊँचाई नहीं है फिर भी उनकी समीक्षात्मक कृतियाँ बहुत महत्व की हैं। सैद्धांतिक आलोचना इस काल में अवश्य उतनी पुष्ट नहीं थी फिर भी शुक्लजी और लक्ष्मीनारायण सुधांशु जैसे कुछ आलोचकों ने इस दिशा में जो थोड़ा बहुत कार्य किया था वह आज भी मानदंड के रूप में मान्य है।

शोध और साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में भी यह काल कम महत्वपूर्ण नहीं है। शोध के क्षेत्र में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, राहुल सांकृत्यायन,

चंद्रधर शर्मा गुलेरी, रामकुमार वर्मा और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बहुत ही मौलिक और महत्वपूर्ण कार्य किया था। उन्होने न केवल शोधकार्य का दिशा-निर्देश किया बल्कि ऐसे भूले बिसरे तथ्यो का पता भी लगाया जिनके सूत्र को पकड़ कर आगे के शोधकर्ताओ ने अधिकाधिक कार्य किया। हिंदी काव्य की निर्गुण धारा के मूल स्रोतो के संबंध मे डा० बडथ्वाल और राहुल सांकृत्यायन के कार्य ने तो हिंदी साहित्य के इतिहास के नए अध्याय ही खोल दिए। वज्रयानी सिद्धों और गोरखनाथ के काव्य, तथा गुलेरीजी की पुरानी हिंदी की कविताओं की खोज और व्याख्या के फलस्वरूप हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास कई सौ वर्ष पीछे की ओर खिसक गया। यदि हिंदी के भाषाशास्त्रियो ने इन विद्वानो के कार्यों और मतो से लाभ उठाया होता तो हिंदी भाषा का उद्भवकाल १००० ई० से न मानकर ७०० ई० के आसपास माना गया होता। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस काल में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज कराने का जो कार्य अपने हाथ में लिया था उसके परिणामस्वरूप हिंदी साहित्य के इतिहास की सम्यक् रूपरेखा निर्मित हो सकी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन सभी शोध-कार्यों से लाभ उठाकर जो इतिहास लिखा वह कई दृष्टियो से आज भी हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ इतिहासग्रंथ है। इस काल में हिंदी के कई इतिहासग्रंथ लिखे गए और निश्चय ही इतिहासग्रंथो की दृष्टि से यह काल अत्यंत समृद्धि का काल है। इस काल के सभी इतिहासग्रंथो मे अलग अलग कुछ न कुछ विशेषताएँ हैं किंतु उनमें से रामचंद्रशुक्ल, रामकुमार वर्मा, डा० बडथ्वाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और कृष्णशंकर शुक्ल के ग्रंथ अपने अपने विषयक्षेत्र के सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ थे और आज भी उनका महत्व वैसा ही बना हुआ है।

विवेच्य काल की हिंदी आलोचना की जिन उपलब्धियों का उल्लेख ऊपर किया गया है वे अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। किंतु इन उपलब्धियो के होते हुए भी उस काल की आलोचना में अनेक अभाव वर्तमान थे। इस काल में आलोचना का अर्थ उतना व्यापक नही समझा जाता था जितना आज समझा जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र मे कश्मीर के शैवागमदर्शन के प्रतिपादक आचार्यों ने ध्वनि का जो साहित्यिक सिद्धात प्रतिपादित किया वह साहित्य के उतना ही निकट था जितना दर्शन के। उन्होने साहित्यशास्त्र को साहित्यदर्शन का रूप प्रदान करने का प्रयास किया था। वस्तुतः जीवन साहित्य और दर्शन के विविध खंडो या घेरो मे विभक्त नहीं होता है, वह एक समग्र और अखंड इकाई है। उस दृष्टि से साहित्य और दर्शन का क्षेत्र मिलाजुला है। संस्कृत के परवर्ती साहित्यकारो और आचार्यों ने साहित्य को धर्म और दर्शन से भिन्न एक स्वतंत्र लौकिक सत्ता के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया था। हिंदी का

रीतिसाहित्य भी इसी भावना से अनुप्रेरित होकर निर्मित हुआ था। आधुनिक काल में द्विवेदीयुग के आलोचकों ने साहित्य को उपयोगितावादी दृष्टि से देखकर उसे और भी स्थूल वस्तु बना देना चाहा। छायावाद युग का दुर्भाग्य यह था कि इस युग की आलोचना, जिसका नेतृत्व रामचंद्र शुक्ल के हाथ में था, अधिकाधिक वैज्ञानिक पथ पर बढ़ती गई जब कि तत्कालीन छायावादी काव्य आध्यात्मिकतापरक था। इन दोनों के बीच एक ऐसी खाईं थी जिसपर कोई सेतु नहीं था। इसका अर्थ यह है कि इस काल का रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य किसी एक सामान्य जीवनदर्शन से प्रभावित नहीं था। जीवनदर्शन ही मनुष्य को वह मूल्य प्रदान करता है जिसके आधार पर मनुष्यसमाज अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपराओं को तोड़ता, मोड़ता और छोड़ता हुआ साहित्य को अपने युग के नवीन संदर्भों से जोड़ता है। इस प्रक्रिया में साहित्यकार को कुछ ऐसे युगीन मूल्यों की उपलब्धि होती है जिन्हें वह अपने साहित्य के भीतर आधाररूप में संयोजित करता है। इन युगीन जीवनमूल्यों की खोज और स्थापना के बिना कोई भी रचनात्मक अथवा आलोचनात्मक कृति महत्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती। हमारे विवेच्य काल में छायावादी और रहस्यवादी काव्य में जीवनमूल्य इतना सूक्ष्म और अभौतिक था कि ऐसा समस्त काव्य ही युगीन संदर्भों से विच्छिन्न प्रतीत होता था। प्रगतिवाद और यथार्थवाद के नाम पर लिखा जानेवाला साहित्य अधिकतर उपयोगितावादी और प्रचारात्मक था जिससे उसमें सूक्ष्म और चिरकालव्यापी जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। इसी तरह तत्कालीन आलोचनात्मक साहित्य भी अधिकतर परंपरागत जीवनमूल्यों पर ही आधारित था। परवर्ती आलोचकों ने अवश्य नवीन युगसापेक्ष्य जीवनमूल्यों की खोज करने का प्रयत्न किया किंतु उनका प्रयास अभी प्रारंभिक अवस्था में था। इस तरह सन् १६२० से १६४० ई० तक की आलोचना में हमें नवीन युगसापेक्ष्य जीवनमूल्यों का अभाव दिखाई पड़ता है।

आलोचक का कर्तव्य केवल रचनात्मक साहित्य के गुण दोषों या उसकी अंतःप्रवृत्तियों का विवेचन करना ही नहीं है बल्कि उसमें निहित जीवनमूल्यों की व्याख्या करना तथा उसी प्रसंग में नवीन जीवनमूल्यों की स्थापना करना भी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी आलोचनात्मक कृतियों में जिन जीवनमूल्यों की स्थापना की है उन्हें पूर्णतः युगसापेक्ष्य और नवीन जीवनमूल्य नहीं कहा जा सकता। शुक्लजी का दृष्टिकोण परंपरावादी था यद्यपि उन्होंने अनेक स्थलों पर परंपरा को मोड़ने तथा उनकी नई व्याख्या करने का प्रयास भी किया है। ऐसी दृष्टि को पुनरुत्थानवादी दृष्टि कहा जाता है। साहित्य की परंपरागत धारा को एक दम नई दिशा में मोड़ने में पुनरुत्थानवादी जीवनदृष्टि असमर्थ

होती है। यही कारण है कि शुक्लजी की आलोचना ने साहित्य मे कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नही उपस्थित किया, न उसे नई दिशाओ में मुड़ने के लिये प्रेरणा ही दी। नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शातिप्रिय द्विवेदी आदि शुक्लोत्तर समीक्षको में भी ऐसी समर्थ प्रतिभा नही थी कि वे नवीन जीवनमूल्यो की खोज और स्थापना में प्रवृत्त होते। निष्कर्ष यह कि इस काल की समीक्षा अधिकतर परंपराविहित जीवनमूल्यो को ही लेकर चलनेवाली थी और उसमें नवीन जीवनमूल्यो की खोज और स्थापना की प्रवृत्ति अधिक नही थी।

इस काल की आलोचना का दूसरा अभाव यह था कि उसमें हिंदी साहित्य के सभी पक्षो पर समान रूप से आलोचनात्मक दृष्टि नहीं डाली गई। उदाहरण के लिये हिंदी गद्यसाहित्य की उतनी गंभीर आलोचना नहीं हुई जितनी हिंदी-काव्य की। इसका एक कारण तो यह था कि हिंदी का गद्यसाहित्य अभी अधिक संपन्न नहीं था और गद्य की कुछ विधाएँ तो अभी शैशवावस्था मे ही थीं। पर नाटक, उपन्यास और कहानी का क्षेत्र इतना सूना नही था कि बड़े आलोचको का उधर ध्यान ही न जाय। इन विधाओ की ओर शुक्लजी ने भी बहुत कम ध्यान दिया था। फिर भी उन्होने अपने इतिहास मे इनके विषय में जो कुछ लिखा है, वह स्वतंत्र आलोचना जैसा ही है। पर अन्य प्रख्यात आलोचको ने इस दिशा में इस काल मे कुछ भी कार्य नही किया। वस्तुतः इस काल के आलोचको का ध्यान जितना प्रवृत्तियो के विवेचन की ओर था उतना आधुनिक रचनात्मक साहित्य की कृतियो की समीक्षा की ओर नही था। इसी कारण वर्तमान हिंदी गद्य के कई पक्ष आलोचको की दृष्टि से उपेक्षित ही रह गए।

इस काल की आलोचना यद्यपि अनेक दृष्टियो से अत्यंत महत्वपूर्ण है किंतु समग्र दृष्टि से देखने पर तत्कालीन आलोचनात्मक साहित्य को संपन्न नही कहा जा सकता। इस काल में एक कवि या प्रवृत्ति को लेकर एक एक, दो दो पुस्तकें ही लिखी गईं और अनेक प्राचीन या नवीन कवियो पर तो कुछ भी नही लिखा गया अथवा कुछ इनेगिने निबंध मात्र लिखे गए। इस काल में आलोचको की संख्या भी बहुत अधिक नही थी और जो थोड़े से आलोचक थे वे भी एक दूसरे के मतो का खडन करने अथवा किसी रचनाकार विशेष की ऊहात्मक प्रशंसा करने मे ही अधिक रुचि लेते थे। प्रेमचंद और प्रसाद के साहित्य को लेकर इस प्रकार की बहुत सी समीक्षाएँ लिखी गईं जिनका आज कोई महत्व नहीं रह गया है। यदि इस काल मे रामचंद्र शुक्ल जैसे दो चार और आलोचक हो गए होते तो निश्चय ही यह युग हिंदी आलोचना का स्वर्णयुग होता।

सन् १६२० से १६४० तक के आलोचनात्मक साहित्य के इस सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि यद्यपि इस काल की आलोचना में अनेक अभाव वर्तमान थे पर उसकी उपलब्धियाँ इतनी महत्वपूर्ण थीं कि उनकी तुलना में उपर्युक्त अभाव महत्वहीन प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का व्यक्तित्व एक विशाल वटवृक्ष की तरह था और अन्य सभी आलोचनात्मक प्रतिभाएँ उस महाकाय व्यक्तित्व की छाया में दब सी गई थीं। यद्यपि उस व्यक्तित्व की विराट् छाया के हटते ही वे प्रतिभाएँ तीव्र गति से विकास के पथ पर आगे बढीं किंतु वह छाया परोक्षरूप में भी परवर्ती हिंदी आलोचना पर अपना प्रभाव डालती रही। आज उन आलोचकों में से कई यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ही परंपरा के आलोचक हैं। डा० नगेंद्र और पं० नंददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी के समय में शुक्लजी से उतना प्रभाव नही ग्रहण किया जितना परवर्ती काल में किया। डा० नगेंद्र का भारतीय साहित्यशास्त्र, विशेष रूप से रससिद्धांत की ओर अग्रसर होकर आधुनिक मनोविज्ञान और पाश्चात्य आलोचना के साथ उनकी तुलनात्मक विवेचना करना इस बात का प्रमाण है कि वे शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति और परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं। उसी तरह श्रीनंददुलारे वाजपेयी ने प्रयोगवाद और नई कविता की कटु आलोचना करके भारतीय राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परंपरा को ग्रहण करने का जो आग्रह प्रदर्शित किया है उसमें भी शुक्लजी की छायावाद और रहस्यवाद संबंधी आलोचनाओं में अभिव्यक्त चिंता-धारा का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पडता है। इस तरह आज भी रामचंद्र शुक्ल का प्रभाव हिंदी आलोचना पर कम नहीं है। अतः यदि केवल आलोचनात्मक सहित्य की दृष्टि से ही सन् १६२० से १६४० तक के काल का नामकरण करना हो तो उसे हम शुक्ल युग कह सकते हैं।

— — —

पंचम खंड

सैद्धांतिक आलोचना

डा० रामदरस मिश्र

सैद्धांतिक आलोचना

(सन् १६२० - १६४० ई०)

कालातर में प्रत्येक प्रकार की रचना के लिये नियमो की समस्याएँ होने लगती हैं। आरंभ में बडे बडे सर्जक अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर कला की रचना करते हैं, बाद मे उन रचनाओ की विशेषताओ और प्रवृत्तियो को आधार बनाकर उस कला के अध्ययन, मनन और सर्जन के लिये सिद्धातो की सृष्टि कर दी जाती है। ये सिद्धात उस कलाविशिष्ट के अंतर्गत प्रणीत होनेवाली समस्त कृतियो के नियमन, मूल्याकन और उनकी सर्जनप्रक्रिया को स्पष्ट कर नए सर्जको का मार्गनिर्देशन का कार्य करते हैं। साहित्य और उसकी समस्त विधाओ के लिये उपर्युक्त उद्देश्य को लक्षित कर जो सिद्धात बनते हैं, उन्हें सैद्धातिक आलोचना कहते हैं।

ये सिद्धात रूढ भी होते हैं और गतिशील भी। वास्तव में जीवंत साहित्य सदैव प्रवहमान होता है। काल की धारा में बहते हुए जीवन की नितनूतन शक्ति, आकांक्षा, प्रश्न और चिंतना को रूप देनेवाला साहित्य सदैव सर्जन की नई नई समस्याओ का सामना करता है, नए जीवन सत्यो की प्रतीति को नई अभिव्यक्ति देने के लिये कृतिकार नए नए द्वार खोलता है, युगचेतना के आलोक में वह साहित्य के नए दायित्वो को समझता है। पुराने पडे हुए मान जीवन और उसे अभिव्यक्ति देनेवाले साहित्य को न तो समझ सकते हैं और न उसकी सर्जन शक्ति मे सहायक हो सकते हैं और नही तो उसके मार्ग मे आकर उसकी गति बाधित करते हैं। वास्तव में आलोचना का दायित्व बडा जटिल होता है, इसे समझनेवाली आलोचना ही साहित्य को दिशा दे सकती है। इस प्रकार साहित्यसिद्धात सदैव गतिशील रहते हैं, युग, समाज और स्वयं साहित्यकार के व्यक्तित्व के मिलेजुले तत्वो से निर्मित साहित्य को कोई भी स्थिर सिद्धात न तो समझ सकता है, न उसका मूल्याकन कर सकता है। अतएव या तो पुराने साहित्यसिद्धांतों को नवीन चिंतन मनन से नई दिशा देनी होती है या नए सर्जन को प्रेरित करनेवाले नए सिद्धातो की स्थापना करनी होती है। जैसे देखा जा सकता है कि छायावादी प्रयोगवादी साहित्य को समझने के लिये आलोचना को नए मानदंड निर्धारित करने पडे हैं। स्थिर सिद्धात सारे युगो की कृतियो को उनकी विशिष्टता विधायक नवीन प्रकृतियो को समझे बिना एक ही कसौटी पर कसते हैं। इस प्रकार ये स्थिर सिद्धात साहित्य के साथ न्याय नही कर पाते।

जो साहित्य इन स्थिर सिद्धांतो का नियमन स्वीकार कर निर्मित होता है वह रचनाकार के प्रातिभ सौदर्य और युगचेतना से दीप्त न होकर रूढ़ियो के विराट् आडंबर से मंडित होता है। उस साहित्य के सृजन मूल में कोई अदम्य भीतरी प्रेरणा नही होती। उसके सामने तो पहले से बना बनाया एक राजमार्ग होता है जिसपर वह आँख मूँदकर चल पड़ता है। मान्य सिद्धातो के आधार पर साहित्य रचने की इच्छा बाहरी उपकरणो के बटोरने मे ही लगी रहती है। रूढ़ सिद्धातो पर आधारित साहित्य भव्य हो सकता है, किंतु सप्राण नही। जब रूढ़ सिद्धात नए साहित्य की व्याख्या और मूल्यांकन करने चलते हैं तब अपने अनुकूल उस साहित्य को न पाकर उसका अवमूल्यन करने लगते हैं और उसकी नई छवियो और प्रतीतियो को समझ न पाने के कारण उसे व्यर्थ और अनियंत्रित समझने लगते हैं। ऐसे पिटे पिटाए सिद्धांतो को पढ़ पढ़ाकर बहुत से लोग सहज ही आचार्य की पदवी पा लेना चाहते हैं और फिर अपने साहित्येतर मानदंडो पर साहित्य को घिसना शुरू करते हैं।

साहित्यसिद्धातो की उपादेयता में संदेह नहीं किया जा सकता। प्राचीन काल से लेकर आजतक काव्यालोचन के जो अनेक सिद्धात बने हैं वे सभी साहित्य को समझने की प्रक्रिया में बने हैं। साहित्य में जो महत् है, जो हीन है उसके भीतरी और बाहरी स्वरूप को सुरूप और कुरूप करनेवाले जो तत्व हैं उनका विश्लेषण कर महत्व और सौंदर्य की प्रतिष्ठा करनेवाले तत्वो को सिद्धात रूप में स्वीकार लेना ही सैद्धातिक आलोचना का उद्देश्य रहा है। पश्चिम और पूरब मे प्राचीनकाल से लेकर आजतक साहित्य और उसकी अनेक विधाओ की रचनाप्रक्रिया, उद्देश्य, स्वरूप, प्रेरणा और उन्हे प्रभावित करनेवाले अनेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक प्रश्नो पर चिंतको ने विचार किए हैं और वे ही विचार सिद्धात का रूप धारण करते गए हैं। प्लेटो, अरस्तू, होरेस, कालरिज से लेकर टी० एस० इलियट तक और भरत मुनि, क्षेमेंद्र, मम्मट, विश्वनाथ, दंडी, वामन और पंडितराज जगन्नाथ से लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा अन्य आलोचको तक नए साहित्यसिद्धातो के निर्माण और प्राचीन साहित्यसिद्धातो के नवीन चिंतन की परंपरा चली आई है। इन विचारको ने परवर्ती साहित्यसिद्धातो का अध्ययन मनन कर उनमें नए अध्याय जोड़े हैं या नए सिद्धांत ही बनाए हैं। वास्तव में आलोचना मे इन दोनो कार्यों का बड़ा महत्व है। साहित्य के कुछ तत्व ऐसे होते हैं जो पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य में समान भाव से गृहीत होते हैं। हाँ, युगानुरूप उनका स्वरूप अवश्य बदलता रहता है। इसलिये नया आलोचक उन पुराने सिद्धातो को नए आलोक मे विकसित करता है, किंतु साहित्य की नवीन प्रगति में कुछ तत्व तो सर्वथा नए

होते हैं। उनके लिये नए सिद्धातो के निर्माण की आवश्यकता होती है। फिर आलोचक के जीवन, विश्वास, दृष्टि और परिस्थिति के अनुसार साहित्यसिद्धातो का स्वरूप बहुमुखी होता है, जैसे कोई कला कला के लिये मानता है, कोई अतृप्त वासनाओ के विकास के लिये मानता है, कोई मात्र आनंद के लिये मानता है। हिंदी साहित्य के आलोच्यकाल में हमें सैद्धातिक समीक्षा के वैविध्य का दर्शन होता है। प्रस्तुत निबंध का आलोच्यकाल सन् १६२० और १६४० ई० के बीच का समय है। किसी काल के अतर्गत रची गई कृतियो की समीक्षा करने की दो पद्धतियाँ हो सकती हैं-- एक तो यह कि इस काल के बीच की कृतियो की समीक्षा की जाय, दूसरी यह कि इस काल के अंतर्गत उभरनेवाली मुख्य प्रवृत्तियो को परखा जाय और इन प्रवृत्तियो के समर्थ कृतिकारो को एक साथ लिया जाय, भले ही उनकी कुछ कृतियाँ आलोच्य समय के बाद लिखी गई हो। समीक्षा की समीक्षा करते समय भी ये पद्धतियाँ अपनाई जा सकती हैं।

प्रस्तुत निबंध मे मैने दूसरा मार्ग ही अपनाया है। आलोच्यकाल के पहले का काल हिंदी साहित्य मे द्विवेदीकाल के नाम से विख्यात है। सन् १६०० और १६२० ई० (जो द्विवेदीकाल का विस्तार माना गया है) के बीच साहित्य और आलोचना मे नई प्रवृत्तियाँ और मान्यताएँ पनपी। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने नई धारा का नेतृत्व किया। सैद्धातिक समीक्षा और व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र मे विस्तृत कार्य किए गए। नैतिकता और उपयोगिता के स्वरो की प्रधानता होने के बावजूद द्विवेदीकाल की आलोचना आलोचना के साहित्यिक स्वरूप को उभारती दृष्टिगत होती है। अर्थात् कहा जा सकता है कि इस काल की आलोचना का मूल स्वर निर्णयात्मक था, और यह निर्णयात्मक स्वर मुख्यतः नैतिकता, सामाजिक उपयोगिता जैसे साहित्येतर मूल्यो से निर्मित था, किंतु फिर भी व्याख्यात्मक समीक्षा के विकास की पर्याप्त संभावनाएँ इनमें दीप्त थीं। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने नैतिकता के आग्रह के बावजूद रसविज्ञ कवियो की भावछवियो की बड़ी रसमयता के साथ व्याख्या की। उन्होने एक और प्राचीन कवियो की जीवनियो और उनकी कृतियो की साहित्यिक परीक्षाएँ कीं, दूसरी और समसामयिक रचनाकारो के कृतित्व को तत्कालीन सामाजिक चेतना और दायित्व भावना के आलोक में देखा। व्यावहारिक परीक्षण के साथ ही उन्होने साहित्यसिद्धात सबधी कुछ निबध भी लिखे जो 'रसज्ञ रंजन' में सगृहीत हैं।

द्विवेदीजी और द्विवेदीजी के अनुयायियो के अतिरिक्त इस काल में कुछ ऐसे भी आलोचक हुए जो नैतिकता और सामाजिक उपयोगिता के भाव को छोडकर रीतिकालीन साहित्यपरपरा को आदर्श मानकर चले। इनमें पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। मिश्रबंधुओ की स्थिति दोनो प्रकार की समीक्षापद्धतियो के बीच दिखाई पड़ती है।

कहा जा सकता है कि आगे विकसित रूप में दिखाई पड़नेवाली आलोचना के अनेक प्रकारों का सूत्रपात द्विवेदीकाल में हो चुका था, किंतु उनकी अपनी सीमाएँ थीं। व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, तुलनात्मक, प्रभाववादी, रीतिवादी, ऐतिहासिक आदि अनेक प्रकार की आलोचनाओं का आरंभ हो गया था, परंतु इन सबपर द्विवेदीकाल की इस या उस मान्यता और पद्धति का प्रभाव था। अतः इन आलोचनाओं को सन् २० ई० के बाद रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदर दास से प्रारंभ होनेवाली प्रौढ आलोचना धाराओं से स्पष्ट रूप से अलग कर सकते हैं। द्विवेदीकाल के आलोचकों की बहुत सी पुस्तकें, जैसे 'हिंदी नवरत्न', 'मिश्रबंधु विनोद', 'देव और बिहारी', रसज्ञरंजन', 'साहित्य संदर्भ' आदि सन् १६२० ई० के बाद की छपी हैं किंतु उन्हें सन् २० ई० के पहले की द्विवेदीयुगीन आलोचना के अंतर्गत ही समेटना चाहिए।

इसी प्रकार शुक्ल परंपरावादी, स्वच्छंदतावादी (छायावादी), प्रगतिवादी आलोचनाओं (जिनका स्वरूप सन् १६२० और ४० ई० के बीच विकसित हो गया था) के अंतर्गत आनेवाली कृतियाँ यदि सन् ४० के बाद छपी हैं तो भी उन्हें इसी बीच समेटा गया है। मनोविश्लेषणवादी समालोचना का विकास सन् ४० के इस पार और उस पार दोनों ओर हुआ है इसलिये उसे बहुत विस्तार से आलोच्यकाल के भीतर नहीं लिया गया है।

सन् १६२० और १६४० के बीच हिंदी आलोचना की मुख्यतः तीन विचार परंपराएँ लक्षित होती हैं, १—आचार्य रामचंद्र शुक्ल और उनके अनुयायियों की परंपरा, २— स्वच्छंदतावादी समीक्षकों की परपरा और ३—प्रगतिवादी समीक्षकों की परंपरा। इन परंपराओं के प्रमुख समीक्षकों ने कृतियों का मूल्यांकन करने के लिये साहित्यसिद्धांतों का पुनः परीक्षण या नवनिर्माण किया। वास्तव में इन विभिन्न समीक्षकों की आलोचनात्मक दृष्टि का विकास विभिन्न प्रकार की कृतियों के आधार पर हुआ था, अतएव उनके साहित्यिक मानदंडों में भी अंतर होना स्वाभाविक था। साहित्य क्या है, उसकी आत्मा क्या है, उसका लक्ष्य क्या है, साहित्य को सौंदर्य प्रदान करनेवाले कौन से मुख्य तत्त्व हैं, साहित्य का दोष क्या है, उसके शिल्प के अनिवार्य गुण क्या हैं आदि बातें प्राचीन काल से ही चर्चा का विषय रही हैं और बहुचर्चित होने पर भी नित नूतन चर्चाओं की अपेक्षा रखती हैं। अतः इस काल के समीक्षकों ने भी साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों की अपने अपने दृष्टिकोण से परीक्षा की और उन्हें अपूर्ण पाकर या तो उन्हें विकसित किया या उनकी उपेक्षा कर दूसरे मानदंड निर्मित किए।

आधुनिक काल पश्चिम और पूरब की संक्रांति का काल है। पश्चिमी साहित्य का अध्ययन प्रारंभ हो गया था, पश्चिमी साहित्य की अनेक नई

विधाओं और विचारसरणियों को अपनाने के लिये हम आगे बढ़े। आधुनिक काल के पास भारतीय साहित्य की अपार संपत्ति थी, लेकिन अनेक विधाओं को लेकर आनेवाला पश्चिमी साहित्य आधुनिक चेतना के अधिक समीप था। आधुनिक उपन्यास, कहानी, एकाकी आदि विधाएँ अपने नवीन रूप मे वर्तमान जीवन की अनेकानेक समस्याओं और वास्तविकताओं को अभिव्यक्ति देने में समर्थ थीं। मध्यकाल की रूढ़ियों के स्थिर सरोवर मे साहित्य की गति बंद हो गई थी, वह सामाजिक जीवन की ज्वलंत चेतना के निकट संपर्क में न आकर कुछ स्थिर विषयों और शैलियों को शास्त्रीय परिपाटी पर ग्रहण कर परिपाटी विहित रसज्ञता का विकास करना ही अपना लक्ष्य समझ रहा था। आधुनिक काल की संघर्षरत भारतीय चेतना को अपने को व्यक्त करने के लिये पश्चिमी साहित्य से अनेक नवीन विधाएं प्राप्त हुईं। रचना की नई विधाएँ प्राप्त हुईं तो उन विधाओं पर या साहित्य मात्र पर जो चिंतन और मनन वहाँ प्रस्तुत किए गए थे, वे भी उसे प्राप्त हुए। आधुनिक काल में पद्य के साथ ही साथ गद्य का विकास हुआ और गद्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाला साहित्य लिखा और पढा जाने लगा। गद्य के साहित्य की प्रथा अभी तक हिंदी में नहीं थी अतएव गद्य साहित्य के नवीन रूपो पर चिंतन मनन प्रस्तुत करने का कोई प्रश्न ही नही उठता था। कविता के संबंध मे रीतिकाल के आचार्यों ने कुछ सिद्धातचर्चाएँ की थीं, किंतु वे चर्चाएँ उनकी मौलिक उद्भावनाएँ न होकर संस्कृत के आचार्यों के विचारो का रूपातर मात्र थी। गद्य का विकास होने से आलोचना का भी विकास हुआ। तर्क, विश्लेषण, सूक्ष्म मीमासा पद्य में संभव नही, गद्य में ही इन्हे विकसित होने का अवसर मिल सकता है।

पश्चिम मे भारतीय साहित्य की तरह मध्यकाल में विचारपरपरा टूटी नही और न तो रूढ़ हुई, इसलिये वहा के आलोचनसिद्धात निरंतर जीवित साहित्य के संपर्क मे होने के कारण अधिक नए और आधुनिक काल की चेतना के अनुरुप सिद्ध हुए। इसलिये सामाजिक जागृति से ऊष्म भारतीय जनता को पश्चिमी साहित्य की अनेक गद्यविधाएँ और विचारसरणियाँ अधिक वस्तून्मुखी लगी और इस साहित्य के संपर्क मे आते ही हिंदी मे भी गद्य में उपन्यास, कहानी, एकाकी, नए प्रकार के नाटक लिखे जाने लगे तथा कविता में भी परिपाटीविहित सौदर्य के स्थान पर नव सामाजिक चेतना और जीवनमूल्य स्थान पाने लगे। संस्कृत और हिंदी के रीति काल की आलोचना की सीमा से आगे बढकर पुस्तकों के रूप मे कृतियो और कृतिकारो तथा विभिन्न साहित्यसिद्धातो पर विचारविमर्श होने लगा। संस्कृत साहित्य मे साहित्य-सिद्धात-चर्चा बहुत समृद्ध है, एक एक प्रश्न को लेकर सूक्ष्म विश्लेषण की लंबी परंपरा दिखाई पड़ती है। काव्य की आत्मा, काव्यहेतु, काव्य

उद्देश्य, काव्य के गुण दोष, काव्य आस्वादन की प्रक्रिया के साथ साथ काव्य के अनेक भेदो, उपभेदो, उनके विषयो, शैलियो, उद्देश्यो आदि अनेक छोटे बड़े प्रश्नो पर संस्कृत साहित्य मे गहन विवेचन प्रस्तुत हुआ है। अनेक आचार्यों की दृष्टि मे दिखाई पड़नेवाली समता और विषमता उनके मौलिक चिंतन का ही परिणाम है। यह अवश्य है कि इन संस्कृत आचार्यों ने काव्यधर्म की स्थापना करते समय चिरंतनता का ही विशेष ध्यान रखा, युगसापेक्ष गतिशीलता या नवीनता की चिंता नहीं की।

वर्तमान चिंतना मे युगसापेक्ष सत्यो के ग्रहण की ओर विशेष आग्रह दिखाया जाने लगा है। भाव, सवेदना, सौंदर्य, काव्यशिल्प, सभी को बदलते हुए युग के परिवेश मे देखा जाने लगा है, इसलिये प्राचीन सिद्धातो को या तो नवीन अनिवार्यता की कसौटी पर कसकर उनमे निहित नई संभावनाओ का विकास किया जा रहा है, उनको चिंतन का नया आवास दिया जा रहा है अथवा उन्हे छोड़कर या बहुत ही गौण रूप से स्वीकारकर नए मानदंड तैयार किए जा रहे हैं। पश्चिम से आई हुई नई विधाओ के लिये पश्चिम मे मान्य मानदंडो को ही स्वीकार करना पडा और अपने युग और समाज की वास्तविकताओ की पृष्ठभूमि पर उनकी शक्ति और सुंदरता की परीक्षा की जाने लगी। लेकिन काव्य और नाटक की विधा तो अपने यहाँ बड़ी पुरानी हैं और उन्हें लेकर इतने सारे सिद्धात निर्मित हुए हैं। अतः इनकी परीक्षा के लिये आज भी ये पुराने सिद्धात कितने मूल्यवान तथा सार्थक हैं तथा उनमे कितना नया जोड़ने और समझने की आवश्यकता है, बार बार आलोचको के सामने यह प्रश्न आता ही रहा है।

आलोच्यकाल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होने पहली बार आलोचना के सिद्धात और व्यवहार पक्ष को प्रौढ़ता, उत्कर्ष और नवीन दिशा दी। रामचंद्र शुक्ल द्वारा स्थापित सिद्धांतों के पहले उनके पूर्ववर्ती और समकालीन डा० श्यामसुंदरदास के साहित्यालोचन के सिद्धातो की परीक्षा करना कालक्रम की दृष्टि से समीचीन होगा। डा० श्यामसुंदरदास का 'साहित्यालोचन' हिंदी आलोचना का सर्वप्रथम ग्रंथ है जिसमें भारतीय सिद्धातो की परीक्षा तथा पश्चिम से आई हुई विधाओ की मीमासा एक साथ व्यापक भूमि पर की गई। स्पष्ट है कि इन विवेचित सिद्धातो में कुछ तो ऐसे हैं जिनका संबंध साहित्य के चिरंतन प्रश्नो से है जैसे काव्य की आत्मा क्या है? साहित्य का उद्देश्य क्या है—यानी कला कला के लिये है या जीवन के लिये या अन्य किसी प्रयोजन के लिये। दूसरे सिद्धांत विभिन्न विधाओ के रूपो से संबद्ध हैं। बहुत वादविवाद के पश्चात् यह स्थापित सा हो गया कि काव्य की आत्मा रस है। भारतीय आचार्यों ने रस के अंगो, उसके संयोग और निष्पत्ति को लेकर गहन चिंतन प्रस्तुत किए, फिर भी

इस बात में मतैक्य नहीं हो पाया कि रस की निष्पत्ति कहाँ होती है और कैसे होती है? रस कार्य में है या कर्ता मे है या अनुकर्ता मे है या कवि में है या प्रेक्षक या पाठक में है। फिर भी इन चर्चाओ मे यह मत प्रधान रहा कि रस की निष्पत्ति मूलतः प्रेक्षक या पाठक में ही होती है। अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद इस मत का स्थापक है। इस मत के अनुसार रस की निष्पत्ति सामाजिक (प्रेक्षक या पाठक) मे होती है, क्योकि सामाजिको मे स्थायीभाव वासना वा संस्कार रूप से स्थिर रहते हैं और वे साधारणीकृत विभावादि द्वारा उद्बुद्ध हो जाते हैं। यानी काव्यादि का पाठ, नाटको का अभिनय सामाजिक के हृदय मे वासनारूप से स्थित स्थायी भावो को जगाने के साधन होते हैं। रस के बारे मे दूसरी प्रमुख स्थापना है कि वह अलौकिक है अर्थात् काव्यानंदब्रह्मानद सहोदर है। आचार्यों ने स्थायी भाव की संख्या निर्धारित कर नव रस मान लिए और फिर अनुभाव, सचारीभाव आदि की भी संख्याएँ निश्चित कर ली गईं। बाद के आलोचको और हिंदी के रीतिकाल के आचार्यों ने इन आचार्यों द्वारा स्थापित रस के स्वरूप पर चिंतन मनन न कर उसे आप्त सत्य की तरह स्वीकार कर लिया और बने बनाए सूत्र के आधारपर कविताएँ लिखते रहे। आधुनिक काल में मनोविज्ञान तथा अन्यान्य वैज्ञानिक सत्यो के विकास के नाते नई चेतना का उदय हुआ और इस नई चेतना ने समस्त प्राचीन का वस्तुवादी दृष्टि से आकलन करने के लिये आधुनिक मनीषा को प्रेरित किया। रामचंद्र शुक्ल रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए भी उसके नए वैज्ञानिक विवेचन की ओर प्रवृत्त हुए और रस के प्रसंग में उन्होने अनेक नए प्रश्न उठाए और उनका समाधान किया। स्वीकृत रसस्वरूप को विकसित कर उसकी नई संभावनाओ की ओर संकेत किया। आचार्य शुक्ल समयक्रम से डा० श्याम-सुदरदास के पीछे आते हैं, किंतु दोनो के कार्य प्रायः समकालीन थे। आचार्य शुक्ल ने रस के क्षेत्र मे जो नई स्थापनाएँ कीं वे बाबू साहब डा० श्यामसुंदरदास) को पसद नही आईं। उन्होने शुक्लजी की मान्यताओ के विपरीत और प्राचीन आचार्यों के अनुकूल रस के स्वीकृत स्वरूप को ही ग्रहण किया। हाँ, विवेचन का ढंग नया अवश्य हो गया। शुक्लजी की स्थापनाओ की चर्चा अपने स्थान पर होगी, हम बाबू साहब के रससंबंधी सिद्धातो को देखे।

बाबू साहब ने रससंबंधी समस्त चर्चाओ का उल्लेखकर अभिनवगुप्ताचार्य के मत का समर्थन किया है तथा रस के अंगो, उपागों की जानकारी देते हुए रस के प्रकरण को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। बाबू साहब ने रस की अलौकिकता स्वीकार की है। रस अलौकिक है अर्थात् आनंददायी है, आनंददायी इसलिये है कि उसका साधारणीकरण होता है। बाबू साहब ने अभिनवगुप्त के साधारणीकरण और उसके भीतर से दीप्त होनेवाले ब्रह्मानंदसहोदर आनंद को

केशवप्रसाद मिश्र की 'मधुमती भूमिका और परप्रत्यक्ष' के नियम के आधार पर सिद्ध किया है। मिश्रजी ने 'मधुमती भूमिका और परप्रत्यक्ष' का सिद्धांत दर्शन से लिया है। पातंजल सूत्रो के भाष्यकर्ता भगवान् व्यास की दार्शनिक मधुमती भूमिका को मिश्रजी ने रस के प्रसंग में प्रयुक्त किया है। 'मधुमती भूमिका' चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमे वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनो की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दो में वस्तु, वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी इन तीनो के भेद को अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्यजनक संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता इन तीनों की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था मे संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे पुत्र का केवल पुत्र के रूप मे प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेद बुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि की तत्फल मूढ़ता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनो दबे रहते हैं, सहायकों से उन्मेष पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख मे भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लाई जा सकती है और न्यूनातिरेक मात्रा में सात्त्विकशील सज्जनो में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुंब समझते हैं और इसके अभाव में क्षुद्र चित्त व्यक्ति अपने पराए का बहुत भेद किया करते हैं और इसी लिये दुःख पाते हैं क्योकि 'भूमा वै सुखम् नाल्पे सुखमस्ति।' रस सहृदय को इसी मधुमती भूमिका पर ले जाते हैं जहाँ सहृदय संबंध और संबंधी के ज्ञान को भूल जाता है, केवल उसे वस्तु का आभास मिलता रहता है। यह अवस्था आनंद की होती है इसलिये रस आनंदमय है।

कहना न होगा कि डा० श्यामसुंदरदास ने रससंबंधी सारी ज्ञातव्य बातो का परस्पर संयोजन किया, कोई मौलिक उद्भावना नही की। हाँ, इतना अवश्य किया है कि भावो को इंद्रियजनित, प्रज्ञात्मक और रागात्मक तीन कोटियो में बाँटकर उनका मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है; या यों कहा जाय कि वर्तमान काल में विकसित मनोवैज्ञानिक चिंतन का रस के प्रसंग मे थोड़ा बहुत उपयोग किया है।

'साहित्यालोचन' वास्तव में पश्चिमी और भारतीय साहित्यशास्त्र के सिद्धातो का सुंदर समुच्चय है, जिसमें कला, साहित्य, काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध;

आलोचना के संबंध में स्थापित विचारो को समन्वयात्मक दृष्टि से गुंफित करने का प्रयत्न किया गया है। लेखक के स्वतंत्र चिंतन का उत्फुल्ल उभार नहीं दीखता, लेकिन उसकी निजी रुचि, अरुचि का व्यक्तित्व सर्वत्र प्रतिबिंबित है। वह विभिन्न मतो का खंडन और समर्थन करता चलता है, अपनी ओर से निष्कर्ष निकालता चलता है और हिंदी साहित्य की तद्‌युगीन रचना या आलोचना मे उभरनेवाली प्रवृत्तियो के पक्ष विपक्ष मे विचार करता चलता है। कुल मिलाकर बाबू साहब साहित्य को प्राचीन और नवीन, पश्चिम और पूरब की विकसित और मिली-जुली उपलब्धियो के आधार पर परखने के पक्षपाती ज्ञात होते हैं। निष्कर्ष रूप से इनके साहित्यसिद्धातो को हम निम्नलिखित रूप मे देख सकते हैं।

१—काव्य की आत्मा रस है, रस अलौकिक और ब्रह्मानंदसहोदर है।

२—काव्य कला के अंतर्गत है। डा० साहब ने कला का विशद विवेचन करते हुए उसके अनेक भेदो की व्याख्याएँ की और काव्य को उन सारी कलाओ मे श्रेष्ठ माना। भारत में काव्य को कला के अंतर्गत नहीं माना गया था, क्योकि कलाओं को मनोरंजनप्रधान और काव्य को रसप्रधान स्वीकृत किया गया था, किंतु बाबू साहब ने सारी कलाओ की मूल प्रेरणा एक ही मानी। प्रभाव की अधिकता और स्थूल उपकरणो की स्वल्प ग्रहणता के अनुपात से कलाएँ एक दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण होती जाती हैं, काव्य इसी लिये श्रेष्ठतम कला है। बाबू साहब का यह चिंतनप्रकरण हीगेल और वार्सफोल्ड के कलाविभाजन के सिद्धातो पर आधारित है, लेकिन उपर्युक्त विचारको के विचारो को अपनाते हुए भी लेखक ने सस्कार और वृत्तियाँ, अभिव्यंजना की शक्ति, कला और अभिव्यंजना, कला और मनःशक्तियाँ, कला और प्रकृति, कला और आचार जैसे नए विषयो के विवेचन से कलासंबंधी चर्चा को अधिक रूप से पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया।

३—काव्य मानवजीवन का विशद चित्र है। वह समाज से विच्छिन्न होकर कवि की वस्तुनिरपेक्ष कल्पना और प्राणहीन रूपविलास को लेकर नही जी सकता। काव्य सामाजिक होता है लेकिन समाजिक के अंतर्गत समाज की राजनीति, धार्मिक आर्थिक परिस्थितियाँ, परपराएँ, नए युग के प्रभाव के कारण जगी हुई नई संभावनाएँ मान्यताएँ सभी अंतर्भुक्त हैं। सामाजिक स्वरूपो की अभिव्यक्ति के लिये साहित्यकार अपने व्यक्तिगत भीतरी जीवन को सर्वथा त्याग नही देता है, यदि ऐसा हो तो साहित्य का निर्माण कार्य असंभव हो जाय।

'साहित्यालोचन' और 'रूपक रहस्य' डा० श्यामसुंदरदास की सैद्धातिक आलोचनासंबंधी पुस्तकें हैं।

हिंदी में सर्वप्रथम सैद्धातिक और व्यावहारिक आलोचना का प्रौढ़ रूप आचार्य शुक्ल की समीक्षाओ में दिखाई पड़ा। आचार्य शुक्ल सच्चे अर्थों में

नए सिद्धातो की स्थापना करनेवाले या पुराने सिद्धातो को नई दिशा देनेवाले आचार्य थे। शुक्लजी ने पश्चिमी साहित्य की प्रवृत्तियो और युगीन आवश्यकताओ को समझा और परखा, लेकिन उन्होने साहित्यसर्जन और आकलन का मूलाधार भारतीय सिद्धातो को ही स्वीकृत किया। शुक्लजी ने भी डा० श्यामसुंदरदास के साथ ही आलोचना को साहित्यिक रूप प्रदान किया, परंतु शुक्लजी ने आलोचना को साहित्यिक शैली प्रदान करने के लिये भारतीय साहित्य का मथन किया और उच्चकोटि के काव्य का रहस्य समझा। शुक्लजी की दृष्टि में महान् काव्य का पहला गुण है भावों की गहराई, व्यापकता तथा औदात्य से संपन्न होना। जो काव्य मानवजीवन और जगत् के जितने ही अधिक मार्मिक और सामान्य भावो को अपने मे ग्रहणकर पाठको का मानसिक स्तर ऊँचा और संवेदनशील बना सकेगा वह उतना ही महान् काव्य है। शुक्लजी इसी लिये भारतीय रसवाद को विशेष महत्व देते हैं। काव्य की रसात्मक स्थिति को विशेष महत्व देते हुए भी वे काव्य को लोकमंगल जैसे आदर्श पक्ष से जोड़ते हैं। शुक्लजी अपने इन दो अडिग और दृढ़ सिद्धातो के आलोक में साहित्य के सारे मर्मों का उद्घाटन और मूल्यांकन करते हैं।

डा० श्यामसुंदरदास के रसवाद की चर्चा हो चुकी है। वे रसवाद को स्वीकारते हुए भी रस चर्चा को आगे नही बढ़ा सके, किंतु आचार्य शुक्ल ने रस को सामाजिक भूमिका पर प्रतिष्ठित कर उसके अनेक ऐसे पक्षों को और संबद्ध प्रश्नो को सामने रखा और उनपर विचार किया जो पहले के रसवादी आचार्यों द्वारा उद्घाटित नही किए गए थे या जो गलत रूप में पेश किए गए थे। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं[1]। रस पर आधारित यह कविता अपने उद्देश्य में महान् होती है अर्थात् वह केवल आनंद नहीं प्रदान करती, बल्कि आनंद देने के साथ साथ मनुष्य के मनोविकारो का परिष्कार कर शेष सृष्टि के साथ उस के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह करती है 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबधो के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियो के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियो का संचार होता है। इस

१ शुक्ल : रस मीमांसा, पृष्ठ ५-६।

भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नही रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में विलीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारो का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है[१]।'

शुक्लजी की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि रस काव्य की आत्मा है और वह मानव हृदय को परिष्कृत कर उसे मानवीय भावो की रक्षा और दानवीय वृत्तियो तथा कार्यों के दमन के लिये प्रेरित करता है अर्थात् रस का लोकमंगल से सीधा सबंध है। दूसरी बात इस प्रसंग मे यह स्पष्ट होती है कि काव्य में विषयवस्तु प्रमुख है और विषय भी ऐसे होने चाहिए जो हमारे नित्य के परिचित हो और अपने आप में महत्त्वशाली हो, क्योकि 'जिन रूपो और व्यापारो से मनुष्य आदिम युगो से ही परिचित है, जिन रूपो और व्यापारो को पाकर वह नर जीवन के आरंभ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है उनका हमारे भावो के साथ मूल या सीधा संबध है। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष और गूढ से गूढ तथ्यो को भावो के विषय या आलंबन बनाने के लिये इन्ही मूल रूपो और मूल व्यापारो मे परिणत करना पड़ता है[२]।'

रस को आचार्यों ने अलौकिक तथा उसके आनंद को ब्रह्मानदसहोदर माना हैं किंतु शुक्लजी ने इस मान्यता को अस्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से काव्यानुभूति और लोकानुभूति मे कोई अंतर नहीं है। उनका कहना है कि चाहे काव्य हो चाहे जीवन की घटना, जिस किसी से प्रभावित होकर हम कुछ क्षणो के लिये वैयक्तिक रागद्वेष से मुक्त होकर सामान्य भावभूमि पर पहुँच जाते हैं, उच्च कोटि की अनुभूति है। जीवन मे अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब हम अपने ही राग द्वेष मे बँधे रहने के कारण काव्यानुभूति का अनुभव नहीं कर पाते। दूसरी ओर काव्य के क्षेत्र मे भी बहुत सी घटिया रचनाएँ मिलती हैं जिनमे या तो चामत्कारिक तमाशे खडे होते हैं या वैयक्तिक अनुभूतियाँ होती हैं। शुक्लजी की मान्यता है कि 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नही, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।' रसानुभूति का ब्रह्मानंदसहोदर के रूप मे ग्रहण केवल उसकी उच्चता सिद्ध करने के लिये हुआ है। शुक्लजी ने काव्यानुभूति को लोकानुभूति से जोड़कर रस के ब्रह्मानंदसहोदरत्व और अलौकिकता को आधार बनाकर नकली आध्यात्मिक

---

[१] शुक्ल . रस मीमांसा, पृष्ठ ५-६।
[२] वही।

अनुभूतियों को अपनानेवाली तथा जगत् का प्रकृत आधार छोड़कर रहस्यमय लोक मे विचरण करनेवाली कविताओं का खंडन किया।

शुक्लजी ने अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर रस की उत्तम और मध्यम कोटियाँ निर्धारित कीं तथा क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा के आधार पर रस के विभाग किए। 'रसात्मक बोध' शीर्षक निबंध मे उन्होने रूपविधान के तीन भेद किए—(१) प्रत्यक्ष रूपविधान, (२) स्मृत रूपविधान और (३) संभावित या कल्पित रूपविधान। इन तीनो विधानो मे शुक्लजी ने रसानुभूति मानी है, लेकिन यह भी स्पष्ट किया है कि कविता मे तीसरे प्रकार का रूपविधान ही ग्राह्य हुआ है और यह ठीक भी है क्योंकि काव्य शब्दव्यापार है।

साधारणीकरण के प्रसंग मे शुक्लजी ने साधारणीकरण की कुछ ऐसी शर्तों की विवेचना की है जिनपर प्राचीन आचार्यों ने विचार नही किया था। प्राचीन आचार्यों ने तो इतना भर कह दिया कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव रसदशा प्राप्त करता है, किंतु शुक्लजी ने साधारणीकरण या रसनिष्पत्ति के लिये केवल आलंबन अपेक्षित नहीं समझा बल्कि उसमे आलबन धर्म की स्थापना करना आवश्यक माना। रसनिष्पत्ति के लिये आवश्यक है कि आलंबन मे अभिप्रेत भाव जगाने का गुण हो या कवि द्वारा आरोपित किया जाय।

कहा जा चुका है कि शुक्लजी ने काव्य की मूल प्रकृति को लोकमंगल के पक्ष से संबद्ध माना। लोकमंगल काव्य पर ऊपर से आरोपित किया हुआ बाह्य धर्म नही है, बल्कि उसकी प्रकृति में अंतर्निहित है। काव्य की आत्मा है रस। रसानुभूति जगानेवाले पात्र का सामाजिक भावो से निर्मित होना आवश्यक है। सामाजिक मर्यादा को खंडितकर अपनी अतिवैयक्तिक सनक या दानवी वृत्तियो को लेकर चलनेवाला पात्र कभी भी हमारे भावो का आलंबन नहीं हो सकता। रस के क्षेत्र में सामाजिक औचित्य की स्थापना कोई नई वस्तु नही है, किंतु जहाँ रस और औचित्य संप्रदाय के प्राचीन आचार्यों ने औचित्य को रसनिष्पत्ति का साधक माना है वहाँ शुक्लजी ने दोनो को अन्योन्याश्रित माना। अर्थात् औचित्य रसनिष्पत्ति मे सहायक होता है और रसनिष्पत्ति से औचित्य का संप्रसारण और संशोधन होता है। लोकधर्म के आधार पर शुक्लजी ने काव्य के दो भेद किए—(१) आनंद की साधनावस्था, (२) आनंद की सिद्धावस्था। आनंद की साधनावस्था में मंगलविधान करनेवाले दो भाव हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर। आनंद की सिद्धावस्था में मुख्य भाव है प्रेम। इस क्षेत्र में अन्य भाव प्रेम के वशवर्ती होकर ही आएँगे।

शुक्लजी आनंद की साधनावस्था को सिद्धावस्था की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिये प्रबंध काव्यो को मुक्तको की अपेक्षा अच्छा मानते हैं। प्रबंध काव्यो मे

प्रयत्न की विविधता होती है, मानव के विविध भावो की छटा एकसाथ दिखाई पड़ती है। मुक्तक काव्यो में आनंद की सिद्धावस्था होती है। उनमें जीवन के विविध पक्षो, विविध भावो, विविध प्रयत्नो का, नहीं वरन् एक सिद्ध भाव का, विशेषतया प्रेम का चित्र होता है।

शुक्लजी ने काव्यसंबंधी अन्य प्रश्नो पर भी मार्मिकता से विचार किया और अपनी मान्यताएँ स्थापित कीं। जैसे काव्य और कला में भिन्नता है। वे मूलतः कला का संबंध वाग्वैचित्र्य या चमत्कार से मानते हैं, जब कि काव्य का मूल स्वरूप अनुभूति, रस, संवेदना आदि मे निहित है। शुक्लजी काव्य मे रहस्यवादी प्रवृत्ति को नकली मानते हैं। काव्य के उपादान प्रत्यक्ष जगत् से लिए जाने चाहिए क्योकि उसका मुख्य विषय अनुभूति और भाव ही है। शुक्लजी ने कल्पना और काव्य के संबंधो की व्याख्या करते हुए कल्पना के विविध रूपो का विश्लेषण किया। 'रसमीमासा', 'चिंतामणि' और 'काव्य मे रहस्यवाद' के निबंधो मे शुक्लजी के साहित्यालोचन संबंधी विचार दर्शनीय है। शुक्लजी की इन सैद्धातिक स्थापनाओं को आधार बनाकर चलनेवाले आलोचकों की एक बडी परंपरा है। इस परंपरा में बाबू गुलाबराय, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं० चंद्रबली पाडेय, श्रीलक्ष्मीनारायण 'सुधाशु', डा० केसरीनारायण शुक्ल, पं० कृष्णशंकर शुक्ल और डा० सत्येंद्र के नाम लिए जा सकते हैं। किंतु इनमे से अधिकाश ने शुक्लजी की मान्यताओ को आधार बनाकर कृतियो का मूल्याकन ही किया, वे शुक्लजी की तरह नए सिद्धातो की न तो स्थापना कर सके और न तो शुक्लजी के सिद्धातो की चर्चा आगे बढ़ा सके। शुक्लजी के सिद्धातो की परंपरा में विचारचर्चा के जो नए प्यास हुए उनमें श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बाबू गुलाब राय के 'काव्य के रूप' 'सिद्धात और अध्ययन'; डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के 'कहानी का रचनाविधान', पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के 'वाङ्मय विमर्श', श्रीलक्ष्मीनारायण सुधाशु के 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धात' तथा 'काव्य मे अभिव्यंजनावाद', डा० सत्येंद्र के 'समीक्षा के सिद्धात' तथा 'कला कल्पना और साहित्य' का उल्लेख किया जा सकता है। श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का कार्य विशेषतया व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र से संबद्ध है। बाबू गुलाब राय के साहित्यसिद्धात शुक्लजी के सिद्धातो पर अवलम्बित होने के बावजूद अधिक लचीले हैं। आपने पूर्व और पश्चिम, प्राचीन तथा नवीन सभी प्रकार के विचारो को आपस मे मिलाकर उदार साहित्यसिद्धातो की स्थापनाएँ करनी चाही हैं। शास्त्रीय प्रश्नो को भी आधुनिकता के आलोक मे देखने का प्रयत्न किया है। 'रस और मनोविज्ञान', 'अभिव्यंजनावाद और कलावाद', 'कविता और स्वप्न' आदि साहित्यसिद्धातो की चर्चा मे इसी लिये बाबू साहब की मौलिकता के दर्शन होते हैं।

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की 'कहानी का रचना विधान' पुस्तक कहानीकला के सिद्धांतो की मार्मिक और विशद विवेचना प्रस्तुत करती है। गो यह पुस्तक सन् १९५६ में लिखी गई है।) इस पुस्तक में लेखक ने कहानी के शिल्प के क्षेत्र में प्रचलित सभी प्रयोगों को सहृदयतापूर्वक देखा है और उनका वस्तुगत विवेचन किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि लेखक ने कहानीकला के क्षेत्र में किसी नए सिद्धांत या विचारसरणि की स्थापना की है, किंतु यह अवश्य है कि सभी विचारों को सुसंबद्ध रूप में दृष्टि मे रखकर लेखक ने कहानी का बड़ा निर्भ्रांत स्वरूप सामने रखा है और इस प्रकार वह मानता है कि कहानी मे दो भेदक गुण होते हैं—(१) विषय का एकत्व अथवा मूलभाव की अनन्यता और (२) प्रभावसमष्टि अथवा प्रभावान्विति।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने आलोचनसिद्धात के क्षेत्र में शुक्लजी को दुहराया है। ये भी रसवाद को माननेवाले हैं लेकिन इनमे शुक्लजी की तरह नवीन स्थापनाओं की प्रवृत्ति नही है। इन्होने रसो तथा काव्यसंप्रदायो की व्याख्याएँ पुराने लक्षणग्रंथो के आधार पर की हैं। ये पुरानी विपुल सामग्रियों का उपयोग नवीन युगनिर्माण के लिये नही, वरन् परिचय ज्ञान के लिये करते हैं। ये साहित्य को एक शाश्वत भावधारा का अभिव्यंजक मानते हैं। पाश्चात्य विचारों का भी ग्रहण मिश्रजी ने उसी मात्रा में किया है जितनी मात्रा मे वे भारतीय रसवाद के समीप जान पड़ते हैं। शुक्लजी की ही भाति ये भी साहित्य को लोकहित से जोड़ते हैं।

श्रीलक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' शुक्लजी की परंपरा के होते हुए भी कुछ अपने ढंग से सिद्धातो की चर्चाएँ करते हैं। 'सुधाशु' जी ने 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धात' में भावो और जीवन की अलग अलग विविध स्थितियो तथा उनके पारस्परिक प्रभावो का विवेचन दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। लेखक ने साहित्य को सर्जित और प्रभावित करनेवाली कुछ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का रहस्य बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित किया है। लेखक ने रस-निष्पत्ति, अर्थबोध, काव्य की प्रेरणाशक्ति, छंद और लय पर अपने ढंग से विचार रखे हैं। लेखक ने फ्रायड के कामवाद पर भारतीय दार्शनिको के मत के आलोक में चर्चा की है। वास्तव मे काम कविता को जन्म देनेवाले प्रेरक आवेगो मे प्रमुख है।

स्वच्छंदतावादी (छायावादी) समीक्षा

छायावादी कविता के उद्भव और विकास के पश्चात् आलोचना के मान मे नए परिवर्तन लक्षित हुए। छायावादी साहित्य का स्वरूप परिपाटीबद्ध साहित्य से बहुत कुछ भिन्न था। वह नई चेतना, नया सौंदर्यबोध, नया भाव-

बोध और नया शिल्पविधान लेकर आया था। आलोचना के पुराने मान इस नवीन साहित्य को समझने और इसका मूल्य आँकने में असमर्थ रहे। अतः नवीन साहित्यसिद्धांतो की स्थापना की आवश्यकता पडी। छायावादी साहित्य के आधार पर निर्मित आलोचनसिद्धात में निम्नलिखित बातें प्रमुख हैं—

(१) आत्मानुभूति की प्रधानता—छायावादी समीक्षक शास्त्रीय आलोचको की पिटी पिटाई, बँधी बँधाई शैली पर न चलकर स्पष्ट घोषित करते हैं कि शुद्ध भाव और अनुभूति की अभिव्यक्ति ही साहित्य का उद्देश्य है। साहित्यकार के लिये सामाजिक आदर्शों, नैतिकताओ और बाह्य चेतनाओ से प्रभावित होना आवश्यक नही, सचालित होना तो बिल्कुल आवश्यक नहीं। समीक्षक को यही देखना चाहिए कि लेखक ने प्रस्तुत कृति में कहाँतक भावो और अनुभूतियो की कुशल अभिव्यक्ति की है और इस प्रकार वह कहाँतक आनंद की सृष्टि मे समर्थ हो सका है। ये अनुभूतियाँ और भाव किस कोटि के हो, यह आवश्यक प्रश्न नही है आवश्यक शर्त यह है कि वे अनुभूतियाँ हों। अनुभूति छोटी बड़ी नही होती, अनुभूति अनुभूति होती है। सचाई के साथ अनुभूतियाँ प्रकाशित हो तो उत्तम साहित्य की सृष्टि होती है। अनुभूति समाज की है या व्यक्ति की, एक वर्ग की है या अनेक वर्गों की, यह प्रश्न गौण है, वह सच्ची अनुभूति है कि नही यह मुख्य प्रश्न है। छायावादी साहित्य पूँजीवादी समाज की वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित होनेवाला साहित्य है। अतः उसमे सर्वत्र कवि की आत्मानुभूति की प्रधानता लक्षित होती है। कवियो ने परिपाटीबद्ध सामाजिक और साहित्यिक चेतनाओ को तोडकर वैयक्तिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को देखा अत जो कुछ उन्होंने अनुभव किया उसी को महत्व दिया। छायावादी आलोचना ने इसी लिये आत्मानुभूति के निविड़ आवेग को साहित्य का प्रमुख तत्व माना। 'साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही आनद है पहले स्वयं लेखक के लिये फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिये।'[१]

उपर्युक्त मान्यता को साहित्य का मूल तत्व स्वीकार कर लेने के कारण छायावादी समीक्षा ने विषय की अपेक्षा विषयी को महत्व दिया। शास्त्रीय परिपाटी मे अच्छे काव्य के लिये अच्छे विषय का चुनाव अनिवार्य माना गया है। प्रबंध काव्यो, नाटको आदि के पात्रो का इतिहास पुराण ख्यात तथा उदात्त होना आवश्यक है, किंतु छायावादी साहित्य ने विषय की लघुता और महानता का बधन तोड दिया। अतः छायावादी समीक्षा की दृष्टि मे भी विषय को महानता

[१] विचार और अनुभूति, डा० नगेंद्र, पृ० १७।

या लघुता के स्थान पर आत्मानुभूति की सघनता या विरलता का प्रश्न महत्व का हुआ। विषयो मे स्वतः महान् या लघु साहित्य रचने की क्षमता अक्षमता नहीं होती है। क्षमता तो होती है साहित्यकार मे जो अपनी संवेदना और अनुभूति के स्पर्श से बाह्य विषयो को प्राणवान् कर देता है और इसी स्पर्श से स्पंदित होकर ये विषय काव्यविषय बनते हैं। 'विषय अपने आप मे कैसा है, यह मुख्य बात नहीं थी बल्कि मुख्य बात यह रह गई थी कि विषयी (कवि) के चित्त के राग विराग से अनुरंजित होने के बाद वह कैसा दिखता है। विषय इसमे गौण हो गया, विषयी (कवि) प्रधान। तीन बाते सन् १९२० ई० के बाद के काव्य साहित्य मे अधिक दिखने लगीं—कवि की कल्पना, उसका चिंतन और उसकी अनुभूति।'[1]

अनुभूति और नैसर्गिक भावावेग को काव्य का मुख्य उपजीव्य मान लेने के कारण छायावादी समीक्षको ने इतिवृत्तात्मक और प्रबंधात्मक कविताओ की अपेक्षा भाववादी गीतो को उच्च स्थान दिया। 'जहाँ एक ओर नए समीक्षको ने विशुद्ध प्रेमगीतों को प्रबंधमूलक रचनाओ और उनमे प्रदर्शित नीतिवाद से पृथक् और उच्चतर स्थान देने की चेष्टा की वहीं भक्ति के नाम पर रचित भावरहित शुष्क अतिशृंगारी काव्य को भी उन्होने अलग कर दिया है।'[2]

(२) सौंदर्यदृष्टि—छायावादी सौंदर्यदृष्टि ने वस्तुजगत् की छवियो और उसकी आतरिक चेतनाओ, राग विरागो अर्थात् मानसिक छवियो, दोनो को अगाध आस्था से देखा। वस्तुजगत् के भीतर की छवि या चेतना को देखना इन कवियो की आत्मवादी दृष्टि का परिणाम था। इन्होने बाह्य संसार को अपनी समस्त रागात्मकता के साथ देखा, इसी लिये इन्हें कोई भी वस्तु या दृश्य स्थूलवस्तु या दृश्य के रूप मे लक्षित नहीं हुआ, उसके भीतर कवि को अपनी सी, मानव की सी, स्पंदनशीलता या चेतन व्यक्तित्व दिखाई पड़ा। इसलिये छायावादी सौंदर्यदृष्टि किसी भी व्यक्ति या वस्तु के स्थूल सौंदर्य को ही सौदर्य नहीं मानती, वह उसके भीतर निहित आंतरिक सौदर्य या मानसचेतना को देखना और उद्घाटित करना चाहती है। बाहर और भीतर की रूपसंश्लिष्टता ही सच्चे अर्थों मे सौंदर्य का सृजन करती है। प्रकृति और मानव दोनों का चित्रण तथा परीक्षण करते समय छायावादी कविता तथा आलोचना की सौंदर्यचेतना इस दृष्टि से सदैव सजग दिखाई पड़ती है। सौदर्य की यह दृष्टि आचार्य शुक्ल तथा द्विवेदीकाल के समीक्षको की काव्य मे प्रकृतिचित्रण संबंधी धारणा के प्रतिकूल मान्यताएँ

१ हिंदी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४५५।
२ पं० नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ० २५८।

स्थापित करती हैं। प्रकृति का यथातथ्य निरूपण प्रकृति के वास्तविक सौंदर्य को व्यक्त करने मे सफल नहीं है। उसके भीतर की धडकनो, उसकी चुप्पियों मे सोए हुए अनंत स्वरों, उसके बाह्याकार के भीतर तडपते हुए सैकडो भावो, उसके हर्ष विषाद के अगणित संकेतो को पहचान पानेवाला कवि ही वास्तव मे उसके सच्चे सौदर्य का चितेरा हो सकता है। बाह्य अंगो का संगठन कर देने मात्र से एक निर्जीव सुंदर देह का निर्माण हो सकता है, उससे व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सकता। अतएव छायावादी आलोचको ने काव्य मे प्रकृति के परिपाटीबद्ध चित्रण को (चाहे वह शृंगारिक कविता का उद्दीपनगत रूप रहा हो या द्विवेदीकाल का आलंबनगत यथातथ्य निरूपण रहा हो) असुंदर माना।

इसी प्रकार मानवसौदर्य को भी छायावादी दृष्टि ने एक नया आयाम प्रदान किया। नारीसौदर्य रीतिकाल की वासनाप्रेरक मासलता और द्विवेदी-काल की नीतिमूलक मानसिक उदात्तता से उबरकर सहज मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ। उसे बाहर का रूप तो मिला ही, अंतर का सहज नारीत्व भी प्राप्त हुआ। यह नारी व अपनी समस्त कोमलता, करुणा, ओज, राग विराग के साथ प्रस्फुटित हुआ। उसे एक व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। नारीसौदर्य अंतर छवि से दीप्त होने के नाते मंगलमूलक होता है। सौदर्य प्रेमछवि से आलोकित रहता है और यह प्रेम कृत्रिम बाहरी सीमाओ से मुक्त और निर्बंध होता है। इसी लिये छायावादी काव्य मे जो प्रेम का स्वरूप दिखाई पडता है वह शुद्ध मानवीय धरातल पर का है, जाति पॉति या अन्य किसी बाह्यबंधन से आबद्ध नही। अतः छायावादी सौदर्यदृष्टि एक ओर तो आतरिकता मे सौदर्य को देखती है, दूसरी ओर नवीनता मे, अर्थात् वह काव्य का सौदर्य मानवसौंदर्य की तरह ही परिपाटी से या बाह्य बधनो से मुक्त होने में तथा सूक्ष्म अंतरजगत् की छवियो की अभिव्यक्ति मे मानती है। छायावादी दृष्टि परिपाटीविहित रसज्ञता, परिपाटीविहित विषय स्वीकृति और परिपाटीबद्ध अभिव्यक्ति प्रणालियो को असुदर मानकर नवीन रसज्ञता, नवीन विषय स्वीकृति और नवीन अभिव्यंजनापद्धति मे सौदर्य पाती है। यही वजह है कि ये आलोचक छायावादी काव्य के गुणो के निकट दिखाई पड़ने-वाले सूर आदि रसमग्न कवियो के काव्य को अन्य कवियो जैसे–प्रबंध कवियो – की कविताओ की अपेक्षा सुंदर मानते हैं। 'मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनानेवाले कवि के चित्त मे उन काव्यरूढियो का प्रभाव नही रह जाता जो दीर्घकालीन परंपरा और रीतिबद्ध चिंतन के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के चित्त पर आ गिरी होती हैं और कल्पना के अविरल प्रवाह मे तथा आवेगो की निर्बाध अभिव्यक्ति मे अंतराय उपस्थित करती हैं। इस दृष्टिकोण को अपनाने से सौदर्य की नई दृष्टि मिलती है क्योकि मानवीय आचारो और क्रियाओ के मूल्य मे अंतर आ जाता है।

इस अवस्था मे सौंदर्य केवल बाह्य रूप मे नही रहता बल्कि आतरिक औदार्य और मानसगठन मे भी व्यक्त होता है। सौंदर्य के बँधे सधे आयोजनो—घिसे-घिसाए उपमानो और पिटी पिटाई उपेक्षाओं पर आधारित चिंतनशून्य काव्य रुढ़ियो—से मुक्ति पाया हुआ चित्त मानवता के मानदंड से सब कुछ देखता है।'[1]

(३) **काव्य और कल्पना**—छायावादी काव्य मे अनुभूति और नैसर्गिक भावावेग का प्रवाह मुख्य वस्तु है किंतु वह भावावेग कल्पना के अविरल प्रवाह से संबलित है। 'रोमांटक साहित्य की वास्तविक उत्स भूमि वह मानसिक गठन है जिसमे कल्पना के अविरल प्रवाह से घन संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग ये दो निरंतर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्वप्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।'[2]

छायावादी आलोचना ने काव्य मे कल्पना का प्रमुख स्थान माना है। छायावादी कवियो ने विराट् कल्पना की शक्ति से पूर्व अनुभूत भावो, विषयो और पूर्वदृष्ट दृश्यो का पुनः सृजनकर एक नई सृष्टि खड़ी की है। यह उनकी कल्पना ही थी जो प्रकृति के अनंत और अदृश्य विस्तार मे चक्कर काटती हुई तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव और रूपसत्ताओ के भीतर प्रविष्ट होती हुई नवीन छवियो का उद्घाटन और सर्जन करती थी। यह कल्पना अनुभूत वस्तुओ का ही पुनः सृजन नही करती, कही कहीं वस्तुओ का सृजन भी करती है और इस प्रकार एक ऐसे लोक का निर्माण हो जाता है जो रहस्यमय, स्वप्निल और वायवी दिखाई पड़ता है। छायावादी कल्पना अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे भी नवीन सृष्टि करती है। यह कल्पना अभिव्यंजना की पूर्वमान्य शक्तियो से संतुष्ट न होकर नवीन शक्तियो, नवीन प्रतीको, बिंबो, शब्दो, चित्रो, ध्वनियो इंद्रियबोधों, उपमानो आदि—का सर्जन करती है। इसी लिये छायावादी काव्यशिल्प इतना नया और समर्थ हो सका। छायावादी समीक्षा ने कल्पना के गहन विश्लेषण की ओर तो ध्यान दिया ही, साथ ही साथ साहित्य मे कल्पना के महत्व का विवेचन किया। पाश्चात्य रोमाटिक कवियो और आलोचको मे से कुछ ने तो कल्पना को ही काव्य का मूलाधार मान लिया। शेली के अनुसार तो कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है। शेली कहता है कि कविता दर्पण है जो प्रकाश को पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित करती है। भाषा कल्पनाप्रसूत है अतः उसका सीधा

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य, पृ० ४६२।
२ डा० देवराज लिखित रोमांटिक साहित्यशास्त्र की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

संबंध पारस्परिक है जो कल्पना और अभिव्यक्ति के बीच सीमा तथा संबंध सूत्र बनती है[1]।'

(४) अभिव्यक्ति संबंधी दृष्टि—छायावाद ने शिल्प के क्षेत्र मे भी क्राति की। परंपरावादी साहित्य की धारणा है कि परिपाटी से चली आती हुई भाषाशक्ति को खूब निखारा जाय, माँजा जाय और फिर उसमे भावप्रतिष्ठा की जाय। किंतु छायावादी मान्यता स्पष्ट यह घोषित करती है कि अभिव्यक्ति पक्ष का वर्ण्य विषय से अलग कोई महत्त्व नही होता। युगीन परिस्थितियो के अनुसार काव्य के वर्ण्य नए नए हुआ करते हैं और वे वर्ण्य अपने अपने स्वभाव के अनुसार नवीन अभिव्यक्ति मार्ग पकडते रहते हैं। कवि वर्ण्य से अलग हटकर निरपेक्ष रूप से शैली को नही गढता, शैली तो वर्ण्य का ही असंपृक्त अंग होती है और उसके अनुसार नया नया रूप धारण करती रहती है। अनुभूतियो, भावो और मर्मछवियो का आवेग स्वतः अपने अपने सुंदर ढग से फूट चलता है। रोमाटिक कवि आलोचक शेली ने कहा है कि 'कविता अंतर्तम प्रदेश की प्रेरणा है। जन्म लेती है तब वह कवि को अपने रूपका सृजन करने के लिये बाध्य कर देती है। कवि मानो किसी दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के वशीभूत हो जाता है जो अभिव्यक्त होकर ही दम लेती है।' वर्ड्सवर्थ भी कविता को हृदय का सहज उद्‌गार मानता है। सुमित्रानंदनपंत की 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान, निकलकर आँखो से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान' पंक्ति मे भी यही ध्वनि है। इस प्रकार छायावादी आलोचक और कवि परंपरा से चले आते हुए मँजे मँजाए ढाँचे की उपेक्षा करते हैं। 'इन नवीन रचनाओ मे बाहरी ढाँचे की अवहेलना भी थी। अलंकारो का आधिक्य नही था, नवीन स्वरलहरी का उल्लास था। प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओ का तिरस्कार भी था[2]।'

(५) साहित्य का उद्देश्य—छायावादी आलोचको ने यह प्रतिपादित किया कि साहित्य में अनुभूति और भावावेग मूल तत्व हैं और सब बातें बाहरी हैं। राजनीति, अर्थनीति, धर्म, समाजनीति साहित्य को प्रभावित अवश्य करते हैं, किंतु वे साहित्य के विधायक तत्व नहीं हैं। साहित्य अनुभूति और भावावेग का चित्रणकर पाठको को आनंद प्रदान करता है। इसका संबंध केवल अनुभूतिजन्य सहज आनंद से है। रोमाटिक कवि और समीक्षक कालरिज ने स्पष्ट घोषित किया है कि 'सौंदर्य के माध्यम से सद्यः आनंदोद्रेक के लिये भावो को जाग्रत करना'

[1] डा० देवराज, रोमांटिक साहित्यशास्त्र, पृ० ८६।
[2] पं० नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २६०।

काव्य का उद्देश्य है। इन कवियों और आलोचकों की दृष्टि में महत् आदर्श नीतिवाद और उपयोगितावाद साहित्य परीक्षण के बहुत स्थूल मानदंड हैं। वास्तव में आनंद ही साहित्य का उद्देश्य है, वही उसका मानदंड भी है। इस आनंद की सृष्टि के मूल में साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति की शक्ति है। 'साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभिव्यक्ति की संपूर्णता एवं सचाई के अनुपात से ही आँकना चाहिए। अन्य मान एकांगी हैं, अतः प्रायः धोखा दे जाते हैं।'[1] साहित्यकार की कुशल आत्माभिव्यक्ति द्वारा पहले साहित्यकार को फिर पाठक को आनंद प्राप्त होता है। इसी आधार पर छायावादी समीक्षकों ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा के नीतिवादी स्वर का विरोध किया। 'ये साहित्य के मनोवैज्ञानिक सौष्ठव की अपेक्षा उसमें अभिव्यक्त वर्गवादी सिद्धांतों को अधिक महत्व देते हैं और वर्गवाद के आधार पर ही साहित्य का नया मानदंड स्थिर करना चाहते हैं। यह मतवादी प्रवृत्ति पूर्व युगों में भी अनेक रूपों में दिखाई देती रही है, किंतु यह साहित्यिक सिद्धांत के रूप में कभी स्वीकार नहीं की गई'[2]।'

छायावादी समीक्षा के नए मूल्यों की स्थापना करनेवाले लेखकों में प्रमुख हैं डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र, श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी, श्रीजयशंकर प्रसाद, श्रीसूर्यकांत त्रिपाठी निराला, श्रीमती महादेवी वर्मा।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी छायावादी आलोचक परंपरा में आकर भी नहीं आते। अर्थात् छायावादी मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी ये उन्हें विराट् संदर्भों में देखने के पक्षपाती हैं। ये साहित्य के मूल सौंदर्य तत्वों की व्याख्या वैज्ञानिक ढंग से करते हैं और यह मानते हैं कि साहित्य के मूल सौंदर्य तत्व जीवन के अन्य तत्वों से बाहरी रूप से नहीं बल्कि आंतरिक रूप से जुड़े हुए हैं। वास्तव में ये साहित्य को अपने आप में साध्य नहीं मानते। साध्य तो मानव-जीवन है। मानवजीवन को प्रभावितकर उसे उत्कर्ष देना ही साहित्य की सार्थकता है। इसमें आनंद और आदर्श दोनों स्वतः परस्पर जुड़ जाते हैं। कवि की आत्मानुभूति का संबंध केवल उसके स्वयं से नहीं उसमें जाने अनजाने सामाजिक जीवन के विकास में उपलब्ध अनेक ज्ञानराशियों, नैतिक सामाजिक मूल्यों का योग रहता है। 'व्यक्ति के अंतःकरण से गृहीत तथ्यात्मक ज्ञानराशि संपूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं होती। वह दूसरों की उपलब्धि और स्मृति से बनी तथ्यात्मक ज्ञानराशि से टकरा टकराकर बना हुआ एक ऐसा पदार्थ है जिसे हम अंतर्वैयक्तिक तथ्य जगत् कह सकते हैं। दूसरी बात यह मालूम होती है कि यह

१ डा० नगेंद्र, विचार और अनुभूति, पृष्ठ १८८।
२ पं० नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २८।

अंतर्वैयक्तिक तथ्य जगत् निरंतर परिवर्द्धमान और परिवर्तमान पदार्थ है—वह गतिशील है। वह नाना वैयक्तिक तथ्य जगतो के सघर्ष से स्थिरीकृत सामान्य जगत् है। हमारी ज्ञानराशि अधिकाश मे वैयक्तिक न होकर अंतर्वैयक्तिक है।...निरतर परिवर्तमान और परिवर्द्धमान इन उपलब्धियो के लिखित रूप को ही हम सामान्य रूप से साहित्य कहते हैं। विशेष रूप मे साहित्य उपलब्धियो के उस लिखित रूप को कहते हैं जो हमारी सामान्य मनुष्यता को नित्य प्रभावित करती रहती है और भाव और आवेग से वेगवती होकर सामान्य मनुष्य के सुख दुःख को विशेष मनुष्य—श्रोता या पाठक—के चित्त मे सचारित कर देती है। भाषा साहित्य का वाहन है[१]।'

द्विवेदीजी मानवतावादी आलोचक हैं। वे मनुष्य की समस्त सामाजिक उपलब्धियो को साहित्य की सामग्री मानते हैं किंतु वे साहित्य के मूल तत्वो के साथ उनका वैज्ञानिक संबंध जोड़ते हैं, आदर्शवादियो या उपयोगितावादियो की तरह ऊपर से आरोपित नही करते। वे साहित्य की मूल शक्तियो की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उन्हें व्यापक जीवनसंदर्भों से जोड़ते हैं। द्विवेदीजी समन्वय-वादी आलोचक हैं—सामाजिक यथार्थ और नैतिकता, परंपरा और प्रगति, निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक समीक्षा, सत्य और सौंदर्य सभी के भीतर एक संतुलन स्थापित करना चाहते हैं। किंतु ध्यान रखने की बात है कि वे कहीं भी मिथ्या आदर्शों से प्रेरित होकर ऐसा नही करते, वरन् वे मानते हैं कि सदैव विरोधी से दीखनेवाले तत्वो मे सत्य का कोई न कोई अंश होता है और वास्तव मे वे तत्व एक दूसरे के पूरक हैं। अलग होकर नही, आपस से जुड़कर ही पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति कर सकते हैं। 'विचार और वितर्क', 'अशोक के फूल' के कुछ निबंध तथा 'साहित्य का साथी' आप की समीक्षासबंधी मान्यताओ की परिचायक कृतियाँ हैं।

पं० नंददुलारे वाजपेयी—सच्चे अर्थों में वाजपेयीजी ही छायावादी आलोचना सिद्धातो के समर्थक हैं। डा० नगेंद्र पर छायावादी आलोचन सिद्धातो के साथ साथ मनोविश्लेषणवाद का भी गहरा असर है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पर भी अन्य समीक्षा मान्यताओ का प्रभाव है, यह हमने देखा ही। वाजपेयीजी ने सच्चे अर्थों में छायावादी मान्यताओ को अपना आलोचन सिद्धात बनाया। वाजपेयीजी के शब्दो में आलोचनासंबंधी उनकी मान्यताएँ निम्नलिखित हैं। ये मान्यताएँ महत्वक्रम से हैं—

[१] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृ० २२९।

(१) रचना मे कवि की अंतर्वृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष अपकर्ष) का अध्ययन (एनालसिस आफ पोयटिक स्पिरिट)।

(२) रचना मे कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता, सृजन की लघुता विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (एस्थेटिक एप्रीसिएशन)।

(३) रीतियो, शैलियो और रचना के बाह्यागो का अध्ययन (स्टडी आफ टेकनिक)

(४) समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओ का अध्ययन ।

(५) कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानसविश्लेषण)।

(६) कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो आदि का अध्ययन ।

(७) काव्य के जीवनसंबंधी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन ।

'.........यदि एक ही वाक्य में कहना हो तो कहा जा सकता है कि साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबंधों का प्रधान उद्देश्य रहा है। यद्यपि काव्य की सामाजिक प्रेरणा के निरूपण में भी मै उदासीन नहीं रहा हूँ। मेरी समझ मे समस्त वादो के परे साहित्य समीक्षा का प्रकृत पथ यही है। इसी माध्यम से साहित्य का स्थायी और सास्कृतिक मूल्य आँका जा सकता है'।[1]

'हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य,' 'नए प्रश्न, नए मूल्य' वाजपेयीजी के आलोचन सिद्धांत संबंधी ग्रंथ हैं।

डा॰ नगेंद्र—कहा जाता है कि डा॰ नगेंद्र की समीक्षा पर छायावाद और मनोविश्लेषणवाद दोनो का प्रभाव है। मनोविश्लेषणवाद और छायावाद दोनो अपने अपने ढंग से व्यक्तिवाद के समर्थक हैं। अतः इन दोनो से प्रभावित होनेवाले डा॰ नगेंद्र साहित्य को वस्तुतः वैयक्तिक चेतना मानते हैं। 'साहित्य की प्रेरणा' के संबंध में पूर्व और पश्चिम के अनेक मतवादो की चर्चा करते हुए आपने निष्कर्ष निकाला है —

(१) काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होनेवाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जान बूझकर प्राप्त नहीं की जा सकती।

[1] पं॰ नंददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृष्ठ २६।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है। अतएव हमारे व्यक्तित्व मे होनेवाला आत्म और अनात्म का सघर्ष मूलतः काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा मे कामवृत्ति की प्रमुखता है[१]।

नगेंद्रजी वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना के पारस्परिक संबंधो को स्वीकारते हैं। साहित्य मे दोनो की मिलीजुली अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। किंतु जब वे दोनो का तुलनात्मक महत्त्व आँकने लगते हैं तो व्यक्ति और व्यक्ति की अनुभूति को समाज और समाज की अनुभूति के ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं।

नगेंद्रजी भी साहित्य को आनंद मानते हैं। आत्माभिव्यक्ति आनंद है। जिस कलाकृति मे आनंद देने की जितनी ही अधिक शक्ति होगी वह उतनी ही अधिक महत्त्वशालिनी होगी। 'इस आनंद का परिमाण कौन और कैसे तै करे?' का उत्तर देते हुए डा० नगेंद्र ने कहा है कि जनसाधारण नहीं केवल इसके अधिकारी ही आनंद के परिमाण को तै कर सकते हैं। कैसे तै करें? इसके लिये उसे देखना होगा कि कृति का कर्ता कहाँतक उसमे अपने व्यक्तित्व को अनूदित अर्थात लय कर सका है। और फिर यह देखना होगा कि वह व्यक्तित्व कितना प्राणवान् है। 'विचार और अनुभूति' तथा 'विचार और वितर्क' नगेंद्रजी के दो निबंधसंग्रह हैं जिनमे उनकी समीक्षा सिद्धात सबंधी मान्यताएँ व्यक्त हैं।

छायावादी कवियों मे जिन लोगों ने साहित्यसिद्धात संबंधी प्रश्नो पर मूल्यवान् विचार प्रस्तुत किए उनमे प्रसादजी और महादेवीजी के नाम अग्रगण्य हैं। प्रसादजी ने 'काव्यकला तथा अन्य निबध' मे छायावाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, काव्य और कला पर बहुत ही मननीय विचार प्रस्तुत किए हैं। इसी प्रकार महादेवीजी ने भी काव्य के अनेक प्रश्नो पर विचार करते हुए अपनी मान्यताएँ स्थापित की हैं। इनके अतिरिक्त श्रीसुमित्रानदन पंत और निरालाजी ने भी काव्य के कुछ पक्षो पर कुछ विचार प्रतिष्ठित किए हैं। 'गद्य पथ' में पतजी के ये विचार संगृहीत हैं। निरालाजी ने 'पंत और पल्लव' निबंध मे मुक्त-छंद संबंधी कुछ नए प्रश्नो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है तथा उसकी सुंदर व्याख्या की है।

प्रगतिवादी समीक्षा

प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र मे एक नवीन दृष्टिकोण लेकर आया। प्रगतिवादी समीक्षा का प्रमुख मानदंड यह है कि साहित्य सोद्देश्य है।

[१] डा० नगेंद्र, विचार और अनुभूति, पृ० १० ।

और वह उद्देश्य क्या है ? वह उद्देश्य आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, कल्पनाविलास नही है, शैली का चमत्कारप्रदर्शन नहीं है. वरन् सामाजिक यथार्थ का सही और मार्मिक उद्घाटन है। सामाजिक यथार्थ का स्वरूप क्या है ? यथार्थ की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं, उसके अनेक संप्रदाय हैं। कुछ लोगो ने सामाजिक विकृतियो और गंदगी को ही यथार्थ मान लिया है और वे या तो इससे घृणाकर आदर्श के कल्पनालोक मे भागते हैं या इस गंदे यथार्थ में रस लेकर उस चित्र खींचते हैं, समझते हैं, यही अंतिम सत्य है जीवन का। लेकिन प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यथार्थ को देखता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स दर्शन है। यह दर्शन मानता है कि प्रकृति और समाज दोनो का विकास द्वंद्वात्मक प्रकृतियो द्वारा होता है, किसी अज्ञात सत्ता के संकेत और इच्छा द्वारा नही। संसार की सभी वस्तुओ में विरोधी तत्त्व एक साथ उपस्थित रहते हैं, वे आपस मे संघर्ष करते हैं। इसी विरोधजनित संघर्ष से नित्य नए विकास होते रहते हैं। वस्तु का विकास पहली स्थिति का नाश करके नए रूप मे होता है। सामाजिक क्षेत्र मे मार्क्स आर्थिक भूमिका को विशेष महत्व देता है। अर्थ उपादान के साधनो के अनुसार सामाजिक संबंध बनते हैं और इन सामाजिक संबंधो के अनुसार कला और संस्कृति का रूप बदला करता है। अर्थोत्पादन के साधनो के विभिन्न रूपो के आधार पर निर्मित समाज मे स्पष्टतः दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं—(१) शोषक और (२) शोषित। शोषक वर्ग अर्थ उपादान के साधनो पर अधिकार जमा लेता है और शेष समाज का शोषण करता है। और फिर जीने के लिये शोषित वर्ग शोषक वर्ग से संघर्ष छेड़ता है और इस संघर्ष से नए समाज की रचना होती है, पुराना समाज नष्ट होता है। इस प्रकार पुराने और नए, शोषक और शोषित, मरणोन्मुख और विकासोन्मुख का सतत संघर्ष यथार्थ को नए नए आयाम देता चलता है। इस बुनियादी सत्य को पहचानना ही यथार्थ को पहचानना है। ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियो की विकृतियाँ उतराई रहती हैं, लेकिन सतह के नीचे नवीन शक्तियाँ धीरे धीरे उन्हें काटती रहती हैं। ये शक्तियाँ व्यक्ति की नही समाज की होती हैं, उनमें पीड़ा और अभाव के साथ ही साथ जिंदगी का अडिग विश्वास और भविष्य की सुंदर आकाक्षा होती है। इन बुनियादी तत्वो को ग्रहण करनेवाला ही सच्चा यथार्थवादी है। ऐसा ही साहित्य अपने युग की वास्तविकता का सच्चा प्रतिनिधि हो सकता है और भावी युगों के लिये प्रेरणास्रोत होता है।

सन् १९३५ ई० के आसपास हिंदी में प्रगतिवादी आदोलन प्रारंभ हुआ और रचना तथा आलोचना के क्षेत्र में नए प्रकार के साहित्यसिद्धांतो की स्थापना की गई। साहित्यसर्जन और परीक्षण के मानदंड बदले। जैसा कि ऊपर

स्पष्ट किया गया है, प्रगतिवाद का प्रमुख मानदंड यह देखना है कि किसी साहित्य में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति है या नहीं। प्रगतिवादी समीक्षा-दृष्टि न केवल समसामयिक साहित्य को वरन् प्राचीन साहित्य को भी इसी कसौटी पर रखती है। लेकिन यह समझना गलत है कि वह प्राचीन साहित्य में आज के यथार्थ को पाना चाहती है। वह तो युग की सीमाओं के अंतर्गत उस काल के साहित्य की परीक्षा करती है। प्रगतिवाद उसमें शाश्वत सार्वभौम जैसे वायवी सत्यों के फेर में न पड़कर ठोस सामाजिक सत्यों की खोज करता है। तत्कालीन दर्शन, साहित्य और कला का स्वरूप इन्हीं सीमाओं के अंतर्गत निर्मित होता है। प्रगतिवादी आलोचना समाज के युगीन संबंधों के सत्यों को छोड़कर हवा में शाश्वत सत्यों का महल तैयार करनेवाले साहित्य को निकृष्ट समझती है। आज का सामाजिक सत्य वे शक्तियाँ हैं जो पूँजीवाद को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हैं। अतः प्रगतिवादी आलोचना साहित्य को जीवन के प्रति सच नहीं मानती जबतक वह मौजूदा समाज के ह्रास और जनक्रांति की अनिवार्यता नहीं स्वीकार करता।

यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी समीक्षा रस या आनंद की सृष्टि को साहित्य के उद्देश्य के रूप में नहीं स्वीकार करती। इसलिये प्राचीन या नवीन कोई भी साहित्य अपनी रसमयता और शिल्पगत भव्यता के बावजूद इस समीक्षा का श्रद्धा-भाजन नहीं बन सकता यदि उसमें ऐतिहासिक सामाजिक सत्य मुखर नहीं है। 'जहाँ यह सत्य है कि बाह्य परिस्थितियों से साहित्य अनेक स्वस्थ और अस्वस्थ प्रभाव ग्रहण करता है वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि ये प्रभाव साहित्य की ऐतिहासिक परंपराओं के माध्यम से जीवन के अगणित संबंधों को ग्रहण करके ही व्यक्त होते हैं और इस प्रकार एक ओर वे साहित्य की परंपरा को बदलते हैं तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास की तारतम्यता और संबद्धता को पुष्ट करते हैं।'[1]

प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य का निर्माण सोद्देश्य मानती है। इसका एक अर्थ यह भी लगाया जाता है कि वह प्रचारवादी साहित्य का पोषण करती है, अर्थात् वह साहित्य को समाजवादी सिद्धांतों के प्रचार का शास्त्र मानती है। यह सत्य है कि प्रगतिवाद एक विशेष प्रकार के दृष्टिकोण—मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद—का समर्थक है, उस दृष्टिकोण से जीवन और साहित्य को देखता है और चाहता है कि ऐसा साहित्य निर्मित हो, जिसमें समाजवादी दृष्टि से लक्षित होनेवाला यथार्थ व्यंजित हो और जो मौजूदा शोषक समाज के ह्रास और जनक्रांति

[1] श्रीशिवदानसिंह चौहान, साहित्य की परख, पृ० २१-२२।

की अनिवार्यता में विश्वास रखे तथा इस विश्वास को ध्वनित करे। लेकिन यह भी सत्य है कि प्रगतिवाद मूलतः साहित्य को साहित्य ही मानता है। अर्थात् वह मानता है कि साहित्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाले यथार्थ, दृष्टिकोण या प्रचार का रूप साहित्य की शर्तों से बँधा होता है। साहित्य एक संश्लिष्ट रचना है, जिसमे मानवहृदय की सौंदर्यानुभूतियो, भावछवियो शिल्पगत शक्तियो आदि का मिला-जुला रूप रहता है और कोई भी सामाजिक या व्यक्तिगत यथार्थ इन मूल तत्वो के माध्यम से ही प्रस्फुटित होता है। अतः खुला प्रचार तो साहित्य और प्रभाव दोनो को मारता है। 'लेकिन हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि सारे साहित्य को प्रोपेगेंडा या सामाजिक प्रभाव का अस्त्र कहकर आज के समाज मे उसके एक महत्वपूर्ण सविधायक पहलू का ही निर्देश किया जाता है और केवल इस दृष्टि से खरी उतरनेवाली कोई रचना अपने मे श्रेष्ठ रचना नहीं हो जाती। उसकी श्रेष्ठता का निरूपण करते समय उसकी सौंदर्यानुभूति, उसकी रूपयोजना, शैली और प्रौढ़ता, वाक्यरचना, शब्दप्रयोग आदि अनेक दूसरी कसौटियो पर भी कसना आवश्यक है और प्रगतिवादी इन सब कसौटियो पर किसी भी काव्य या साहित्यकृति का कसना आवश्यक समझते हैं। वे उनके महत्व को जानते हैं यद्यपि आज के संक्रमणकाल मे वे साहित्य के संविधायक पहलू को दृष्टि मे रखकर उसका सामाजिक दृष्टिकोण से विवेचन करना अधिक आवश्यक समझते हैं'।[१]

प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य को वर्गचेतना की अभिव्यक्ति मानती है। कवि जिस वातावरण मे पलता है उसी का संस्कार उसके हृदय में बद्धमूल होता है। इसलिये वह अपने साहित्य मे अपने सस्कारो से आगे नहीं बढता। शोषक वर्ग से संबद्ध साहित्यकार अपने साहित्य में शोषकवर्गीय चेतना को ही व्यक्त करेगा। अतः यह आवश्यक है कि जनवादी साहित्य लिखनेवाला साहित्यकार जनसंघर्ष में भाग लेकर उससे रागात्मक संबंध स्थापित करे।

प्रगतिवादी समीक्षा मानती है कि जाग्रत समाज में साहित्य भी जाग्रत होता है। स्थितिशील, मंद और ह्रासोन्मुख समाज मे साहित्य का उच्च स्वर नही सुनाई पडता। 'काडवेल के अनुसार महान् कविता वे ही लिख सकते हैं जो स्वतंत्र हैं। सामंत वर्ग अपेक्षाकृत स्वतंत्र है अतएव महाकाव्यो की सृष्टि करता है, शोषित शूद्र और दास केवल दंतकथाओ, लोकगीतो, भजन जैसे गौण साहित्य को जन्म देते हैं। सामंतीयुग मे कविता की भावसंपदा और आंगिक में महत्वपूर्ण विकास होते हैं, किंतु दासप्रथा पर अवलंबित मिस्र, चीन, भारत, ग्रीस इत्यादि की

१ श्रीशिवदान सिंह चौहान, प्रगतिवाद, पृ० २१।

सामंती सभ्यता जब पतनोन्मुख हुई तब उनकी कला का भी सैकड़ो वर्ष तक ह्रास होता रहा।'[१] प्रगतिशील समीक्षा किसी काल और समाज के साहित्य की परीक्षा करते हुए समाज की इस रूपरेखा की परीक्षा करती है।

प्रगतिशील समीक्षा ने सौदर्यबोध की व्याख्या परिवर्तनशील समाज के हृदय की सापेक्षता में की। व्यक्ति का सौदर्यबोध फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिको की दृष्टि मे कामवासना युक्त होता है। प्रगतिवादी समीक्षा ने सौदर्य जनता मे खोजा। सौदर्य का संबंध हमारे हार्दिक आवेगो और मानसिक चेतना दोनो से होता है। इन दोनो का संबंध सामाजिक संबंधो से है। नए समाज मे पलनेवाला अथवा उसके साथ चलने का प्रयास करनेवाला नए उठते हुए समाज मे सौदर्य देखेगा, वह संघर्षो से भागकर अतीत या कल्पनालोक मे सौदर्य नही खोजना चाहेगा वरन् संघर्षशील जनता के जीवंत जीवन मे सुंदरता का दर्शन करना चाहेगा। सौदर्य जीवन है। सुंदर वह वस्तु है जिसमे हम जीवन देखते हैं, वह जीवन जो हमारे विचारो के अनुकूल हो। सुंदर वह वस्तु है जो जीवन को अभिव्यक्त करता है या हमे जीवन का स्मरण दिलाता है। प्रगतिवादी समीक्षा लोकजीवन की समस्त शक्तियो, विश्वासो और यथार्थवादी प्रतीतियो को स्वर देनेवाले साहित्य में ही सौदर्य देखती है।

साहित्य का सौदर्य सामाजिक यथार्थ की पकड और अभिव्यक्ति मे है। इसी लिये अभिव्यक्ति का सौदर्य भी सामाजिक यथार्थ की सुंदरता की सापेक्षता मे ही सार्थक है। यह समीक्षा अस्पष्ट, वायवी असामान्य, रेशमी परिधानवाली रूढ़ शिल्पछवि को स्वीकार नही करती, बल्कि लोकशिल्प की तरह सुस्पष्ट, सामान्य, लौकिक और सीधी अभिव्यक्ति छवि को महत्व देती है।

श्रीशिवदान सिंह चौहान (प्रगतिवादी साहित्य की परख), डा० रामविलास शर्मा (संस्कृति और साहित्य, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ), श्रीअमृतराय (नई समीक्षा), श्रीप्रकाशचंद्र गुप्त (नया हिंदी साहित्य, हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा), डा० रांगेय राघव (काव्य के मूल विवेच्य, काव्य कला और शास्त्र), डा० नामवरसिंह (इतिहास और आलोचना, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ) आदि के नाम इस क्षेत्र मे उल्लेखनीय हैं।

मनोविश्लेषणप्रधान आलोचना

मनोविश्लेषणप्रधान आलोचना फ्रायड, एडलर और युंग आदि (विशेषतया फ्रायड) के मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित साहित्य के मूल्यो की

[१] अवंतिका, आलोचनांक, पृ० २८२।

प्रतिष्ठा करनेवाली आलोचना है। इस आलोचना के मूल सिद्धांत निम्नलिखित हैं —

१—साहित्यनिर्माण की प्रेरणा मनुष्य को चेतना से नहीं, अचेतन में दमित वासनाओं से मिलती है।

२—अचेतन मे दमित वासनाएँ प्रवृत्तिमूलक होती हैं, सहज होती हैं, सामाजिक चेतना से विच्छिन्न होती हैं और उन्ही दमित वासनाओ के परिशोधित रूप में साहित्य बनता है। अतः साहित्य सामाजिक होने की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक होता है। साहित्य या कला में जो कुछ सामाजिक तत्व दिखाई पड़ते हैं वे कलाकार के सामाजिक दायित्व के अनुभव के परिणाम नहीं होते हैं, बल्कि सामाजिक दबाव के परिणाम होते हैं अर्थात् कला स्वातःसुखाय होती है।

३—साहित्य या कला में बौद्धिकता नहीं, वरन् प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। बुद्धि या तर्क से हम मानवसत्य के किसी निर्णय पर नहीं पहुँचते, बल्कि सहज प्रवृत्तियो के द्वारा सत्य के पास पहुँचते हैं।

४—नैतिकता के पुराने मान व्यर्थ हैं। रति (लिबिडो) ही मानव-प्रकृति का मूल प्रेरणास्रोत है। मनुष्य के समस्त आचारविचार में रति का अस्तित्व है। मनुष्य अपनी सहज कामप्रवृत्तियो (एडलर के अनुसार हीनता की ग्रंथियो और क्षतिपूर्त्ति की चेष्टाओ, युंग के अनुसार जिजीविषा की प्रवृत्तियो) से प्रेरित होकर परिस्थितियों के अनुकूल काम करता है। उन कार्यों के हो जाने या न हो जाने की जिम्मेदारी उसपर नही होती। इसलिये आज के साहित्य में अत्यंत भले या अत्यंत बुरे स्मरणीय चरित्रो का निर्माण नहीं हो पाता, बल्कि आज के पात्र नदी के समान होते हैं—कहीं तेज, कहीं मंद, कभी पाप-कर्म-प्रवृत्त, कभी पुण्य कर्म-लीन। अर्थात् आज के पात्र भले बुरे नही होते, वे तमाम प्रवृत्तियो के संश्लिष्ट चरित्र होते हैं। मनोविश्लेषणप्रधान आलोचना पात्रो की परीक्षा इन्हीं आधारो पर करती है।

५—मनोविश्लेषणवाद अचेतन की दमित वासनाओं को ही साहित्य की प्रेरणा मानता है। ये दमित वासनाएँ चिरंतन और सनातन हैं इसलिये यह आलोचना साहित्य की मूल चेतना को शाश्वत मानती है। अवचेतन की दमित वासनाओ पर परिस्थितियो का प्रभाव पड़ता है किंतु वह ऊपरी होता है। यह प्रभाव मूलप्रवृत्तियो को इधर उधर न्यूनाधिक किया करता है, किंतु उनकी शाश्वतता में कोई व्यवधान नहीं डालता। नवीन सामाजिक विधिविधानों, नवीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियो और अभिव्यक्ति की नूतनताओ के साथ चिरंतन व्यक्तिप्रवृत्तियों का संघर्ष और सामंजस्य होता रहता है।

श्रीइलाचंद्र जोशी (साहित्य सर्जना, विवेचन) श्रीसच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (त्रिशंकु) और कुछ सीमा तक डा० नगेंद्र इस क्षेत्र के अग्रगण्य विचारक हैं

साहित्य-सिद्धात-निरूपण के क्षेत्र मे इन वादो से अलग स्वच्छंद रूप से सोचने विचारनेवाले भी कुछ महत्वपूर्ण आलोचक हैं। इनकी आलोचनाओ मे सभी प्रकार की प्रचलित साहित्यधारणाओ का ग्रहण उनकी रुचि और उद्देश्य के अनुसार होता चला है। इन आलोचको मे सबसे सशक्त व्यक्तित्व है डा० देवराज (साहित्य चिंता और आधुनिक समीक्षा) का। डा० देवराज ने समाजवादी और व्यक्तिवादी दृष्टियोवाली सारी विचारपरंपराओ को स्वस्थ साहित्यिक स्तर पर ग्रहण किया है तथा साहित्य के निर्माण मे सहायक और अभिव्यक्त आवेगमूलक, बुद्धिमूलक चेतनाछवियो, परंपराओ और नवीनताओ, संस्कृति के विभिन्न उपकरणो तथा अभिव्यक्ति की तीव्रता और प्रभाव प्रदान करनेवाले शिल्प-सौष्ठव की निर्भ्रांत व्याख्या की है। डा० प्रभाकर माचवे (संतुलन) और श्री-नलिनविलोचन शर्मा (दृष्टिकोण) भी इस क्षेत्र के प्रमुख आलोचक हैं। वास्तव मे इन आलोचको के महत्वपूर्ण समीक्षाकार्य सन् १६४० ई० के बाद ही दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि इन्होने लिखना सन् १६४० ई० के पहले ही प्रारंभ कर दिया था।

व्यावहारिक आलोचना

साहित्यसिद्धातो के विविध आधारो को स्वीकारकर कृतियों की व्याख्या और परीक्षा करनेवाली आलोचना व्यावहारिक आलोचना कहलाती है। व्याख्या, परीक्षण और मूल्याकन की अलग अलग कसौटियो को ग्रहणकर चलनेवाली व्यावहारिक समीक्षा के अनेक भेद हैं जिनमे प्रमुख दो हैं—(१) निर्णया मक और (२) व्याख्यात्मक।

ये दोनो भेद मूलतः दो प्रकार के अलग अलग मौलिक सिद्धातो पर आधारित हैं। शेष इन्ही के आसपास दिखाई पडते हैं—कही इनकी शैलियाँ बनकर, कही इनके अंग बनकर, कही सहयोगी बनकर। लेकिन विभिन्न शैलियो और कुछ भिन्न भिन्न विचारधाराओ के कारण शेष को भी आलोचना का अलग अलग प्रकार मान लिया गया है, जैसे आचारवादी, अर्थनिरूपण-मूलक, तुलनात्मक, जीवनीमूलक, व्यक्तिवादी व्यक्तित्वप्रदर्शन प्रणाली मूलक, रसवादी, रीतिवादी, अलंकारवादी, छायावादी, अभिव्यंजनावादी, प्रभाववादी, अनुभवात्मक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, नैसर्गिक, क्रियात्मक, कार्यात्मक, प्रगतिवादी आदि। जहाँतक इन आलोचनाओ के मूल मे निहित अलग अलग विचारो के विवेचन का प्रश्न है वहाँतक इतने भेद स्वीकार

किए जा सकते हैं; किंतु इतनी विभिन्न शैलियाँ और विचारपद्धतियाँ हिंदी आलोचना के क्षेत्र में व्यवहारतः लक्षित नहीं होतीं। जैसे, हिंदी के अनेक आलोचकों ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विवेचन तो किया है, किंतु उनकी आलोचना अभिव्यंजनावादी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सच्चे अर्थों मे हिंदी मे निर्णयात्मक, तुलनात्मक, छायावादी, प्रभाववादी, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक आलोचनाएँ ही लक्षित होती हैं। शेष इनमें अंतर्भुक्त हो जाती हैं। वैसे देखा जाय तो अलंकारवादी, रीतिवादी, रसवादी आदि समीक्षाएँ निर्णयात्मक समीक्षा में और छायावादी, प्रगतिवादी मनोविश्लेषणवादी आदि समीक्षाएँ व्याख्यात्मक समीक्षा के अंतर्गत आ जाती हैं।

निर्णयात्मक समीक्षा—अंगरेजी मे इसे 'जुडीशल क्रिटिसिज्म' कहते हैं। इसका आधार और लक्ष्य व्याख्यात्मक समीक्षा के आधार और लक्ष्य से मूलतः भिन्न होता है। इसका आधार है साहित्य और कला के क्षेत्र में मान्य प्रचलित नियम। यह अपरिवर्तित मानों को आधार बनाकर साहित्य के मूल्य का निर्णय देना चाहती है। यह स्थायी सिद्धांतों के ऊपर विशेष बल देने के कारण साहित्य-निर्माण की प्रेरणा देनेवाले तथा सूक्ष्म रूप से कृति को प्रभावित करनेवाले उन अनेक तत्वों की उपेक्षा कर जाती है जो सर्जक के व्यक्तित्व, उसके युग और वातावरण से निःसृत होते हैं। निर्णयात्मक समीक्षा में आलोचक निर्णायक के समान होता है। वह कृति की महत्ता और लघुता का निर्णय देता है। निर्णयात्मक समीक्षा जिन सिद्धांतों पर आधारित होती है वे सिद्धांत विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। ये शुद्ध साहित्यिक मानवाले भी हो सकते हैं और साहित्येतर मानवाले भी, लेकिन प्रत्येक अवस्था में ये होते हैं रूढ़ ही। जैसे रससिद्धांत साहित्य की आत्मा से संबद्ध सिद्धांत है, लेकिन रससिद्धांत अपने रूढ़ रूप में आज के साहित्य के मूल्यांकन के लिये सही मानदंड नहीं हो सकता। इसी प्रकार साहित्येतर सिद्धांत मूलतः नैतिकता, सामाजिक महत्ता आदि जीवनमूल्यों से संबद्ध होते हैं। ये सिद्धांत साहित्य की मूलगत उपलब्धियों की परीक्षा इन साहित्येतर कसौटियों पर करते हैं।

किंतु निर्णयात्मक समीक्षा का महत्व कम नहीं। यदि वह सही ढंग से उपयोग में लाई जाय। व्याख्यात्मक समीक्षा से संबद्ध होकर निर्णयात्मक समीक्षा का मूल्य बढ़ जाता है। व्याख्यात्मक समीक्षा की विवेचनात्मक शैली से संपृक्त होकर निर्णयात्मक समीक्षा की गुण दोष उद्घाटन करनेवाली प्रशंसात्मक या निंदात्मक शैली गहन और विश्लेषणात्मक हो उठती है।

हिंदी आलोचना का द्विवेदीकाल निर्णयात्मक समीक्षा का स्वरूप प्रस्तुत करता है। द्विवेदीकाल मे निर्णयात्मक समीक्षा की दो धाराएँ दो प्रकार के सिद्धांतों पर आधारित दिखाई पड़ती हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु

तथा अन्य छोटे छोटे लेखक साहित्य में नैतिकता, उपयोगिता और सादगी का गुण अनिवार्य मानते थे। दूसरी ओर लाला भगवानदीन, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि रीतिवादी सिद्धातो को मूल्याकन की कसौटी मानते थे। यद्यपि समय के प्रभाव से इस काल मे व्याख्यात्मक समीक्षा का पर्याप्त संस्पर्श लक्षित होता है किंतु मूल स्वर निर्णयात्मक ही रहा जो गुण-दोष-विवेचन और तुलनात्मकता पर आधारित था।

निर्णयात्मक समीक्षा सन् १९५० ई० के बाद भी दिखलाई पड़ती है। लेकिन व्याख्यात्मक समीक्षा का विकास हो जाने से वह अधिक प्रौढ और विश्लेषणात्मक हो गई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षाओ मे व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा का बड़ा ही संतुलित स्वरूप लक्षित होता है। आचार्य शुक्ल ने साहित्य के मूल साहित्यधर्म को पहचाना, साहित्य की सृष्टि में सहायक मूल तत्वो का विश्लेषण किया और इन तत्वो से निर्मित साहित्य के संश्लिष्ट प्रभावो की व्याख्या की, किसी भी कृति को उसके कृतिकार के व्यक्तिगत, सामाजिक और युगीन परिवेश में देखा और इस परिवेश के सम्यक् प्रभाव को स्वीकार किया। किंतु सारा साहित्यिक सौंदर्य देखने के बाद उस कृति की महत्ता या लघुता का निर्णय देना नही भूल सके। साहित्य के संबंध मे आचार्य शुक्ल की अपनी कुछ निश्चित मान्यताएँ थीं। ये मान्यताएँ साहित्यिक होकर भी नैतिक थी, अर्थात् इनकी मान्यताओ में साहित्यिकता और नैतिकता दोनो ही स्वीकृत थी। इन्होने रस जैसे शुद्ध साहित्यिक सिद्धात को अपनी आलोचना का मूलाधार बनाया, किंतु रस की व्याख्या इस तरह की कि रस लोकमंगल के भाव से जुड़ गया। इस प्रकार आचार्य शुक्ल के आलोचनासिद्धात मे रस के साथ लोकमंगल जैसा नैतिक और सामाजिक मूल्य भी जुड़ा हुआ चलता रहा। उनकी दृष्टि में रस अलौकिक या ब्रह्मानंदसहोदर नहीं है बल्कि लौकिक है और उसका आनंद भी लोक का ही है। लोकानुभूति और काव्यानुभूति मे अंतर नहीं है। इसलिये आचार्य शुक्ल ने सभी प्रकार के साहित्यो का उनका अपना स्वरूप और मूल्य तो पहचाना और उनकी मार्मिक व्याख्या भी की, लेकिन अंत मे निर्णय देने से नहीं चूके। इस निर्णय मे सबसे पहले वे यह देखते रहे कि कोई कृति साहित्यिक गुणो से भूषित है कि नहीं? फिर यह देखते थे कि कोई कृति साहित्यिक गुणो से भूषित होकर भी जीवन की कितनी व्यापकता और गहनता को समेटे हुए है और जीवन को शक्ति देने की उसमें कितनी क्षमता है। शुक्लजी रहस्यात्मकता, अलौकिकता तथा रसहीन, भावहीन कलात्मकता को काव्यक्षेत्र के बाहर की वस्तु मानते थे। अतः इन तत्वों पर आधारित कृतियों को महत्वहीन समझते थे। अपनी आलोचनाओ मे शुक्लजी

ने सदैव इन साहित्यिक मान्यताओं को ध्यान में रखकर निर्णय दिए हैं। सूर, तुलसी, कबीर, जायसी आदि भक्तिकालीन कवियो की कविताओं की भावसंपत्ति की बड़ी मार्मिक व्याख्या करने के बाद तारतम्यनिरूपण के समय मुक्तको या गीतो की अपेक्षा प्रबंधो को महत्तर स्थान दिया और प्रबंधो में भी भावात्मक ऊँचाई के साथ लोगमंगल की स्थापना करनेवाली कृतियो को विशेष सराहा। तुलसी सूर से और जायसी कबीर से महत्तर सिद्ध किए गए, क्योकि वे प्रबंधकाव्यकार थे। मुक्तको में रस के छींटे होते हैं, अर्थात् आनंद की सिद्धावस्था होती है। प्रबंधो में रस की धाराएँ होती हैं जो जीवन के अनेक उतार चढावो को स्पर्श करती हुई उसकी बहुमुखी छवि को उद्घाटित करती हैं, अर्थात् आनद की साधनावस्था होती है। आधुनिक काल मे भी शुक्लजी ने छायावाद के रससिक्त भावगीतो की अपेक्षा प्रवाही प्रबंधकाव्यो (जो भावात्मक गरिमा में छायावादी गीतो से हलके ठहरते हैं) को विशेष महत्व दिया। छायावादी कविता एक तो गीतप्रधान थी, दूसरे उसमें शुक्लजी की दृष्टि में रहस्यात्मकता थी। उसमे प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत की योजना थी—विषय में भी, शिल्प में भी। अतः शुक्लजी ने इन रहस्योन्मुखी कविताओं की भक्तिकालीन रहस्योन्मुखी कविताओं की भाँति ही जगत्‌जीवन के प्रकृत क्षेत्र से विच्छिन्न मानकर काव्य के ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं किया। शुक्लजी कला कला के लिये सिद्धात के घोर विरोधी थे। उन्हें जहाँ कहीं ऐसा आभास मिला कि कोई कवि (चाहे वह पश्चिमी कवि रहा हो, चाहे रवींद्रनाथ ठाकुर रहे हो, चाहे हिंदी छायावादी कवि रहे हो) जगत् के प्रकृतिधर्म से विच्छिन्न होकर कला का निर्माण कर रहा है, वहाँ वे उसके पीछे पड़ जाते थे और उसकी लघुता महत्ता का निर्णय दिए बिना नहीं रह सकते थे।

आचार्य शुक्लकी इस निर्णयात्मक समीक्षादृष्टि का अनुगमन उनके अनुयायियो ने भी अपने अपने ढंग से किया। इनमें पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का नाम विशेषरूप से उल्लेख्य है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी आचार्य शुक्ल की ही तरह बड़ी दृढ़ता से कवियो और कृतियों की महत्ता और लघुता की घोषणा करते हैं। मिश्रजी और शुक्लजी के सिद्धातो में बड़ी ही अनुरूपता है। अतः इनके निर्णयो मे भी बड़ी अनुरूपता है।

ऐसा लगता है कि निर्णयात्मक समीक्षा अपने शुद्ध रूप में साहित्य के लिये बड़ी ही अपरिहार्य वस्तु है। मनुष्य किसी चीज की व्याख्या मात्र देकर चुप नहीं बैठ सकता। वह व्याख्या करने के बाद उस चीज की उपयोगिता अनुपयोगिता का निर्णय देना ही चाहता है। 'लेकिन वनस्पति शास्त्र के बबूल और गुलाब का जातिभेद बताने के बाद भी एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता रह जाती है जो

बतावे कि इन दोनो में से किसका नियोजन मानव जाति के कल्याण मे किया जा सकता है। उसी प्रकार समालोचक नहीं तो कोई और ही बतावे कि इस कवि से समाज को क्या लाभ या हानि है—अर्थात् समाज के लिये कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है? इस प्रकार की समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है।"[१] इसलिये भिन्न भिन्न समयो पर इस प्रकार की समीक्षा का चाहे कितना भी विरोध क्यो न हुआ हो लेकिन किसी न किसी प्रकार यह विद्यमान अवश्य रही है। छायावादी आलोचको ने निर्णयात्मक समीक्षा के विरोध मे अभ्यूहमूला (व्याख्यात्मक) आलोचना को खडा किया। इस प्रकार की आलोचना मे कवियो के प्रकार मे भेद किया जाता है, मात्रा मे नही। पं० नंददुलारे वाजपेयी ने अनुभूतियो मे छोटाई बड़ाई का भेद नही माना है। अनुभूतियाँ अनुभूतियाँ हैं, क्या छोटी क्या बड़ी। अनुभूतियाँ ही काव्य का चरम उपादान हैं और उन्हीं का अनुभव कराना काव्य का लक्ष्य। प्रकारातर से नैतिकता, सामाजिकता, उपयोगिता आदि तत्वो को वाजपेयीजी ने काव्य के लिये उपेक्षणीय तत्व माना है किंतु व्यवहार मे दिखाई पड़ता है कि वाजपेयीजी भी निर्णय से अपने को बचा नही पाए हैं। व्याख्या करने के साथ ही साथ वे कृति की उत्कृष्टता अपकृष्टता की ओर भी संकेत करते चले हैं। यद्यपि वाजपेयीजी ने यह घोषित किया कि 'काव्य का लक्ष्य तो होता है रसविशेष की प्रतीति या अनुभूति उत्पन्न करना। इस काव्यलक्ष्य को भूल जाने पर काव्य का समस्त कलात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार ढह पड़ता है।' तो भी इन्होने जैनेंद्र, अज्ञेय और भगवतीप्रसाद वाजपेयी की प्रधान औपन्यासिक कृतियों पर विचार करते समय इनकी व्यक्तिवादी कृतियो पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए सामाजिक नैतिकता का सवाल उठाया है और नित नवीन सामाजिक नैतिकता का (उसकी परंपरागत जीवंत पृष्ठभूमियो सहित) समर्थन किया है। इसी प्रकार आपने प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के मूल्यो का निर्णय दिया है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी तो सिद्धाततः भी व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा का संतुलन बनाए रखना आलोचना के लिये अनिवार्य मानते हैं। व्याख्या का संबंध विज्ञान से है अर्थात् किसी कृति का तटस्थ विवेचन। किंतु आलोचक मनुष्य है, और कृति मानवजीवन की अभिव्यक्ति। मानवजीवन निरुद्देश्य नहीं है, उसका उद्देश्य है महत्तर मूल्यो की प्राप्ति का प्रयास। साहित्य भी उसके प्रयास का एक प्रकार है। मनुष्य किसी भी कृति को अपने राग विराग,

[१] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य का साथी, पृ० १४७।

संस्कार या मान्यता से सर्वथा असंपृक्त होकर देख ही नहीं सकता, अतः आलोचक साहित्य की व्याख्या करने के बाद उसके मूल्यो की परीक्षा करता है और करना भी चाहिए। लेकिन खतरा वहाँ पैदा होता है जहाँ आलोचक युग के अनुरूप परिवर्तित मान्यताओं के स्थान पर किसी रूढ़ मान्यता या अपनी झक को मूल्यांकन का आधार बना बैठता है। द्विवेदीजी जीवन को बड़े ही व्यापक परिवेश में देखने के पक्षपाती हैं। विज्ञान, मनोविज्ञान और सौंदर्य-बोध के सत्यो पर आधारित मानवतावाद और सामाजिकता के आदर्शों की स्वीकृति द्विवेदीजी की समीक्षाओं में है। इसी उदात्त और व्यापक मानव-मंगल का स्वर द्विवेदीजी साहित्यिक कृतियो में भी खोजते हैं। साहित्य के निर्माण मे सहायक मूलभूत तत्वो और उनसे प्रतिभासित होनेवाली सौंदर्य-प्रतीति तथा मानव की जिजीविषा को द्विवेदीजी मूल्यनिर्णय का आधार बनाते हैं। मनुष्य की सौंदर्यभावना तथा जीने की निष्ठा को जगानेवाली कृति अपने उद्देश्य में महान् है। द्विवेदीजी ने किसी रूढ़ या साम्प्रदायिक जीवनादर्श को न अपनाकर सत्यसंवलित, गतिशील और व्यापक जीवनादर्श को स्वीकार किया है। इसी लिये वे तुलसी, कबीर, सूर तथा अन्य नए पुराने कवियो (जिनमें अलग अलग ढंग से और अलग कोटि के जीवन मूल्य व्यक्त हुए हैं, किंतु वे सभी मूलतः मानव की जीवन के प्रति निष्ठा को दृढ़ करते हैं) सभी को न्याय दे सके हैं, सबके मूल्यो को पहचान सके हैं।

छायावाद के कवि आलोचको ने (विशेषतया पंत और निराला ने) भी मूल्यों का निर्णय दिया है। पंतजी स्पष्टतः विकासशील जीवन की गति पहचानने-वाले कवि रहे हैं। छायावाद की तुलना में रीतिकालीन कविता या रीतिकालीन कविता की तुलना में छायावादी कविता का मूल्यांकन किया है। कवि ने रीति-कालीन कविता की प्रवृत्तियो की व्याख्या मात्र नही की, बल्कि उनपर अपना निर्णय भी दिया है। निरालाजी ने पंत की कविताओं की विवेचना करते हुए उनकी साहित्यिक उपलब्धियो संबंधी मूल्यो का निर्णय दिया है। और मुझे तो ऐसा लगता है कि साहित्य मे व्याख्या और निर्णय को सर्वथा अलग किया ही नहीं जा सकता। निर्णय का स्वर व्याख्या के भीतर से उभर ही आता है। इसी लिये निर्णयात्मक समीक्षा का स्वर व्याख्यात्मक समीक्षा का चरम विकास हो जाने पर भी छूटा नही। प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी, स्वच्छंद रूप से लिखी जानेवाली तथा आज की पत्र पत्रिकाओं मे प्रकाशित आलोचनाओं में निर्णय का स्वर धूमिल नहीं हुआ है। हाँ, इन भिन्न भिन्न प्रकार की आलोचनाओं में लक्षित होनेवाला निर्णय का स्वर आलोचक की वैयक्तिक रुचि, संस्कार या जिस किसी विचार-संस्था से वह संबद्ध है उसके सिद्धांत और उसकी साहित्यिक समझदारी के

अनुसार विभिन्न रूपो में दिखाई पड़ता है। यह निर्णयात्मक स्वर संस्कृत की, रीतिकाल की या द्विवेदीकाल की कुछ निर्णयात्मक समीक्षाओं के गुणदोष निराकरण पर आधारित नहीं है, सूक्तियो या प्रशंसा, निंदा के रूप मे नही हैं, बल्कि कृति की वस्तुगत व्याख्या के भीतर से फूटता है।

व्याख्यात्मक समीक्षा

व्याख्यात्मक समीक्षा समीक्षा का उत्कृष्टतम रूप है। इसे अंग्रेजी मे इंटरप्रिटेटिव क्रिटिसिज्म कहते हैं। राजशेखर ने इसी को तत्वाभिनिवेशी आलोचना कहा है। व्याख्यात्मक समीक्षा निर्णयात्मक समीक्षा के विरोध मे खडी हुई। निर्णयात्मक समीक्षा रूढ़ शास्त्रीय नियमो के आधार पर साहित्य के मूल्यो का निर्णय देती रही है, परतु यह निर्णय साहित्य की प्रगति मे बाधक बन जाता है। साहित्य सर्जन के मूल मे शास्त्रीय नियम नही होते, बल्कि मानवजीवन की अनुभूतियाँ, प्रतीतियाँ, छवियाँ होती है जो सर्जक के व्यक्तित्व के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती हैं। साहित्यसर्जन एक संश्लिष्ट व्यापार है। उसमे युग, परिवेश, इतिहास, सर्जक का व्यक्तित्व, चिंतन, अनुभव आदि अनेक तत्व काम करते हैं। साहित्यशास्त्रों के नियमन से सर्जित होनेवाला साहित्य निर्जीव होता है। अतः शास्त्रानुशासन को ही स्वीकारकर चलनेवाली निर्णयात्मक समीक्षा सदैव उच्च साहित्यसृष्टि का अवरोधक रही है—साहित्य की मूल प्रेरणाओं की उपेक्षा करनेवाली। व्याख्यात्मक समीक्षा साहित्य की मूल प्रेरणाओं को समझती है। उसका मुख्य उद्देश्य होता है कृति को उसके वास्तविक रूप मे देखना परखना। कृति को समझने के लिये आलोचक उसके युग, समाज, लेखक के व्यक्तित्व, कृति के मूल उद्देश्य को समझता है। आलोचक अपने रूढ़ सिद्धात, वैयक्तिक रुचि, पूर्वग्रह, आसक्ति या विरक्ति, भावुकता या कठोरता का भाव लेकर कृति के पास नही पहुँचता, बल्कि वह उसका शुद्ध अध्येता होकर पहुँचता है और कृति को उसके समस्त परिवेश मे समझता है और उसका मूल्य आँकने के लिये उसी के भीतर से आधार खोज निकालता है। यो व्याख्यात्मक समीक्षा में मूल्य आँकना आवश्यक नहीं, वह तो किसी कृति मे सर्जित भावलोक की छवियो का उद्घाटन करती है। व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकारभेद स्वीकार करती है। उसकी सीमाओं और उपलब्धियो की व्याख्या कर पाठकों को कवि की मूल अनुभूति का अनुभव करने की सुविधा निर्मित करती है। स्पष्ट है कि यह कार्य करने के लिये अलोचकों को कृति के साथ ऐक्य स्थापित करता पड़ता है।

निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक समीक्षा मे तीन भेद बताए गए हैं—
(१) निर्णयात्मक आलोचना उत्तम, मध्यम, निकृष्ट श्रेणियों का भेद स्वीकार करती है। वह विज्ञान की भाँति वर्गभेद तो मानती है किंतु ऊँच नीच के

भेद मे उसे विश्वास नहीं। व्याख्यात्मक आलोचना भिन्न भिन्न प्रकार की रचनाओ की विशेषता बता देगी, ऊँच नीच का भेद नही करेगी। (२) निर्णयात्मक आलोचना नियमो को राजकीय नियमो की भाँति किसी अधिकार से प्राप्त हुआ मानती है और उसका पालन करना अनिवार्य समझती है, किंतु व्याख्यात्मक आलोचना उन नियमो को किसी बाह्य अधिकारी द्वारा नहीं, वरन् अपनी ही प्रकृति के नियम मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना कवि या कलाकार की अपनी सृष्टि की विशेषताएँ स्वीकार करती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे निर्जीव पत्थर की कसौटी पर कसना चाहती है। (३) निर्णयात्मक आलोचना नियमों को स्थिर और अपरिवर्तनशील मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानती है।

हिंदी में व्याख्यात्मक आलोचना का सर्वप्रथम प्रौढ़रूप दिखाई पड़ता है आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचनाओ में। किसी भी कृति की समीक्षा करने के लिये उसके उचित परिवेश को उसकी मूल प्रेरणा को, उसके उद्देश्य को, उसके काव्यत्व को समझना होता है। पुराने मानदंडो के स्थान पर कृति के भीतर से नए मानदंड निर्धारित करने पड़ते हैं। शुक्लजी व्याख्यात्मक समीक्षा के प्रौढ़ आलोचक हैं। उनके सामने मुख्य रूप से कृति रहती है। वे किसी कृति के पास अपने दुराग्रह या रूढ़ सिद्धांत लेकर नहीं पहुँचते। कृति का गहरा मनन और अध्ययन करने के पश्चात् वे देखना चाहते हैं कि वह मानवजीवन के मार्मिक स्थलो या गहरी संवेदनाओ को रूपायित कर सकी है या नही? कहीं फैशनवश तो नहीं लिखी गई है? किसी भी कृति की भावात्मक या संवेदनात्मक गहराई तक पहुँचने में शुक्लजी की दृष्टि धोखा नही खाती, क्योकि उनकी रसज्ञता बड़ी ही उच्चकोटि की है। वे हर प्रकार के काव्य के मर्म में प्रविष्ट होकर उसकी भावछवि को पा लेते हैं। किसी भी कृति की समीक्षाके समय उनकी रसज्ञता, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व की पकड़ और वैज्ञानिक विश्लेषण का दिव्य स्वरूप लक्षित होता है। शुक्लजी रसग्रहण और वैज्ञानिक विश्लेषणतकक ही नही रुकते, वे मूल्याकन भी करते चलते हैं। वे रसग्रहण और वैज्ञानिक विवेचन के लिये कृतिकार के उचित परिवेश का निर्माण करते हैं। वे देखते हैं कि कृति किस काल की है, किस समाज की है, कृतिकार किस दार्शनिक, धार्मिक और साहित्यिक संप्रदाय का है, कृतिकार के जीवन में कौन कौन सी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी थीं जिनका प्रभाव उसकी कृतियो में प्रतिबिंबित हुआ है, किंतु मूल्याकन वे समय के अपने प्रतिमान को सामने रख देते हैं। अतः कृतियो के भावग्रहण और विश्लेषण मे शुक्लजी बहुत ही तटस्थ और प्रौढ़ दीखते हैं, पर मूल्याकन के समय उनकी वैयक्तिक रुचि या नैतिकता बीच में आ जाती है। यो कृतियों की स्वच्छंद रसात्मकता को भी शुक्लजी बहुत अधिक मूल्य देते हैं, लेकिन दो कवियो के तारतम्यनिरूपण के समय रसात्मक

होने के साथ ही साथ लोकमंगल की भावना से पूर्ण कृति को विशेष महत्व देते हैं ।

शुक्लजी की सूक्ष्म मौलिक दृष्टि कृतियो की मौलिकता और नवीन उद्भावनाओ को बड़ी सफाई से पकड़ लेती है और उनका विवेचन करने मे नही चूकती। उनकी एक बहुत बड़ी विशेषता है मनोविकारो के सूक्ष्म सूक्ष्म रूपो और उनके भेदो को समझना। आचार्यों ने जितने मनोविकार गिनाए हैं उनसे अधिक भाव भी हो सकते हैं। शुक्लजी स्थान स्थान पर उन्हे पहचानकर उनका निर्देश करते हैं; जैसे तुलसी के—

'बाँधे जलनिधि नीर निधि, जलधि सिंधु वारीस।
सत्य तोयनिधि, कंपती, उदधि, पयोधि नदीस।'

दोहे मे चकपकाहट का भाव बताया है जो पूर्व गणित भावो से थोड़ा सा भिन्न है।

शुक्लजी किसी मार्मिक बात को पकड़कर सामान्य सिद्धातनिरूपण भी करने लगते हैं। या किसी कवि के किसी कथन को सिद्ध करने के लिये किसी सामान्य सिद्धात की चर्चा करने लगते हैं।

यो तो हिंदी साहित्य का इतिहास लिखते समय शुक्लजी ने हिंदी साहित्य के समस्त कवियो और लेखको की कृतियो का विवेचन किया है, किंतु मुख्य और विशद रूप से तुलसी, सूर और जायसी का अध्ययन प्रस्तुत किया है। तीनो कवियो के मूल प्रेरणा स्रोतो, उनके काव्य के स्वरूप, उनकी भावात्मक गहराई और व्यापकता की मार्मिक व्याख्या की है। जो काव्य जीवन के जितने ही मर्मस्पर्शी स्थलो और मानवीय संवेदनाओ को चित्रित करने मे समर्थ हुआ है वह उतना ही प्रभावकारी और उच्चकोटि का काव्य बन पड़ा है। तुलसी और जायसी प्रबंध काव्यकार थे यानी उनकी कीर्ति का स्तंभ उनके प्रबंध काव्य ही हैं। अतः शुक्लजी ने इन्हे प्रबंध काव्यकार के रूप मे देखने और इनकी कृतियो (रामचरित मानस और पद्मावत) में प्रबंध काव्य की विशेषताएँ खोजने का प्रयत्न किया है। प्रबंध काव्य अपने स्वभाव से ही जीवन के अनेक मार्मिक प्रसंगो को समेटने और रस की धारा बहाने मे समर्थ होता है। उनमे रससिद्धि के साथ ही साथ जीवनव्यापार का साधनात्मक पक्ष भी लक्षित होता है। सूरदास गीत-कवि हैं। गीत कविता का अपना रसात्मक रूप होता है। सूरदास की विवेचना शुक्लजी ने गीतकवि के रूप मे की है, और गीतकवि के रूप में उन्हे प्राप्त होनेवाली भावात्मक उपलब्धियो का विश्लेषण करने मे शुक्लजी कहीं चूके नहीं हैं। शुक्लजी की रसमग्नता अवसर पाकर उभर उठती है, लेकिन उनकी जीवनसंबंधी दृष्टि मूल्याकन के अवसर पर सामने आ जाती है। इसलिये सूरदास, कबीर, रीतिकाल के स्वच्छंद कवियो, छायावादी कवियो

के भावसौंदर्य के उन्मुक्त प्रशंसक होकर भी उन्हें प्रबंध काव्यकारों के सामने थोड़ा छोटा ही मान बैठते हैं। कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने सुंदर का शिव के साथ जितना गहरा संबंध जोड़ा है उतना सत् के साथ नहीं। शुक्लजी के पूर्ववर्ती और समकालीन डा० श्यामसुंदर दास की व्याख्यात्मक समीक्षाओं में अधिक उदारता दिखाई पड़ती है। बाबू साहब ने भी कृति के मूल्यांकन के लिये कृति को प्रभावित करनेवाले तत्कालीन परिवेश का उचित विश्लेषण किया और उस परिवेश के बीच उस कृति की सीमाओं और उपलब्धियों का विवेचन किया। बाबू साहब में व्याख्यात्मक आलोचना की तटस्थता शुक्लजी की अपेक्षा अधिक विकसित रूप में दृष्टिगोचर होती है किंतु शुक्लजी की सी रसग्राहिता एवं गहन विश्लेषणक्षमता नहीं दिखाई देती। बाबू साहब ने शुक्लजी की अपेक्षा साहित्यकार की वैयक्तिकता का अधिक आदर किया। साथ ही साथ उसकी कृति को सामाजिकता के संदर्भ से भी विच्छिन्न देखना नहीं चाहा, अर्थात् वे सर्वत्र एक प्रकार का समन्वय स्थापित करना चाहते रहे। इसलिये वे साहित्य में सामाजिकता के समर्थक होकर भी शुक्लजी की तरह एक प्रकार की नैतिकता को साहित्य के लिये सर्वथा अपरिहार्य वस्तु नहीं मानते थे। अतः इनका मानदंड शुक्लजी की अपेक्षा अधिक साहित्यिक था। इसी लिये ये कबीर और छायावादी कवियों के साथ अधिक न्याय कर सके। इनकी व्यावहारिक आलोचना सिद्धांततः व्याख्यात्मक आलोचना की प्रकृति के अधिक अनुकूल है, किंतु शुक्लजी की सी मर्म छवियों के उद्घाटन की शक्ति और रसग्राहिता इनमें नहीं हैं। 'हिंदी साहित्य' इनका इतिहास ग्रंथ है और 'गोस्वामी तुलसीदास' तथा 'कबीर ग्रंथावली' स्वतंत्र आलोचनात्मक पुस्तकें।

श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी हिंदी पाठकों के समक्ष देश और विदेश की विविध साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत की। श्रीबख्शी की आलोचनाएँ जितनी परिचयात्मक हैं उतनी विश्लेषणात्मक नहीं। 'विश्व साहित्य' और 'हिंदी साहित्य विमर्श' इनकी व्याख्यात्मक समीक्षा संबंधी दो पुस्तकें हैं। व्याख्यात्मक प्रौढ़ता के अभाव में भी इनकी आलोचनाओं का तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए महत्व स्वीकारना ही पड़ेगा।

शुक्लपरंपरा के समर्थ आलोचक हैं—बाबू गुलाबराय, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं० चंद्रबली पांडेय, श्रीलक्ष्मीनारायण सुधांशु, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, डॉ० सत्येंद्र। बाबू गुलाब राय ने भी डा० श्यामसुंदर दास की तरह उदार समन्वयवादी दृष्टि अपनाई है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' तथा 'प्रसादजी की कला' में उनकी आलोचना का यही उदार स्वरूप दिखाई पड़ता है। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने 'हिंदी गद्यशैली का विकास' और 'प्रसाद के नाटकों

का शास्त्रीय अध्ययन' में संबद्ध कृतिकारो की मूल प्रवृत्तियो, दृष्टियों, भावसंपत्ति और शैली का तटस्थ विश्लेषण किया है। प्रसाद के नाटको को लेखक ने प्रसाद की दृष्टि के आलोक मे देखा है। साथ ही साथ नाटको की मूल प्रकृति से प्रसाद के नाटको की प्रकृति कहाँ अलग है, कहाँ समान है, इसे भी परखा है, अर्थात् प्रसाद कितने शास्त्रीय हैं कितने मौलिक, इसकी व्याख्या लेखक ने सम्यक् रीति से की है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने घनानंद, बिहारी और भूषण के काव्य की गंभीर व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। मिश्रजी लाला भगवानदीन की टीकापद्धति और आचार्य शुक्ल की विश्लेषणपद्धति दोनो से प्रभावित हैं। अतः जहाँ ये एक ओर नए पुराने कवियो के काव्य के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करते चलते हैं वहीं उनका गहन विश्लेषण भी प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं। मिश्रजी ने आलोच्य कृतिकारों की कृतियो को परंपरा और सामयिक प्रवृत्ति दोनो के परिपार्श्व में रखकर उनका सौंदर्य उद्घाटित किया है। पं० चंद्रबली पांडेय की 'तुलसीदास', 'हिंदी कविचर्चा' और 'केशवदास', पं० कृष्णशंकर शुक्ल की 'कविवर रत्नाकर' और 'केशव की काव्यकला', डा० सत्येंद्र की 'गुप्तजी की काव्यकला', 'प्रेमचंद और उनकी कहानीकला', 'हिंदी एकांकी', 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' आदि पुस्तकें आचार्य शुक्ल की परंपरा की समीक्षा का रूप प्रस्तुत करती हैं।

स्वच्छंदतावादी (छायावादी), प्रगतिवादी और मनोविश्लेषण प्रभावित समीक्षकों की व्यावहारिक समीक्षाओ को भी व्याख्यात्मक समीक्षा के ही अंतर्गत लेंगे। इन अलग अलग विचारसंप्रदायो के आलोचको ने साहित्यसृजन की प्रेरणाओ को भिन्न-भिन्न रूपो में देखा है और उनकी व्यावहारिक समीक्षा करते समय इन आलोचको ने उनके मूल प्रेरणा स्रोतो और उद्देश्यो पर विचार किया है और वस्तुगत दृष्टि से इनके सौंदर्यबोध, भावलोक और अन्य उपकरणो की व्याख्या की है। ये समीक्षाएँ मूल्यांकन के समय भले ही अपने अपने प्रतिमानो को सामने लाकर उत्कृष्टता अपकृष्टता का निर्णय करती हो किंतु व्याख्या के समय बौद्धिक निस्संगता बनाए रखने का प्रयास करती हैं। कृतिकारो के विचारो के आलोक मे उनकी कृतियो की मूल प्रेरणाओ और उनमें प्रतिबिंबित साहित्यिक छवियो की मार्मिक व्याख्या करने में नहीं चूकतीं।

छायावादी या स्वच्छंदतावादी आलोचको में प्रमुख हैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', डा० रामकुमार वर्मा। कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी को छायावाद की सीमा में ठीक ठीक बाँधना कठिन है, उनमें अन्य विचारपरंपराओ का भी अद्भुत संयोग है। कबीर' और 'सूर साहित्य' मे द्विवेदीजी ने इन दोनो महाकवियो की मौलिक शक्तियो, काव्यप्रतिभाओ, विषयवस्तुओ और शैलीसौंदर्य

के विवेचन के साथ साथ उन संप्रदायों, सामाजिक और पारिवारिक स्थितियों, परंपराओं और भक्ति के स्वरूपों की व्यापक परीक्षा की है जो इन दोनों कवियों की कृतियों पर प्रभाव डाल रही थीं। द्विवेदीजी पुराने साहित्य के पंडित तो हैं ही, साथ ही साथ नवीनता में सतत विश्वास करनेवाले हैं। अतः वे नए और पुराने सभी ग्रंथों पर पांडित्यपूर्ण और पूर्वग्रहहीन राय दे पाते हैं। ये रूढ़िवादी पंडितों की तरह साहित्य को पुराने सिद्धांतों या शाश्वत प्रवृत्तियों की ही कसौटी पर न कसकर उसे युगसंभूत चेतनाओं, सामाजिक संबंधों और उसे प्रभावित करनेवाली सारी सामाजिक उपलब्धियों के आलोक में परखते हैं। गंभीर से गंभीर वैज्ञानिक विवेचन और सहृदयसुलभ रसमयता शुक्लजी के बाद अपने उन्नत रूप में किसी में दिखाई पड़ी तो द्विवेदीजी में। द्विवेदीजी में उच्चकोटि का समन्वयवाद है अर्थात् संतुलन है। संतुलित दृष्टिकोण एकांगी दृष्टियों की अतिवादिता से विनिर्मुक्त और इन सबमें पाई जानेवाली सचाई पर आधारित समग्र दृष्टि है। इसी लिये द्विवेदीजी की व्याख्यात्मक आलोचनाओं में छायावादी दृष्टि की भावतरलता, अनुभूतिगत गहराई पर बल देने की प्रवृत्ति, वैज्ञानिक दृष्टि की गहन विश्लेषणक्षमता, ऐतिहासिक आलोचना की शोधमूलक जिज्ञासा, समाजवादी आलोचना की सामाजिक सौंदर्यभावना और यथार्थोन्मुखता आदि सभी का संतुलित स्वरूप दिखाई पड़ता है। 'कबीर' और 'सूर साहित्य' के अतिरिक्त 'अशोक के फूल', 'कल्पवृक्ष' तथा 'विचार और वितर्क' में व्याख्यात्मक समीक्षासंबंधी कुछ उच्चकोटि के निबंध संगृहीत हैं।

छायावादी समीक्षादृष्टि का शुद्ध उन्मेष दिखाई पड़ता है पं० नंददुलारे वाजपेयी की आलोचनाओं मे। वाजपेयीजी ने कवियों और लेखकों की मूल वृत्तियों को पहचानकर अनुभूतियों के आधार पर उनकी व्याख्या की है। जिन कवियों पर वाजपेयीजी ने विचार किया है उनमें से अधिकांश पर शुक्लजी भी विस्तार से विचार कर चुके थे। लेकिन शुक्लजी अपनी मार्मिक पकड़ और सुस्पष्ट व्याख्या के बावजूद अपने कुछ पूर्वग्रहों के कारण रचनाओं के मूल उद्गम स्रोतों तक न जाकर उन्हें पाश्चात्य अनुकरण मान बैठे। वाजपेयीजी ने उन्हें अपने देश और समय के आंदोलनों से संबद्ध करके देखा। उनमें व्यक्त रहस्यवादिता की वैज्ञानिक व्याख्या की। इन कविताओं में व्यक्त कला के, सौंदर्यबोध के, अनुभूतियों के, अभिव्यक्तियों के, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतनाओं के नवीन स्वरूपों को देखा। इस प्रकार वाजपेयीजी ने आधुनिक हिंदी काव्य की विकासधारा के स्वाभाविक क्रम का मार्मिक विवेचन किया और इन सभी कवियों के व्यक्तिगत विकासक्रमों को भी निर्धारित किया।

वाजपेयीजी ने वैसे तो पुराने कवियों की कविताओं की भी मार्मिक व्याख्याएँ कीं, किंतु उनका विशेष क्षेत्र रहा आधुनिक काल। आधुनिक काल के

अलग अलग वादो के कवियो और लेखको के सर्जन के मूल में कार्य करनेवाली प्रेरणाओ और शक्तियो का वस्तुगत विश्लेषण किया और अनुभूति तथा संवेदना की सघनता और सच्चाई को काव्य का मूल मर्म स्वीकारकर इन कृतियो का मूल्य परखा। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य नए प्रश्न' मे आधुनिक प्रवृत्तियो और साहित्यकारो की समीक्षा से संबद्ध अनेक निबंध हैं। इन निबधो के अतिरिक्त 'जयशंकर प्रसाद', 'प्रेमचंद' और 'महाकवि सूरदास' नामक स्वतंत्र समीक्षापुस्तकें भी इन्होने लिखी है।

डा० नगेंद्र की दृष्टि में आलोचक एक विशेष रसग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्वसुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सच्चाई और सफाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा। डा० नगेंद्र ने अपनी आलोचनाओ मे इस दायित्व का सुंदर निर्वाह किया है। डा० नगेंद्र में कई प्रकार की विशेषताओ का सम्यक् समन्वय दीखता है। एक ओर तो वे मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित होकर यह स्वीकार करते हैं कि कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा होती है और चूँकि आत्मा के निर्माण मे कामवृत्ति का और अतृप्तियो का योग है, अतः इस प्रेरणा मे उनका विशेष महत्व भी मानना अनिवार्य है। दूसरी ओर वे उपयोगिता का व्यापक अर्थ लेकर आत्माभिव्यक्ति में ही उसका समावेश करके उपयोगिता का तथा बाह्य परिस्थितियो का महत्व भी स्वीकार करते हैं। लेकिन पहले के सामने इसे अत्यंत गौण स्थान देते हैं। तीसरी ओर समस्त प्राचीन साहित्याचार्यों के विचारो की निधि ग्रहणकर उनके आधार पर शास्त्रीय ढंग के विचारक हो उठते हैं। चौथी ओर वे छायावाद के काव्यलालित्य और स्वच्छंद वृत्ति से प्रेरित होकर प्रभाववादी समीक्षा का स्पर्श अपनी आलोचना में देते चलते हैं। इस प्रकार ये अनेक तत्वो के संयोग डा० नगेंद्र की समीक्षापद्धति को अधिक साहित्यिक रूप दे देते हैं। 'देव और उनकी कविता' डा० नगेंद्र की व्यावहारिक समीक्षासबंधी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक है। लेखक ने बड़े गभीर अध्ययन और मनन के आधार पर देव साहित्य का सर्वांगीण विवेचन किया है। डा० नगेंद्र शास्त्रीय विवेचन का मार्ग अपनाए रखते हैं, इससे वे अस्पष्ट से अस्पष्ट विषय को भी सुलझाकर रख सकने में समर्थ होते हैं। यह शास्त्रीय पद्धति डा० नगेंद्र की ललित शैली के कारण एक ओर विषयबोध और भावबोध को स्पष्ट करती है और दूसरी ओर साहित्यिक सरसता की सृष्टि करती है। डा० नगेंद्र के कुछ ऐसे भी निबंध हैं जिनमे इन्होने काव्यात्मक और नाटकीय वातावरण की सृष्टि करके सरल और रोचक ढंग से गंभीर से गंभीर बात कहने की चेष्टा की है। 'यौवन के द्वार पर', 'साहित्य की प्रेरणा', 'हिंदी उपन्यास,' 'वाणी के न्याय-

मंदिर में' आदि निबंध इसी प्रकार के हैं। 'आधुनिक हिंदी नाटक', 'सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत : एक अध्ययन' इनकी मुख्य समीक्षापुस्तकें हैं। 'विचार और अनुभूति' में व्याख्यात्मक समीक्षासंबंधी निबंध संगृहीत हैं।

पं० शांतिप्रिय द्विवेदी प्रभाववादी समीक्षक के नाम से प्रख्यात हैं, किंतु इनके कुछ आलोचनात्मक निबंध ऐसे भी हैं जो ललित शैली में कृतिविशेष या कृतिकारविशेष की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। शातिप्रियजी छायावाद को नवीन वस्तु मानकर स्वच्छंद ढंग से उसकी आलोचना के पक्षपाती हैं। इसलिये इनके विचारप्रधान निबंधों में भी शास्त्रीय क्रमबद्धता के स्थान पर उड़ती हुई स्वच्छंदता दिखाई पड़ती है। एक बात को छूकर दूसरी बात पर निकल जाना इनकी प्रकृति है। आलोचनाओं में भी सूत्रात्मक सूक्तियों से काम लेना इन्हें पसंद है। लेकिन इनके कुछ निबंध ऐसे अवश्य हैं जिनमें लेखक भावनिष्ठ की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ हो गया है और वह अपनी सूझबूझ तथा मार्मिक पकड़ का परिचय दे गया है। शुक्लजी का कृतित्व' (सामयिकी), 'प्रेमचंद और गोदान' (युग और साहित्य) निबंध तथा 'ज्योति विहग' और 'प्रतिष्ठान' पुस्तकें शातिप्रियजी की व्याख्यात्मक समीक्षा का परिचय देनेवाली महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

निरालाजी का 'पंत और पल्लव' तथा 'मेरे गीत और कला' निरालाजी की कलामर्मज्ञता के परिचायक निबंध हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' मे कबीर के काव्य की सागोपांग विवेचना की है।

प्रगतिवादी आलोचकों ने कृतियों का विश्लेषण समाजशास्त्रीय आधार पर किया है। साहित्य का भावबोध, सौंदर्यबोध सामाजिक यथार्थ से संपृक्त रहता है। वास्तव में सामाजिक यथार्थ से घनिष्ठ परिचय होने पर ही साहित्य का भाव और सौंदर्यबोध उच्चकोटि का हो सकता है। जीवित यथार्थ से, लोकजीवन से संबद्ध साहित्यकार की ही कृति सशक्त और जीवंत होती है तथा मृत यथार्थ या शोषक वर्गों की व्यक्तिवादी, अहंवादी शोषक संस्कृतियों और जीवनसत्यों से निर्मित होनेवाला साहित्य ह्रासोन्मुख होता है, अपनी बाहरी साजसज्जा, चमक-दमक और गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के बावजूद निर्जीव और अशक्त होता है। प्रगतिवादी आलोचकों ने आलोचना की व्याख्यात्मक गहनता और वस्तु-वादी विश्लेषणशीलता को एक नई दिशा दी। इन्होंने विभिन्न प्रकार के प्रेरणा-स्रोतों से निर्मित होते हुए साहित्य के भावसौंदर्य, अनुभूति और विचार का विश्लेषण किया, किंतु साहित्य के मूल्य का निर्धारण उनके सामाजिक और असामाजिक स्वरों के आधार पर किया। कहीं-कहीं यह सामाजिकता का आग्रह इतना प्रबल हो गया कि अनुभूति की गहनता के दृष्टिकोण से उन्नत से उन्नत कृतियाँ अपकृष्ट मान ली गईं। ऐसे अवसरों पर आलोचना का

स्वर साहित्यिक की अपेक्षा सामाजिक हो गया। लेकिन प्रगतिवाद की स्वस्थ व्याख्यात्मक आलोचना ने कुंठा, जड़ता और व्यक्तिवाद के घेरे में बंदी होकर निर्जीव होते हुए साहित्य को सामाजिक जीवन के यथार्थ की ओर उन्मुख किया। साहित्यिक सौदर्य को नया आयाम दिया।

श्रीशिवदान सिह चौहान प्रगतिवादी आलोचकों में अधिक सुलझे हुए आलोचक हैं। लेकिन इन्होने जितना साहित्य के सिद्धातपक्ष पर लिखा है उतना व्यवहारपक्ष पर नहीं। फिर भी इनकी 'प्रगतिवाद' तथा 'साहित्य की परख' पुस्तको में व्याख्यात्मक समीक्षा का पुष्ट रूप लक्षित होता है। श्रीचौहान ने इन पुस्तको में श्रीसुमित्रानदन पंत, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर और रामचंद्र शुक्ल की मूल प्रवृत्तियो का वस्तुगत विश्लेषण किया है।

डा० रामविलास शर्मा ने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में बहुत अधिक काम किया है। नए और पुराने सारे साहित्यकारो के साहित्य की व्याख्या करते समय तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और उसके प्रभाव की मीमासा डा० शर्मा ने बडी सफाई से की है। जिन नए पुराने साहित्यकारो ने अपने समय की जनता के जीवन को तत्कालीन विकसित मानवतावादी दृष्टिकोण से देखा और अंकित किया वे निश्चय ही क्रातिकारी कवि हैं। प्रगतिवाद वर्तमान चेतना का आरोप प्राचीन साहित्य पर नही करना चाहता वरन् प्राचीन काल की सामाजिक चेतना की ही खोज उसमे करना चाहता है। इसी लिये डा० शर्मा ने तुलसी, भूषण, भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला आदि कवियो को क्रातिकारी कहा है। 'प्रेमचंद और उनका युग', 'प्रेमचंद', 'भारतेंदु युग', 'निराला', 'रामचंद्र शुक्ल विभिन्न लेखको पर लिखी गई इनकी पुस्तके हैं। इनके अतिरिक्त 'शरत्चंद्र चटर्जी', 'नजरूल इस्लाम', 'शेली और रवींद्रनाथ', 'स्व० बलभद्र दीक्षित पढ़ीस', 'भूषण का वीर रस', 'आई० ए० रिचार्डस् के आलोचनासिद्धात', 'अनामिका और तुलसीदास', 'हिंदी साहित्य पर तीन नए ग्रंथ', 'देशद्रोही', 'अहं का विस्फोट', 'सतरंगिनी', 'बच्चनजी का नया प्रयोग', 'कुप्रिन और वेश्याजीवन' आदि इनके फुटकर लेख हैं जो 'संस्कृति और साहित्य' में संग्रहीत हैं। शर्माजी व्याख्यात्मक आलोचना की पूरी शक्ति धारण करते हुए भी अनेक स्थलो पर तटस्थ नहीं रह सके हैं। वे कही कहीं निंदा और स्तुति के अलग अलग मार्ग पकड़ लेते हैं।

श्रीप्रकाशचंद्र गुप्त इस परंपरा के सबसे उदार आलोचक हैं। नए नए लेखको की कृतियो को प्रोत्साहित करने में ये सबसे आगे हैं। परंतु इनकी उदारता मे व्याख्यात्मक गहनता और वैज्ञानिक तटस्थता के स्थान पर लेखको को प्रश्रय देने की भावना काम करती है। कभी कभी तो ह्रासशील कवियो को भी प्रगतिशील मान

कर उन्हें प्रगति की कसौटी पर कसने लगते हैं और कभी कभी सतही प्रगतिशीलो को प्रतिनिधि, सच्चा साहित्यकार मानकर उन्हें अधिक मान दे बैठते हैं।

मनोविश्लेषणात्मक आलोचना कृतियो के सर्जन की मूल प्रेरणा अचेतन में स्थित दमित कामवासनाओ को या क्षतिपूर्ति को या जीवनेच्छा को मानती है। वह साहित्य को सामाजिक की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक मानती है, अर्थात् ऐसी आलोचना कृति को अचेतन की दमित वासना की अभिव्यक्ति मानती है। यह सर्जन किसी सामाजिक दायित्व के दबाव के कारण नही होता। यह स्वातः सुखाय होता है। इसका मूल उद्देश्य है अहेतुक आनंद प्राप्त करना। मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित आलोचको ने अपने अपने ढंग से प्रत्येक कृति के मूल में प्रेरणास्वरूप कार्य करनेवाली कृतिकार की व्यक्तिगत वासनाओ का विश्लेषण किया है और इस प्रकार की आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा (जिसमें कामवृत्ति का प्राधान्य है) से प्रेरित साहित्य को सच्चा साहित्य माना है। जहाँ इन आलोचको को साहित्य के मूल में कोई सामाजिक या अन्य प्रकार की तथाकथित बाहरी प्रेरणा काम करती दिखाई पड़ी है उस साहित्य को ये आलोचक उच्चकोटि का साहित्य नही मान सके हैं।

श्रीइलाचंद जोशी ने जिन रचनाओ में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का चित्रण देखा है उन्हें ऊँचा स्थान प्रदान किया है। ये मनोविश्लेषण या व्याख्या की शक्ति से संपन्न होकर भी अपनी एकांगी दृष्टि के नाते अन्य प्रकार के प्रेरणा स्रोतोवाले साहित्य की वास्तविक छवियो का उद्घाटन नहीं कर पाते। इसी लिये ये या इनके समान अन्य आलोचक प्रगतिवाद और छायावाद के सौंदर्य का उचित विश्लेषण नहीं कर सके। 'भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता', 'छायावादी तथा प्रगतिपंथियो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण', 'उन्नीसवीं शताब्दी और उसके बाद का उपन्यास साहित्य', 'आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण', 'आधुनिक कथा-साहित्य का क्रमविकास और नई दिशा', 'हिंदी आलोचना साहित्य का भविष्य', 'महादेवीजी का आलोचनासाहित्य', 'चिरयुवा और चिरजीवी रवींद्रनाथ', 'मेघदूत रहस्य', 'मानवधर्मा कवि चंडीदास', 'कामायनी', 'शरत्चंद्र की प्रतिभा' आदि निबंध इनकी व्याख्यात्मक समीक्षा की शक्तियो, सौंदर्यों और सीमाओ से पूर्ण निबंध हैं।

इन विशेष विचारपरंपराओ से प्रभावित आलोचको के अतिरिक्त कुछ ऐसे आलोचक भी हैं जिन्होने स्वच्छंद दृष्टि से समीक्षाएँ लिखी हैं, अपने काल तक की विकसित समस्त उपलब्धियो को अपने ढंग से स्वीकृत किया है और उनके आलोक में कृतियो का विश्लेषण किया है। डा० देवराज (साहित्य चिंता, आधुनिक समीक्षा, छायावाद का पतन), डा० प्रभाकर माचवे, (व्यक्ति

और वाड्मय, संतुलन, समीक्षा की समीक्षा), पं० नलिनविलोचन शर्मा (दृष्टिकोण) आदि इस कोटि में लिए जा सकते हैं, किंतु इनकी आलोचनाएँ प्रमुखतः आलोच्यकाल सन् ४० ई० के बाद की हैं, अतः इनकी चर्चा यहाँ अभिप्रेत नहीं।

प्रभाववादी आलोचना

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दो मे प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसलिये पढने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को ठीक ठीक हृदयंगम करने का सहारा मिले, इसलिये नही कि आलोचक की भाव-भंगी और सजीले पदविन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। यदि किसी रमणीय अर्थगर्भित पद्य की आलोचना इसी रूप मे मिले कि 'एक बार इस कविता के प्रवाह मे पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है। वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौदर्य पर आप ही नाच उठा है, तो उसे लेकर कोई क्या करेगा ?'

इस प्रकार की आलोचना में आलोचक कृति की छवि का वस्तुगत विश्लेषण न कर अपने ऊपर उसके पड़े हुए प्रभाव को काव्यात्मक शैली में कह चलता है। यह आलोचना स्वच्छंद व्यक्तिवाद और आत्मचेतना पर आधारित होती है। इसी लिये इसे आत्मगत या प्रभावाभिव्यंजक आलोचना भी कहते हैं। आलोचक कृतिकार के आनंद का अनुभव कर उसी के समानातर उस आनंद का पुनः सृजन करता सा लगता है। इस प्रकार की आलोचना का उद्देश्य कृति मे सन्निहित आनंद का विश्लेषण करना नही, बल्कि अनुभव करना कराना होता है। इस आलोचना का मूल आधार एक प्रकार से आलोचक का व्यक्तित्व ही होता है, इसलिये जहाँ आलोचक का सबल और पूर्ण रसग्राही व्यक्तित्व अपने प्रभाव के माध्यम से पाठक को कृति के मूल आनंद तक ले जाता है, वहीं हलके स्तर का व्यक्तित्व कृति के मर्म का अनुभव कराने के स्थान पर पाठक को मधुर वाग्जाल मे उलझाता है, सतही भावुकता, आलंकारिकता और विस्मयबोधक प्रशंसोक्तियों की दुनिया में भटकाता है। आचार्य शुक्ल ने इसी प्रकार की आलोचनाओं को ध्यान में रख कर प्रभाववादी आलोचना को ठीक ठिकाने की वस्तु नहीं माना। किंतु सिद्धात रूप से इस प्रकार की आलोचना को नगण्य नही माना जा सकता। इसी लिये डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका भी उचित महत्व स्वीकार किया है। द्विवेदीजी का मत है कि आचार्य शुक्ल समीक्षा में बुद्धिमूलक चिंतन प्रधान मानते हैं, यह उचित ही है, लेकिन वे इस बात को भूल जाते हैं कि काव्य की समीक्षा कितनी

भी बुद्धिमूलक क्यों न हो वह भावावेग को समझाने का प्रयत्न करती है। 'जब-तक सहृदय का व्यक्तित्व कवि के साथ एकाकार नहीं हो जाता तबतक रस का अनुभव नहीं हो सकता। समीक्षक जबतक अपना अहंकार लेकर बैठा रहेगा तबतक रस नहीं पा सकेगा। स्वयं शुक्लजी ने कहा है कि काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव कराना है उसके साधन में भी अहंकार का त्याग है।'

द्विवेदीकाल में पं० पद्मसिंह शर्मा प्रभाववादी आलोचना के क्षेत्र में अग्रगण्य दीखते हैं, लेकिन शर्माजी का व्यक्तित्व संस्कार रीतिवादी था अतः इनकी आलोचनाओं में अंतःकरण की अभिव्यक्ति के स्थान पर रीतिवादी मानदंडों पर आधारित बाह्य प्रशंसामूलक उक्तियाँ मिलती हैं। हमारे आलोच्यकाल में छायावादी व्यक्तिवाद के उभार के कारण प्रभाववादी आलोचना का स्वरूप आंतरिक आकुलता से प्रेरित दिखाई पड़ता है। मोटे तौर पर इस काल मे प्रभाववादी आलोचना दो रूपों में दिखाई पड़ती है—(१) समीक्षक अपने ऊपर पड़े हुए आलोच्य कृतियों के सौंदर्य के प्रभाव का उद्गार भावुकता के साथ अलंकृत शैली में करता है। (२) समीक्षक का उद्देश्य किसी सिद्धांत या रचना का स्वरूप विश्लेषण ही है, किंतु विषय का प्रतिपादन भावुकता और अलंकरणमयी शैली में करता है। श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी के अधिकांश निबंध, डा० भगवत-शरण उपाध्याय द्वारा की गई गुरुभक्त सिंह की नूरजहाँ की समीक्षा आदि पहली श्रेणी में आते हैं तथा पंत, महादेवी, डा० रामकुमार वर्मा और डा० नगेंद्र के कुछ निबंध दूसरी श्रेणी में आते हैं।

श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी कवि की कृतियों और व्यक्तित्वों को सटीक प्रतीकों, उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं द्वारा व्यक्त करते चलते हैं। इन आलोचनाओं में बुद्धि और विचार के माध्यम से रचना की पृष्ठभूमि, अनुभूति, दर्शन और शैली का सर्वांगीण निरूपण तो नहीं हो पाता है किंतु इनमे रचना का सा रस मिलता है। ये आलोचनाएँ सहृदय पाठकों के मन में कवि की सी अनुभूति जगाती चलती हैं, लेकिन जिन पाठकों की कल्पना और कलात्मक रुचि बहुत ही परिष्कृत और सूक्ष्म होती है, वे ही इन आलोचनाओं का रस ले सकते हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी में कहीं कहीं प्रभाववादी समीक्षा का बड़ा ही प्रांजल रूप दिखाई पड़ता है। 'सूरदास की राधा' निबंध उदाहरणार्थ रखा जा सकता है जिसे पढ़कर पाठक राधा के व्यक्तित्व से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। कवि की अनुभूति मे बह चलता है और साथ ही साथ उसे सूरदास की राधा का अन्य कवियों की राधा से भिन्न व्यक्तित्व का बोध भी हो जाता है। श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी दोनों एक स्थान पर साथ हैं अर्थात् दोनों की भावुकता विचारों के सूक्ष्मतंतुओं से अनुस्यूत होती है, लेकिन

अंतर यह है कि जहाँ द्विवेदीजी की शैली भावो का स्वच्छंद प्रवाह लेकर बहती है वहाँ शातिप्रियजी की शैली आलकारिक अनुरणन और सूक्तियाँ लेकर।

डा० भगवतशरण उपाध्याय ने गुरुभक्त सिंह की नूरजहाँ की आलोचना में अपने हृदय का उद्गार व्यक्त किया है। इसमे लेखक के भावो का प्रवाह मूल कृति के भावप्रवाह के अनुसार रूप धारण करता गया है। पंतजी, महादेवीजी, डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० नगेंद्र के इस श्रेणी के निबंध मूलतः विचारधर्मा हैं, लेकिन शैली भावुकता और अलंकरणमयी है। डा० रामकुमार वर्मा तो समीक्षासिद्धातो मे भी इस शैली का प्रयोग करते हैं। जैसे 'कविता की शक्ति एक परी के समान है। यह पूर्ण स्वच्छंद है। जिन वस्तुओ की ओर जाना चाहती है वेग से उड़ जाती है।'

तुलनात्मक आलोचना

तुलना का क्षेत्र बडा व्यापक है। तुलना प्रायः समान वस्तुओ की होती है। एक ही युग के दो या अधिक कृतिकारो को एक साथ रखकर उनकी समानता, विषमता, उनके प्रेरणास्रोतो, भावजगत्, विचारजगत्, उद्देश्य, शैली आदि की पारस्परिक तुलना करते हुए उनकी उत्कृष्टता अपकृष्टता को देखना तुलनात्मक समीक्षा के अंतर्गत आता है। किंतु ऐसा भी होता है कि ऐतिहासिक विकासक्रम मे पास पास आनेवाले कालो की कृतियो को भी तुलना के लिये लेते हैं। जैसे हिंदी के भक्तिकाल और रीतिकाल के साहित्य को लेकर यह देखने का प्रयत्न करना भी तुलनात्मक समीक्षा के अंतर्गत आएगा कि रीतिकालीन कविता पर भक्तिकालीन कविता का कितना प्रभाव है और रीतिकालीन कविता भक्तिकालीन कविता से अपने संपूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व में कितनी सम, विषम है, कितनी अपकृष्ट, उत्कृष्ट है। इस प्रकार की आलोचना का सुंदर स्वरूप पं० नंददुलारे वाजपेयी के उन निबंधो मे लक्षित होता है जहाँ उन्होने छायावादी साहित्य को उसके पूर्ववर्ती कालो के साहित्य के परिपार्श्व में रखकर देखा है, जहाँ प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त की मानवतावादी भावधाराओ मे अंतर स्थापित किया है और जहाँ छायावादी शृंगार और अध्यात्मभावना को रीतिवादी शृंगार और भक्तिकालीन अध्यात्म भावना से अलग किया है। वैज्ञानिक ढग से साहित्य का इतिहास लिखते समय हर इतिहासकार को इस पद्धति का पालन करके चलना ही पडता है। किसी भी युग की प्रवृत्तियों की व्याख्या पार्श्ववर्ती युगो की प्रवृत्तियो की व्याख्या के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। इसी लिये आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' मे परवर्ती युगों पर पड़े हुए पूर्ववर्ती युगो के प्रभावों का विश्लेषण

विस्तार से मिलता है। एक ही कृतिकार की कई कृतियों की परस्पर तुलना हो सकती है। कालक्रम से विकसित उसकी भावात्मक, विचारगत तथा शैलीगत प्रौढ़ता की परीक्षा के लिये उसकी एक कृति को उसकी अन्य कृतियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। जैसे कि प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला या अन्य आधुनिक और प्राचीन कवियों की परीक्षा के समय अनेक आलोचकों ने किया है। इसके अतिरिक्त दो भाषाओं के समान प्रकार की विधा या भावसंपत्ति या जीवनोद्देश्य या शैली अपनानेवाले दो कृतिकारोंकी तुलना हो सकती है। जैसे कालिदास और शेक्सपियर, शेली और पंत, प्रेमचंद और गोर्की, रामचंद्र शुक्ल और रिचार्ड्स, क्रोचे और कुंतक, होमर और बाल्मीकि आदि की कुछ साहित्यिक समानताओं के कारण परस्पर तुलना की जाती है। शचीरानी गुर्टू का 'साहित्य दर्शन' इस दृष्टि से एक सुंदर प्रयास है। तुलना विषय, भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से की जाती है। इस प्रकार तुलना का क्षेत्र बड़ा व्यापक है और उसका उद्देश्य है किसी कृति का सर्वांगीण पर्यवेक्षण और उसका सापेक्षिक मूल्यांकन।

लेकिन तुलना करने की रीतियों और आदर्शों में एकरूपता नहीं। तुलना व्याख्यात्मक आलोचना के माध्यम से भी हो सकती है और रूढ़ सिद्धांतों पर आधारित निर्णयात्मक समीक्षा के भी माध्यम से। उसका स्वर प्रशंसात्मक और निंदात्मक भी हो सकता है तथा विश्लेषणात्मक भी। अर्थात् तुलना का समावेश हर प्रकार की समालोचना के अंतर्गत हो सकता है। द्विवेदीकाल में पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवान दीन द्वारा 'बिहारी और देव' पर लिखी गई तुलनात्मक समीक्षाएँ रीतिवादी साहित्यादर्शों को आधार बनाकर चली थीं और उनका स्वर प्रभाववादी था। अर्थात् भावुकता और अलंकरणमयी शैली में गुण दोष उद्घाटनवाला स्वर था, जब कि आचार्य शुक्ल आदि की तुलनात्मक समीक्षाएँ व्याख्यापरक और गंभीर विवेचनात्मक शैली में हैं। सूर और तुलसी की निजी विशेषताओं और उनके मूल प्रेरणास्रोतों का विवेचन करते समय इन दोनों में लक्षित होनेवाले साम्य एवं वैषम्य की बड़ी मार्मिक तुलना शुक्लजी ने की है। इसी प्रकार जायसी की विवेचना के समय स्थान स्थान पर भक्तिकाल के अन्य कवियों की चर्चा होती रही है। वास्तव में तुलना की प्रवृत्ति जब किसी कृति की विशेषताओं को सापेक्षिक रूप से समझने के लिये होती है तो श्रेयस्कर लगती है और जब दो कृतियों को आमने सामने रखकर किसी को छोटी किसी को बड़ी सिद्ध करने की भावना से प्रेरित होती है, अर्थात् दो टूक निर्णय देने के लिये होती है तो दूषित हो जाती है। आधुनिक काल में (नवीनतम समीक्षा में भी) कृतिकारों के व्यक्तित्वविधायक मौलिक गुणों को समझने के लिये तुलनात्मकता का पर्याप्त सहारा लिया गया है।

ऐतिहासिक आलोचना

हिंदी साहित्यकोश के अनुसार 'किसी कृति की व्याख्या करते समय रचयिता के समय के पूर्ववर्ती और समकालीन इतिहास का आश्रय ग्रहण करने से ऐतिहासिक आलोचना का जन्म होता है'। वास्तव में ऐतिहासिक आलोचना व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक के रूप में स्वीकृत की जाती है। व्याख्यात्मक आलोचना रचना पर पड़े हुए देशकाल के प्रभाव तथा रचयिता की व्यक्तित्वनिःसृत विशेषताओ के परिवेश में उसे समझने का प्रयास करती है। युग और समाज के प्रभावो को लेकर भी कोई रचना समकालीन दूसरी रचनाओ से अलग क्यो होती है, इसको समझने के लिये रचनाकार की मौलिक प्रवृत्ति तथा सर्जनशक्ति तक पहुँचना होता है। ऐतिहासिक आलोचना अपने शुद्ध रूप मे देश और काल तक ही सीमित रहती है किंतु रचनाकार के साहित्यिक व्यक्तित्व के परीक्षण की प्रवृत्ति के साथ मिलकर उच्चकोटि की व्याख्यात्मक समीक्षा का सर्जन करती है। यह सत्य है कि कोई कितना ही विराट् प्रतिभावान् सर्जक क्यो न हो, उसके कलात्मक मूल्यो के निर्माण में देश और काल का बहुत बड़ा हाथ होता है, कभी प्रत्यक्ष रूप से कभी परोक्ष रूप से। इसलिये किसी भी रचना को तबतक ठीक से नहीं समझा जा सकता जबतक कि देश और काल की प्रवृत्तियो का उचित विश्लेषण न कर लिया जाय। देश और काल की सापेक्षता में कला को समझ सकने के कारण चिरंतन मानदंडो की स्थापनाएँ कर ली जाती हैं जो रूढ ढंग से रसरीति और बँधीबँधाई शैली की दृष्टि से कृतियो का मूल्यांकन करती हैं। दूसरी ओर कला की व्यक्तित्वविधायक मौलिक प्रवृत्तियो का विश्लेषण न कर यदि समीक्षा उसे सीधे तौर पर युग और समाज की उपज मान बैठती है तो एक निरंतर गतिशील किंतु असाहित्यिक मानदंड का निर्माण हो जाता है और कृति की साहित्यिक गहराई में पैठने के स्थान पर आलोचक युगीन राजनीति, समाजविज्ञान, दर्शनविज्ञान, आर्थिक जीवन, धार्मिक विश्वास, सामाजिक रूढि आदि का विशद चित्र देने लगता है या कृतिकारविशेष के जीवन से संबद्ध बाहरी तथ्यो का संकलन करने लगता है। इस प्रयास मे कृति का साहित्यिक मूल्यांकन या विश्लेषण नही हो पाता। वह आलोचना न होकर गवेषणा हो जाती है। आज विश्वविद्यालयो के अंतर्गत होनेवाले शोधकार्यों में अनेक ऐसे ही हैं जो कृति के इर्दगिर्द की ऐतिहासिक जानकारी को इकट्ठा करते हैं, लेकिन उसके सृजन की प्रक्रिया, उसके कलात्मक सौदर्य और मूल्य को छू भी नही पाते। ऐतिहासिक आलोचना व्याख्यात्मक आलोचना की पूरक होकर ही साहित्यिक समीक्षा के दायित्व का निर्वाह कर सकती है। हिंदी साहित्य के इतिहास इसी दिशा मे किए गए स्वस्थ प्रयास हैं। हिंदी साहित्य के इतिहासो में भी दो प्रकार के

स्वरूप दृष्टिगत होते हैं। एक में केवल कवियों के जीवनवृत्त और उनकी पुस्तकों की कोरी खोज की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। दूसरे में जीवनवृत्त और कृतियों की प्रामाणिकता के निरूपण के साथ विभिन्न युगों में सामाजिक स्थितियों और उनके बीच से फूटनेवाले साहित्यों की सामान्य प्रवृत्तियों की मार्मिक विवेचना मिलती है, और साथ ही विभिन्न कवियों की व्यक्तिगत सृजन छवियों की व्याख्या मिलती है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), 'हिंदी साहित्य' (डा० श्यामसुंदर दास), 'आदि काल,' 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'हिंदी साहित्य', (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'बिहारी,' आनंदघन,' 'भूषण' (पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' (पं० कृष्ण-शंकर शुक्ल), 'साहित्य की झाँकी' (डा० सत्येंद्र), 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (डा० श्रीकृष्ण लाल) आदि दूसरी श्रेणी में आते हैं। इनमें ऐतिहासिक शोध और साहित्यविवेचन दोनों का समन्वित रूप प्राप्त होता है, मगर कुछ ऐसे भी कार्य हैं जिन्हें शुद्ध गवेषणा ही कहना संगत होगा। पृथ्वीराज रासो या वीर गाथाओं में आनेवाली अन्य संदिग्ध पुस्तकों और लेखकों की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता सिद्ध करने के अनेक प्रयास हो रहे हैं और हुए हैं। संतों, नाथों, सिद्धों योगियों आदि पर भी निरंतर शोध हो रहे हैं। सगुण मार्गी और रीतिकालीन प्रमुख कवियों की गवेषणा चल रही है। इस क्षेत्र में महापंडित राहुल सांकृत्यायन की 'हिंदी काव्यधारा', दीनदयाल गुप्त की 'अष्टछाप के कवि', पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की 'हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय' और 'योगप्रवाह' आदि पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्य प्रकार की आलोचनाएँ

उपर्युक्त प्रकार की आलोचनाओं के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की आलोचनाएँ मानी गई हैं। किंतु इन आलोचनाओं का पश्चिम में प्रचलन भले ही रहा हो, हिंदी में इनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। ये आलोचनाएँ मुख्य प्रकार की उपर्युक्त आलोचनाओं में अपने अपने स्वभाव के अनुसार अंतर्भुक्त हो जाती हैं। केवल इन्हीं को मानदंड बनाकर हिंदी में आलोचना नहीं लिखी गई है। जैसे नैसर्गिक आलोचना को प्रभाववादी आलोचना के अंतर्गत लिया जा सकता है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक की व्यक्तिगत रुचि अरुचि ही प्रधान होती है। यह आलोचना रचना का सौंदर्यसर्जन करनेवाले तत्वों का विश्लेषण नहीं करती। सिद्ध रूप में लक्षित होनेवाली रचना के सौंदर्य असौंदर्य के संबंध में आलोचक अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया कह चलता है। प्रभाववादी समीक्षक की तरह नैसर्गिक समीक्षक की भी कलासंबंधी मानसिक परिष्कृति पर आलोचना की उत्कृष्टता निर्भर करती है।

इसी से कुछ मिलती जुलती आलोचना है रचनात्मक या क्रियात्मक आलोचना। इस आलोचना में आलोचना के बाह्यारोपित मानो का विरोध मिलता है। साथ ही साथ यह प्रभाववादी आलोचना को भी पूर्ण नही मानती, क्योकि प्रभाववादी आलोचना आलोचक की वैयक्तिक अनुभूति पर टिकी होती है जब कि रचनात्मक आलोचना कलाकार के अनुभवो को अपने भीतर जन्म देकर उनकी पुनः रचना करती है। कलाकार जीवन और जगत् का कल्पनात्मक अध्ययन करता है तो आलोचक कलाकार की सृष्टि का। इस प्रकार यह आलोचना समस्त बाहरी वस्तुओ—जीवनी, धर्म, परिस्थिति, युग, विषय की महत्ता—की उपेक्षाकर कलाकार के मानसिक जगत् का पुनर्निर्माण करने मे ही अपनी सार्थकता समझती है। यह आलोचना प्रभाववादी आलोचना से कुछ इसलिये मिलती जुलती दिखाई पड़ती है कि दोनो की दृष्टि व्यक्तिवादी है। नियमो के अनुसरण के अभाव मे और आलोचक की वैयक्तिक क्षमता अक्षमता पर अवलंबित रहने के कारण ये दोनो प्रकार की आलोचनाएँ व्यक्तिवादी हो जाती हैं। कहा जा सकता है कि उच्चकोटि की प्रभाववादी समीक्षा भी कला के प्रति आलोचक की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया मात्र नही है वरन् वह कलाकृति के अनुभवो की पुनर्रचना भी करती चलती है। हिंदी में रचनात्मक या क्रियात्मक आलोचना का स्वरूप नहीं सा है। इसकी विशेषताओ को कही प्रभाववादी समीक्षा मे, कही व्याख्यात्मक समीक्षा में, कहीं मनोविश्लेषण प्रभावित समीक्षा में अंतर्भुक्त कर लिया गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'सूरदास की राधा' निबंध कुछ सीमातक इस आलोचना के अंतर्गत लिया जा सकता है।

रीतिवादी आलोचना

संस्कृत साहित्य में 'काव्य की आत्मा' के प्रश्न को लेकर कई विचार संप्रदाय स्थापित हुए। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना। विशिष्ट-पद-रचना रीति है। गुण विशिष्ट पदरचना के आधार हैं। रीति को आधार मानकर चलनेवाली आलोचना रीतिवादी आलोचना कही जाती है। कहा जा सकता है कि जहाँ रस संप्रदाय ने भाव या रस को विशेष महत्ता दी वहाँ रीति संप्रदाय ने विशिष्ट पदरचना अर्थात् साहित्य के बाह्य रूप को महत्व दिया। यो साहित्य के अंतरपक्ष और बाह्यपक्ष का अलगाव संभव नहीं, दोनो का संतुलन ही उच्च साहित्य की सृष्टि करता है किंतु प्रत्यक्षतः इन दोनो संप्रदायो ने क्रमशः अंतर-पक्ष और बाह्यपक्ष पर विशेष बल दिया। वास्तव मे रीति अपने विकसित अर्थ में शैली का पर्याय हो गई है—इसके अंतर्गत शैली के समस्त गुण अंतर्भुक्त किए जा सकते हैं। कहा जा सकता है कि साहित्य के शैलीपक्ष पर विशेष बल देने-वा ली आलोचना रीतिवादी आलोचना है। रीति से परिपाटी की भी ध्वनि आती

है, अर्थात् परिपाटीबद्ध शैली के चमत्कारों से संयुक्त साहित्य को सराहनेवाली आलोचना रीतिवादी आलोचना है। यह आलोचना स्वच्छंदतावादी आलोचना की इस दृष्टि के विपरीत मान्यता रखती है कि शैली विषय से अलग कोई वस्तु नहीं, विषय अपने स्वभाव के अनुसार स्वतः अभिव्यक्ति का मार्ग बना लेता है। विषय की प्रकृति के अनुसार शैली परिवर्तित होती रहती है और वह बाह्यारोपित कोई वस्तु नहीं वरन् विषय के साथ साथ फूटी हुई उसका संपृक्त अंग है। रीतिवादी आलोचना शैली को अलग से परिमार्जित और चमत्कृत करना चाहती है, शैली के भव्य प्रासाद में भाव की प्रतिष्ठा करना चाहती है। भव्य शैली में ही भाव भव्य रूप से दीप्त हो सकता है। इसलिये रीतिवादी आलोचक कृति की आलोचना करते समय कृति के मूल स्फुरण, नवीन अनुभूतियों और चेतनाओं तथा तदनुसार परिवर्तित या परिवर्द्धित होती हुई शैली की नई छवियों की चिंता न कर उसकी परिपाटीबद्ध शैलीछवि की परीक्षा करना चाहते हैं और परिपाटीबद्ध मँजीमँजाई चमत्कारपूर्ण भव्य शैली में खोट देखकर नए साहित्य को सदोष और हीन कोटि का मान बैठते हैं। द्विवेदीकाल में लाला भगवानदीन की समीक्षाओं में रीतिवादी समीक्षा का स्वरूप देखा जा सकता है। लालाजी मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति नए कवियों की नई काव्य चेतनाओं की ओर ध्यान न देकर उनकी शैलीगत कमजोरियाँ प्रदर्शित कर रहे थे। इन आलोचकों के लिये ब्रजभाषा का शृंगारकाव्य अपने शैलीगत सौष्ठव और चमत्कारपूर्णता के कारण आदर्श काव्य था। नए काव्य में न वह मिठास थी, न परिमार्जन, न छंदनिर्वाह, न अलंकारों का निर्वाह आदि।

साहित्य में शैली का महत्व कम नहीं है। वह विषय का अविभाज्य अंग है। यदि रीति का अर्थ केवल शैली से लिया जाय तो उसका महत्व किसी भी प्रकार के साहित्य में या किसी काल की कृति में कम नहीं होता। यदि शैली को परिवर्तनशील रूप में स्वीकार किया जाय और रीति को शैली का पर्याय मान लिया जाय तो स्वीकार करना पड़ेगा कि रीति अपने विकसित अर्थ में सभी कालों की आलोचनाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखती आई है। आचार्य शुक्ल ने छायावादी काव्य के भाववैभव के साथ साथ उसके शिल्प में होनेवाले नए प्रयोगों—प्रतीक, अप्रस्तुतविधान, नई भाषाभंगिमा, बिंब, छंद, पद, संगीत आदि की ओर संकेत किया और बाद के आलोचकों ने विस्तार से इसपर विचार किया। प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और नई कवितावादी आलोचकों ने भी साहित्य प्रयोगों के साथ बदलती हुई शैलीशक्तियों की जमकर व्याख्या की। किंतु रूढ़ अर्थ में इन्हें रीतिवादी आलोचना के अंतर्गत नहीं ले सकते। यह शैली के उदात्त स्वरूप जिसके अंतर्गत गुण, अलंकार, शब्दशक्तियाँ, वक्रोक्ति,

प्रतीक, बिंब तथा अभिव्यक्ति की अन्यान्य विशेषताएँ समाविष्ट हो जाती हैं— की व्याख्या है, शैलीवाद का अनुसरण नहीं।

जीवनीमूलक आलोचना

यह आलोचना मानती है कि कृतियों का और कृतिकार के जीवन का बड़ा निकटतम संबंध होता है। लेखक के भावजगत् और विचारजगत् पर उसके जीवन की घटनाओं और परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव रहता है। अतः उसकी कृति में सन्निहित भाव और विचारधारा को समझने में उसका जीवनचरित बड़ा सहायक सिद्ध होता है। इसलिये उसके चरित्र का जितना ही सच्चा ज्ञान और विश्लेषण प्राप्त हो सकेगा उसकी कृति को समझने में उतनी ही अधिक सुगमता हासिल होगी। लेकिन इसमें एक बड़ा खतरा यह है कि आलोचक कृतिकार के जीवन का सतही अध्ययन कर उसकी कृतियों को उसका सीधा प्रतिफलन न मान बैठे। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि आलोचक के पास कृतिकार के व्यक्तित्व और उसे निर्मित करनेवाली परिस्थितियों और घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाली दृष्टि हो, विश्लेषण करनेवाली बुद्धि हो, शोध करनेवाला धैर्य हो और लगन हो। शीघ्रता से निष्कर्ष पर पहुँच जानेवाली प्रवृत्ति यह कार्य करने में अक्षम सिद्ध होगी। वास्तव में जीवनीमूलक आलोचना भी ऐतिहासिक आलोचना की भाँति व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक है, इसे भी व्याख्यात्मक आलोचना के भीतर ही समाविष्ट किया जा सकता है। जीवनीमूलक आलोचना का अर्थ केवल कृतिकार की जीवनी प्रस्तुत करना नहीं है बल्कि जीवनी और कृतियों के बीच कार्य-कारण संबंधों का विवेचन करना है। हिंदी में व्याख्यात्मक समीक्षा के अंतर्गत इस आलोचना का स्वरूप देखा जा सकता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की कविताओं के स्वरों का संबंध उनकी जीवनी से जोड़ा है। इसी प्रकार शुक्लजी ने भी अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में तुलसी, सूर, केशव, घनानंद आदि कवियों की जीवनी की प्रतिच्छवि उनकी कृतियों में देखने की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार कुछ निबंधों में मीराबाई, महादेवी वर्मा, प्रसाद, पंत, निराला, प्रेमचंद आदि प्रमुख कृतिकारों की परिस्थितियों, उनसे प्रभावित उनके व्यक्तित्वों और उनकी कृतियों का कुछ कार्यकारण संबंध जोड़ा गया है।

अनुक्रमणिका

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

भाग १३

आलोचना और निबंध

नामानुक्रमणिका

[व्यक्ति, काल ग्रंथ, पत्र पत्रिकाएँ तथा संस्थाएँ]

अ

भ

म

य

ह

———